

2005-6

Vol. 44

No. 1-12

131523



131523

हूबर

1110

हूबर

पुरोधा

२००५



५५
—
१

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

112



131523

131523

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पञ्जाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

पुरोधा अक्तूबर २००५

वर्ष ४४, अंक १, पूर्णांक ४६

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां
दैनन्दिनी	
प्रार्थना	श्रीमां
भगवान् के रूप	रवीन्द्र
श्रीअरविन्द के साथ बातचीत	नीरदवरण
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी
प्यार का पहरा	श्यामसरन अग्रवाल
प्राण (एक युवक के साथ पत्र-व्यवहार)	
आनन्द का बीज	कनिष्ठा
‘ऋषिवर बोले’ : भारतीय संस्कृति	
‘नयी कोंपलें’ : बौबी	जयदेव शर्मा
हाइकू	सुभा जगन्नाथन
हमारा छात्रावास	कनुप्रिया पुराणिक
‘गैर्वाणी’ : प्रेरणादीपः	
प्रेरणादीप	वन्दना
पूर्णता की ओर	श्रीअरविन्द (आवरण)

सम्पर्क-सूत्र — सम्पादक : पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी — ६०५००२ सम्प

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी — ६०५००२ सम्पा

मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी — ६०५००२ प्रका

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पञ्जाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

क ४६ पुरोधः नवम्बर २००५

वर्ष ४४, अंक-२, पूर्णांक ४६८

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां	१
देनन्दिनी		२
थकान से कैसे बचें?	रवीन्द्र	४
श्रीअरविन्द के साथ बातचीत	नीरदवरण	६
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी	९
वेद में कहा है (कविता)	विश्वनाथ	१३
अपना सर्वोत्तम करो	श्रीमां	१४
कुछ तीखे, कुछ पैसे सत्य	श्रीअरविन्द	१५
प्रारम्भ-बिन्दु	श्रीमां	१७
मानव-जीवन का हेतु और मिशन	श्रीमां	१९
नियति और अन्तःप्रकाश	श्रीमां	१९
'नयी कॉपलें': वह पंछी	कनुप्रिया पुराणिक	२१
हार न मानना	जयदेव शर्मा	२१
आभारी	सूक्ष्मा पोद्दार	२२
सूखा फूल	स्नेहा कपूर	२२
'गैर्वाणी': वचनं दत्तम् अस्ति		२४
वादा कर रखा है	वन्दना	२७
भाषा की विभिन्नता	श्रीअरविन्द (आवरण ३)	

६०५०० सम्पर्क-सूत्र — सम्पादक : पुरोधः एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी — ६०५००२

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी—६०५००२

नवम्बर

पुरोधा

२००



५५
२

26/11/15

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-245104 (U.A.)

पुरोधा

प्रार्थना

देननि

सिद्धि

एक

श्रीमान

हार

फूल

आश्र

कुछ

नयी

गैवा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

श्रद्धा

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पञ्जाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

पुरोधा दिसम्बर २००५

वर्ष ४४, अंक ३, पूर्णांक ४६९

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां	१
दैनन्दिनी		२
सिद्धियां	श्रीअरविन्द	४
एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र		६
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी	१२
हार न मानो	हीरो वसिष्ठ	१६
फूलवाली	ज्ञानवती	१८
आश्रम में कार्य	माधव पण्डित	२०
कुछ तीखे, कुछ पैसे सत्य	श्रीअरविन्द	२३
'नयी कोंपलें' : कैदी नं....	ऋचा गर्ग	२४
'गैर्वाणी' : स्वर्ण रूपान्तरितम्		२५
स्वर्ण में रूपान्तरित कर दिया है	वन्दना	२७
श्रद्धा	श्रीअरविन्द (आवरण ३)	

सम्पर्क-सूत्र — सम्पादक : पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी — ६०५००२

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी—६०५००२

दिसम्बर

पुरोधा

२०



५५
३

पुरो

प्रार्थ

दैर्ग

एक

में ३

जीव

एक

श्रीम

सुर

ध्या

‘ऋ

सच

‘नर्य

‘गैव

सब

Central Library
Gurukul Kangri University,
Haridwar-249404 (U.A.)

Spant
03 Jan 06

सम्प

सम्प

प्रक

मुद्र

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पञ्जाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

पुरोधा जनवरी २००६

वर्ष ४४, अंक ४, पूर्णांक ४७०

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां	१
दैनन्दिनी		२
एक प्रार्थना	श्रीअरविन्द	५
मैं आ रहा हूँ! (कविता)	अज्ञात	६
जीवन एक नाटक है	रवीन्द्र	७
एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र	नगीन दोशी	९
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी	१३
सुरुचि पैदा करो	नलिनीकान्त गुप्त	१७
ध्यान की अवस्थाएं	'श्रीमातृवाणी' खण्ड ५	१९
'ऋषिवर बोले': शरीर की प्रगति		२३
सचाई-निष्कपटता	श्रीअरविन्द	२५
'नयी कौपलें': वन्दे मातरम्	जयदेव शर्मा	२६
'गैर्वाणी': प्रकीर्ण-माणिक्यानि		२७
बिखरे मनके	वन्दना	२९
सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज	श्रीमां (आवरण ३)	

सम्पर्क-सूत्र — सम्पादक : पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी — ६०५००२

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

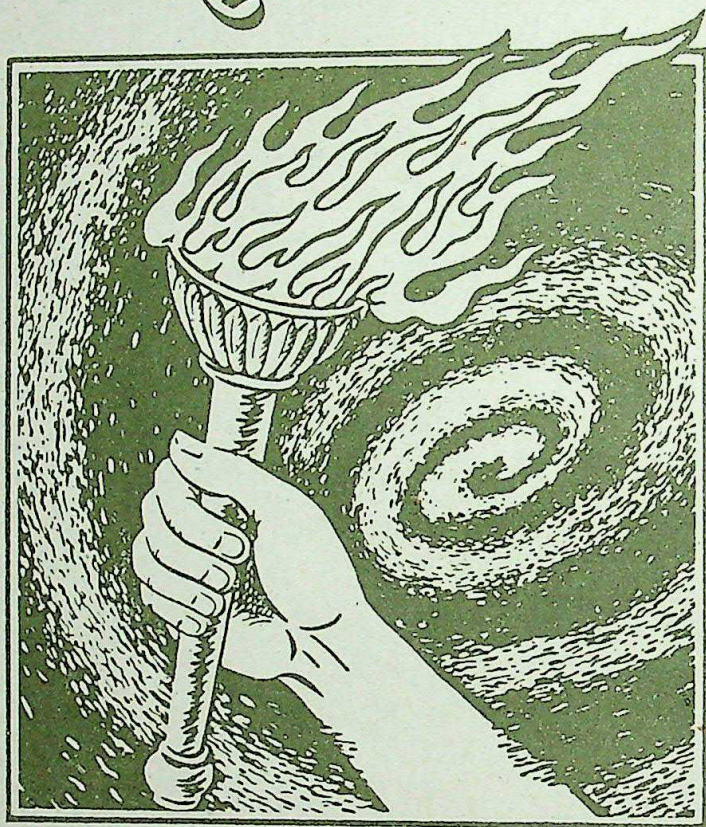
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी—६०५००२

जनवरी

पुरोधा

२००



Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

Spent.
7/02/06

पुरोध

५५
—
५

प्रार्थना

दैनन्दि

श्रीमां

एक य

पण्डित

अनुशा

भौतिक

जिसक

'नयी

'गैर्वाण

स्फुट

सम्पर्क

सम्पा

प्रकाश

मुद्रक

२०८ उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पञ्जाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

पुरोधा फरवरी २००६

वर्ष ४४, अंक ५, पूर्णांक ४७१

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां	१
दैनन्दिनी		२
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी	५
एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र	नगीन दोशी	१०
पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर	रवीन्द्र	१५
अनुशासन—जीवन में अनिवार्य	श्रीमां	२०
भौतिक चीजों की देखरेख	श्रीमां	२२
जिसकी आवश्यकता है	श्रीअरविन्द	२३
'नयी कॉपलें' : प्रकृति की सुन्दरता	सूक्ष्मा पोद्दार	२५
कोरा कागज़	निशा झुनझुनवाला	२५
'गैर्वाणी' : सरल: वर:	वन्दना	२६
सरल-सा वर		२९
स्फुट वचन	श्रीमां (आवरण ३)	

सम्पर्क-सूत्र — सम्पादक : पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी — ६०५००२

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी—६०५००२

फरवरी

पुरोधा

२०



५५
५

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

Spent
3/march/06

पुरोध

प्रार्थन

दैर्घ्य

एक

श्रीमां

विष्णु

लक्ष्य

प्रयास

“मैं तु

‘गैर्वाण

शिक्षा

सम्पर्क

सम्पाद

प्रकाश

मुद्रक

२० उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पञ्जाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

पुरोधा मार्च २००६

वर्ष ४४, अंक ६, पूर्णांक ४७२

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां	१
दैर्घ्य		२
एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र	नगीन दोशी	४
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी	८
विष्णु दिगम्बर	रवीन्द्र	१२
लक्ष्यबोध	श्री विश्वनाथ	१७
प्रयास	श्रीअरविन्द	१८
“मैं तुम्हारे साथ हूँ”	श्रीमां	१९
‘गैर्वाणी’ : निजवक्षसा सुदृढम् आलिङ्ग...।	वन्दना	२२
हृदय से लगा लेना...		२६
शिक्षा में भयं	श्रीमां (आवरण ३)	

सम्पर्क-सूत्र— सम्पादक : पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मार्च

पुरोधा

२०



Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

Spant
28/mar/06

पुरो

प्रार्थन
दैनन्दि
कव
एक
श्रीम
त्याग
'मणि
अपन
अच
'नयी

'गैव

श्रीअ

सम्प

सम्पा

प्रका

मुद्रक

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पञ्जाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

पुरोधा अप्रैल २००६

वर्ष ४४, अंक ७, पूर्णांक ४७३

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां	१
दैनन्दिनी		२
कब... (कविता)	विश्वनाथ	४
एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र	नगीन दोशी	५
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी	९
त्याग	'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३ से	१३
'मणि'—एक सच्चा दोस्त	कनिष्ठा	१४
अपने अन्दर झांको	श्रीमां	१७
अचञ्चल रहो	श्रीमां	२०
'नयी कौपलें' :		
महिलाओं का जादू	जयदेव शर्मा	२१
स्वप्न और सच्चाई	सूक्ष्मा पोद्दार	२१
'गैर्वाणी' : इन्द्रजालमयः रागः	वन्दना	२२
जादू का राग		२६
श्रीअरविन्द का योग	श्रीमां (आवरण ३)	

सम्पर्क-सूत्र—सम्पादक : पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

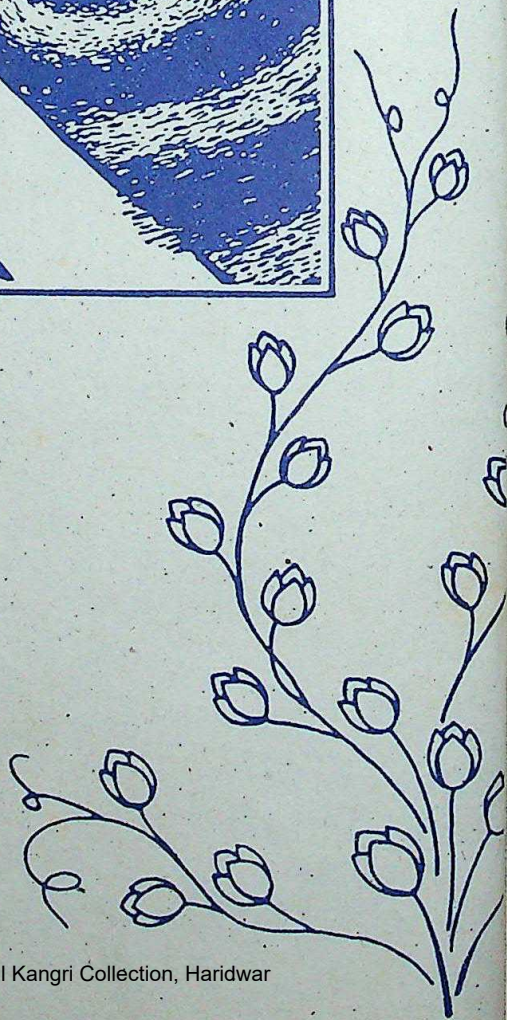
मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी—६०५००२

पुरोधा

५५
७

Central Lib
Gurukul Kangri
Haridwar-2494

8/18/18



प्रा
दै
छा
एक
श्री
बढ़
अप
सम
शनि
राज
'वृ
'नय

'गैव

को

सम्प

सम्प

प्रका

मुद्रव

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पञ्जाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

पुरोधा मई २००६

वर्ष ४४, अंक ८, पूर्णांक ४७४

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां	१
दैनिन्दिनी		२
छा गया (कविता)	विश्वनाथ	५
एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र	नगीन दोशी	५
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी	७
बढ़ती जाऊंगी	रवीन्द्र	१२
अपने-आपको भयमुक्त करने के कुछ तरीके	श्रीमां	१४
सम्पूर्ण और निष्कपट समर्पण	श्रीअरविन्द	१६
शक्ति उपस्थित है	श्रीमां	१८
राजनीति	रवीन्द्र	१९
'ऋषिवर बोले': कल्पना		२०
'नयी कॉपलें':		
विपथगामी	प्राञ्जल गर्ग	२२
सुबह	दिव्या टी. एस.	२३
'गैर्वाणी': दृष्टि:	वन्दना	२३
दृष्टि		२६
कोशिश करके देखो...	श्रीमां (आवरण ३)	

धनादेश भेजने से पहले कृपया अन्दर सूचना अवश्य पढ़ लें।

सम्पर्क-सूत्र— सम्पादक : पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी—६०५००२

पुरोधा

५५
८



Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

8/6/06
03/June/06

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पञ्जाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

पुरोधः जून २००६

वर्ष ४४, अंक ९, पूर्णांक ४७५

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां	१
मां जाग उठी है	श्रीअरविन्द	२
दैनन्दिनी		३
कली खिल उठी	रवीन्द्र	६
अहसास (कविता)	विश्वनाथ	७
एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र	नगीन दोशी	८
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी	१२
धन-शक्ति	श्रीअरविन्द	१५
अपना निरीक्षण अच्छी तरह करो	'श्रीमातृवाणी' खण्ड ६ से	१७
केवल संकट के समय नहीं	कनिष्ठा	२१
'गैर्वाणी' : तत् पत्रम्	वन्दना	२३
वह चिट्ठी		२७

सम्पर्क-सूत्र—सम्पादक : पुरोधः एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी—६०५००२

पुरोधा



५५
९

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

Spent
1st July/86

पुर

प्राथ
देन
परि
उच्च
एक
श्रीम
स्व
फूल
अध
विर
अनि
'गैव

श्रद्ध

सम्प

सम्प

प्रका

मुद्र

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

पुरोधा जुलाई २००६

वर्ष ४४, अंक १०, पूर्णांक ४७६

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां	१
दैनन्दिनी		२
परिचित या अपरिचित (कविता)	विश्वनाथ	४
उच्चतर जीवन की ओर पहला कदम	रवीन्द्र	५
एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र	नगीन दोशी	७
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी	११
स्वयं को दे दो	श्रीअरविन्द	१५
फूल ले लो, फूल	कनिष्ठा	१६
अध्ययन का सुख	'श्रीमातृवाणी' से	१९
विरल सौभाग्य	माधव पण्डित	२०
अन्तिम प्रणाम	ज्ञानवती गुप्ता	२२
'गैर्वाणी': शिशवः—सरलहृदयाः	वन्दना	२४
बच्चे—मन के सच्चे		२८
श्रद्धा बनाये रखो	श्रीअरविन्द	आ. ३

सम्पर्क-सूत्र—सम्पादक : पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी—६०५००२

पुरोधा



५५
१०

Central Lib
Gurukul Kangri
Haridwar-2494

9/10

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

पुरोधा अगस्त २००६

वर्ष ४४, अंक ११, पूर्णांक ४७७

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां	१
दैनन्दिनी		२
जितना बड़ा अहम् (कविता)	विश्वनाथ	४
देश की मांग क्या है	श्रीअरविन्द	५
एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र	नगीन दोशी	६
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी	१०
हमारा उद्देश्य	श्रीअरविन्द	१४
पीड़ा की वह रात	ज्ञानवती गुप्ता	१५
है न बात ठीक?	कनिष्ठा	१७
वक्त के पहलू	सुरुचि वर्मा	१९
हमारी विदुषी बोली		२१
प्रेम के बारे में	श्रीमां	२२
नयी कौपलें : एक अधूरी कला	सुनयना	२६
नीरदबरन		२७
'गैर्वाणी' : बच्चों के संग	वन्दना	२७
अपने देश के लिए	श्रीअरविन्द	आ. ३

सम्पर्क-सूत्र— सम्पादक : पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी—६०५००२

पुरोधा

Open
Central Library
Gurukul Kangri
Haridwar



५५
॥

पुरो

प्रार्थ

दैनि

लर्क

एक

श्रीम

श्रीअ

मात

टीस

क्या

नयी

कृत

'गैव

अत्तू

बीम

सम्प

सम्प

प्रका

मुद्रव

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आन्ध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिए स्वीकृत

पुरोधा सितम्बर २००६

वर्ष ४४, अंक १२, पूर्णांक ४७८

विषय-सूची

प्रार्थना और ध्यान	श्रीमां	१
दैनन्दिनी		२
लकीरें (कविता)	विश्वनाथ	३
एक युवा साथक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र	नगीन दोशी	४
श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार	शान्ति दोशी	८
श्रीअरविन्द का एक पत्र		१२
माता-पिताओं को सलाह	श्रीमां	१३
टीस	कनिष्ठा	१५
क्या तुम सचेतन हो?	'श्रीमातृवाणी' से	१७
नयी कोपलें : काश...	अनुराग प्रसाद	२०
दोस्ती	सुनयना	२१
कृतज्ञता	श्रीमां	२२
'गैर्वाणी' : सः उपहारः	वन्दना	२३
वह सौगात		२६
अक्तूबर २००५ से सितम्बर २००६ तक के मुख्य लेखों की सूची		३०
बीमारी का बहाना	श्रीमां आ.	३

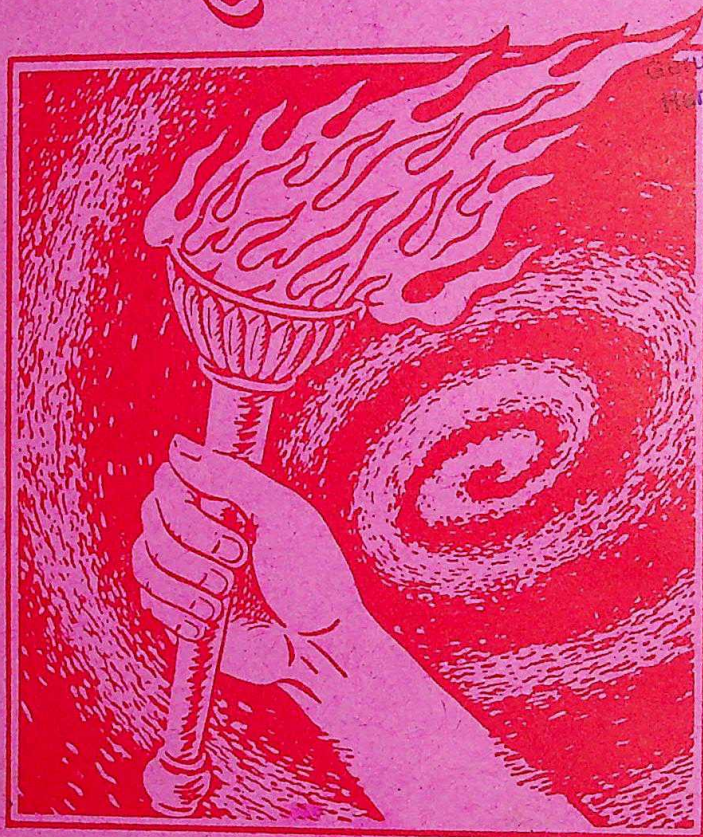
सम्पर्क-सूत्र—सम्पादक : पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

सम्पादक : अनुबेन, वन्दना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरञ्जन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी—६०५००२

पुरोधा



Central Library
Gurukul Kangri Un
Haridwar-249404

2/2/20
28/5

4417 3

17

वि
पूर्वाग्रहे

सभी स
सके।

तून

प्राप्त

विद्या

प्राप्त

प्राप्त

की

की

की

की

की

की

की

की

की

की

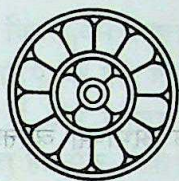
की

की

की

की

की



प्रार्थना और ध्यान

१७ अगस्त १९१४

विनाश के इस बगूले में जो अतीत को उड़ाये लिये जा रहा है, सभी भ्रान्तियों, सभी पूर्वाग्रहों, सभी गलतफ़हमियों को लुप्त हो जाना चाहिये...। प्रकाश को पूरी तरह शुद्ध, सभी सीमाओं से मुक्त होना चाहिये ताकि तू उसमें अपने-आपको पूरी तरह अभिव्यक्त कर सके। प्रभो, तेरे अन्दर यह शक्ति है और तू इस परम चमत्कार को सिद्ध करेगा...।

तूने इस चेतना में विजय की निश्चिति रख दी है!

—श्रीमां

दैनन्दिनी

अक्तूबर



१. आन्तरिक प्रगति और आध्यात्मिक अभीप्सा व्यक्ति को अपने कर्म का स्वामी बनाने में समर्थ बनाती हैं।
२. सीखना अच्छा है। होना अधिक अच्छा।
३. भक्ति वह कुञ्जी है जो मुक्ति का द्वार खोल देती है।
४. ज्ञान के लिए सीखना, प्रकृति और जीवन के रहस्यों को जानने के लिए पढ़ना, चेतना को विकसित करने के लिए अपने-आपको शिक्षित करना, आत्म-प्रभुत्व पाने के लिए स्वयं को अनुशासित करना, अपनी दुर्बलताओं, अक्षमताओं और अज्ञताओं को अतिक्रम करने के लिए पढ़ना, जीवन में अधिक उच्च, विशाल, उदार और सच्चे उद्देश्य की ओर बढ़ने के लिए अपने-आपको तैयार करना...
५. हमारे अन्दर एक विवेकपूर्ण संकल्प-शक्ति है जिसे कम या अधिक बोध प्राप्त है और जो हमारे चैत्य पुरुष का प्रथम यन्त्र है। इसी युक्तिपूर्ण संकल्प-शक्ति का हमें उपयोग करके यह सीखना चाहिये कि एक पशु-मानव की तरह नहीं, वरन् सच्चे मनुष्य की तरह, देवत्व के उम्मीदवार की तरह कैसे जीना चाहिये।
६. शारीरिक शिक्षण का उद्देश्य है मानव शरीर की सभी सम्भावनाओं को विकसित करना, जैसे, सुसामञ्जस्य, शक्ति, नमनीयता, चतुरता, फुर्तीलापन, सहनशीलता आदि की सम्भावनाओं को प्रस्फुटित करना, अपने अंगों और इन्द्रियों की क्रियाओं पर अपना अधिकार बढ़ाना, एक सज्ञान संकल्प-शक्ति के व्यवहार के लिए शरीर को एक सर्वांगपूर्ण यन्त्र बनाना।
७. सचाई से काम में लग जाओ, देर-सवेर बाधाएं दूर हो जायेंगी।
८. बच्चों को यह समझकर शरारत छोड़नी चाहिये कि शरारती होना शर्म की बात है, न कि सजा के डर से।
९. मेरे लिए सुसंस्कृत रुचि का अर्थ है, सरल और सच्चा होना।
१०. हे प्रभो, परम सत्य,
हम तुझे जानने और तेरी सेवा करने की अभीप्सा करते हैं।
हमें अपने योग्य बालक बनने में सहायता कर।
११. बच्चे में कठिनाइयों पर विजय पाने की चाह जगानी चाहिये और यह भी कि यह विजय जीवन को विशेष मूल्य देती है; जब व्यक्ति ऐसा करना जान ले तो वह सदा के लिए अवसाद का नाश कर देता है और जीवन में नयी रुचि पैदा कर देता है।
१२. हम प्रगति करने के लिए धरती पर हैं और हमें सब कुछ सीखना है।
१३. बच्चों को यह सिखाना चाहिये कि वे जो कुछ करें अच्छी तरह करने के आनन्द से करें, चाहे वह बौद्धिक काम हो या कलात्मक या शारीरिक, और विशेषकर यह सिखाना चाहिये कि काम कैसा भी क्यों न हो, यदि उसे यत्न और कुशलता से किया जाये तो उसकी अपनी गरिमा है।

१४. शिक्षक बच्चों से जो बनने की अपेक्षा रखता है उसे उसका जीता-जागता उदाहरण बनना चाहिये।
१५. सच्ची मनोवृत्ति यह होनी चाहिये कि जीवन सतत अध्ययन का क्षेत्र है जहां सीखना यह सोचकर कभी बन्द नहीं करना चाहिये कि हमें जो कुछ जानना चाहिये वह सब हम जानते हैं। हम सदा अधिक सीख सकते हैं और ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं।
१६. "परम प्रभु, 'पूर्ण चैतन्य', केवल तू ही ठीक-ठीक जानता है कि हम क्या हैं, हम क्या कर सकते हैं, हमें क्या प्रगति करनी है जिससे हम तेरी सेवा के योग्य और समर्थ हो सकें, जैसा कि हम चाहते हैं। हमें अपनी सम्भावनाओं के प्रति सजग-सचेतन बना, अपनी कठिनाइयों के प्रति भी, ताकि हम निष्ठा के साथ तेरी सेवा करने के लिए उन पर विजय पा सकें।"
१७. प्रगति के लिए अनुशासन अनिवार्य है।
१८. सर्वोत्कृष्ट अनुशासन है भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण और तुम्हारी भावना में या क्रिया-कलाप में कहीं किसी और का कोई समावेश न हो। इस समर्पण से कुछ भी बच न पाये —यही चरम और कठोर अनुशासन है।
१९. यदि तुम सचमुच शान्ति और आनन्द चाहते हो तो तुम्हारी सतत लगन होनी चाहिये :
"मुझे ऐसी कौन-सी प्रगति करनी चाहिये ताकि मैं भगवान् को जान सकूँ, उनकी सेवा कर सकूँ?"
२०. अहंकार नाराज़ और बेचैन हो उठता है और यही अहंकार तुम्हारी चेतना को धुंधला बनाता और तुम्हारी प्रगति में बाधा डालता है।
२१. हम धरती पर प्रगति करने और अपने-आपको उत्तरोत्तर जीवनों में अधिक पूर्ण बनाने के लिए हैं। जो कुछ हम इस बार नहीं कर सकते उसे अगली बार करेंगे, और इस बार हम जो भी प्रगति कर लेंगे वह तब हमारी सहायता करेगी।
२२. व्यक्तिगत जीवन का प्रयोजन है भगवान् को खोजने तथा उनके साथ एक होने का आनन्द। जब तुम यह बात समझ लो तो तुम सभी कठिनाइयों को पार करने की शक्ति पाने के लिए तैयार होते हो।
२३. निम्न प्रकृति पर विजय किसी भी बाह्य सफलता की अपेक्षा अधिक गहरा और स्थायी आनन्द देती है।
२४. हर एक के अन्दर अपने अहंकार होते हैं और सभी अहंकार एक-दूसरे से टकराते रहते हैं। आदमी स्वतन्त्र सत्ता तभी बन सकता है जब वह अहंकार से पीछा छुड़ा ले। स्वतन्त्र होने के लिए तुम्हें पूरी तरह केवल भगवान् का ही होना चाहिये।
२५. जीवन की कठिन घड़ियों में हर एक का अत्यावश्यक कर्तव्य है भगवान् के प्रति समग्र, अप्रतिबन्ध आत्म-निवेदन में अपने अहंकार पर विजय पाना। तब भगवान् तुमसे वही करवायेंगे जो तुम्हें करना चाहिये।
२६. अपने-आपको धोखा देने की जरा-सी वृत्ति सफलता को असम्भव बना देती है।
२७. धरती पर कठिन घड़ियां मनुष्यों को अपने तुच्छ निजी अहंकार को जीतने और सहायता तथा प्रकाश के लिए केवल भगवान् की ओर मुड़ने को बाधित करने के लिए आती हैं।

- मनुष्यों की बुद्धिमत्ता अज्ञानमय है। केवल भगवान् जानते हैं।
२८. एक ऐसा क्षण आता है जब भागवत उपस्थिति के बिना जीवन असह्य हो उठता है। अतः अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को सौंप दो और तुम प्रकाश में उठ आओगी।
२९. भगवान् के साथ सचेतन सायुज्य का एक क्षण, चाहे जितना भी प्रबल प्रतिरोध क्यों न हो, उसे छिन्न-भिन्न कर सकता है।
३०. नीरवता में अधिकतम ग्रहणशीलता रहती है। और निश्चल-नीरवता में बड़े-से-बड़ा कार्य किया जाता है।
- आओ हम नीरव होना सीखें ताकि प्रभु हमारा उपयोग कर सकें।
३१. भौतिक जगत् के दुःख-दैन्य को समाप्त करने के लिए, जो अवचेतन निराशावाद का कारण है, भगवान् के साथ पूर्ण ऐक्य और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति ही अनन्य उपाय हैं। केवल भगवान् के साथ पूर्ण ऐक्य में ही चेतना का शाश्वत आनन्द में आविर्भाव हो सकता है। और यह सचेतन ऐक्य ही पार्थिव जीवन का सच्चा लक्ष्य है।

प्रार्थना

(जो लोग भगवान् की सेवा करना चाहते हैं उनके लिये एक प्रार्थना)

हे सब प्रकार के विघ्नों का नाश करनेवाले प्रभो, तेरी जय हो।
 वर दे कि हमारे अन्दर कोई चीज तेरे काम में बाधक न हो। वर दे कि तेरी अभिव्यक्ति में कोई भी चीज रुकावट न डाले।
 वर दे कि सभी चीजों में, हर क्षण तेरी ही इच्छा पूरी हो।
 हम तेरे आगे खड़े हैं ताकि हमारे अन्दर, हमारी सत्ता के अंग-प्रत्यंग में, हर एक क्रिया में, हमारी उच्चतम ऊंचाइयों से लेकर शरीर के छोटे-से-छोटे कोषों तक में तेरी इच्छा पूरी हो।
 वर दे कि हम तेरे प्रति सम्पूर्ण रूप से, सदा के लिये निष्ठावान् हों।
 हम और सभी प्रभावों से अलग रहते हुए पूरी तरह तेरे प्रभाव में रहें।
 वर दे कि हम तेरे प्रति गभीर और तीव्र कृतज्ञता रखना कभी न भूलें।
 वर दे कि हम कभी उन अद्भुत चीजों का अपव्यय न करें जो तू हमें हर क्षण देता रहता है।
 वर दे कि हमारे अन्दर की हर चीज तेरे कार्य में सहयोग दे और सब कुछ तेरी उपलब्धि के लिये तैयार हो जाये।
 हे समस्त सिद्धियों के स्वामी, प्रभो, तेरी जय हो।
 प्रदान कर हमें, अपनी विजय में ज्वलन्त और सक्रिय, अखण्ड और अटल-अचल श्रद्धा।

—श्रीमां

‘आपसी बातचीत’ :

भगवान् के रूप

हम बचपन से सुनते आ रहे हैं :

‘जिन्ह की रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी’, इसका क्या मतलब है?

यह चौपाई उस प्रसंग की है जब भगवान् राम जनक-सभा में आये थे। वहां वीरों ने उन्हें महान् योद्धा के रूप में, स्त्रियों ने सुकोमल नवयुवक के रूप में, शत्रुओं ने कराल काल के रूप में देखा। हमारे जीवन के लिए यह बात उतनी ही सत्य है। प्राचीन योग-प्रणालियों में साधक जीवन से ऊपर उठकर भगवान् की खोज करते थे और उन्हें वहीं पर भगवान् मिलते थे। जो लोग जीवन को माया और भ्रम मानते हैं उन्हें भगवान् को पाने के लिए इनमें से निकलना ही पड़ता है। मुश्किल तो यह है कि जो लोग भगवान् के अवतारों की उपासना करते हैं, रासलीला, चीरहरण, लीला आदि के गान गाते हुए नहीं थकते, वे भी यही मानते हैं कि भगवान् यहां आते हैं हमारा उद्धार करने के लिए, हमें भवसागर से पार करने के लिए। वे जब किसी से प्रसन्न होते हैं तो उसके जन्म-मरण के बन्धन काटकर उसे सीधा परमधाम भेज देते हैं। बेचारा संसार जैसे का वैसे ही रोता-कलपता रह जाता है।

हम भगवान् से जिस चीज की आशा करते हैं हमें उनके अन्दर वही चीज दिखायी देती है। भगवान् का एक ही रूप कृष्ण-भक्त को कृष्ण के रूप में और ईसाई को ईसा के रूप में दिखायी देता है। हममें से हर एक के अन्दर भगवान् का एक अंश विद्यमान है इसलिए सभी के लिए साक्षात्कार सम्भव है। यह सम्भावना सबके अन्दर एक जैसी है परन्तु प्राप्ति हमारी क्षमता के अनुसार होती है। इन चीजों को भाषा में रखना बहुत कठिन है लेकिन भाषा में रखे बिना काम भी नहीं चलता। हम कह सकते हैं कि हम भगवान् से मिलना चाहते हैं। कोई एक बिन्दु पर मिल पाता है, कोई पांच पर, कोई पांच हजार पर। जहां मिलन हो जाता है वहां तो वह पूरा-पूरा होता है परन्तु उस मिलन की सीमा होती है उन बिन्दुओं की संख्या पर, जिन पर हम मिल पाते हैं। आदर्श तो यही है कि हमारा सब कुछ उनके साथ मिल जाये, उनके साथ एक हो जाये।

साधारणतया लोग सीमा निश्चित कर लेते हैं। हमें हनुमानजी से मिलना है, हमें भैरव का साक्षात्कार चाहिये, हमें राम-लक्ष्मण की जोड़ी का दर्शन करना है। इस तरह तय कर लेनेवाला अपने मार्ग को संकुचित कर लेता है। वह अपना अभीष्ट तो पा लेता है पर बाकी के लिए अपना द्वार बन्द कर लेता है। इसमें मार्ग बंधा हुआ और छोटा होता है इसलिए अभीष्ट की सिद्धि भी जल्दी हो जाती है। श्रीअरविन्द किसी एक मार्ग को अपनाने के लिए नहीं कहते। वे सभी रास्तों को अपनाते हुए हमें एक गोलाकार गति से चलाते हैं। ठीक शब्द न होने के कारण इस शब्द का प्रयोग करना पड़ रहा है, हमारा मतलब है एक ऐसी गति से जो हर चीज को, हर रास्ते को अपने अन्दर लेती चलती है, इसके अन्दर सब कुछ आ जाता है। स्वाभाविक है कि इस तरह गति ज्यादा कठिन और धीमी होती है पर साथ ही अधिक पूर्ण भी होती है।

लेकिन साधक यदि अपने सामने एक ही मार्ग देखता है, उसी को चुनकर उसी पर बढ़ता

जाता है, रास्ते में आनेवाली सब चीजों को हटाता जाता है तो उसकी गति ज्यादा तेज हो सकती है। जैसे अगर किसी ने निर्वाण को अपना लक्ष्य बना लिया है और संसार में अभिव्यक्ति से बाहर निकल जाना चाहता है तो वह अपने मार्ग पर बढ़ता हुआ उस स्थान पर पहुंच जाता है जहां अभिव्यक्ति की चेतना नहीं रहती, सब कुछ शून्य के जैसा हो जाता है, सुख दुःख आदि का अस्तित्व तक नहीं रहता। संसार तक का अस्तित्व नहीं रहता।

व्यक्तिगत रूप से देखा जाये तो यह सन्तोषजनक स्थिति है लेकिन इन विधियों से आदमी अपने-आप तो मोक्ष या निर्वाण या जो कुछ कहें, पा लेता है परन्तु बाकी सृष्टि अपनी मुसीबतों में जैसी की वैसी ही फंसी रहती है। श्रीअरविन्द का योग एक बिन्दु पर पूर्णता पाकर पूरा नहीं हो जाता। हम कह सकते हैं कि श्रीअरविन्द सम्पूर्ण पूर्णता चाहते हैं। इसमें हम सीधे दौड़ नहीं सकते। थोड़ा आगे बढ़ने के बाद रुकना होता है, रुककर पीछे रहे हुए भाग या भागों को अपने साथ समेट लेना होता है और फिर आगे बढ़ना होता है। हमारे अन्दर बहुत-से भाग हैं, सबको साथ लेकर चलने में अधिक परिश्रम और अधिक समय की जरूरत होती है और यह लगता है कि गति बन्द हो गयी है। परन्तु यह केवल लगता ही है। सचमुच इस तरह से ज्यादा पूर्ण प्रगति होती है। इसके परिणामस्वरूप साधक अभिव्यक्ति से बाहर नहीं जाता, अपने अंशों को यहीं सड़ने के लिए छोड़कर अपने-आप नहीं बढ़ जाता बल्कि अपने सारे जीवन में, अपने सभी अंशों में ऊंची-से-ऊंची चेतना को उतारने की तैयारी करता है और इसके परिणाम केवल व्यक्ति के लिए नहीं चेतना के लिए होते हैं और चेतना केवल एक व्यक्ति में ही छिपी नहीं बैठी।

विषय कठिन है, इसे समझने के लिए ठीक शब्द मिलना मुश्किल है और जिन शब्दों का उपयोग किया जाये उनसे गलतफ़हमी होने की बहुत अधिक सम्भावना रहती है। फिर भी हम कह सकते हैं कि श्रीअरविन्द का योग इस जगत् में भगवान् की चेतना को उतारने का प्रयास करता है और संसार को उसे ग्रहण करने के लिए तैयार करता है। इसकी पूरी अभिव्यक्ति होने पर उसे न माननेवाले भी, मानने से इन्कार करनेवाले भी उसे देख सकेंगे, उससे लाभ उठा सकेंगे। यह पूर्णयोग का परिणाम होगा।

—रवीन्द्र

श्रीअरविन्द के साथ बातचीत

२४ मई १९४०

पु—ऐसा लगता है कि अब अंग्रेज 'एक्स्पीडीशनरी फोर्स' दो जर्मन सेनाओं से घिरी हुई है। उन्हें या तो धक्का देकर बढ़ जाना चाहिये या फिर से नौकारोहण करना चाहिये।

श्रीअरविन्द—अंग्रेज उन्हें अपने अधिकृत स्थानों से खदेड़ने की कोशिश करेंगे।

नी—यह आश्चर्य की बात है कि जर्मन दो सप्ताह में बेल्जियम के पार हो गये हैं। इससे मुझे चंगेज़ खां की याद हो आती है।

श्रीअरविन्द—केवल घुस नहीं गये बल्कि उन्होंने मित्र-राष्ट्रों को पीछे धकेल दिया।

पु—डफ़ कूपर ने अमरीका के युद्ध में शरीक होने के बारे में एक लेख लिखा है। वह कहता है कि अगर मित्र-राष्ट्र मात खा जायें तो अमरीका जरूर युद्ध में उतर आयेगा। नहीं तो स्वयं अमरीका अगला शिकार होगा।

श्रीअरविन्द—निश्चय ही, लेकिन हिटलर इतनी जल्दी अमरीका की ओर नहीं मुड़ेगा। वह पहले बाल्कन की ओर जायेगा और अगर स्टालिन रास्ते में आये तो रूस में घुस पड़ेगा। पहले एशिया और अफ्रीका लेकर वह अमरीका की ओर मुड़ेगा। तुम्हें वॉशिंगटन के तीन स्वप्नों की याद है? : १. इंग्लैंड के साथ युद्ध, २. अमरीका में गृह-युद्ध ३. सभी मिश्रित जातियों, काले, गोरे आदि के द्वारा अमरीका का नाश। मेरा ख्याल है कि हिटलर एक अमरीकी गोलिएटर को चुन लेगा जैसा उसने ऑस्ट्रिया में किया है।

नी—गोलिएटर क्या होता है?

श्रीअरविन्द—गो हुआ प्रदेश, गोलिएटर हुआ प्रदेश का रक्षक। ऑस्ट्रिया बहुत-से प्रदेशों में बंटा हुआ है और हर एक किसी गोलिएटर के आधीन था। नॉर्वे, बेल्जियम और डेनमार्क में भी यही हुआ है। मैं आशा करता हूँ कि यह अमरीका में सफल न होगा। जैसा कि मैंने कहा, हिटलर का स्पष्ट उद्देश्य है, विश्व-राज्य।

नी—और अगर हिटलर हार गया तो उसके मार्गदर्शक सलाहकार का क्या होगा?

श्रीअरविन्द—वह किसी और को हथियाने की कोशिश करेगा जैसे स्टालिन को। लेकिन जैसा मैंने कहा, स्टालिन अपने-आपमें एक शैतान है, बिल्कुल सर्द और हिसाब-किताब करनेवाला, जो ऐसी सत्ता के काम के लायक नहीं है।

नी—माताजी ने कहा है कि स्टालिन स्वयं शैतान का अवतार है।

श्रीअरविन्द—हां।

नी—दिलीप का कहना है कि वह भूत-बाधा से भी बढ़कर है। वह रूस में नाच-गान आदि क्यों होने देता है?

श्रीअरविन्द—वह तो होगा ही। वह बौद्धिक असुर है। ये सब तरकीबें लोगों को सन्तुष्ट रखने की हैं। लेकिन अगर वे सरकार के विरुद्ध कुछ करें तो उन्हें गोली मार दी जायेगी। और संगीत भी कैसा? ग्रामीण गीत? शक्ति को अपने हाथ में रखने के लिए उसने साम्यवाद के तरीके को अपनाया है। हिटलर की सत्ता राक्षसी है।

नी—क्या ये सत्ताएं अमर हैं?

श्रीअरविन्द—नहीं, उन्हें नष्ट किया जा सकता है, लेकिन वे फिर से जन्म ले सकती हैं।

नी—भौतिक जगत् में?

श्रीअरविन्द—नहीं, अपने ही जगत् में। (कुछ देर बाद) कहते हैं, गामलें ने अपने-आपको गोली मार ली है।

पु—नहीं, यह जर्मन समाचार है।

श्रीअरविन्द—उसने ऐसा किया होगा। उसके ताजा चित्र में उसका चेहरा एक हारे हुए, बहुत ही कमजोर आदमी का है। उसकी ठोड़ी बहुत ही अनर्थकारी थी।

नी—पेटों के अन्दर कुछ है।

श्रीअरविन्द—हां, उसमें जबर्दस्त शक्ति है, परन्तु वह बहुत बूढ़ा हो चुका है।

नी—शायद वह शक्ति का उपयोग कर सके।

श्रीअरविन्द—जैसा कि मैंने कहा, वह बहुत बूढ़ा हो चुका है। लेकिन लगता है उसकी बौद्धिक शक्ति वैसी की वैसी ही है। उसने स्पेन को शत्रु से मित्र बना लिया।

पु—हां, फ्रैंको पर उसका बहुत प्रभाव है।

नी—दिलीप अतिमानस की ओर परिवर्तित हो गया है। (श्रीअरविन्द आश्चर्य दिखाते हैं) हां, वह कहता है कि केवल अतिमानस ही मानवता को बचा सकता है। अगर उसने अतिमानस का मज़ाक उड़ाया है तो सब मज़ाक है। (श्रीअरविन्द हंसते हैं)

नी—पर वह निराश है और इस दुःखभरे जगत् को छोड़ना चाहता है।

श्रीअरविन्द—उसे और भी ज्यादा दुःखभरे जगत् में आना पड़ेगा।

पु—जब यह युद्ध समाप्त हो जाये तो पच्चीस साल के बाद फिर से युद्ध आ सकता है जब तक कि कोई स्थायी हल न निकल आये।

श्रीअरविन्द—हां, हमने राष्ट्रों की पद्धति विकसित कर ली है और अब हमें राष्ट्रों की एकता को विकसित करना चाहिये। अगर ऐसा न हुआ तो ये प्रकोप बार-बार होते रहेंगे जबतक कि प्रकृति की शक्तियां हमें एक हल लाने के लिए बाधित न करें।

पु—‘सामाजिक विकास के मनोविज्ञान’^१ में आपने यही बात कही है। जिन जातियों और राष्ट्रों ने प्रतिरोध किया उन्हें मिट जाना पड़ा।

श्रीअरविन्द—राजतन्त्र के वापिस आने से पहले फ्रांस की यही हालत थी। एक ओर मानवता जुड़ी हुई है और दूसरी ओर राष्ट्रीय अहंकार वैसे का वैसे बना हुआ है। हां, एकता को जीवन्त एकता होना चाहिये, रोम के साम्राज्य की तरह नहीं जिसमें पुरानी संस्थाएं और संगठन वैसे के वैसे बने रहे...।

—नीरदवरण

श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार

(इस बार के सभी उत्तर श्रीअरविन्द के दिये हुए हैं। —सं.)

प्राण और मन का क्या कार्य है?

यह प्रश्न इतना बड़ा है कि कुछ पंक्तियों में इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। लेकिन मन का मुख्य कार्य है दर्शन, विचार और समझ। प्राण का मुख्य कार्य है संवेदन, आवेग और कामना। १३ सितम्बर १९३३

सूक्ष्म प्राण और भौतिक प्राण का क्या अर्थ है? उनकी क्या क्रिया है?

^१ अब यह पुस्तक मानव-चक्र (Human Cycle) के नाम से है।

सूक्ष्म प्राण के बारे में मैं नहीं जानता। हम सूक्ष्म शरीर स्थूल जड़-भौतिक शरीर से भेद करने के लिए कहते हैं क्योंकि हमारी साधारण अनुभूति के लिए सारा भौतिक ही स्थूल है। प्राण स्वभावतः अभौतिक है इसलिए उसके साथ यह विशेषण व्यर्थ है। भौतिक प्राण से हमारा मतलब होता है ऐसा प्राण जो भौतिक में इस तरह अन्तर्लीन हो कि वह उसकी गतिविधि से और उसके भौतिक स्वभाव से बंध जाये। उसका कार्य होता है शरीर को सहारा देना, उसमें ऊर्जा भरना तथा जीवन, वृद्धि, गति आदि की क्षमता बनाये रखना और यह भी कि वह बाहर के संघातों के प्रति संवेदनशील रह सके।

“प्रायः एक अविकसित धर्म से विकसित धर्म और निचले से ऊपर के धर्म की ओर जाने के लिए अधर्म रास्ते या तैयारी के रूप में जरूरी है।” (‘यौगिक साधन’)

लेखक का क्या आशय है?

मुझे प्रसंग याद नहीं है लेकिन मेरा ख्याल है कि उसका मतलब है कि जब आदमी को निचले धर्म से छुटकारा पाना होता है तो प्रायः उसे तोड़ना पड़ता है ताकि वह ज्यादा बड़े धर्म पर आ सके। उदाहरण के लिए, सामाजिक कर्तव्य, ऋण-मोचन, परिवार की देखभाल, देशसेवा में सहायता आदि। जो आदमी आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ता है उसे इन सब चीजों को पीछे छोड़ देना पड़ता है और अपने इस अधर्म के लिए बहुत-से लोग उसे बुरा-भला कहते हैं, लेकिन अगर वह यह अधर्म न करे तो वह हमेशा के लिए निम्नतर जीवन के साथ बंधा रहेगा, क्योंकि हमेशा ही कोई-न-कोई कर्तव्य पूरा होने के लिए बना रहेगा, इसलिए वह आध्यात्मिक जीवन नहीं अपना सकता या फिर तभी अपना सकता है जब बूढ़ा हो जाये और उसकी क्षमताएं घिस जायें। यह एक उदाहरण का तथ्य है।

१४ सितम्बर १९३३

इसके लिए हमें क्या करना चाहिये कि प्राण मन की क्रियाओं में गड़बड़ न कर पाये और केवल वही करे जो भगवान् द्वारा स्वीकृत है।

मिलावट के बारे में सचेतन होओ और उसे त्याग दो।

१५ सितम्बर १९३३

क्या चित्त मन का एक भाग है या उससे भिन्न है?

यह मन और प्राण के नीचे स्थित आधारभूत चेतना है।

मनोमय पुरुष का क्या अर्थ है?

चेतना के हर स्तर की एक तात्त्विक सत्ता होती है जिसे पुरुष कहते हैं, जैसे हर एक की अपनी प्रकृति से कार्य और गतिविधि की विशेष शक्ति होती है वैसे ही हर एक का पुरुष होता है। वह सत्ता का एक भाग होता है जो सहारा देता, अवलोकन और अनुभव करता और प्रकृति की गतिविधियों का नियन्त्रण भी कर सकता है।

१५ सितम्बर १९३३

कृपया बतलाइये कि जब 'क्ष' नाराज हुआ तो मुझे कांपने का अनुभव क्यों हुआ?

प्राणिक गतिविधियां (कामना, क्रोध, भय आदि) ऐसे स्पन्दन पैदा करती हैं जो वातावरण में बिजली की लहरों की तरह फैलते हैं और जो लोग खुले हुए, संवेदनशील या दुर्बल हों उन पर प्रहार करते हैं।

१६ सितम्बर १९३३

एक स्वप्न : मैंने अपने-आपको आश्रम से बहुत दूर किसी शहर में पाया। मैं वहां साधकों के साथ खेल रहा था। मैं माताजी को पूरी तरह भूल गया था। कुछ समय बाद मैंने उन्हें याद किया और "मां, मां" कहने लगा। मैं आश्रम में लौट आया। इसका क्या मतलब है?

यह उसका प्रतीक है जब तुम माताजी और सत्य चेतना (आश्रम) को भूलकर किसी अन्य दूर की चेतना (दूसरे शहर, प्राण) में जाकर अन्य साधकों के साथ प्राणमय सम्बन्ध (खेल) स्थापित करते हो।

१७ सितम्बर १९३३

आध्यात्मिक सुख का क्या अर्थ है?

ऐसा सुख जो बाहरी या भौतिक चीजों अथवा मन और प्राण की कामनाओं की तुष्टि पर निर्भर न हो बल्कि स्वयम्भू हो या अपने भीतर स्थित भगवान् या चीजों के अन्दर स्थित भगवान् के साथ सम्पर्क से आता हो।

१८ सितम्बर १९३३

"हमें केवल मन और इन्द्रियों के जाल को ही नहीं काटकर फेंक देना है बल्कि विचारक के जाल, धर्मगुरुओं और सम्प्रदायों के जाल, शास्त्र के फन्दों और विचार की दासता से भी निकल भागना चाहिये।" ('आर्य')

क्या आप इसका अर्थ मुझे समझा सकेंगे?

यह बहुत समय लेगा। तुम किसी और से समझ सकते हो, यह कठिन नहीं है। इसमें केन्द्रीय विचार यह है कि भागवत सत्य किसी भी धर्म, सिद्धान्त, शास्त्र, विचार या दर्शन से महान् है-

अपनी
। वह
ते की

अतः तुम्हें इनमें से किसी से भी बंधना नहीं चाहिये।

अन्तर्दृष्टि क्या है?

जब तुम भौतिक दृष्टि से नहीं बल्कि आन्तरिक दृष्टि से देखते हो तो उसे अन्तर्दृष्टि कहा जाता है।

२० सितम्बर १९३३

ण में
न पर

चैत्य शान्ति क्या है?

शान्ति, जो हृदय के भगवान् को समर्पण से आती है।

२१ सितम्बर १९३३

गंधकों
उन्हें
है?

पुरुष प्रकृति की गतिविधि को कब नियन्त्रण में रख सकता है?

जब वह ऐसा करना चाहेगा करना आरम्भ कर देगा। उसी मात्रा में प्रकृति भी उसकी इच्छा का उत्तर देना सीख जायेगी।

२३ सितम्बर १९३३

यादूर
पापित

यौगिक साधन के लेखक का इससे क्या मतलब है, “जब मनुष्य स्वयं भगवान् बन जाता है?”

उसका मतलब है, “जब वह भगवान् के साथ तादात्म्य पा लेता है”, या “जब वह स्वयं को केवल भगवान् का एक अंश मानता है और उसी तरह सोचता और क्रिया करता है।”

२४ सितम्बर १९३३

नेर्भर
न् के

लोग क्यों मरते हैं?

शरीर घिस जाता है।

गरक
वा से

संवेग और कामिनाएं कहाँ से आती हैं—अन्दर से या बाहर से?

पहले बाहर से आती हैं, फिर वे अन्दर रूप लेकर ऊपर उठती हैं।

२५ सितम्बर १९३३

न्द्रीय
है—

सपने में मैंने किसी घर के सामने एक सांप देखा, वह गोल-गोल घूम रहा था।

सांप किसी तरह का कोई गलत सुझाव है, जो हमेशा अपने-आपको दोहराता रहता है।

आज मैं एक तरह की व्याकुलता और उदासी महसूस कर रहा हूँ। क्यों, कैसे और किसके द्वारा यह उदासी भेजी गयी है?

हो सकता है सांप को देखने का परिणाम हो।

२५ सितम्बर १९३३

आज मैं थकान महसूस कर रहा हूँ, शायद मैंने काफी आराम नहीं किया—लेकिन मैं क्या करूँ? मुझे समय ही नहीं मिलता!

अगर तुम अपने दिन को ज्यादा समझदारी से व्यवस्थित करो, व्यर्थ के आने-जाने से बचो तो निश्चय ही तुम्हें आराम करने का समय मिल जायेगा।

३० सितम्बर १९३३

आजकल मुझे एकदम भूख नहीं लगती। रोटी के एक छोटे टुकड़े और जरा-सी सब्जी से ही मेरा पेट भर जाता है।

यह केवल प्राण की कोई सनक होगी—तुम्हें इससे ज्यादा खाना चाहिये, खासकर तुम्हारी उम्र में अच्छी तरह न खाना शरीर के लिए खराब है।

६ अक्तूबर १९३३

एक सपना : चार-पांच लोग माताजी के दर्शन के लिए इन्तजार कर रहे थे। मेरी बारी 'ग' के बाद थी। चूंकि मुझे कुछ देर हो गयी इसलिए कोई और माताजी के पास चला गया। कुछ देर बाद माताजी सीढ़ियों से नीचे उतरतीं। मैं 'घ' से बातें करने लगा। जब मैं सीढ़ियों तक गया तो माताजी अन्दर जा चुकी थीं। इसका क्या मतलब है?

और कुछ नहीं बस यही कि तुम अपना अवसर बार-बार खो रहे थे क्योंकि तुम और चीजों में लगे थे।

आज सुबह मैंने बहुत उदासी महसूस की : मैं साधना में कोई प्रगति नहीं कर रहा, उल्टे, "मैं पीछे गिरता जा रहा हूँ।"

यह निम्न प्राण और भौतिक प्रकृति में तमस् की क्रिया है।

१५ अक्तूबर १९३३

प्यार का पहरा

हर एक नन्हा-मुन्ना यही कहता सुनायी पड़ता है—मम्मी हम भी चलेंगे। जो और भी छोटे हैं, अभी बोल भी नहीं फूटा, वे आंखों में समस्त करुणा भरकर पांव पटकते हैं और नन्हीं बांहों के पंख फैला देते हैं। प्यार की उस पुकार के आगे मां हार मान जाती है और झपटकर नन्हें को कलेजे से लगा लेती है। प्यार के सागर में उमड़े हुए उस ज्वार की थाह पाना देवताओं के लिए भी सम्भव नहीं, हमारी तुम्हारी तो हस्ती ही क्या है।

यह तो हुई बात बालक की पुकार की; परन्तु बिना पुकारे भी मां की ममता का सागर निरन्तर लहराता ही रहता है। ममता और प्यार के इस लेन-देन की कोई भाषा नहीं, कोई पुस्तक नहीं, सिखाने का कोई स्कूल भी नहीं। पशुओं और जीव-जन्तुओं से हम अपने-आपको ऊंचा भले ही मानकर मन को भुलावे में रखे रहें; परन्तु यदि एक बार इस बीच के पर्दे को चीरकर देखें तो हम चकित रह जायेंगे। कहीं-कहीं तो ममत्व और मातृ-ममता की ऊंचाई तक मनुष्य पहुंच भी नहीं पाता। शिशु के लिए निःस्वार्थ प्रेम, अन्धी ममता, प्यार, त्याग, बलिदान और अपने पांवों पर खड़े होने की बच्चों को शिक्षा देने की क्षमता जन्तुओं में भी कूट-कूट कर भरी हुई है। इसे समझने के लिए आओ, प्राणी-जगत् की कुछ सच्ची घटनाएं सुनें, समझें।

एक था बरसाती नाला। बाढ़ के पानी से उफना-उफना बह रहा था, मानों किनारे तोड़कर ही दम लेगा। इस ओर एक बूकरी (मांदा सूअर) अपने आठ बच्चों के साथ सोच में खड़ी थी। सोच रही थी कि सामने के किनारे पर इन सबको लेकर कैसे पहुंचा जाये। उसने अपनी बोली में बच्चों से कहा, देखो... और, वह अकेली तेज पानी में कूदकर, एक चक्कर काट लौट आयी। मानों, उसने यह समझाया कि यह तो खेल है, खतरा नहीं। फिर उसने उन्हें हिम्मत बंधायी और अपने पीछे-पीछे आने को कहा। एक-एक करके वे आठों पानी में उतरकर, सहमे-सहमे मां की पीठ से सटे-सटे रहे और बूकरी अपने तथा उनके लिए भी, पानी काटती हुई, तैरकर दूसरे किनारे जा पहुंची।

ऐसी ही कहानी एक गिलहरी की है। पेड़ की डाल पर कुछ दूर ही उसका बच्चा नयी कोंपलें कुतर रहा था। सहसा एक उल्लू ऊपर की डाल पर आया और ललचायी दृष्टि से बच्चे को ताकने लगा। तुरन्त ही उसकी मां ने अपनी तेज किलकारी से बच्चे को सावधान कर दिया। उतनी ही तेजी से बच्चा डाल पर सर्कस के झूले की तरह झूल गया। मां ने दूसरी विचित्र किलकारी दी। उल्लू ने समझा कि दूसरा शिकार कहीं निकट ही है। ज्यों ही उसने गर्दन मोड़ी, बच्चा टप से निकट ही पत्तों के ढेर पर कूद पड़ा और फुर्ती से झपटकर मां उसे ले भी गयी। उल्लू को खूब उल्लू बनाया।

बंदरों को तो तुम बहुत निकट से देखते ही होगे। इस बार रोटी डालते समय, बच्चे को चिपकाये, किसी बंदरिया को गौर से देखना। रोटी के लोभ में बच्चा मां से दूध छुड़ाकर, जरा भटकना चाहेगा, तो मां उसे लपककर फिर से चिपका लेगी, परन्तु अपनी पहुंच से दूर न जाने देगी। जब कभी बच्चा अचानक किसी कमरे में बन्द हो जाता है, तब तो बंदरिया अपनी सांकेतिक पुकार मचाकर बंदरों की इतनी बड़ी फौज जुटा लेगी कि उनके घेरे से बचना कठिन हो जायेगा। बच्चे को पुनः प्राप्त करके ही वह घेरा उठेगा, अन्यथा डेरा पड़ा ही रहेगा।

ऑस्ट्रेलिया देश अति विचित्र जन्तुओं के लिए प्रसिद्ध है। पेट के बाहर लटकती थैलीयुक्त प्राणियों में कंगारू और कोआला मुख्य हैं। ठीक ऐसा ही थैलीयुक्त प्राणी—आपोसम, अमेरिका में पाया जाता है। जो कंगारू भरा-पूरा, बड़ा होने पर दौड़ने में हिरन को मात करता है और एक ही लात से हमारी हड्डी-पसली तोड़ सकता है, वह मां के पेट से बाहर आने पर आधे इंच से बड़ा नहीं होता। उसके तीन शिशुओं को एक माचिस की पेटी में आराम से सुलाया जा सकता है। उन नहीं खूंटियों को मां अपने पेट से चिपकाये फिरती है। कुछ बड़े होने पर जब कभी थैली से बाहर की हवा खाने को मन करता है, तब कुछ देर इधर-उधर फुदक लेते हैं और तनिक भी आहत होने पर उछलकर फिर से थैली में गड़ाप हो जाते हैं। जब इन्हें पेट की थैली में लिये-लिये फिरना, उछलना-कूदना भारी पड़ता है, तब मां इन्हें लादे-लादे फिरती है।

रेगिस्तान की लम्बी यात्राओं में भी जब-तब नन्हें ऊंट-बच्चे को भी थकान से बचाने के लिए सवारी देने की जरूरत पड़ जाती है। उस समय जैसे थका बालक अपनी मां या पिता के कन्धे पर सवारी गांठता है, वैसे ही नन्हें ऊंट-मियां को भी मम्मी या डैडी की सवारी का मजा उठाने दिया जाता है।

पानी में रहनेवाले जन्तु कुछ अलग नहीं हैं। पाइप-फिश नामक मछली के परिवार में तो मां का काफी बोझ पिता पर ही रहता है। पिता के शरीर में, नीचे की ओर तथा पूंछ तक की लम्बाई में एक नली होती है और उसे ढकने के लिए खाल का पर्दा भी होता है। बस, मां तो उस नली में अण्डे देकर छुट्टी पा जाती है, बाकी सारा भार पिता को उठाना पड़ता है। उस भार को पेट से बांधे ही बांधे उसे बाकी सब काम करने पड़ते हैं। उसी में बच्चे तैयार होकर अण्डों से बाहर निकल आते हैं।

चिम्पेंजी यानी बड़ा बंदर, यानी हम-तुमसे बहुत मिलता-जुलता वनमानुष, उसकी भी परिवार-व्यवस्था समझने लायक है। जब रात होती है, तब बड़े पेड़ के नीचे सबसे निचली डाल पर गृहस्वामी अर्थात् पप्पाजी अपना बिस्तर जमाते हैं और मम्मी सारे बच्चों को सहेजकर अपने से सटाकर सोती है, सोती क्या है, हर सांस का पहरा लगाती है।

प्यार का कैसा जबर्दस्त पहरा!

—श्यामसरन अग्रवाल
(‘पुरोधा’ मार्च ७४ से)

प्राण

(एक युवक के साथ पत्र-व्यवहार)

मेरी उम्र के बच्चे बड़े फुर्तीले और सीखने के उत्साही होते हैं, लेकिन मैं उनसे उलटा हूँ। इसका कारण यह है कि तुमने स्वयं अपनी आन्तरिक अवस्था के बारे में बहुत अधिक सोचना शुरू कर दिया है—यह वह अवस्था नहीं है जब सारा ध्यान अपने ही ऊपर या अन्दर की ओर केन्द्रित होना चाहिये।

अपने बारे में कम सोचो—चीजों में, काम में, विचारों में, ज्ञान में अधिक रस लो।

—श्रीअरविन्द

नहीं, तुम नीचे नहीं गिर रहे, लेकिन तुम अपने प्राण में बहुत ज्यादा अस्थिर हो इसीलिए ये 'मूड' आते हैं, इस उम्र में प्रायः आया ही करते हैं। जब सारे समय काम-धन्धा, खेल-कूद, पढ़ाई-लिखाई आदि न हों जो मन को व्यस्त और विकसनशील रख सकें ताकि आदमी अपनी मानसिक और प्राणिक गतिविधियों में लगा रहे तब ऐसा होता है।

—श्रीअरविन्द

*

मुझे कोई रास्ता नहीं दिखाई देता जिससे मैं अपने प्राण को पढ़ने-लिखने की आवश्यकता समझा सकूँ। क्या ख्याल है आपका?

तुम्हारे प्राण को ज्यादा समझदार और सन्तुलित होना चाहिये और तुम्हारे मन की बात सुननी चाहिये। अगर वह कहे कि उसे पढ़ना-लिखना अच्छा नहीं लगता तो बात समझ में आती है, लेकिन पढ़ने-लिखने की आवश्यकता को न देख सकने का कारण यही हो सकता है कि वह देखना नहीं चाहता।

उससे यह कहो और जरा अधिक खुलने के लिए डांट पिलाओ।

—श्रीअरविन्द

*

पहली चीज यह है कि प्राण गड़बड़ करे तो सुझावों के और आवेशों के अनुसार मत चलो। जब वह देख लेगा कि वह तुम पर हावी नहीं हो सकता तो शरारत करना छोड़ देगा।

—श्रीअरविन्द

*

जब वह (प्राण) आये तो उसे स्वीकार मत करो, जो वह कहे उस पर विश्वास न करो। उसके आदेशों के अनुसार कार्य न करो। तब उसे रोकना कठिन न होगा।

—श्रीअरविन्द

*

इच्छा-शक्ति और ऊर्जा को मांसपेशियों की तरह व्यायाम द्वारा प्रशिक्षित किया जा सकता है, अभी इस भीड़ के कारण मैं तुमसे मिल नहीं सकती लेकिन धीरज धरने के लिए इच्छा-शक्ति का और अवसाद को दूर करने के लिए अपनी ऊर्जा का उपयोग करो। मैं अपने पूरे प्रेम के साथ हमेशा तुम्हारी सहायता के लिए तुम्हारे साथ रहती हूँ।

—श्रीमां

*

अगर तुम अवसाद को अवसर दो तो वह लौट आता है। उसे अवसर मत दो, वह आये तो उसे रहने के लिए जगह न दो।

—श्रीअरविन्द

*

पीड़ा को अस्वीकार कर दो, हर ऐसी गति को अस्वीकार कर दो जो तुम्हें माताजी से दूर ले जाती है। अपनी आन्तरिक सत्ता के साथ बिना कोई मांग या प्रश्न किये पूरी श्रद्धा के साथ उनसे चिपके रहो।

—श्रीअरविन्द

*

अपने-आपको यातना न दो मेरे वत्स, और किसी चीज से न डरो। मेरी कृपा हमेशा तुम्हारे साथ रहेगी और तुम्हें कभी धोखा न देगी। और फिर यह मानने का कोई कारण नहीं है कि तुम इस जीवन में सफल न होओगे। इसके विपरीत, मैं तुम्हारे अन्दर पुकार के चिह्न देखती हूँ और चूँकि तुमने धीरज धरने का निश्चय कर लिया है इसलिए कठिनाइयों पर विजय अवश्य प्राप्त होगी।

—श्रीमां

*

मानव सामान्यतया असह्य है।

हम सचमुच जाननेवाले ज्ञान के लिए, सचमुच शक्तिशाली शक्ति के लिए, सचमुच प्रेम करनेवाले प्रेम के लिए अभीप्सा करते हैं।

—श्रीमां

आनन्द का बीज

(१९७४ में पुरोधा में छपी कनिष्ठा जी की इस सुन्दर प्रतीकात्मक कहानी का रसास्वादन हम एक बार फिर लें...। सं.)

मैंने बादलों के सफेद और मुलायम परदों को धीरे-से हटाया और धरा की एक झलक पाने की कोशिश की। लेकिन... अरे? यह क्या? सामने खड़े दृश्य को देख मेरी उत्सुकता और आशाभरी आंखें विद्रोह तथा निराशा के आंसुओं से छलछला उठीं और मेरे मन में गूँज उठा यह प्रश्न, 'क्या यही है पृथ्वी का अनुपम सौन्दर्य? क्या यही है ब्रह्मा की सर्वश्रेष्ठ कृति? कहां गयीं वे सुन्दर नीली नदियां, वे हरे-भरे पेड़-पौधे, सुगन्धित हवा में झूमनेवाले वे रंग-बिरंगे फूल, सुनहरी किरणों से चुम्बित वे गर्वात्रत पहाड़, पक्षियों की संगीत-लहरी से गूंजती हुई वह घाटी? कहां गया वह अपूर्व लावण्य जिसका सजीव वर्णन मुझे कितनों ने सुनाया था, जिसका अनुपम स्वप्न मैंने अपने हृदय की गहराइयों में कितनी आशा और उत्सुकता के साथ संजोये रखा था? क्या यही पृथ्वी है—यह घोर अनन्त अन्धकार? नहीं, नहीं, यह सम्भव नहीं! ब्रह्मा की हर एक सृष्टि सुन्दर होती है। इसका मुझे पूरा विश्वास था। तो फिर यह अन्धकार आया कहां से? मैं सोचती रही... बैठी-बैठी सोचती रही। लेकिन इस रहस्य का अर्थ खोजना मेरे लिए सम्भव नहीं था। हां, एक बार विचार आया कि शायद बादलों का श्याम रंग पृथ्वी पर प्रतिबिम्बित

हुआ होगा और इसी कारण वह अन्धकारमय प्रतीत हुई होगी। लेकिन नहीं, आज तो बादल बिलकुल सफेद थे। तो फिर?...

मैंने एक आह भरी और निराशा से भरपूर हृदय की गहराइयों में फिर वही प्रश्न गूँज उठा, 'यह अन्धकार क्यों... क्यों...?'

लेकिन कहीं कोई उत्तर नहीं।

मैं इसी तरह चिन्तामग्न बैठी थी कि अचानक मुझे अपनी रानी के शब्द याद हो आये, "जबतक तुम अन्दर से सुन्दर नहीं बनती तबतक तुम्हें बाहर भी सुन्दरता नहीं दिखायी देगी। आखिर सुन्दरता है क्या? वह आत्मा का ही प्रतिबिम्ब है। अगर तुम्हारा हृदय ईर्ष्या, लोभ इत्यादि बुरी भावनाओं से ओतप्रोत हो तो तुम्हें चारों ओर काला, घना अन्धकार ही दिखायी देगा। लेकिन इसके विपरीत, अगर वह देवालय के समान शुद्ध और पवित्र हो तो एक दिन तुम्हें वास्तविक सौन्दर्य का शुभ दर्शन हो ही जायेगा। इसमें कोई शंका नहीं।"

इन शब्दों की याद आते-न-आते मेरे अंग-अंग में तीव्र वेदना की एक लहर दौड़ पड़ी, और मेरी ज्योतिर्मयी आंखों की गहराइयों से गंगा-जमुना की धाराएं बह निकलीं। क्या यही था घोर अन्धकार का कारण? क्या सचमुच मेरा हृदय इतना काला और कुरूप था? क्या सचमुच मैं स्वर्ग के लायक नहीं थी? कहां तो गयी थी धरा के अनुपम सौन्दर्य के दर्शन की आशा लेकर और कहां देख आयी केवल घनघोर तिमिर, उससे बढ़कर कुछ भी नहीं। हां, यही एक कारण हो सकता था। मैं अन्दर से कुरूप थी।

मेरी जड़-बुद्धि ने तो हार मान ली लेकिन मेरी आत्मा इस दोषारोपण से तड़प रही थी, उसकी विद्रोहभरी आवाज मेरे अन्दर गूँज उठी, "नहीं, नहीं। यह सम्भव नहीं। मैंने कौन-सी बुराई की है कि आज मुझे यह फल भोगना पड़ रहा है? मैंने कौन-सा पाप किया है जिससे मैं स्वर्ग के अयोग्य बन गयी? नहीं, नहीं। मैं निर्दोष हूं।"

यह आवाज इतनी ओजभरी थी कि मुझे सन्देह होने लगा कि कहीं मेरी कल्पना ने मुझे चिढ़ाने के लिए सौन्दर्य की जगह मुझे अन्धकार न दिखा दिया हो। इसलिए मैंने परदों में से दुबारा झांकने का निश्चय किया। लेकिन उन्हें हटाने से पूर्व मैंने आंखें मूंद लीं और फिर एक बार गद्गद स्वर में भगवान् से प्रार्थना कर ली, 'हे भगवान्, अब मेरी परीक्षा कर लेना, अगर मैं सचमुच स्वर्ग के योग्य हूं तो मुझे धरा का दर्शन करा देना वरना मैं मान जाऊंगी कि मेरा हृदय कलुषित है और मैं हमेशा के लिए यहां से चली जाऊंगी। फिर यहां क्षण भर रहने का साहस भी न करूंगी।'

मैंने बड़े विश्वास के साथ ये शब्द कह तो दिये लेकिन क्या मैं सचमुच यहां से जा सकती थी? नहीं, नहीं मैं स्वर्ग को छोड़कर कैसे जाती? वही तो मेरी मातृभूमि थी, उसी की गोद में मैं पली थी। उसे छोड़कर मैं कहां जाऊं, क्या करूं?

मैंने बहुत ही धीरे-से परदों को दुबारा हटाया... और... वही अन्धकार मेरी आंखों के सामने था। नहीं, नहीं यह कैसे हो सकता था? मैंने एक बार आंखें मूंदकर फिर खोलीं लेकिन अन्धकार मानों और भी गहरा हो उठा। आखिर उस घोर तम को घूरते-घूरते मेरी आंखें दुखने लगीं। बहुत दुःखी होकर मैं परदों को बन्द कर रही थी कि... यह क्या? अचानक न जाने किधर से प्रकाश की एक नन्हीं-सी किरण अन्धकार को बीधती हुई, दौड़ पड़ी। एक ही क्षण के

लिए सब कुछ प्रज्वलित हो गया। लेकिन फिर चारों ओर से घोर तम दौड़ता हुआ आया और अपनी भुजाओं में उसने उस चिनगारी को लपेट लिया, उसके अस्तित्व को निगल लिया।...

मैं उस अन्धकार को देखती रह गयी जिसके बदले में अभी एक क्षण के लिए मैंने कुछ और ही देखा था। एक ऐसा दृश्य जिसे देखकर मैं कांप उठी थी। सबसे पहले तो भय मेरे अन्दर दौड़ आया। फिर निराशा हुई। लेकिन कुछ देर बाद सब कुछ गायब! केवल एक अपार, असीम दया मेरी नस-नस में समा गयी।... आपके मन में सहज यह प्रश्न उठेगा—कौन-सा ऐसा अनोखा दृश्य था वह?

हां, मैं अभी बताती हूं। जब पलभर के लिए अन्धकार छंटा था तो मैंने देखा कि मेरे आगे एक बहुत सुन्दर स्त्री खड़ी है। उसकी सुन्दर आंखों में ज्योतिर्मय गाम्भीर्य था। उसके मस्तिष्क पर श्रम-सीकर मोती-से चम-चम चमक रहे थे। उसकी स्वर्णिम देह थकान से चूर-चूर हो रही थी। उसके रक्तहीन होठ दूज के चांद की तरह बंकिम और धवल दीख पड़े, जहां से आहें निकल रही थीं। उसकी मृणाल-सी भुजाएं प्रार्थना में ऊपर की ओर उठी हुई थीं। और पैरों पर एक सांप लिपटा हुआ था जो धीरे-धीरे उसे नीचे की ओर खींच रहा था।... पहले तो उसे देख मैं डर गयी। कितना भयंकर था यह चित्र! कितना दुष्ट था वह सांप! लेकिन फिर विचार आया, “क्या यही है धरा? क्या यही है उसका सौन्दर्य?” और फिर से मेरे अन्दर निराशा उमड़ आयी। लेकिन वह ज्यादा न ठहर सकी। करुणा-विगलित होते हुए मैंने सोचा, “बेचारी, बहुत कष्टों में से गुजर रही है। वह भगवान् से विनती कर रही है। मैं उसकी सहायता जरूर करूंगी।” लेकिन वह स्त्री थी कौन? और उसकी सहायता करूं कैसे? क्या वह धरा थी? नहीं, धरा तो बहुत ही सुन्दर थी जब कि यह चित्र भयानक था। अगर वह धरा न थी तो थी कौन? शायद वह धरा ही होगी क्योंकि मैंने भगवान् से विनती की थी और उन्होंने मेरी प्रार्थना सुन ली। खैर, मैंने मान लिया कि आज मुझे धरा के दर्शन हुए थे, लेकिन यह धरा मेरे सपनों के साथ बिल्कुल मेल नहीं खाती थी। वह सपना जो आज भी मेरे हृदय की गहराइयों में बसा हुआ था। मैं न उन रंग-बिरंगे फूलों को देख पायी थी, न ही मिली थी मुझे उस नीले तड़ाग की झलक। फिर भी मुझे इसका सन्तोष हुआ कि धरा का कोई एक रूप दिखाकर भगवान् ने मेरी बात रख ली। लेकिन अगले ही क्षण उस स्त्री का चित्र मेरी आंखों के सामने आ खड़ा हुआ और मैं पूछ बैठी, “इसकी सहायता करूं कैसे?” मेरे सामने सचमुच एक बड़ी समस्या आ गयी।...

मैं बहुत देर तक उपाय की खोज में बैठी रही... सोचती-विचारती बैठी रही और न मालूम कब मेरी आंख लग गयी।... अचानक किसी की आवाज सुनकर मैं चौंक उठी। वह मधुर आवाज कह रही थी, “अरे बहन, उठ जाओ। अबतक सो रही हो! आज परियों की रानी बहुत चिन्तामग्न है, सारी दुनिया में हलचल मची है। कुछ ही देर में एक सभा होनेवाली है जहां हम सबको उपस्थित होना है। चलो, जल्दी जाना होगा।”

तभी अचानक मुझे याद हो आयी कि मैं उपाय के बारे में सोचते-सोचते सो गयी थी, याद हो आयी उस सुन्दर स्त्री की और मैं बड़ी जल्दी उठ बैठी। सबके साथ मैं रोज की तरह हंस्ती-बोलती तो रही, लेकिन वह चित्र मेरी आंखों से ओझल न हुआ और वही प्रश्न बार-बार गूंज रहा था, “उसकी सहायता करूं कैसे?” खैर, कुछ ही देर में हम सब इन्द्रधनुष पर थे जहां सभा जुटनेवाली थी। सब आपस में फुसफुसा रहे थे, क्या बात है? अचानक यह सभा क्यों?

और
...
और
दौड़
या
नोखा
आगे
तेष्क
रही
नकल
सांप
में डर
"क्या
किन
गुजर
स्त्री
र थी
होगी
लिया
खाती
फूलों
न्तोष
क्षण
करूं
लूम
मधुर
बहुत
हम
याद
सती-
गूंज
सभा

लेकिन असली कारण किसी को मालूम न था। मैं कहां जानती थी कि यही सभा मेरे प्रश्न का उत्तर देगी। कुछ ही देर में रानी आयी और सब जगह सत्राटा छा गया। आह! कितनी खूबसूरत थी वह! उसकी बड़ी काली आंखों में ज्योतिर्मय गाम्भीर्य था, होठ कमल की पंखुड़ियों जैसे सुकुमार थे। श्वेत परिधान और नैसर्गिक सरलता उसकी शोभा बढ़ा रही थी। कुछ देर तक वह मानों दम रोके हुए हम सबको देखती रही। फिर मुस्कुराकर बोली, "बच्चो, आज तुम्हारे सामने एक बड़ी समस्या रखती हूं और इस आशा से रखती हूं कि तुममें से कोई ऐसा निकलेगा जो इसका समाधान बता सके। यहां आने से पहले मैं दुविधा में थी लेकिन अब तुम्हारे चेहरे देखकर मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि यहां एक व्यक्ति है जो मेरा उद्धार करेगा। लेकिन वह कौन है, यह मुझे नहीं मालूम।"

"समस्या बताने से पूर्व मुझे एक छोटी-सी कहानी सुनानी होगी। अगनित युगों पहले की बात है। विष्णु भगवान् वैकुण्ठ में लेटे हुए थे। लक्ष्मी उनके पैर दबा रही थीं। अचानक उनके मन में एक विचार आया। उन्होंने लक्ष्मी से कहा, 'प्रिये, मैं इस एकान्त से थक गया हूं, अब बहुत्व का रसास्वादन करना है।' ये शब्द निकलने की देर थी कि उनकी नाभि से एक कमल निकला जिसपर ब्रह्मा विराजमान थे। उन्होंने प्रभु के सामने हाथ जोड़ते हुए कहा, 'यद् भवान् आज्ञापयति?' और विष्णु भगवान् ने अपनी इच्छा कह सुनायी। उनको प्रसन्न करने के लिए ब्रह्मा ने सम्पूर्ण विश्व का सृजन किया—उन्होंने तारे बनाये, चन्दा, सूरज इत्यादि का निर्माण किया। उसी समय धरती ने भी जन्म लिया। धरती पर उन्होंने लावण्य की रचना की। रंग-बिरंगे फूल, हरे-भरे पेड़-पौधे, नील गगन... सब के सब धरती के आभूषण बन गये। फिर अपनी सृष्टि से सन्तुष्ट होकर वे विष्णु के पास लौटे। विष्णु भगवान् ऐसे अपूर्व लावण्य को देखकर मुग्ध तो हुए, लेकिन धरती उनको कुछ अधूरी-सी लगी। ब्रह्मा ने बहुत सोच-विचार कर आखिर मानवजाति का सृजन किया। उसे देख विष्णु का गम्भीर आनन प्रसन्न स्मित से खिल उठा और ब्रह्मा फूले न समाये। सम्पूर्ण धरा पर शिव, सत्य और सुन्दर का राज्य था। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया मानवजाति के हृदय में अहं-भाव जागृत होता गया। उसे लगने लगा कि ब्रह्मा नहीं बल्कि वही सम्पूर्ण सृष्टि का प्रभु है। इतनी सुन्दर सृष्टि के लिए कृतज्ञ होने के बदले उसका हृदय ईर्ष्या, लोभ, घृणा इत्यादि बुरी भावनाओं से भरपूर हो गया और उसका अहं सारी सृष्टि पर प्रभुत्व पाने के लिए बेचैन होकर हाथ-पैर पटकने लगा। परिणामस्वरूप जो सत्य, शिव और सुन्दर था वह असत्य, अशुभ और असुन्दर में परिवर्तित हो गया। सर्वत्र एक घोर तिमिर फैल गया जो आज तक फैला हुआ है। इस अन्धकारमय कारा में अवरुद्ध धरतीमाता भगवान् से सहायता मांग रही है। अपने बच्चों की दुर्दशा देख उसका कोमल हृदय दुःख से तड़प रहा है। कल मैं ब्रह्मा के पास गयी थी। धरा की यह अवस्था देख उनका हृदय पसीज गया और मेरे हाथ में एक स्वर्णिम बीज रखते हुए उन्होंने कहा, 'यही धरा की सहायता करेगा। तुममें से एक को अन्धकार में उतरना होगा और एक निश्चित स्थान में इस बीज को बोना होगा। यह है आनन्द का बीज। और जबतक इसका विकास न हो तबतक उसे वहीं मनुष्यों के बीच रहना पड़ेगा। लेकिन वह दिन आयेगा अवश्य, इसमें कोई शंका नहीं।' उस अनजाने भाग्यशाली व्यक्ति की खोज में ही मैं तुम्हारे पास आयी हूं।"

रानी रुकीं तो सर्वत्र सत्राटा छा गया। सबको उनकी कहानी इतनी मर्मस्पर्शी लगी कि किसी

के मुंह से एक शब्द भी न निकला। अचानक मुझे अपने अन्दर से एक आवाज सुनायी दी, 'तुम्हारे प्रश्न का यही उत्तर है। तुम बीज लेकर जाओ और धरा की सहायता करो।' यही थी मेरी आत्मा की आवाज। लेकिन मेरी जड़-बुद्धि इस कर्तव्य के लिए उद्यत न थी। वह कह रही थी, 'मत जाओ। तुम अन्धकार में खो जाओगी। यह बहुत ही भयंकर कर्तव्य है।' मेरे अन्दर द्वन्द्व होने लगा। लेकिन कुछ ही देर बाद मेरी आत्मा ने बुद्धि पर काबू पा लिया और अगले क्षण मैंने अपनी आवाज सुनी, "रानी, मैं जाऊंगी।" मेरा महीन स्वर सन्नाटे में गूँज उठा और सब-के-सब परम आश्चर्य के साथ मुझे देखने लगे। फिर अचानक चारों ओर से तालियां बज उठीं।...

मैं रानी के साथ अकेली बैठी उसे अपनी रामकहानी सुना रही थी। जब मैंने कहानी खत्म की तो उसने कहा, "जब तूने पहली बार धरा को देखा तो रात्रि थी इसलिए तुझे कुछ नहीं दिखायी दिया। लेकिन वह निशा प्रतीकात्मक थी। वह धरा की दुर्दशा बता रही थी। लेकिन तू उसे पकड़ नहीं पायी। इसलिए तूने दुबारा झांका। इस बार तेरी अभीप्सा इतनी तीव्र थी कि वही, एक किरण की भांति अन्धकार को बीधती हुई दौड़ गयी और तुझे अर्थ मालूम पड़ गया। मैं बहुत प्रसन्न हूँ क्योंकि तूने यह काम करने का बीड़ा उठाया है। अगर कोई और होता तो यह काम अच्छी तरह न हो पाता क्योंकि तेरी तरह उसके हृदय में धरती के लिए सहानुभूति न होती और उसे धरती का प्रत्यक्ष दर्शन भी न होता। नहीं परी, तू अब जा और मेरा आशीर्वाद लेती जा।" यह कहते हुए उसने अपनी छड़ी मेरे सिर पर रखी और... यह क्या? मेरे सामने वह धरती खड़ी थी—वही धरती जिसका सपना मेरे हृदय में बसा हुआ था।—वे ही पेड़-पौधे, वे ही रंग-बिरंगे फूल, वे ही गर्वोन्नत पर्वत... आह! कैसी रौनक थी!

फिर अचानक सब कुछ गायब हो गया और मैं बोल उठी, "कितनी सुन्दर है धरती माता! लेकिन बेचारी की दशा बहुत बुरी हो गयी है। मैं उसकी सहायता अवश्य करूंगी चाहे अग्नित कष्ट क्यों न सहने पड़ें।..."

तीसरी बार वे पर्दे मेरे सामने से हट रहे थे। मैंने चलते-चलते एक बार मुड़कर अपनी मातृभूमि के दर्शन कर लिये, अपने भाई-बहनों को देखा और उड़कर बाहर चली गयी। पर्दे धीरे-धीरे अपनी जगह आ गये और अन्धकार ने मुझे अपनी बांहों में लपेट लिया। हर क्षण मैं उसकी रहस्यमयी गहराइयों में उतरती जा रही थी, हर क्षण अपनी मातृभूमि से दूर चलती चली आ रही थी। लेकिन विश्वास कीजिये, मुझे बिलकुल डर नहीं लगा। क्योंकि उस स्वर्णिम बीज को हाथों में दबाये मेरे अन्दर दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो रहा था कि वह दिन अवश्य आयेगा जब धरा अन्धकार के पंजों से मुक्त हो जायेगी और आनन्द उसके कण-कण में समा जायेगा।

तब वह सदा के लिए सुन्दर ही रहेगी—हरे-भरे पेड़-पौधे होंगे, सुगन्धित समीर होगा, रंग-बिरंगे पुष्प होंगे, नीली नदियां होंगी...

वही सुनहरा सपना जो आज मेरे हृदय की गहराइयों में प्रच्छन्न है, वह एक दिन व्यक्त होगा और मनुष्य इस वास्तविक अनुपम लावण्य का दर्शन करके परमानन्द का रसास्वादन कर सकेगा।

और मैं? मैं कहां रहूंगी उस समय? क्या स्वर्ग लौटूंगी या धरा पर ही रह जाऊंगी? इस प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए अभी सम्भव नहीं।

—कनिष्ठा

‘ऋषिवर बोले’:

भारतीय संस्कृति

“ऋषिवर, आजकल जिधर देखो लोग भारतीय संस्कृति का डंका पीटते दिखायी देते हैं। गले की रंगें फुला-फुला कर उस पर भाषण देते हैं। मैंने कई भाषण सुने, कई लेख पढ़े पर कुछ पल्ले नहीं पड़ा। क्या आप इस विषय पर कुछ संकेत दे सकेंगे?” मारिया ने कहा।

ऋषिवर बोले, संस्कृति कोई भौतिक रूप-गुणवाली चीज नहीं है जिसका चित्र खींच कर दिखाया जा सके या जिसे प्रयोगशाला में रखकर काट-छांट कर देखा जा सके। संस्कृति देश के सभी लोगों में, सभी स्थानों पर अपनी न्यूनाधिक छटा दिखाती है। किसी देश की संस्कृति के बारे में जानने के लिए वहां के लोगों के जीवन का अध्ययन करना होगा।

संसार में सभी मनुष्य सुख चाहते हैं। सुख बहुत प्रकार का होता है। मीरा बाई को गिरिधर के आगे नाचने में सुख मिलता था और कबीर को उस देश में सुख मिलता था जहां सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि किसी का भी प्रवेश नहीं हो सकता फिर भी ‘बिन बाती बिन तेल’ रात-दिन प्रकाश रहता है। थके-मांदे आदमी को नींद में और भूखे को भोजन में ही सुख मिलता है। हमारे जीवन के बहुत-से अलग-अलग अंश हैं, उनमें से हर एक की अपनी मांग है। अगर यह मांग पूरी हो सके तो जीवन सुखी है और न हो तो दुःख की खान।

यहां हम पुराण की एक कहानी को ले लें। कहते हैं जगत् के लोगों का रोना-कलपना देख कर लक्ष्मी जी से न रहा गया। उन्होंने भगवान् विष्णु से कहा, “आप इन दुःखी लोगों को स्वर्ग में क्यों नहीं आने देते? देखिये, कितने दुःखी हैं बेचारे!” भगवान् ने समझाने की कोशिश की पर लक्ष्मी जी न मानीं। हार कर भगवान् ने कहा, “अच्छा, तुम अपने दूतों को भेजो और जो स्वर्ग में आने के लिए तैयार हो उसे आने दो।” भगवती खुश हो गयीं। उन्होंने एक दूत से कहा, “अभी धरती पर जाओ और जो सबसे दुःखी दिखायी दे उसे लेकर तुरन्त मेरे सामने पेश करो।”

लक्ष्मी के दूत को धरती तक पहुंचते कितनी देर लगती थी। उसने एक बूढ़े के घर का रास्ता लिया जो काफी दिनों से मौत को बुला रहा था। घर में हमेशा लड़ाई-झगड़े चलते थे, शरीर रोगों का घर बना हुआ था। वह बात-बात में कहता, “हे भगवान्, मुझे मौत क्यों नहीं आ जाती?” लक्ष्मी के दूत ने सोचा, ‘आह, कितना दुःखी है बेचारा! यह तो जरूर स्वर्ग चलने के लिए उत्सुक होगा।’ दूत ने जाकर उसे लक्ष्मी जी का सन्देश सुनाया। बूढ़े को ताव आ गया। बोला, “खबरदार, मेरे बेटों ने तुम्हें देख लिया तो बुरी गत बना देंगे। कुछ दिनों में मेरे नाती का ब्याह है, उसे देखे बिना मैं कैसे चल सकता हूं। ऐसे अच्छे अवसर पर मैं घर भर को रोता-पीटता छोड़ जाऊं? नहीं, बाबा नहीं, तुम जाओ, फिर कभी आना।”

खैर, दूत ने इधर-उधर, यहां-वहां बहुत चक्कर लगाये और अन्त में कीचड़ में पड़ी हुई एक सूअरी के पास जा पहुंचा और उससे पूछा, “क्यों, स्वर्ग चलोगी? वहां तुम्हें सब कष्टों से छुट्टी मिल जायेगी। किसी चीज की कमी न होगी। सब तरह का सुख होगा।” सूअरी ने झंझी निकाल कर बड़ी उत्सुकता से पूछा, “वहां विष्ठा मिलेगी?”

लक्ष्मी का दूत ऐसी बात के लिए बिलकुल तैयार न था। वह उल्टे पैरों भागा और भगवती को सारी बात जा सुनायी। भगवान् बोले, “देख लिया, भगवती? अब कहो, क्या कहती हो?”

बात यह है कि सारी सृष्टि आनन्द से भरी हुई है। अगर आनन्द न होता तो दुनिया में कोई भी जिन्दा न रह सकता। संसार में अमरता और आनन्द ही सत्य हैं, मृत्यु और दुःख तो उन्हीं के बिगड़े हुए रूप हैं। हममें से हर एक के अन्दर, जानवरों में, चिड़ियों में, पेड़-पौधों में, सभी में अमरता छिपी हुई है और इसीलिये कोई मरना नहीं चाहता, हमारे अन्दर आनन्द छिपा हुआ है इसीलिये हम दुःख नहीं चाहते। हम अपने जीवन के सत्य की ओर बढ़ना और बढ़ते रहना चाहते हैं। यह बात सभी देशों, सभी जातियों के लिए एक-सी सत्य है, सभी एक-न-एक राह से उसी ओर बढ़ रहे हैं। सभी अपने अन्दर और बाहर के जीवन को सच्चे रास्ते पर और आनन्द की ओर ले जाना चाहते हैं। लक्ष्य एक होते हुए भी रास्ते सबके अलग-अलग हैं। रेड इंडियन प्रकृति के नजदीक रहना चाहता है। हर पेड़, नाला, पहाड़, चिड़िया, कौआ, भालू, हिरण उसके लिए कुछ सन्देशा लिए होता है। हर तरह का सुख मिलने पर भी प्रकृति से दूर रहना उसके लिए बहुत कष्टदायक होता है; जापानी के लिए देश-प्रेम और सौन्दर्य-प्रेम ही मुख्य चीजें हैं, जर्मनी शक्ति का, कौशल का पुजारी है तो फ्रांस बुद्धिप्रधान है। उसकी सूक्ष्म और निर्मल बुद्धि ही उसकी सबसे बड़ी चीज है। इनमें से हर एक की संस्कृति अपनी-अपनी विशेषता को आधार बनाकर आगे चलती है।

हम किसी संस्कृति का मूल्य यह देखकर ही आंक सकते हैं कि उसने मनुष्य के भिन्न-भिन्न भागों में एकता लाने के लिए क्या किया। उसने अपने माने हुए सिद्धान्तों को जीवन में उतारने के लिए, केवल विचारों में ही नहीं अपने तीज-त्योहारों में, अपने रोज के रहन-सहन में, अपने रीति-रिवाजों में, अपनी छोटी-से-छोटी चीज में उतारने के लिए क्या किया और कहां तक सफलता पायी।

जैसा कि हम पहले कह आये हैं, भारतीय जीवन और संस्कृति के पीछे यह विचार काम करता है कि एक परम आत्मा अनादि और अनन्त है। वह सबके अन्दर भी है और बाहर भी। वही हमारे जीवन का मुख्य सत्य है, वही ज्ञान है और वही आनन्द। उसे पाना ही जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है। इसी बात को भारत के अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग भाषा में कहा जाता है। कोई उस परम आत्मा को शिव कहता है कोई विष्णु, कोई उसे देवी के नाम से पुकारता है तो कोई निर्गुण निराकार मानता है। नास्तिक कहानेवाले जैन और बौद्ध भी किसी-न-किसी रूप में इसी राह को अपनाते हैं।

हर प्रकार की कमजोरी और खराबी होते हुए भी भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में हम आध्यात्मिक जीवन की एक झलक देख सकते हैं। घने अंधेरे में भी जरा-सी रोशनी पा सकते हैं। एक साधारण-से देहाती किसान के मुख से भी कुछ इस प्रकार के शब्द निकल आते हैं कि भगवान् जो करता है अच्छे के लिए करता है। इसके पीछे एक आस्था छिपी होती है—जिसे भले वह स्वयं न समझ सकता हो—जिससे उसके और उसकी जाति के भविष्य के लिए आशा बंधती है। यह भारतीय संस्कृति की ही देन है।

ओह, इतनी देर हो गयी। चलो, आज तो समाप्त करते हैं। तुम्हारे मन में कोई प्रश्न हो तो फिर किसी दिन पूछना।

‘नयी कॉपलें’ :

“बौबी”

दिल्ली में मेरा एक छोटा भाई है, जिसे प्यार से हम “छोटा” बौबी बुलाते हैं क्योंकि बड़ा बौबी मैं हूँ। इन नामों के पीछे एक छोटी-सी कहानी है। कहा जाता है कि जब मैं छोटा, करीबन तीन-चार महीने का था तब मुझे अपनी मां और अपनी मौसी से बहुत लगाव था और मेरी मौसी भी मेरे बगैर रह नहीं सकती थी। जब एक साल बाद मेरा छोटा भाई पैदा हुआ, सब कहने लगे कि हम दोनों जुड़वां भाई हैं। तब मेरी मौसी ने फैसला किया कि वह “छोटा बौबी” और मैं “बड़ा बौबी”।

दिखने में तो हम एक जैसे हैं पर हम दोनों में ज़मीन आसमान का फर्क है। मैं एक शान्त और साधारण बालक और मेरा भाई तूफ़ान।

वह जहां भी जाता है अपने साथ आंधी ज़रूर आमन्त्रित करता है। उसके “चुटकुले, शायरी” हमेशा सभी का दिल बहलाये रखते हैं। उसके पास हमेशा कुछ न कुछ कहने को होता है।

एक बार जब हम गाड़ी में एक भीड़-भरे रास्ते से जा रहे थे तो एक मोटर साइकिल अंधाधुंध रफ़्तार से आकर, हमारी गाड़ी के ठीक सामने रुक गयी। मन कर रहा था कि नीचे उतरकर उसे खींचकर दो थप्पड़ मारूं पर “छोटे उस्ताद” के पास कहने को एकदम सही शब्द थे। खिड़की खोली और उससे पूछा, “क्यों भाई साहब, बचपन में ही सठिया गये थे या घर पर कहकर आये हो कि आज मैं नहीं लौटूंगा” बस यह कहकर उसने खिड़की बन्द कर दी और वह एकदम चुप।

ऐसे ही एक बार जब हम रास्ते में चलते-चलते चने खा रहे थे कि अचानक मेरे भाई ने एक निर्दोष साइकिल-सवार को बुलाया और कहा, “लो भइया चने खाओ।” बेचारा साइकिल-सवार एकदम हैरान, “धन्यवाद” कहकर वहां से चला गया।

तो यह है मेरा छोटा भाई, आयु में छोटा पर बातों में बड़े-बड़ों का भी बाप।

—जयदेव शर्मा

हाइकू

सहज ही झुकता है, क्या विनय!

यद्यपि उस फूल का नाम है ‘विजय’।

*

“पशु को मत मारना”

कहता है वह साधु

व्याघ्र की खाल पर बैठकर।

*

‘करवीर पुष्प का श्रीमां ने आध्यात्मिक नाम दिया है ‘विजय’।

धीरे-धीरे पत्ता पेड़ से गिरता है।
लेकिन अचानक आकाश की ओर जाता है।
यह तो असम्भव है!

क्या वह गुरुत्व की अवज्ञा कर सकता है?

अरे नहीं! वह तो एक तितली है!

—सुभा जगन्नाथन

हमारा छात्रावास

हमारे छात्रावास में सोलह लड़कियां हैं। छोटी लड़कियां नीचे रहती हैं और बड़ी ऊपर। मैं ऊपर दो और लड़कियों के साथ रहती हूं। हम तीनों एक-दूसरे से बहुत घुले-मिले हैं। अक्सर हम एक-दूसरे का मज़ाक उड़ाते रहते हैं या कभी-कभी हम किसी दार्शनिक चर्चा में खो जाते हैं। कभी-कभी तो हम मज़ाक करके इतना हंसते हैं कि बेबी-दी^१ को नीचे तक सुनाई देता है और वे हमें डाँटती हैं। हमारी इसी कमजोरी के कारण हमारा कीमती समय खर्च होता जाता है और इसका ज्ञान बातचीत करते समय नहीं बल्कि तब होता है जब हमें देर रात तक जगकर अगले दिन का गृहकार्य करना पड़ता है। दरअसल यह गपशप करने की आदत हर एक छात्रावास से जुड़ी हुई है। छात्रावास में हम औरों के साथ रहते हैं। यह तो सम्भव नहीं कि सबका मिजाज़ हमेशा एक जैसा हो! तो जब कमरे में कोई एक बहुत खुश और बातें करने के मिजाज़ में हो तो वह धीरे-धीरे पूरे कमरे को, अपनी चहल-पहल के साथ, अपनी ओर खींचता चला जाता है। और देखा जाये तो ऐसे बहुत कम लोग होते हैं जिनमें गम्भीर आत्म-संयम होता है और इसी कारण हम बिचारे मछलियों के समान, चालाक मछुआरों के बिछाये हुए जाल में फँसते चले जाते हैं! और मैं यह यकीन के साथ कह सकती हूँ कि यह गाथा सिर्फ आश्रम के ही नहीं बल्कि बाहर के भी एक-एक छात्रावास में दोहराई जाती है।

हमारे छात्रावास की एक और कमजोरी है—खाना। कॉर्नर-हाऊस^२ में हमें घर जैसा खाना तो मिलता नहीं, घर जैसा क्या, कभी-कभी तो खाने लायक खाना भी नहीं मिलता है (सच मत मान बैठियेगा कहीं!!) और इसी कारण हमें चीजें खरीदकर अपनी चाह या भूख को मिटाना पड़ता है। घर पर आप अपने लिए अपनी पसन्द की कुछ भी चीज खरीदकर खा सकते हैं मगर छात्रावास में तो आपके साथ दो और लोग रहते हैं। भले वह आपकी पसन्दीदा चीज हो, बांटना तो पड़ता ही है, अच्छा नहीं लगता न! फिर अगर सब एक साथ खाने बैठ जायें तो वही होता है जिसके बारे में मैंने आपको पहले से सूचित कर दिया है।

हमारे छात्रावास का सबसे मजेदार दृश्य होता है सुबह का। छात्रावास में एक-एक के पास अलार्म-घड़ियां हैं ताकि वे जल्दी उठकर अपना गृहकार्य कर सकें पर असल में क्या होता है यह मैं आपको अभी बताती हूँ। हम रात को तो अपना गृहकार्य गपशप करते हुए शुरू करते हैं तो

^१ छात्रावास की अध्यक्षा।

^२ विद्यार्थियों के भोजनालय का नाम।

अक्तूबर २००५

अक्सर जब हमारी बातें खत्म होती हैं तब १०.३० या ११.०० बज ही जाते हैं और तब अगर गृहकार्य करना शुरू करें तो अक्सर झोंकों में खो जाते हैं। जब रहा नहीं जाता तब सब अपनी-अपनी अलार्म-घड़ियां सुबह ३.३० या ४.०० बजे लगा कर सो जाते हैं। रात को नींद तो बड़ी अच्छी आती है, इतनी अच्छी कि गृहकार्य का सारा तनाव मिटा देती है और फिर जब अलार्म बजता है तो याद ही नहीं रहता कि उठना है। एक के बाद एक सबकी घड़ियां बजती जाती हैं और सब उन्हें बन्द करके यही सोचते हैं “पांच मिनट और सो लेती हूं, कोई न कोई थोड़ी देर में उठा ही देगा” पर अगर सबके मन में यही विचार घूमता है तो आप जान सकते हैं कि क्या होता है। सब आराम से ६.०० बजे तक सोते रहते हैं और तब जब सूरज की तीखी किरणें आंखों में चुभती हैं तब मालूम पड़ता है कि मीठी नींद शाश्वत नहीं होती। पहला वाक्य जो मुंह से निकलता है, “हाय! मेरे गृहकार्य का क्या होगा?” फिर क्या, सब रोबोट के समान अपने-अपने काम में लग जाते हैं। किसी को भी दूसरे की ओर देखने की फुर्सत नहीं रहती!

यह सब छात्रावास में होनेवाले कुछ किस्से हैं जिन्हें मैंने कुछ मसाला डालकर अभिव्यक्त किया है, इसका मतलब यह है कि ये घटनाएं रोज-रोज नहीं घटती हैं। छात्रावास का जीवन हमें बहुत कुछ सिखाता है और मेरे ख्याल से सबको कभी-न-कभी छात्रावास में रहना ही चाहिये।

—कनुप्रिया पुराणिक

‘गैर्वाणी’ :

प्रेरणादीपः

प्रेरकक्षणानि मनुष्याणां निम्नतमपरिस्थित्याः अपि समुत्थाप्य मस्तकं सफलताकिरीटं सुशोभयन्ति इति ध्रुवं सत्यम्। कस्यापि कर्मणः कृते अभीप्सामयः सङ्कल्पः सः स्पर्शमणिः यः एकरसजीवनेन क्लान्तं मानवहृदयं स्पृष्ट्वा तत् स्वर्णमयं करोति। मनुष्यमात्रस्य पले पले एषा अभीप्सा स्यात्—“अद्यतः वरतरं स्यात् श्वः।”

अस्तु, अभीप्सासङ्कल्पयुक्तौ प्रेरकौ प्रसङ्गौ श्रूयेतामद्य ययोः सम्बन्धः खेलजगतः विश्रुतधावकाभ्यां सह वर्तते।

१९२० तमस्य शतमानमितस्य धावनस्य विश्वप्रतियोगिता-विजेता चार्ली पैडॉक् पटुवक्ता अप्यासीत्। युवकानाम् आदर्शप्रतिमूर्तिः आसीत् सः सर्वेषां नयनतारा। तस्य मूलमन्त्रोऽवर्तत—“सङ्कल्पं कुरु, तथैव च भव।” कदाचित् कस्यापि विद्यालयस्य बालकान् समबोधयत् सः। भाषणान्ते सभाभवने उपविष्टानां बालकानां सम्मुखे तर्जनीं धूर्णयित्वा बलेन अवदत्—“कः जानाति उपस्थितः-सभायां कश्चित् भावि-विश्वप्रतियोगिता-विजेता उपविष्टः स्यात्!” भाषणात् परं बालबालिकाभिः परिवेष्टिते तस्मिन् धारासारैः प्रश्नवृष्टिः जाता। तस्मिन् सम्मर्दे अवर्तत द्वादशवर्षीयः कश्चित् दुर्बलः नीग्रो-बालोऽपि। चार्लीमहोदयस्य भाषणेन अभिभूतस्य तस्य अश्रूणि नैव विरमन्ति स्म, तस्य ओष्ठौ कम्पेते स्म। हठात् चार्ली-दृष्टिः तस्मिन् पतिता—दुर्बलकायस्य तस्य अतिकृशौ पादौ तस्य शरीरस्य भारं वोढुम् अशक्तौ इव आस्ताम्। चार्ली जनान् नुत्वा कथमपि तमुपगम्य तस्य हस्तमधरत्। किं

नाम तव वत्स, इति पृष्ठस्य तस्य सगद्गदक्रन्दनम् आरब्धम्। तस्य सम्मुखे जानुभ्याम् उपविश्य चालीं तं सुदृढमालिङ्गत्। बालः हिककानां मध्ये मध्ये कथमपि हृदयोद्गारम् अस्फुटं प्राकटयत्—“अहं यत्किमपि कर्तुं प्रस्तुतः। केवलं भवान् इव विश्वप्रतियोगिता-अग्रणीः भवितुम् इच्छामि।” चाली तस्य हस्तौ दृढं निपीड्य अभणत्—“वत्स! त्वत्तः अपि अल्पतरे वयसि मयापि एषः सङ्कल्पः कृतः आसीत्। पुत्र! सम्पूर्णमनोयोगेन परिश्रमे आत्मानं निमज्जय। दिवानक्तम् एतद् लक्ष्यम् एव नेत्रयोः सम्मुखे तिष्ठेत् तदा तव अग्रणी-पदं ध्रुवम्।”

तस्य नीग्रो-बालकस्य नेत्रयोः हीरकद्युतिः व्याप्ता। चाली मनसि अचिन्तयत्—एषः कृशकायः, दुर्बलः बालकः सुनिश्चितं किमपि कृत्वा दर्शयिष्यति। तस्मिन् अहनि चाली तस्य नीग्रो-बालकस्य तत्रत्यानां सहस्रशः अन्येषां बालबालिकानां च हृदये सङ्कल्पोत्साहयोः बीजम् अवपत्।

सः नीग्रो-बालः निजबीजं सयत्नम् असिञ्चत्। निर्धनतायाः अभिशापेन शप्तः सः जीवनस्य विकटपरिस्थितिभिः निरन्तरं सङ्घर्षं कृतवान्। न शीतं न उष्णम्, न दिवा न नक्तम्, न क्षुधा न पिपासा—न किमपि अबोधत तम्। नासीत् तस्य कोऽपि प्रशिक्षकः न वा अर्थप्राप्तेः किमपि साधनम्, किन्तु धरित्री-माता निजक्रोडं तस्मै उदमीलयत्। सङ्कीर्णमार्गेषु, क्षेत्रेषु, पर्वतप्रदेशेषु—अत्र, तत्र, सर्वत्र—प्रकृतेः विशालक्रोडे निरन्तरं धावनस्य कठिनाभ्यासे निमग्नः सः। चाली निज-व्यस्तदिनचर्यायाम् इमं बालं प्रायः विस्मृतवान्। सा स्मृतिः प्रत्यग्रा अभूत् यदा सः गतः कमपि उच्चविद्यालयं बालकान् सम्बोधयितुम्। तत्रत्या काचित् अध्यापिका तमकथयत्—“महाशय चाली! भवान् सत्यं प्रेरणास्रोतः। तस्मिन् दिने भवता यस्य लघुबालकस्य हृदये उत्साहशङ्खः ध्मातः सः उन्मत्तः इव धावनाभ्यासे संलग्नः। प्रतिवेशिनी अहं तस्य, तस्मात् निरीक्षे तस्य गतिविधी। सत्यं लौहसमा सङ्कल्पशक्तिः वर्तते तस्मिन् लघु-बाले। भवतः आशीर्वादाः अवश्यं फलिष्यन्ति।”

भाषणात् परं चाली अञ्जसा तस्य बालकस्य गृहं गतः तं द्रष्टुम्। मासद्वयात् पूर्वं सङ्कुचिताकुञ्चितः सः कृशकायः अद्य साक्षात् आत्मविश्वासस्य लघु-मूर्तिः दृश्यते स्म। निजगृहे चाली-महोदयस्य आशातीतागमनेन हर्षोन्मत्तः सः बालः अनुत्थत्। ततः परं चाली तस्य प्रशिक्षणस्य सम्पूर्णम् उत्तरदायित्वम् अगृह्णात्। सः बालश्च विधिवत् धावनाभ्यासे संलग्नः।

कालचक्रं प्रावर्तत। आगतः १९३६ तम-वर्षस्य सः मुहूर्तः यदा कदाचित् दुर्बलः, कृशकायः सः नीग्रो-बालकः बलिष्ठ-युवके रूपान्तरितः शार्मण्यदेशस्य बर्लिन-नगरे विश्वप्रतियोगिता-क्षेत्रम् अवतीर्णः।

तस्य वर्षस्य धावनप्रतियोगितायां सः चत्वारि स्वर्णपदकानि अलभत!!!!—१०० मानमित-धावनाय, २०० मानमित-धावनाय, दीर्घलम्फाय, ४०० मानमित-सरणिका-धावनाय च।

तस्य नाम वर्तते जेसी ओएस्। विश्वप्रतियोगितासु खेलेषु भास्वरः सूर्यः सः कृत्स्नजगतः नेत्रमणिः।

तस्य बालस्य पारिपार्श्विकजनेषु न कदापि केनापि स्वप्नेऽपि परिकल्पितं स्यात् यत् एषः समान्यतमः, निर्धनः, असहायः, दुर्बलः बालकः कदाचित् खेलजगतः उच्चतमम् आसनं भूषयिष्यति, सर्वाङ्गसुन्दरे एतादृशे भव्यशरीरधारिणि रूपान्तरितः भविष्यति यस्य श्यामवर्णलावण्यं दृष्ट्वा प्रत्येकम् अवाक्, आश्चर्यान्वितः भविष्यति। एतत् सर्वं च जातं मुहूर्तमात्रे तेन चमत्कारेण यदा चाली-महोदयस्य प्रेरकशब्दानां सम्मोहिनी शक्तिः बालकं जेसीम् अस्पृशत्। चिरकृतज्ञः आसीत् जेसी निजगुरवे। सत्यमेव मनुष्यस्य सङ्कल्पः तं कुतः कुत्र नयति!

अक्तूबर २००५

अस्माकं कथा न अत्र समाप्ता। बर्लिन-विश्वप्रतियोगितायाः परं जेसी निजगृहं क्लीवलैण्ड, ओहियोनगरं प्राप्तः। तस्य महास्वागताय सम्पूर्णं नगरमेव मार्गेषु अवतीर्णम्। पदे पदे तस्य वहिर्त्रं विरमति स्म। अन्ते सः वहिर्त्रादवतीर्य पादचारेणैव अगच्छत्। प्रत्येकं तस्मै मालार्पणाय तस्य स्पर्शाय च अत्यभिलाषी। नगरवासिनां निश्छलप्रेमसौहार्दगङ्गायां निमग्नः जेसी। सः यदा यत्र अगच्छत् तदा तत्र महासम्मर्दः समुत्पन्नः। एतादृशे एव कस्मिन्नपि अवसरे उक्तान् जेसी-महोदयस्य शब्दान् शृण्वन्तु भवन्तः, “जनानाम् असङ्ख्यपादानां मध्यतः महाप्रयासेन कथमपि मार्गं कुर्वन् सः लघुः नीग्रो-बालकः अन्ततः माम् उपागतः। मम् हस्तं धृत्वा आकर्षत्। अहं तत्रैव जानुभ्याम् उपविष्टः। सः स्पष्टमवदत्—‘जेसी, वस्तुतः अहमस्मि नववर्षीयः किन्तु तथा दुर्बलः कृशकायश्च यत् मित्राणि ‘बॉन्स’ (Bones) सम्बोध्य माम् उपहसन्ति। किन्तु दर्शयिष्यामि अहम् एतान् सर्वान् यदस्मि बहु-बलवान्। अहमपि त्वद्वत् विश्वप्रतियोगिता-अग्रणीः भवितुम् इच्छामि एव। अस्य अर्थे यत् किमपि कर्तुं प्रस्तुतोऽहम्।”

जेसी यथा आत्मानमेव निज-सम्मुखे तिष्ठन्तमपश्यत्। सर्वथा एतान् एव शब्दान् सः कदाचित् चालीमहोदयं कथितवान्।

जेसी तं बालकं सर्वथा निजसमीपम् आकृष्य बाहुना तं कण्ठे आलिङ्ग्य अभणत्—“मित्र! यदासमं वयसा त्वत्तः ईषदधिकः तदाहमपि निज-सुन्दरतमस्य स्वप्नस्य चर्चां कस्मै अपि अकरवम्। सः मे गुरुः मह्यम् एतं मूलमन्त्रमददात्, ‘वत्स! सङ्कल्पं कुरु, पूर्णमनोयोगेन परिश्रमे आत्मानं निमज्जय। एतत् स्यात् तव जीवनस्य एकमात्रम् उद्देश्यम्, तदा प्राप्स्यसि त्वं निज-लक्ष्यम् इति वर्तते ध्रुवं सत्यम्।’ स्यात् तवापि एषः एव मन्त्रः।”

तस्य बालस्यापि नेत्रे प्रोद्भासिते आननञ्च प्रदीप्तम्। जेसी-महोदयस्य कपोलौ चुम्बित्वा सः सम्मर्दं विदारयन् उच्चस्वरेण एतत् कथयन् गृहं धावितः “पितामहि! पितामहि! अहं सुनिश्चितं विश्वप्रतियोगिता-अग्रणीः भविष्यामि एव।”

सम्भवतः पितामह्या भौतिकचक्षुर्भ्यां न दृष्टं स्यात् किन्तु जेसी ओएन्स् साक्षी आसीत् १९४८ तम-वर्षस्य विश्वप्रतियोगितानां याः लन्दनदेशस्य वेम्बली-क्रीडारङ्गे प्राचलन्। लक्षोत्तरदर्शकाः उपस्थिताः, १०० मानमितस्य धावनस्य प्रारम्भः, षट्-धावनपथेषु विश्वस्य षट् द्रुततमाः धावकाः प्रतियोगितायाः अर्थे सज्जाः। धावनारम्भः गुलिकास्त्रेण सूचितः। मुहूर्तार्थं लक्षादधिकजनाः चित्रार्पिताः इव अतिष्ठन्। परञ्च सर्वेषां दर्शकाणाम् उत्साहवर्धकः समवेतः उच्चघोषः वातावरणे व्याप्तः। षष्ठपथस्य धावकः हठात् लक्ष्यवेधिशरवत् अग्रे निर्गतः। शतमानमितस्य धावनस्य स्वर्णपदकं प्राप्तं हैरीसन् ‘बॉन्स’ डिलर्ड नामधेयेन युवकेन। जेसी-महोदयस्य नेत्रयोः सम्मुखे चलचित्रवत् आगतं तद् दृश्यं यदा नववर्षीयः सः दुर्बलः बालः—पितामहि, अहं सुनिश्चितं विश्वप्रतियोगिता-अग्रणीः भविष्यामि एव इति कथयन् अधावत्। तेनैव अद्य निज-भविष्यवाणी चरितार्थिता। प्रतियोगितां समाप्य दर्शकगणानां मध्ये महाकष्टेन मार्गं कुर्वन् आसीत् अत्याकाङ्क्षी बॉन्स गुरुं जेसी-महोदयम् आलिङ्गितुम्। गुरु-शिष्ययोः तदपूर्वमेलनं बहवः निज-निज-रूपित्रेण अधरन्।

वस्तुतः जेसी ओएन्स् महोदयस्य जीवनस्य महत्त्वपूर्णं दिनं तदागतं यदा चतुर्वर्षेभ्यः परम्, १९५२ तमे वर्षे विश्वप्रतियोगितासु खलेषु ‘बॉन्स’ अन्तराय-धावने निज-गुरोः जेसी-महाशयस्य कीर्तिमानम् अभज्जयत्। तस्मिन् दिने गुरुः शिष्यस्य कर्णे अजपत्—“पुत्र! अद्यतनं दिनं मे जीवनस्य सुखदतमः दिवसः।”

प्रेरणाप्राप्तेः एषा परम्परा न कदापि धरायाः विलीना, चिरन्तनी एषा। प्रत्येकं क्षेत्रे एषा प्रेरणा एव रुद्धद्वाराणि उद्घाटयति; सङ्कल्पशक्तिः अनन्तपरिश्रमश्च मनुष्यान् लक्ष्यं प्रति वेगेन नयतः। सुनिश्चितं च एतत् यत् एतादृशेषु अभियानेषु कदाचित् साक्षात्कारः जायते तेन जगत्पतिना सह। तस्मादेव कश्चित् विश्वविजेता एकदा निज-आत्मीयमवदत्—“अहम् आस्कन्दखेलेषु सर्वदा प्रभुं स्वेन सह आदाय एव क्षेत्रम् अवतरामि।”

प्रेरणादीप

आज सुनें दो ऐसे प्रेरक प्रसंग जो किन्हीं भी परिस्थितियों से हारे हुए व्यक्ति को न केवल खड़ा कर देते हैं बल्कि उसके सिर पर सफलता का ताज रखने का बूता भी रखते हैं। ये हैं वे पारस पत्थर जो जीवन की एकरसता से घिसे-पिटे मनुष्य के हृदय का स्पर्श कर लें तो वह खरा सोना बन जाये। और वह है—संकल्प—जीतने का संकल्प। और इसके साथ-साथ चलती है अभीप्सा—पल-पल की यह अभीप्सा कि ‘आज से बेहतर हो कल’।

चलिए, इसी अभीप्सा और संकल्प से जुड़े खेल-जगत् के दो नामी ‘एथलीट्स’ की सच्ची घटनाएं सुनें—

१९२० के ओलम्पिक खेलों में १०० मी. दौड़ के विजेता चार्ली पैडॉक बहुत अच्छे वक्ता भी थे। युवकों के आदर्श, वे सबकी आंखों का तारा थे। उनका मूलमन्त्र था—“संकल्प करो और बनो”। एक बार वे विद्यालय के बच्चों के सामने भाषण दे रहे थे। भाषण के अन्त में उन्होंने हॉल में बैठे बच्चों के सामने उंगली घुमाते हुए कहा—“कौन जानता है आज दोपहर इस सभाभवन में कोई भावी ओलम्पिक चैम्पियन न बैठा हो?” भाषण के बाद सभी बच्चों ने उन्हें घेर लिया, सवालोंने पर सवाल उछलने लगे। उस भीड़ में था बारह साल का एक नीग्रो बालक भी। चार्ली के भाषण से वह इतना अभिभूत हो गया था कि उसके होंठ कांप रहे थे, आंखों से आंसुओं की झड़ी लगी थी। चार्ली ने उसे देखा—सीकिया, एकदम से दुबला-पतला वह बच्चा इतना कमजोर लग रहा था कि चार्ली को लगा कि किसी भी पल उसके पैर जवाब दे देंगे। चार्ली उसके पास पहुंचे, उसका हाथ थाम कर बोले—“क्या नाम है तुम्हारा?” बच्चे की हिचकी बंध गयी, चार्ली घुटनों पर बैठ गये, उसे सीने से लगा लिया। बच्चा किसी तरह रुक-रुक कर अपने मन की बात कह पाया—“मैं कुछ भी करने को तैयार हूं, मैं बस आपके जैसा ओलम्पिक चैम्पियन बनना चाहता हूं।” चार्ली ने उसके दोनों हाथों को अपनी मुड़ी में जोरों से दबाते हुए कहा—“बच्चे, मैं भी जब उम्र में तुमसे कुछ छोटा था, मैंने यह बात गांठ बांध ली थी। बेटे, जी-जान से मेहनत में डूब जाओ। इसीको अपना लक्ष्य बना लो और तुम्हें चैम्पियन बनने से कोई न रोक पायेगा।”

उस नीग्रो बालक की आंखों में हीरे की चमक समा गयी। चार्ली ने मन ही मन सोचा—यह मरियल, दुबला-पतला बच्चा जरूर कुछ कर दिखलायेगा। उस दिन चार्ली ने उस नीग्रो बालक के साथ-साथ उन सैकड़ों बच्चों में भी संकल्प और उत्साह का बीज बो दिया जो वहां उपस्थित थे। उस नीग्रो बालक ने अपने उस बीज को यत्नपूर्वक सींचा। गरीबी के अभिशाप से शापित

अक्तूबर २००५

जीवन की विकट परिस्थितियों से जूझते हुए, उस बच्चे ने दिन-रात, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास किसी की परवाह नहीं की। न कोई प्रशिक्षक था उसके पास, न रुपये-पैसों का कोई ज़रिया, लेकिन प्रकृति माता ने अपनी गोद उसे सौंप दी थी। वह गली-कूचों, खेत-खलिहानों, पहाड़ी इलाकों में यहां-वहां, सब जगह, अपनी धुन में दौड़ने का कठिन अभ्यास करता गया तो करता ही चला गया। अपने काम में बहुत ही व्यस्त चाली तो इस बच्चे के बारे में करीब-करीब भूल ही चुके थे लेकिन एक दिन जब वे किसी हाई स्कूल में भाषण देने के लिए पहुंचे तो वहां की एक अध्यापिका ने उनसे कहा—“मि. चाली, आप सचमुच प्रेरणा के स्रोत हैं। उस दिन आपने जिस नीग्रो बच्चे के हृदय में उत्साह का शंख फूंक दिया था वह जी-जान से मेहनत में जुटा है। दौड़ने के अभ्यास का ऐसा भूत उसके सिर पर सवार है कि आप विश्वास न करेंगे। पड़ोसी होने के नाते मैं उसकी गतिविधियों को देख रही हूं। इस्पाती संकल्प-शक्ति है उसमें। आपका आशीर्वाद जरूर सफल होगा।” भाषण के बाद चाली सीधा उस दुबले-पतले बच्चे से मिलने गये। दो महीने पहले का वह सिकुड़ा-सिमटा बालक आज ठोस आत्मविश्वास का छोटा-सा पुतला दीख रहा था। चाली को अपने घर आया देख वह बच्चा खुशी से झूम उठा, नाच उठा। चाली ने उसकी सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली और वह दौड़ के बाकायदा प्रशिक्षण में जुट गया।

समय गुजरता गया। १९३६ में वह कमजोर लड़का, जो अब बलिष्ठ, सुन्दर जवान में रूपान्तरित हो गया था, जर्मनी के बर्लिन शहर के ओलम्पिक स्टेडियम में उतरा।

उसने चार स्वर्ण-पदक अपनी झोली में डाले!!!!—१०० मी. दौड़, २०० मी. दौड़, लम्बी कूद और ४०० मी. रिले दौड़।

उसका नाम है जेसी ओएंस। ओलम्पिक खेलों का जगमगाता सूरज, दुनिया की आंखों का चहेता तारा।

बालक जेसी ओएंस के आसपास की दुनिया का कोई भी व्यक्ति सपने में भी यह सपना न ले सकता था कि कभी यह एकदम से सामान्य, गरीब, लाचार-सा मरियल बालक खेल-जगत की बुलन्दियों को छू लेगा, इतने सुन्दर और सुडौल सांचे में अपना शरीर ढाल लेगा कि उस श्याम-वर्ण सौन्दर्य को देख प्रत्येक दांतों तले उंगली दबा लेगा। और यह सब हुआ उस क्षण के चमत्कार से जब चाली पैडॉक के शब्दों की जादुई छड़ी जेसी पर फिर गयी थी। अपने गुरु चाली के प्रति वह चिरकृतज्ञ रहा।

सच है व्यक्ति का संकल्प उसे कहां से कहां पहुंचा देता है।

हमारी कहानी यहां खत्म नहीं होती। बर्लिन ओलम्पिक के बाद जेसी अपने घर क्लीवलैंड, ओहियो लौटे। वहां के वासी उनके लिए पलकें बिछाये बैठे थे। जनता के प्यार और अपनत्व में जेसी सराबोर हो उठे। जहां जाते, जब जाते भीड़ की भीड़ उन्हें घेरे रहती। ऐसे ही एक अवसर पर, अब सुनिये जेसी के शब्दों में, “सबके पैरों के बीच से निकलता हुआ, भीड़ को किसी तरह चीरकर वह छोटा नीग्रो बच्चा मेरे पास आ पहुंचा। मेरा हाथ थाम उसने मुझे खींचा। मैं घुटनों के बल बैठ गया, वह बोला—“जेसी, वैसे तो मैं नौ साल का हूं लेकिन इतना दुबला-पतला हूं कि मेरे सारे दोस्त ‘बॉस’ (Bones) कहकर मेरी हंसी उड़ाते हैं, लेकिन मैं सबको दिखा दूंगा कि मैं बलवान हूं, क्योंकि मैं भी तुम्हारी तरह ओलम्पिक ‘चैम्पियन’ बनना चाहता हूं। मैं इसके लिए कुछ भी करने को तैयार हूं।”

जैसे ने हू-ब-हू अपने-आपको सामने खड़ा पाया। ठीक ये ही शब्द तो उसने चाली से कहे थे।

जैसे ने उसे अपने सामने खींच लिया। उसके गले में अपनी दोनों बांहें डालकर बोले—“दोस्त! जब मैं उम्र में तुमसे कुछ बड़ा और शरीर से तुम्हारे जैसा था तब मैंने भी अपने सबसे सुन्दर सपने की बात किसी से कही थी। मेरे उन्हीं गुरु ने मुझसे कहा था कि संकल्प करो और जी-जीन से जुट जाओ। तब तुम्हें ‘चैम्पियन’ बनने से कोई न रोक पायेगा।”

उस बच्चे की आंखें भी जगमगा उठीं। जैसे के गालों पर चुम्बन दे, वह भीड़ को चीरता हुआ अपने घर की ओर यह चिल्लाते हुए भागा—“दादी, दादी, मैं ओलम्पिक ‘चैम्पियन’ जरूर बनूंगा।”

शायद दादी अपनी भौतिक आंखों से न देख पायीं हों लेकिन जैसे ओएंस साक्षी थे लंदन के वेम्बली स्टेडियम में १९४८ के ओलम्पिक खेलों के जहां एक लाख से अधिक दर्शक भी मौजूद थे। १०० मी. की दौड़ का प्रारम्भ, ‘ट्रेक’ पर छह सबसे तेज धावकों की भिड़न्त। गोली दगी। सारे ‘स्टेडियम’ में क्षण भर के लिए सूर्इटपक सन्नाटा छा गया और फिर धावकों को प्रोत्साहित करने के लिए सबका समवेत उच्चघोष उठा। बाहरी, यानी छठी लेन का धावक तीर की तेजी से आगे निकल गया, सौ मीटर दौड़ का स्वर्ण पदक मिला उसे, यानी हैरीसन ‘बॉस’ डिलर्ड को। जैसे की आंखों के सामने कुछ वर्ष पहले का वह नौ साल का कमजोर लड़का उभर आया जिसने “दादी मैं ओलम्पिक ‘चैम्पियन’ जरूर बनूंगा” की भविष्यवाणी सिद्ध कर दिखलायी थी। दर्शकों को चीरता हुआ ‘बॉस’ अपने गुरु जैसे को आलिंगन में भरने के लिए लालायित हो उठा।

गुरु-शिष्य के उस अपूर्व मिलन को कितनों ने अपने-अपने कैमरों में सहेज लिया। और जैसे के जीवन में सचमुच सबसे महत्वपूर्ण क्षण तब आया जब चार साल बाद १९५२ के ओलम्पिक खेलों में ‘बॉस’ ने बाधा-दौड़ में स्वयं अपने गुरु जैसे के कीर्तिमान को तोड़ा। उस रोज गुरु-शिष्य के अपूर्व मिलन के समय गुरु जैसे अपने शिष्य के कानों में फुसफुसाये—“बेटे, आज का दिन मेरी जिन्दगी का सबसे सुखद दिवस साबित हुआ।”

प्रेरणा पाने की इस परम्परा का अन्त धरती पर न कभी हुआ, न होगा। हर एक क्षेत्र में यह प्रेरणा ही बन्द दरवाजे खोलती है और संकल्प-शक्ति तथा जी-तोड़ मेहनत मनुष्यों को उनके लक्ष्य की ओर सरपट दौड़ाती हैं।

निश्चित रूप से ऐसे अभियानों में कभी-कभी उन सिरजनहार से साक्षात्कार हो ही जाता है, तभी तो किसी विश्व-चैम्पियन एथलीट ने अपने किसी आत्मीय से कहा था—“मैं एथलेटिक्स के ट्रैक पर हमेशा प्रभु को अपने साथ लेकर उतरता हूं।”

—वन्दना

अक्तूबर २००५

मानव त्रुटियां—मानव प्रकृति त्रुटियों से भरी है और इससे भिन्न हो भी नहीं सकती। लेकिन उसमें अन्य तत्त्व और सम्भावनाएं भी हैं जो यद्यपि पूरी तरह शुद्ध तो नहीं होतीं, पर मनुष्य का पूरा रूप देखने के लिये उन्हें जानना भी जरूरी है। लेकिन यह जरूरी नहीं है कि मनुष्य के बारे में सत्य जानने से दोष-दर्शन की वृत्ति आये। उससे तुम्हारे अन्दर चुपचाप अलग-थलग रहने की वृत्ति आ सकती है, लेकिन उसमें निराशा या कटुता बिलकुल नहीं होती। उसमें चैत्य उदारता हो सकती है जो सब प्रकार के दोष देख सकने के बावजूद प्रेम और सहायता करती है। आध्यात्मिक चेतना किसी ओर से आंखें मूंद नहीं लेती, न उसे कभी धोखा होता है, न वह घृणा करती है, क्योंकि वह बाहरी आवरण के पीछे छिपे उस भागवत तत्त्व को देख सकती है जो अभी तक बाहर प्रकट नहीं हुआ है।

—श्रीअरविन्द

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road

Post Box No. 5713

NEW DELHI - 110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

sunderson@auromail.net

Tel : 23612728, 23612776

Fax : 011-23620632

Our Lines of Business :

- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
 Maihar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
 Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERRY.

Completed 78 years on Basant 2004

उच्च कोटि की बिजली की सामग्रियों के लिए सम्पर्क करें :

ऑनस्टी इलेक्ट्रिक स्टोर्स

२२, रवीन्द्र सरणि

कोलकाता — ७०००७३

फोन : २२३७७९९८

ई मेल : honestyes@yahoo.co.in

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

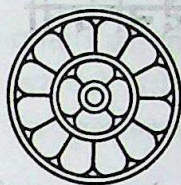
CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

13E-Rajanigandha

25, Ballygunge Park

Kolkata-700 019



प्रार्थना और ध्यान

१८ अगस्त १९१४

वर दे कि गभीर और नीरव ध्यान में मैं तेरी ओर मुड़ सकूँ; मैं अपनी पूर्ण सत्ता और उसकी बहुविध क्रियाओं को भेंट के रूप में तेरे चरणों पर चढ़ा सकूँ; वर दे कि मैं इन शक्तियों के सारे खिलवाड़ को बन्द कर दूँ, इन सभी चेतनाओं को एक कर सकूँ, ताकि केवल एक ही चेतना बाकी रह जाये, वह एक जो तेरी आज्ञा को सुन और समझ सके; मुझे फिर से अत्यधिक लाभकारी सागर की तरह, जो समस्त अज्ञान से शुद्ध कर देता है, अपने अन्दर डुबकी लगाने दे। मुझे लगता है कि मैं सन्देह और अन्धकार के अथाह रसातल में बहुत गहरी चली गयी हूँ, मानों मुझे तेरी शाश्वत भव्यता से देश-निकाला दे दिया गया है; लेकिन मैं जानती हूँ कि इस अवतरण में एक ज्यादा ऊँचे आरोहण की सम्भावना है जो मुझे एक ज्यादा विस्तृत क्षितिज पर फैलने देगी और तेरे अनन्त स्वर्गों के कुछ अधिक निकट आने देगी। तेरा प्रकाश स्थिर और मार्गदर्शक है, बिना किसी अवरोध के रसातल की गहराइयों में उसी तरह चमकता है जैसे जाज्वल्यमान दीप्तियों में; और एक निरभ्र विश्वास, अचञ्चल तटस्थता, शान्त निश्चिन्ता स्थायी रूप से मेरी चेतना में निवास करते हैं...। मैं एक नौका की तरह हूँ जो बहुत समय तक बन्दरगाह का आनन्द ले चुकी है और अब अंधेरे तूफानी बादलों के बावजूद, जो सूर्य को छिपा देते हैं, महान् अज्ञात की ओर बढ़ने के लिए, अनसुने, नये देशों की ओर चलने के लिए अपने बादबान खोल रही है।

प्रभो, मैं बिना किसी प्रतिबन्ध या पूर्वाग्रह के तेरी हूँ। ऐसी कृपा कर कि अपनी समस्त कठोर बहुलता में तेरी इच्छा पूरी हो। मेरी सारी सत्ता एक आनन्दमय स्वीकृति और निश्चल प्रशान्तता के साथ उसकी अनुचर है।

मेरे अन्दर अब भविष्य के बारे में कोई विचार नहीं रहा। तू ही नयी कल्पना को जगायेगा जो तेरे विधान के अधिक अनुकूल होगी।

अत्यधिक पूर्ण समर्पण और अत्यधिक पूर्ण विश्वास के साथ मैं प्रतीक्षा करती हूँ : तेरी उस वाणी की जो मुझे मार्ग दिखलायेगी।

—श्रीमां

दैनन्दिनी



नवम्बर

१. हे प्रभो, अत्यन्त विनीत भाव से तुझसे प्रार्थना करती हूं कि मैं प्रयत्न की चरम ऊंचाई पर रहूं, कि मेरे अन्दर कोई भी सचेतन या अचेतन चीज तेरे पवित्र कार्य में सेवा करने से वञ्चित रहकर तुझे धोखा न दे।
२. मेरे स्वामी, मेरी चेतना को निर्मल और सुस्पष्ट बना, वाणी को सच्चा, समर्पण को पूर्ण, अचञ्चलता को पूर्ण बना और सारी सत्ता को प्रकाश और प्रेम के सागर में रूपान्तरित कर दे।
३. हे प्रभो, मैं तुझसे प्रार्थना करती हूं, मेरे चरणों का मार्गदर्शन कर, मेरे मन को प्रकाशित कर ताकि प्रत्येक क्षण और सब चीजों में मैं वही करूं जो तू मुझसे करवाना चाहे।
४. प्रभो, मुझे सम्पूर्ण निष्कपटता प्रदान कर, ऐसी जो मुझे सीधा तेरे पास ले आवे।
५. प्रभो, हमें वह अदम्य साहस प्रदान कर जो तेरे ऊपर पूर्ण श्रद्धा से आता है।
६. हमें उज्ज्वल भविष्य में श्रद्धा दे और उसे चरितार्थ करने की क्षमता प्रदान कर।
७. जब हम विचलित नहीं होते तभी उचित समय पर उचित ढंग से उचित काम कर पाते हैं।
८. केवल परम चेतना ही तुम्हारे कर्म पर प्रभाव डाल सकती है; यह चेतना स्वाधीन है, सारी मानव चेतना से परे है।
९. ऐसा क्षण आता है जब जीवन भागवत उपस्थिति के बिना असह्य बन जाता है इसलिए, अपने-आपको पूरी तरह भगवान् के अर्पित कर दो और तुम प्रकाश में प्रवेश पा जाओगे।
१०. जीवन का उद्देश्य और लक्ष्य दुःख और संघर्ष नहीं बल्कि सर्वशक्तिमान् और शुभ उपलब्धि है। बाकी सब दुःखद भ्रम है।
११. सुखी और सफल जीवन के लिए पहली शर्त यह है कि व्यक्ति को अपने स्वार्थ को अपना उद्देश्य नहीं बनाना चाहिये।
उसके लिए पहली आवश्यक योग्यताएं या गुण होने चाहियें : निर्भीकता, साहस और अध्यवसाय।
१२. हमें इस बात से सचेतन रहना चाहिये कि जो जानना चाहिये उसकी तुलना में हम कुछ नहीं जानते, हमें जो करना चाहिये उसकी तुलना में हम कुछ नहीं करते, हमें जो बनना चाहिये उसकी तुलना में हम कुछ नहीं हैं।
जिस चीज की हमारी प्रकृति में कमी हो, उसे प्राप्त करने के लिए, जिसका ज्ञान न हो उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए, हम जो कुछ अभी तक नहीं कर पाये हैं, उसे करने के लिए, हमारे अन्दर अपरिवर्तनीय इच्छा-शक्ति होनी चाहिये।
१३. व्यक्तिगत इच्छाओं की अनुपस्थिति के कारण प्राप्त प्रकाश और शान्ति में हमें हमेशा प्रगति करनी चाहिये।
१४. हम एक ऐसा कार्यक्रम बना सकते हैं—
“हमेशा अधिक अच्छा, हमेशा आगे बढ़ते रहना!”

नवम्बर २००५

और एक ही लक्ष्य होना चाहिये : भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए उनको जानना। डटे रहो, और जो तुम आज नहीं कर पाते, उसे कल कर पाओगे।

१५. अगर चेतना की वृद्धि को जीवन का मुख्य लक्ष्य बनाया जाये तो बहुत-सी कठिनाइयां समाधान पा जायेंगी।

बुढ़ापे को रोकने का सबसे अच्छा तरीका है प्रगति को जीवन का लक्ष्य बनाना।

१६. पृथ्वी पर हमारा जीवन तत्त्वतः प्रगति का क्षेत्र है। लेकिन हमें जितनी प्रगति करनी है उसके लिए जीवन कितना छोटा है!

अपनी तुच्छ कामनाओं की तुष्टि के लिए समय नष्ट करना नितान्त मूर्खता है। सच्चा सुख तभी सम्भव है जब हम भगवान् को प्राप्त कर लेते हैं।

१७. जो सबसे पहली बात भौतिक चेतना को समझनी चाहिये वह यह है कि जीवन में जितनी कठिनाइयों का हमें सामना करना पड़ता है वे इसलिए आती हैं कि हम आवश्यक सहायता के लिए केवल भगवान् पर निर्भर नहीं रहते।

१८. पूर्ण विश्वास और कृतज्ञता के साथ भगवान् को पूरी तरह निवेदित होकर ही कठिनाइयों को जीता जा सकता है।

१९. जब मनुष्य अपने-आपको पूर्ण निष्कपटता और सचाई के साथ भागवत इच्छा के अर्पण कर देता है तब उसे वह शान्ति और अचञ्चल आनन्द प्राप्त होते हैं जो कामनाओं के उन्मूलन से आते हैं।

२०. व्यक्तिगत अस्तित्व का उद्देश्य भगवान् को खोजने का और उनके साथ एकता प्राप्त करने का आनन्द है। जब मनुष्य यह समझ लेता है, तब वह सारी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति विकसित करने को तैयार होता है।

२१. सुखी होने के लिए मत जियो, भगवान् की सेवा करने के लिए जियो और तब जो सुख तुम्हें मिलेगा वह तुम्हारी सब आशाओं से भी परे का होगा।

२२. प्रत्येक व्यक्ति का अपना अहम् है और सब अहम् एक दूसरे से टकराते रहते हैं। अहम् से पिण्ड छुड़ाकर ही मनुष्य मुक्त बनता है।

मुक्त होने के लिए मनुष्य को केवल भगवान् का बना रहना चाहिये।

२३. परम प्रभो, अनन्त प्रज्ञा,

इस संकटपूर्ण काल में, जब अहम् आपस में टकरा रहे हैं और अपने-आपको हठपूर्वक स्थापित करते हैं, केवल तुझमें आश्रय लेने में ही सुरक्षा है।

२४. तुम्हारे लिए सबसे अच्छा तरीका अपनी चैत्य सत्ता की खोज शुरू करना है। उसपर एकाग्र होकर अपनी सारी आन्तरिक गतिविधियों का उसे साक्षी बनाओ और तुम्हें क्या करना और नहीं करना चाहिये उसका न्यायाधीश बनाओ तथा अपनी बाह्य प्रकृति को उसके निर्णयों के अधीन रखने की कोशिश करो।

२५. परम प्रभो, हमें नीरव रहना सिखा ताकि मौन में हम तेरी शक्ति को ग्रहण कर पायें और तेरी इच्छा को समझ सकें।

२६. हमारी सत्ता की गहराइयों में, मन के मौन में, एक ज्योतिर्मयी शक्ति विशाल और ज्योतिर्मयी शान्ति से हमारी चेतना को परिप्लावित कर देती है जो क्षुद्र प्रतिक्रियाओं को जीतकर हमें-

भगवान् के साथ ऐक्य के लिए तैयार करती है—व्यक्तिगत अस्तित्व का यही एकमात्र उद्देश्य है।

२७. मार्ग पर मनुष्य जो पहली बात सीखता है वह यह है कि देने का आनन्द लेने के आनन्द से बहुत अधिक है।

२८. धीरे-धीरे मनुष्य सीखता है कि आत्मविस्मृति अचल शान्ति का स्रोत है। आगे चलकर इस आत्मविस्मृति में मनुष्य को भगवान् की प्राप्ति होती है और यह अवस्था सदा बढ़ते हुए आनन्द, उल्लास का स्रोत होती है।

२९. तुम्हें अपनी अभीप्सा को और सारी विघ्न-बाधाओं को जीतने की इच्छा को अक्षुण्ण रखना चाहिये। तुम्हें भागवत कृपा और निश्चित विजय पर अटल श्रद्धा होनी चाहिये।

३०. प्रकृति जटिल है और उसमें सच और झूठ, अच्छा और बुरा हमेशा मिले-जुले रहते हैं। अपनी गलतियों और कमज़ोरियों को स्पष्ट रूप से देखना बड़ा उपयोगी होता है, लेकिन तुम्हें केवल उन्हीं को न देखना चाहिये, क्योंकि वह भी एकांगी होगा। अपने स्वभाव में जो अच्छा और सच्चा है, उसके बारे में भी तुम्हें अभिज्ञ होना चाहिये और उसपर पूरा ध्यान देना चाहिये ताकि वह अच्छा और सच्चा पक्ष विकसित हो सके और अन्त में बाकी के पक्ष को आत्मसात् कर स्वभाव को रूपान्तरित कर दे।

थकान से कैसे बचें?

कहते हैं एक दस-बारह वर्ष का लड़का अपने छोटे भाई को गोद में लेकर जा रहा था। उसके कपड़े पसीने से तर हो चुके थे लेकिन उसकी गति धीमी होने का नाम न लेती थी। उसे गोधूलि से पहले-पहले घर पहुंचना था। रास्ते में कोई परिचित आदमी मिला। उसने सहानुभूति दिखलाते हुए कहा, “क्यों, बहुत भारी है न? लाओ थोड़ी देर के लिए मैं ले लूं।” परन्तु लड़का न माना। उसका उत्तर था, “नहीं, मेरा भाई है।” इस ज़रा से उत्तर में एक बड़ा रहस्य छिपा है। साधारणतः हमें थकान तब आती है जब हम किसी काम में रस न ले सकें या उसके साथ अपनापन न जोड़ सकें। हमने कई बार अच्छे कसरती नौजवानों को काम के समय अपने से कहीं कमजोर साथियों से हारते हुए देखा है। उसका अर्थ क्षमता की कमी नहीं, रस की कमी है।

हमारा शरीर या यूँ कहें, हमारी मांसपेशियां जब काम करती हैं तो उनके अन्दर लैक्टिक एसिड (दुग्धाम्ल) तेज़ी से पैदा होने लगता है। यह अम्ल मांसपेशियों को समय से पहले थका देता है। लेकिन प्रकृति ने इसका उपाय भी कर रखा है। हृदय ज्यादा काम करने लगता है, रक्तवाहिनियां जाग्रत् हो जाती हैं, बहुत-सी छोटी-छोटी वाहिनियां जो साधारण अवस्था में अलसायी-सी रहती हैं, वे भी काम में तत्पर हो जाती हैं और फेफड़े रक्त को शुद्ध करने में स्फूर्ति दिखाने लगते हैं। उधर मन महाशय भी अपना हुकुम चलाते हैं जिसका इन सब पर असर पड़ता है। अगर आप कभी-कदास ही मेहनत किया करते हों तो स्पष्ट ही है कि आपके अंगों को इन सब बातों की आदत न होगी और वे जल्द थक जायेंगे परन्तु यदि आप शरीर से काम लेने के अभ्यस्त हों तो जल्दी थकान नहीं आयेगी। इसलिए थकान से बचने के लिए सबसे पहली चीज

है शरीर को परिश्रम का अभ्यस्त बनाना। जिन्हें हमेशा थके रहने की शिकायत हो उन्हें तुरन्त कुछ-न-कुछ शारीरिक श्रम जरूर आरम्भ कर देना चाहिये। हां, इसमें यह आशा नहीं करनी चाहिये कि हथेली पर सरसों जम जायेगी। थोड़ा-थोड़ा अभ्यास बढ़ाना चाहिये। इससे शरीर की सहन-शक्ति बढ़ती जायेगी और थकान भी कम होगी।

थकान के साथ सांस का बड़ा सम्बन्ध है। अगर आपके फेफड़ों को समुचित रूप से काम करने का अभ्यास नहीं है, अगर पूरे फेफड़े हवा से नहीं भरते हैं तो बहुत जल्दी आपकी सांस फूलने लगेगी और आप थक जायेंगे। इसके लिए भी आपको लम्बी सांस लेने का अभ्यास करना चाहिये। आप जब कभी खाली बैठें तो फेफड़ों को पूरा भरने और खाली करने की कसरत कर लिया करें। यह आदत अपने-आपमें बहुत सहायक होगी और आपके हृदय तथा फेफड़ों को स्वस्थ रखेगी और इनके स्वस्थ रहने से स्वाभाविक रूप से थकान कम आती है।

इन सबसे बढ़कर एक और बात है। यदि आपको काम में रस हो तो थकान कम आती है और मन ऊब रहा हो तो हर काम भारी पड़ जाता है, इस बात का अनुभव हर एक को होगा। आप बहुत ज्यादा थके हुए हैं। आपको पता चलता है कि आपके कोई प्रियजन आ रहे हैं, आप सारी थकान भूलकर तुरन्त स्टेशन की ओर चल देते हैं और साथ में उनके स्वागत के लिए इधर-उधर से सामान भी जुटाते जाते हैं। आप बिल्कुल थके हुए हैं, आप सोने के लिए लेट चुके हैं पर आपका कोई प्रिय व्यक्ति सिर-दर्द की शिकायत लेकर आता है, आप थकान भूल कर उसका सिर दबाने बैठ जाते हैं। यानी प्रिय या अप्रिय दोनों प्रकार की घटनाओं का इसपर असर होता है। हर आदमी के अन्दर शक्ति का भण्डार होता है और साधारणतः वह उससे आधी शक्ति का ही उपयोग करता है और मानसिक कारणों से आधी शक्ति यूँ ही रह जाती है और उपयोग में न आने के कारण धीरे-धीरे क्षीण हो जाती है।

हमारे चारों ओर शक्ति का, ऊर्जा का एक अजस्र स्रोत है। यदि हम उसमें से ठीक प्रकार से शक्ति प्राप्त कर सकें तो थकान अतीत की कहानी रह जाये। इसके लिए सबसे जरूरी बात यह है कि हम काम में रस लें। जो भी काम करें पूरा रस लेकर करें। अगर थकान आने लगे तो थोड़ी देर के लिए कुछ और करने लग जायें। अभी कुछ समय पहले हमें एक जर्मन वैज्ञानिक से मिलने का अवसर मिला। उनका कहना था कि वे सवेरे से शाम तक अपनी प्रयोगशाला के अन्दर बन्द रहते हैं। शाम को जब बाहर निकलते हैं तो बहुत थके और चिड़चिड़े होते हैं। उनकी श्रीमती पास नहीं आती, उनके मित्र दूर रहते हैं, उनका कुत्ता भी दूर खड़ा-खड़ा दुम हिलाता रहता है। वे आराम करने के लिए बिस्तर पर नहीं लेटते। झट एक और कमरे में घुस जाते हैं जहां बड़ईगिरी का सारा सामान रखा रहता है। वे लगकर दो घण्टे आरी, रन्दा वगैरह चलाते हैं। पसीना बहाकर सुन्दर-सी चीजें तैयार कर लेते हैं और दो घण्टे बाद जब बाहर आते हैं तो उनका चित्त शान्त होता है, सारी थकान काफूर हो जाती है, उनकी श्रीमती, उनके मित्र और उनका कुत्ता—सभी अभयदान पाकर उनके पास आते हैं और हंसी-खुशी का वातावरण हो जाता है।

काम के बीच में आप अनख को अपने पास न आने दीजिये। चाहे कोई भी काम हो उसे बुरा-भला न कहिये और उससे बचने के रास्ते मत ढूँढ़िये और न आज का काम कल पर डालने की कोशिश कीजिये। श्रीमां ने कहा है कि काम शरीर द्वारा की गयी प्रार्थना है। अगर आप इस भाव से काम कर सकें, अपने काम को भगवान् की प्रार्थना के रूप में कर सकें तो आप देखेंगे

कि जहां बहुत सारी बेहूदगियां दूर हो जायेंगी वहां आपका शरीर भी ज्यादा चुस्त होगा और थकान भी कम आयेगी। यदि आप काम में निरन्तर भगवान् को याद रख सकें तब तो कहना ही क्या है, पर उतना न हो सके तो बीच-बीच में थोड़ा रुक कर शान्त भाव से भगवान् को याद कर लें और उनसे सहायता की प्रार्थना करें। आप देखेंगे कि बीच में पांच मिनट का यह रुकना आपकी कार्य-क्षमता को बहुत बढ़ा देता है। आपकी थकान को कम करता है और मन तथा शरीर को चुस्त तथा प्रफुल्ल बनाता है।

आजकल के फैशन के अनुसार भगवान् का नाम सुनते ही इसे छोड़ न दीजिये। वैज्ञानिक वृत्तिवाले आधुनिक व्यक्तियों को बिना परीक्षण के किसी चीज को यूं ही रद्द नहीं कर देना चाहिये। थोड़े विश्वास के साथ ही सही, यह परीक्षण शुरू तो कर देखिये, फिर परिणाम अपने-आप आपको आकर्षित करेगा। हां, तब उसको टाल देने के लिए इधर-उधर के बहाने न बनाइयेगा।

चलिये, आज से प्रयास शुरू हो जाये।

—रवीन्द्र

श्रीअरविन्द के साथ बातचीत

२५ मई १९४०

श्रीअरविन्द ('स' से)—क्या तुमने मित्र-राष्ट्रों के पीछे हटने के बारे में पढ़ा है?

स—जी नहीं।

श्रीअरविन्द—हां, वे बुलौंड से सुरक्षित लौट आये हैं। मित्र-राष्ट्रों से मतलब है अंग्रेज़। (हंसी)

स—उनके पास क्या कमी है? वे इस तरह क्यों पीछे सरक रहे हैं?

श्रीअरविन्द—यह बात मेरी समझ में नहीं आती। जर्मनी की जो सेना आगे बढ़ रही है वह बहुत बड़ी तो है नहीं, फिर भी मित्र-राष्ट्र उसका सामना नहीं कर पा रहे हैं। वे कुछ समय तक तो सामना करते हैं फिर पीछे हट जाते हैं। दो-तीन दिनों से फरासीसी लोग कह रहे हैं कि वे आमिएं के आसपास हैं, कहने का मतलब यह कि यह अन्तिम दौर है!!

स—आजकल वे यह नहीं कहते कि "योजना के अनुसार"। (हंसी)

(फरासीसियों का यह वाक्यांश प्रसिद्ध था।)

श्रीअरविन्द—वे अपने पुराने तरीकों और योजना से काम करना चाहते हैं जब कि चर्चिल प्रहार और आक्रमण की बात करता है।

स—ऐसे समय योजना और तरीके कई बार धरे के धरे रह जाते हैं।

श्रीअरविन्द—अब लड़ाई ने नया तरीका अपना लिया है। अगर फरासीसी अपने पुराने तरीके से चिपके रहें तो ज्यादा देर तक टिके न रह पायेंगे। युद्धक्षेत्र फुटबॉल के खेल की तरह है। जब एक दल गेंद के साथ आगे की ओर दौड़ता है तो दूसरा दल यह नहीं कह सकता, "ज़रा

ठहर जाओ, हमें मैदान में अपने खिलाड़ियों को उनके स्थान पर जमा लेने दो।" यह तो गवर्नर हाउस की उस प्रसिद्ध कहानी जैसा हुआ कि एक बार गवर्नर हाउस में आग लग गयी। वहां के लोगों ने हेडक्वार्टर से पूछा, "क्या करना चाहिये?" हेडक्वार्टर से कुछ समय बाद लिखित उत्तर आया, "आग बुझा दो।" (हंसी)

नी—सुना है कि जर्मन इंग्लैण्ड पर प्रहार करना चाहते हैं।

श्रीअरविन्द—इसीलिए वे बन्दरगाहों पर कब्जा कर रहे हैं, नहीं तो वे पैरिस की ओर मुड़ जाते।

पु—बातचीत के दौरान शॉम्बर्ग मुझसे कह रहा था कि अब स्वयं-सेवकों की अधिक आवश्यकता नहीं रही क्योंकि अब युद्ध यान्त्रिक बन गया है और इसमें प्रशिक्षण की बहुत जरूरत होती है।

श्रीअरविन्द—हां, लेकिन ऐसी बात नहीं है कि मित्र-राष्ट्रों के पास यान्त्रिक दल नहीं हैं। इसके अलावा, यन्त्र चलानेवाली सेना भी खुले मैदानों में युद्ध करती है। हां, आमिएं जैसे शहरों में बड़े-बड़े यन्त्रों के साथ सेना आगे नहीं बढ़ सकती, वहां तो पैदल सेना को ही आक्रमण के लिए कूच करना होगा और फ्रांस के पास बहुत बड़ी सेना है यद्यपि इंग्लैण्ड के पास 'ब्रिटिश एक्सपेडीशनरी फोर्स' है और अब वह रिज़र्व-सैनिकों को भी बुला रहा है।

स—अमरीका अपने सभी हवाई-जहाज़ मित्र-राष्ट्रों की मदद के लिए भेजने की सोच रहा है।

श्रीअरविन्द—सब तो नहीं...

*

पु—उदार का कहना है कि बाहर बहुत ज्यादा ब्रिटिश-विरोधी भावना फैली हुई है।

श्रीअरविन्द—हैदराबाद से दारा लिखता है कि उसके और सर अकबर के अलावा और सभी ब्रिटिश-विरोधी हैं।

नी—मुसलमान ब्रिटिश-विरोधी क्यों हैं?

श्रीअरविन्द—क्यों न हों? वे ब्रिटिश-राज नहीं चाहते, वे तो मुस्लिम-राज चाहते हैं। अगर हिटलर की बात न होती तो मुझे भी इसमें कोई आपत्ति न होती। अगर मुसोलिनी ने भी मित्र-राष्ट्रों पर विजय पा ली होती तब भी फर्क नहीं पड़ता क्योंकि वह सारी दुनिया को जीतनेवाला आदमी नहीं है। हिटलर तो असुर है; अगर उसने दुनिया पर कब्जा कर लिया तो सत्यानास। स्टैलिन गम्भीर है, अपने बारे में नहीं बल्कि अपने साम्यवाद के बारे में। हक़ कहता है कि वह यह बात भूल जाना चाहता है कि वह मुस्लिम लीग का आदमी है और वह काँग्रेस और महासभा से कहना चाहता है कि वे अपनी-अपनी पृथक् पार्टियों को छोड़कर समान उद्देश्य के लिए एकजुट हो जायें। इसमें मुश्किल यह होती है कि जैसे ही संकट गुज़र जाता है, वे फिर अपनी खिचड़ी अलग पकाने लगते हैं। मेहमूदाबाद के राजा का वक्तव्य तुमने सुना क्या?

नी—जी नहीं।

श्रीअरविन्द—वह पृथक् मुस्लिम प्रान्त चाहता है और सब पर मुस्लिम कानून को भी थोपना चाहता है। उसका कहना है कि इस्लाम के नियम बहुत बढ़िया हैं। न उसमें सूदखोरी चलती है, न किसी चीज का निषेध होता है इत्यादि, इत्यादि।

नी—इससे यह स्पष्ट दीखता है कि अगर उनकी चले तो वे यह सब करेंगे और दोष मढ़ेंगे काँग्रेस के मत्थे!

श्रीअरविन्द—इससे तो तुरन्त गृह-युद्ध शुरू हो जायेगा। लेकिन मुझे नहीं मालूम कि सरहद पर यह योजना कैसे सफल होगी? बलूचिस्तान और सिन्ध इसे नहीं मानेंगे। इस तरह तो बस पंजाब और बंगाल बच रहेंगे। पंजाब में सिख और हिन्दू मुसलमान बनना एकदम न चाहेंगे...

२७ मई १९४०

... पु (श्रीअरविन्द को एक चिट्ठी देते हुए)—सुन्दरम् ने आपको यह चिट्ठी लिखी है। वह आपसे जानना चाहता है कि युद्ध के बारे में उसे क्या करना चाहिये। वह बहुत चकराया हुआ है।

श्रीअरविन्द—तुम उसे लिख सकते हो कि इस युद्ध में जब आध्यात्मिकता अग्रभाग में होगी तभी भगवान् आगे बढ़ पायेंगे, लेकिन अभी तो वह पिछड़ी हुई है। हिटलर की जर्मन सेना भगवान् का मोर्चा नहीं, वह आसुरिक मोर्चा है जिसमें से होकर असुर विश्व-साम्राज्य स्थापित करना चाहता है। इस समय आसुरिक जगत् मनुष्यों पर कब्जा करके धरती पर अपनी शक्ति जमाना चाहता है।

नी—ऐसा लगता है कि हिटलर ने कहा है कि वह जून के अन्त तक फ्रांस के किसी नगर से नयी व्यवस्था की घोषणा कर देगा। ... और वह शान्ति की शर्तों की भी घोषणा कर देगा।

श्रीअरविन्द—जून के अन्त तक?

नी—जी।

पु—और सब कुछ १५ अगस्त तक समाप्त हो जायेगा।

श्रीअरविन्द—क्या वह आशा करता है कि सब कुछ उसके अनुसार चलेगा!!

शाम को

पु—कहते हैं कि बेलूर में रामकृष्ण मठ पूर्व में सबसे बड़ा मठ होगा।

श्रीअरविन्द—पूर्व से क्या मतलब है?

पु—जगन्नाथ मन्दिर से इस तरफ।

श्रीअरविन्द—साधारणतः हिन्दू-मन्दिर इतने बड़े नहीं होते। रामकृष्ण मठ में किसकी पूजा होती है?

पु—मेरा ख्याल है कि वहां रामकृष्ण का एक बड़ा-सा फोटो है और कहीं ॐ लिखा है।

श्रीअरविन्द—यह विवेकानन्द का मत है।

पु—जी हां, लेकिन मैं इस बारे में पूरी तरह नहीं जानता।

श्रीअरविन्द—रामकृष्ण मठ में कम-से-कम काली की मूर्ति तो होनी ही चाहिये।

—नीरदवरण
(‘श्रीअरविन्द के साथ बातचीत’ पुस्तक इस अंक में समाप्त हो गयी।)

श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार

(कई प्रश्नों के उत्तर श्रीअरविन्द ने दिये हैं उनमें हम श्रीअरविन्द का नाम उल्लिखित कर रहे हैं।—सं.)

एक सपना : मैं समुद्र-तट पर गया जहां मेरा घर था। पानी बहुत ऊपर उठ गया था। एक बड़ी लहर प्रचण्ड रूप से मेरे पास आ रही थी। मैं पीछे दौड़ा। मैंने ध्यान के कमरे का दरवाज़ा खुला देखा, मैं अन्दर चला गया और 'क्ष' ने दरवाज़ा बन्द कर दिया। कुछ देर बाद मैं बाहर आया और मैंने देखा कि वहां पानी का नामोनिशान तक न था : समुद्र सूख गया था। क्या इसका कोई अर्थ है?

समुद्र प्राणिक शक्ति है जो तुम्हारे बस के बाहर है। जब तुम हमारे वातावरण में शरण लेते हो तो वह पीछे हटती और सूख जाती है।

१९ अक्तूबर १९३३

—श्रीअरविन्द

हम यह कैसे जान सकते हैं कि हमारे विचार वैश्व प्रकृति से आ रहे हैं या अन्दर से?

तुम अनुभव कर सकते हो, और अगर तुम अनुभव न करो तो तुम उनके स्वरूप से जान सकते हो।

१८ अक्तूबर १९३३

—श्रीअरविन्द

ऐसे कितने जगत् हैं जिनमें मनुष्य सपनों में जा सकता है?

असंख्य जगत् हैं—लेकिन हम उन्हें सूक्ष्म भौतिक, प्राणिक, मानसिक, चैत्य और उच्चतर जगत्ओं में बांट देते हैं।

१९ अक्तूबर १९३३

—श्रीअरविन्द

क्या यह सच है कि अगर कोई किसी चीज को खो डाले या तोड़ दे तो उसे बेचैनी और दुःख का अनुभव करना चाहिये?

मेरी समझ में नहीं आता कि बेचैनी या दुःख का अनुभव किस तरह उस खोयी हुई चीज को ढूंढ सकता या टूटी हुई चीज को जोड़ सकता है!

१ नवम्बर १९३३

लोगों के साथ हुई बातचीत को अपनी रिपोर्ट में लिखने के बाद मैंने एक तरह की खुशी, छुटकारे का अनुभव किया। क्यों?

बिल्कुल स्वाभाविक है, क्योंकि तुमने सब कुछ माताजी के सामने रख दिया।

२ नवम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

सहज रूप से मैंने निम्नलिखित शब्द कहे : “मेरा छोटा-सा बगीचा भागवत चेतना की ओर खुल रहा है।”

पेड़-पौधे भी भगवान् के प्रति खुल सकते हैं।

५ नवम्बर १९३३

कीड़ों को मारने के लिए क्या मुझे थोड़ा-सा मिट्टी का तेल और थोड़ा साबुन मिल सकता है?

हां, लेकिन पौधों के लिए मिट्टी का तेल खतरनाक है—सावधान रहना कि कीड़ों के साथ-साथ तुम कहीं पौधों को भी न मार डालो।

७ नवम्बर १९३३

अगर कोई बचपन से यहीं रहा हो तो क्या यह सच है कि उसके अन्दर सेक्स की कठिनाइयां न होंगी?

यह अपने-आपमें सच नहीं है—यह केवल सम्भव है—लेकिन इस शर्त पर कि व्यक्ति पूरी तरह से माताजी के प्रभाव में रहे, दूसरे साधकों के वातावरण के प्रति ज्यादा न खुले जिनके अन्दर यह है, नाजुक उम्र में विचलित न होए और न शृंगारपूर्ण साहित्य पढ़कर अपने-आपको विचलित करे। ऐसा कोई नहीं है जो अबतक यह सब कर सकने में समर्थ हुआ हो।

—श्रीअरविन्द

जब उदासी आये, तो हमें क्या करना चाहिये?

उसे उसी तरह झाड़ दो जिस तरह तुम अपने पैरों से धूल झाड़ देते हो।

८ नवम्बर १९३३

क्या यह सच है कि किसी शक्ति, प्रकाश, शान्ति या आनन्द के अवतरण के ठीक पहले, विरोधी शक्तियां हमारे ऊपर कोई रचना, उदासी या अवाञ्छित चीज फेंकती हैं?

हमेशा नहीं—वे कभी-कभी ऐसा करती जरूर हैं या अवतरण के बाद प्रहार करती हैं ताकि उसमें बाधा दें। लेकिन अगर तुम उनके साथ सम्पर्क रखना अस्वीकार कर दो तो वे कुछ नहीं कर सकतीं।

९ नवम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

(साधक के लिए लिखी गयी प्रार्थना)

मैं सर्वांगीण और पूर्ण रूप से सच्चा और निष्कपट बनने की अभीप्सा करता हूं।

११ नवम्बर १९३३

—श्रीमां

नवम्बर २००५

यहां आश्रम में, क्या साधक और साधिकाएं आपस में भाई-बहन हैं? या केवल मित्र हैं?

वे केवल साथी-साधक हैं।

१४ नवम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

आज दोपहर को जब मैं सोकर उठा तो मुझे ऐसा महसूस हुआ मानों मेरे ऊपर कोई उदासी आ गिरी। मुझे इसका कोई कारण नहीं दीखता।

नींद में मनुष्य बहुत बार अवाञ्छनीय शक्तियों और चीजों के सम्पर्क में आता है जो तुम्हारी प्राणिक ऊर्जा को खींच लेती हैं जिससे जब तुम उठते हो तो अपने-आपको कमजोर और उदासी से भरा हुआ अनुभव करते हो।

१५ नवम्बर १९३३

सच्चा सुख क्या है और वह कब आता है?

जब तुम मिथ्या सुख के लिए आकर्षण का अनुभव नहीं करते।

सच्चा सुख भागवत स्रोत से आता है, वह शुद्ध, बिना शर्त होता है। साधारण सुख का मूल प्राण है, वह अशुद्ध होता है और परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

१८ नवम्बर १९३३

अगर अन्तरात्मा अपने कार्यों में मुक्त होना चाहती है तो उसके लिए निम्न प्रकृति की स्वाभाविक क्रिया के परे जाना अनिवार्य है। इसका क्या मतलब है?

निम्न प्रकृति मनुष्य की साधारण चेतना है जिसमें अज्ञान, कामना और बन्धन होते हैं। मेरे ख्याल से तुम्हें मालूम है कि अगर मनुष्य मुक्त होना चाहता है तो उसे निम्न प्रकृति की इस चेतना को पार करके उच्चतर भागवत चेतना में पहुंचना होगा।

१९ नवम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

आज सुबह जब मैंने प्रार्थना^१ पढ़ी तो मुझे किसी अच्छी चीज का अनुभव नहीं हुआ। ऐसा लगा मानों मैंने कोई साधारण चीज पढ़ी। काम खत्म करके मैंने उसे फिर से पढ़ा और मुझे बहुत अच्छा अनुभव हुआ, हमेशा की तरह। ऐसा क्यों है?

यह तुम्हारी चेतना में भेद है, प्रार्थना में नहीं। सम्भवतः पहली बार नींद के बाद तुम्हारी चेतना मन्द और धुंधली थी—बाद में वह जगी थी और उसने अनुभव किया।

२५ नवम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

^१ माताजी की पुस्तक 'प्रार्थना और ध्यान' से।

सक्रिय और निष्क्रिय निश्चल-नीरवता का क्या अर्थ है?

निष्क्रिय निश्चल-नीरवता वह है जिसमें आन्तरिक चेतना रिक्त और विश्राम में रहती है, वह बाहरी चीजों और शक्तियों के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं करती।

सक्रिय निश्चल-नीरवता वह है जिसमें महान् शक्ति होती है जो निश्चल-नीरवता में बाधा दिये बिना बाहर चीजों और शक्तियों पर उतरती है।

२६ नवम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

शान्ति और स्थिरता में क्या भेद है?

अधिक नहीं। शान्ति स्थिरता से ज्यादा सकारात्मक है—नकारात्मक स्थिरता हो सकती है जो केवल बाधा और कष्ट का अभाव है, लेकिन शान्ति हमेशा कोई सकारात्मक चीज होती है जो स्थिरता की तरह न केवल छुटकारा लाती है बल्कि अपने साथ कुछ सुख और आनन्द को भी लाती है। एक सकारात्मक स्थिरता भी होती है, ऐसी चीज जो उन सभी चीजों का डटकर सामना करती है जो कष्ट देना चाहती हैं, वह नकारात्मक स्थिरता की तरह कमजोर और निष्क्रिय नहीं होती बल्कि बलशाली और ठोस होती है। बहुत बार दोनों शब्द समान अर्थ के लिए उपयोग में आते हैं, लेकिन जैसा ऊपर कहा गया है, तुम उनके सच्चे अर्थ में भेद कर सकते हो।

२७ नवम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

हम तमस् से कैसे छुटकारा पा सकते हैं?

शक्ति के अवतरण द्वारा।

शान्ति कब उतर सकती है?

यह शरीर के ऊपर की चेतना के प्रति खुलने पर निर्भर है।

२९ नवम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

कृपया मुझे हर्ष और आनन्द का भेद बता दीजिये।

हर्ष प्राणिक है, आनन्द है आध्यात्मिक।

३० नवम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

जीवन-ऊर्जा का क्या अर्थ है?

यह वह ऊर्जा है जो देह में प्राण की रचना करती और उसे सहारा देती है; यह वह ऊर्जा है जो, यदि भगवान् के अर्पित हो तो शरीर और उसकी क्रियाओं के रूपान्तर के लिए उपयोग में लायी जाती है।

१ दिसम्बर १९३३

वेद में कहा है

('राजपाल एण्ड संज़' के संस्थापक श्री विश्वनाथ जी की हिन्दी कविताओं का संकलन हाल ही में 'अन्तरा' नामक काव्य-संग्रह में प्रकाशित हुआ है।

पुस्तक के आमुख के लेखक डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के शब्दों में—“विश्वनाथ जी की कविताओं में जीवन के अमृतोत्सव की सहज अनुभूति और मार्मिक अन्तर्दृष्टि की झलक देखने को और आहट सुनने को मिलती है।”

अतः हम भी पुरोधा के अपने सुधी पाठकों को बीच-बीच में वह झलक दिखलाते और वह आहट सुनाते रहेंगे।—सं.)

वेद में कहा है

'पितृदेवो भव'

पिता देवता हैं

देवता का सम्मान दो उन्हें

सुनहरे फ्रेम में मण्डित

पिताजी का बड़ा चित्र

घर के छोटे से मन्दिर में

टांग दिया है

इष्टदेव की मूर्ति

के पास ही

पहना दी है

चन्दन के फूलों की माला

प्रतिदिन बदलने का

झंझट ही नहीं

सुवासित रहती है

साथ ही लगवा दिया है

बिजली का हल्का सा बल्ब

जो झिलमिलाता रहता है हर समय

दीपक जलाने की

आवश्यकता नहीं

लगता है पिताजी

सन्तुष्ट हैं

बड़े वात्सल्य से निहारते

रहते हैं मुझे।

—विश्वनाथ

अपना सर्वोत्तम करो

तुम प्रत्येक मुहूर्त अपने संकल्प को एक अभीप्सा के रूप में अर्पित कर सकते हो जो बहुत सरल ढंग से, ठीक यह नहीं कि “हे प्रभो! तेरी इच्छा पूर्ण हो,” बल्कि यह रूप लेती है कि “ऐसी कृपा कर कि मैं यथासम्भव अच्छे-से-अच्छे रूप में उस चीज को सम्पन्न करूँ जो सर्वोत्तम हो।”

हो सकता है कि तुम्हें प्रत्येक क्षण यह मालूम न हो कि सर्वोत्तम वस्तु क्या है और उसे कैसे करना चाहिये, पर तुम अपनी इच्छा को भगवान् के हाथों में सौंप सकते हो जिससे कि सर्वोत्तम सम्भवनीय, सर्वोत्तम सम्भाव्य वस्तु सम्पन्न हो सके। तुम देखोगे कि इसके अद्भुत परिणाम होंगे। तुम चेतनता, सचाई और लगन के साथ इसे करो, और तुम अपने को विराट् पगों से आगे बढ़ते हुए पाओगे। यह ऐसी ही बात है, है न? मनुष्य को अपनी आत्मा के समस्त आवेग के साथ, अपने संकल्प के समस्त बल-सामर्थ्य के साथ कार्य करना चाहिये, प्रत्येक मुहूर्त अधिक-से-अधिक सम्भव, अधिक-से-अधिक सम्भव कार्य करो। दूसरे लोग जो कुछ करते हैं उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं—यह ऐसी चीज है जिसे मैं चाहे जितनी बार दोहराऊँ कम ही रहेगी।

कभी मत कहो कि “फलां आदमी यह नहीं करता,” “फलां आदमी तो कुछ और ही चीज करता है,” “लोग तो वही करते हैं जो हमें नहीं करना चाहिये”—इन सब बातों से तुम्हारा कोई मतलब नहीं। तुम इस पृथ्वी पर, एक भौतिक शरीर में, एक सुनिश्चित उद्देश्य से लाये गये हो और वह उद्देश्य है इस शरीर को जितना सम्भव हो उतना सचेतन बनाना, इसे भगवान् का अत्यन्त पूर्ण और अत्यन्त सचेतन यन्त्र बनाना। भगवान् ने तुम्हें चेतना के सभी क्षेत्रों में—मानसिक, प्राणिक और भौतिक क्षेत्र में—वे तुमसे जो कुछ आशा करते हैं उसके अनुपात में योग्यता और साधन की एक विशेष मात्रा प्रदान की है, और वे जो कुछ तुमसे आशा रखते हैं उसीके अनुपात में तुम्हारे चारों ओर की समस्त परिस्थितियाँ भी व्यवस्थित हैं, और जो लोग तुमसे यह कहते हैं, “मेरा जीवन भयावह है, मैं संसार में अत्यन्त दयनीय जीवन-यापन करता हूँ,” वे मूढमति हैं। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन ऐसा है जो उसके सर्वांगपूर्ण विकास के उपयुक्त है, प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे अनुभव प्राप्त हैं जो उसके सर्वांगपूर्ण विकास में सहायता देते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख जो कठिनाइयाँ हैं वे भी ऐसी हैं जो उसे उसकी पूर्ण उपलब्धि में सहायता देती हैं।

यदि तुम अपनी ओर सावधानी के साथ दृष्टिपात करो तो देखोगे कि तुम सर्वदा ही अपने अन्दर उस क्षमता के विपरीत वस्तु को वहन करते हो जो तुम्हें उपलब्ध करनी है (यहां मैं “क्षमता” शब्द का व्यवहार उसके विशालतम और उच्चतम अर्थ में कर रही हूँ)। तुम्हारा एक विशेष लक्ष्य है, एक विशेष मिशन है, एक विशेष उपलब्धि है जो तुम्हारी एकदम अपनी है; प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से ऐसा ही है, और तुम अपने अन्दर अपनी उपलब्धि को पूर्ण बनाने के लिए आवश्यक सभी कठिनाइयों को वहन करते हो। सर्वदा ही तुम यह देखोगे कि तुम्हारे अन्दर अन्धकार और प्रकाश समान-समान हैं: तुममें एक योग्यता है, तुममें उस योग्यता का अभाव भी है। परन्तु तुम यदि अपने अन्दर एक बहुत काला छिद्र, बहुत घना अन्धकार देखो तो यह निश्चित रूप से जानो कि तुम्हारे अन्दर कहीं पर एक महान् प्रकाश भी है। अब यह तुम्हारा

काम है कि तुम यह जानो कि एक का उपयोग दूसरे की संसिद्धि के लिए किस प्रकार किया जाये।

यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी चर्चा कम ही होती है, पर जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। और तुम यदि सावधानीपूर्वक निरीक्षण करो तो तुम देखोगे कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ सर्वदा यही बात होती है। यह चीज हमें उन वक्तव्यों की ओर ले जाती है जो विरोधाभासपूर्ण होते हैं पर होते हैं एकदम सत्य; उदाहरणार्थ, बड़े-से-बड़ा चोर बड़े-से-बड़ा ईमानदार आदमी हो सकता है (यह बात, निस्सन्देह, तुम्हें चोरी करने का प्रोत्साहन देने के लिए नहीं कही जा रही है!) और बड़े-से-बड़ा झूठा अत्यन्त सत्यवादी व्यक्ति बन सकता है। अतएव, तुम यदि अपने अन्दर बहुत बड़ी दुर्बलता देखो तो भी हताश मत होओ, क्योंकि सम्भवतः वह महत्तम दिव्य शक्ति का ही चिह्न हो। यह न कहो कि "मैं ऐसा हूँ, अन्य प्रकार का नहीं बन सकता।" यह सच नहीं है। तुम ऐसे इसलिए हो क्योंकि, निश्चित रूप में, तुम्हें उसके विपरीत बनना होगा। और तुम्हारी सभी कठिनाइयां ठीक इसलिए हैं कि तुम उन्हें, वे जिन सत्यों को छिपाये हुए हैं, उनमें रूपान्तरित कर सको।

एक बार जब तुम यह बात समझ जाओ तो तुम्हारी बहुत सारी दुश्चिन्ताएं समाप्त हो जाती हैं और तुम बहुत सुखी, बहुत ही सुखी हो जाते हो। जब मनुष्य देखता है कि उसमें कोई बहुत काला छिद्र है तो वह कहता है, "यह सूचित करता है कि मैं बहुत ऊंचा उठ सकता हूँ," यदि गर्त बहुत गहरा है तो "मैं बड़ी ऊंचाई तक ऊपर चढ़ सकता हूँ।"

—श्रीमां

कुछ तीखे, कुछ पैसे सत्य

हिन्दू-मुस्लिम समस्या—(पिछली शताब्दी के आरम्भ से ही हिन्दू-मुस्लिम समस्या भारतवर्ष को तंग करती आयी है। कुछ दलों ने मुसलमानों का विरोध और कुछ ने खुशामद का हथियार अपनाया, परन्तु दोनों समान रूप से असफल रहे और परिणामस्वरूप, भारत का विभाजन हुआ। इसपर भी समस्या कुछ समय के लिए दब भले गयी हो, पर शान्त नहीं हुई। अब तो उसने हिन्दुओं में ही काफ़ी फूट डाल दी है और जातिवाद अपना सिर उठाता जा रहा है। १९०९ में श्रीअरविन्द ने लिखा था :)

हमें एक बात पर विश्वास है, हिन्दू-मुस्लिम एकता राजनीतिक समझौते या खुशामद के द्वारा नहीं आ सकती। इसे ज्यादा गहराई में जाकर मन और हृदय में खोजना होगा, क्योंकि जहां फूट के कारण हैं वहीं उन्हें दूर करने का उपाय भी ढूंढना होगा। इसका समाधान ढूंढते हुए यह याद रखना जरूरी है कि हमारी कठिनाइयों का, हमारे भेद-भाव का सबसे बड़ा कारण है गलतफ़हमी। प्रेम प्रेम को आने के लिए बाधित करता है और बल ही बलवान् को मना सकता है। हमें परस्पर-परिचय और सहानुभूति के द्वारा गलतफ़हमी के कारणों को हटाने का प्रयास करना चाहिये। हमें अपने मुसलमान भाई के प्रति देश-प्रेमी का अविचल प्रेम बढ़ाना चाहिये। हमें याद रखना चाहिये कि उसमें भी नारायण का निवास है, उसे भी हमारी दिव्य जननी ने अपने

वक्षस्थल में स्थायी आवास प्रदान किया है। लेकिन हमें उसकी ओर मिथ्या रूप से बढ़ना, स्वार्थपूर्ण दुर्बलता या भीरुता के कारण उसकी खुशामद करना बन्द कर देना चाहिये। हमें विश्वास है कि इस कठिनाई का समाधान करने के लिए यही एक व्यावहारिक उपाय है। राजनीतिक दृष्टि से हम हिन्दू-मुस्लिम इतिहास और सभ्यता को ज्यादा न्यायपूर्ण दृष्टि से प्रस्तुत करने, राष्ट्रीय विकास में मुसलमानों का ठीक मूल्यांकन करने, कठिनाइयों की उपेक्षा किये बिना उनके सामुदायिक जीवन का अपने सामुदायिक जीवन के साथ समन्वय करने का प्रयास करेंगे। भ्रातृभाव और पारस्परिक मिलन के उपाय ढूँढ़ेंगे। बौद्धिक सहानुभूति केवल नजदीक ला सकती है, केवल हृदय की सहानुभूति ही एक कर सकती है। लेकिन एक चीज़ दूसरे के लिए जमीन तैयार करती है।

*

देश के लिए सार्वजनिक शिक्षा—(किसी ने श्रीअरविन्द से पूछा: “क्या देश के लिए सार्वजनिक शिक्षा उपयोगी है?”)

श्रीअरविन्द—यह तुम्हारे दृष्टिबिन्दु पर निर्भर है। अगर तुम आधुनिक अर्थों में एक राष्ट्र खड़ा करना चाहते हो तो सार्वजनिक शिक्षा जरूरी है ताकि लोग सार्वजनिक उद्देश्य के लिए मिल-जुलकर कार्य कर सकें। लेकिन व्यक्ति के विकास की दृष्टि से वर्तमान सार्वजनिक शिक्षा भला करने की जगह, बुरा ही करती है।

साधारणतः, भारत के विद्यार्थियों में बहुत क्षमता होती है, लेकिन शिक्षा-पद्धति उसे नष्ट कर देती है। पढ़ाई के कमरों की व्यवस्था, बच्चे को इतने घण्टे वहां बैठना ही होगा और इतनी किताबें घोजनी पड़ेंगी, यह सब बहुत हानिकर है। आवश्यकता है वातावरण की, सीखने के वातावरण की। विद्यार्थी स्वयं शिक्षा ग्रहण करे। पहले अपनी क्षमता का पता लगाये और फिर उसी दिशा में प्रगति करे। पहले लिखना-पढ़ना सिखा दिया जाये और फिर विद्यार्थी को अपने-आप आगे बढ़ने के लिए छोड़ दिया जाये।

मेरा सुझाव तो यह है कि उचित शिक्षा-पद्धति में व्यक्ति और राष्ट्र, दोनों की आवश्यकताएं पूरी होनी चाहियें। मैं यह नहीं कहता कि यह चीज अभी व्यावहारिक है, परन्तु यदि कोई सच्ची प्रगति करनी है तो यही भावी शिक्षा-पद्धति होगी। अध्यापक को देखना चाहिये कि विद्यार्थी केवल पढ़ ही नहीं रहा, बल्कि उसकी बुद्धि का विकास हो रहा है। उसकी सभी क्षमताओं का विकास हो रहा है। वह संसार में अपना स्थान बनाने के योग्य हो रहा है।

*

साधक की और कामचोर की वृत्ति : साधक से बस अभीप्सा, त्याग और समर्पण के प्रयत्न की ही मांग की जाती है। अगर ये तीन चीजें की जायें तो बाकी सब माताजी की कृपा से और तुम्हारे अन्दर दिव्य शक्ति की क्रिया से अपने-आप आ जायेगा। लेकिन इन तीनों में सबसे महत्वपूर्ण है समर्पण जिसका पहला आवश्यक रूप है भरोसा, विश्वास और कठिनाई के समय धीरज। ऐसा कोई नियम नहीं है कि भरोसा और विश्वास तभी रह सकते हैं जब अभीप्सा हो।

इसके विपरीत, जब तमस् के दबाव के कारण अभीप्सा भी न हो, तब भी विश्वास, भरोसा और धीरज रह सकते हैं। अगर विश्वास और भरोसे की कमी हो और अभीप्सा सोयी पड़ी हो, तो इसका मतलब होगा कि साधक पूरी तरह अपने ही प्रयास पर निर्भर है।—इसका मतलब होगा : “मेरी अभीप्सा असफल हो गयी, इसलिए मेरे लिए कोई आशा नहीं। मेरी अभीप्सा में कमी है तो माताजी मेरे लिए क्या कर सकती हैं?” इसके विपरीत, साधक को यह अनुभव करना चाहिये : “कोई परवाह नहीं, मेरी अभीप्सा लौट आयेगी। इस बीच मैं जानता हूँ कि माताजी मेरे साथ हैं, चाहे मैं उन्हें अनुभव न भी कर पाऊँ। वे मुझे अधिक-से-अधिक अंधेरे काल में से भी पार लगायेंगी।” यह है वह पूर्णतः उचित मनोवृत्ति जो तुम्हें अपनानी चाहिये। अवसाद उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता जिनमें यह वृत्ति हो, अगर आये भी तो चकराकर उलटे पैरों लौट जाता है। यह तामसिक समर्पण नहीं है। तामसिक समर्पण तब होगा जब तुम कहो : “मैं कुछ भी नहीं करूँगा, माताजी को ही सब कुछ करने दो। अभीप्सा, त्याग, समर्पण तक जरूरी नहीं है। मेरे अन्दर उन्हीं को यह सब करने दो।” इन दो वृत्तियों में बहुत अन्तर है। एक है कामचोर की वृत्ति जो कुछ भी नहीं करती; दूसरी है साधक की वृत्ति जो अच्छे-से-अच्छा प्रयास करती है। भले ही साधक कुछ समय के लिए निष्क्रियता का शिकार हो जाये और चीजें विरोधी हो जायें, फिर भी अगर वह सबके पीछे उपस्थित माताजी की सत्ता और शक्ति में विश्वास बनाये रखे तो उस विश्वास के द्वारा वह विरोधी शक्तियों को चकरा देता और साधना की क्रियाशीलता को वापिस ले आता है।

—श्रीअरविन्द

प्रारम्भ-बिन्दु

हां, उस दिन की जरा कल्पना करो, तुम सहसा एक ऐसी चीज के प्रति जाग्रत हो उठोगे जिसकी ओर कभी तुम्हारा ध्यान ही नहीं गया; लेकिन जो तुम्हारे अन्दर गहराई में है, जिसमें सत्य के लिए प्यास है, रूपान्तर के लिए प्यास है और जो इसे पाने के लिए अपेक्षित प्रयत्न करने को तैयार है। उस दिन तुम बहुत तेज चलोगे, लम्बे डगों से आगे बढ़ोगे...। शायद, तुम अचानक एक अदमनीय आवश्यकता अनुभव करो कि अब निश्चेतन और अज्ञान में नहीं जीना है, उस अवस्था में नहीं रहना है जिसमें कारण जाने बिना तुम काम करते हो, कारण समझे बिना अनुभव करते हो, विरोधी इच्छाएं रखते हो, किसी चीज के बारे में कुछ नहीं समझते, केवल आदत, दिनचर्या और प्रतिक्रियावश जीते हो, बस जीवन को सहज रूप में लेते हो। और एक दिन आता है जब तुम उससे सन्तुष्ट नहीं रहते।

तुम देखोगे कि यह हर एक के लिए अलग-अलग है। ज्यादातर यह जानने, समझने की आवश्यकता होती है; कुछ लोगों के लिए यह जो कुछ करना चाहिये और जैसे करना चाहिये उसे वैसा करने की आवश्यकता होती है; कुछ दूसरों के लिए यह एक धुंधली-सी अनुभूति होती है कि इस इतने अचेतन, व्यर्थ और निरर्थक जीवन के पीछे कुछ ऐसी चीज है जो जीने के लायक है, जिसे पाना है—एक सद्बस्तु है, इन मिथ्यात्वों और मायाजालों के परे एक सत्य है।

सहसा तुम महसूस करते हो कि जो कुछ तुम कर रहे हो, जो कुछ देख रहे हो उसका कोई अर्थ नहीं, उसके अस्तित्व का कोई हेतु नहीं, लेकिन कहीं कुछ ऐसा है जिसका अर्थ है कि मूलतः हम यहां इस धरती पर किसी काम के लिए हैं, इस सबका, इन सब गतिविधियों का, सब उद्देश्यों का, शक्ति और ऊर्जा के इस सारे अपव्यय का जरूर कोई प्रयोजन होना चाहिये, उद्देश्य होना चाहिये, और यह बेचैनी जो हम अपने अन्दर अनुभव कर रहे हैं, यह असन्तोष, यह आवश्यकता, किसी चीज के लिए **प्यास** जरूर हमें कहीं ले जायेंगी।

और एक दिन तुम अपने-आप से पूछते हो : “पर हमारा जन्म क्यों हुआ?... हम मरते क्यों हैं?... हम दुःख क्यों भोगते हैं?... हम काम क्यों करते हैं?...”

अब तुम एक छोटी-सी मशीन की तरह नहीं रह जाते, मुश्किल से अर्धचेतन। तुम सचमुच अनुभव करना, सचमुच काम करना, सचमुच जानना चाहते हो।...

और तब, यदि तुम प्रश्न करो तो तुम्हें उत्तर मिल जाता है।

क्यों?

क्योंकि अब हम वैसा जीवन नहीं चाहते जैसा वह है, क्योंकि हम अब मिथ्या और अज्ञान को नहीं चाहते, क्योंकि हम पीड़ा और अचेतनता को और नहीं चाहते, क्योंकि हम अव्यवस्था एवं दुर्भावना को और नहीं चाहते, क्योंकि श्रीअरविन्द हमें यह बताने के लिए आये हैं : ‘सत्य’ को पाने के लिए धरती को छोड़ने की जरूरत नहीं, अपनी ‘अन्तरात्मा’ को पाने के लिए जीवन का त्याग आवश्यक नहीं, भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए संसार का त्याग या सीमित मत रखना जरूरी नहीं है। भगवान् सब जगह हैं, हर वस्तु में हैं और यदि वे छिपे हुए हैं तो इसलिए कि हम उन्हें ढूँढ़ने का कष्ट नहीं उठाते।

मात्र एक सच्ची अभीप्सा द्वारा हम अपने अन्दर का मुहरबन्द द्वार खोल सकते हैं और पा सकते हैं... वह ‘कोई’ चीज जो जीवन की सारी सार्थकता को बदल देगी, हमारे सारे प्रश्नों का उत्तर दे देगी, सारी समस्याओं को हल कर देगी और हमें उस पूर्णता और ‘सद्वस्तु’ तक ले जायेगी जिसके लिए हम अनजाने अभीप्सा करते हैं, केवल वही हमें सन्तुष्ट कर सकती है और स्थायी उत्फुल्लता, सन्तुलन, बल और जीवन दे सकती है।...

आरम्भिक बिन्दु : इच्छा करना, सचमुच चाहना, इसकी जरूरत महसूस करना। अगला चरण : केवल उसी के बारे में सोचना। एक दिन आयेगा, बहुत जल्दी आयेगा, जब तुम किसी और चीज के बारे में सोच ही न सकोगे।

यही एक चीज है जिसका कुछ मूल्य है। और इसके बाद...

तुम अपनी अभीप्सा को शब्दबद्ध करते हो, अपने हृदय से सच्ची प्रार्थना का निर्झर फूटने देते हो जो तुम्हारी आवश्यकता की सच्चाई को व्यक्त करती है। और तब... हां, तब तुम देखोगे कि क्या होता है।

कुछ होगा। निश्चय ही कुछ होगा। हर एक के लिए इसका रूप भिन्न होगा।

—श्रीमां

मानव-जीवन का हेतु और मिशन

इतिहास की घटनाओं का मूल्यांकन करने के लिए कुछ दूरी की जरूरत होती है। इसी तरह अगर तुम भौतिक सम्भावनाओं से काफी ऊपर उठना जानो तो तुम समस्त पार्थिव जीवन को समग्र रूप में देख सकते हो। उस क्षण से यह अनुभव करना आसान है कि मानव जाति के सभी प्रयास एक ही लक्ष्य की ओर अभिमुख हैं।

यह ठीक है कि व्यक्तिगत रूप से हो या सामूहिक रूप से, मनुष्य वहां तक पहुंचने के लिए बहुत-से अलग-अलग रास्ते अपनाते हैं। उनमें से कुछ इतने टेढ़े-मेढ़े होते हैं कि पहली दृष्टि में लगता है कि वे लक्ष्य की ओर जाने की जगह उससे परे जा रहे हैं; लेकिन सभी जाने-अजाने, तेजी से या धीरे-धीरे जा रहे हैं उसी ओर।

तो यह लक्ष्य है क्या?

वह मनुष्य के जीवन के उद्देश्य और विश्व में उसके मिशन के साथ एक है।

लक्ष्य : “उसे तुम चाहे जो नाम दे लो, बुद्धिमानों के लिए वह सभी नामों को धारण करने-वाला है।”

चीनियों का ताओ, हिन्दुओं का ब्रह्म, बौद्धों का धर्म, हमीज का शुभ, प्राचीन यहूदियों के अनुसार वह जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता, ईसाइयों का खुदा, मुसलमानों का अल्लाह, जड़वादियों का न्याय, सत्य।

—मानव-जीवन का हेतु है ‘उसके’ बारे में सचेतन होना।

—उसका उद्देश्य है ‘उसे’ अभिव्यक्त करना।

—सभी धर्म, सभी सन्तों की शिक्षा इस लक्ष्य तक पहुंचने के उपायों से भिन्न कुछ नहीं है...।

—श्रीमां

नियति और अन्तःप्रकाश

क्या हम अपनी नियति चुन सकते हैं या हमें चुना जाता है?

इस बाहरी सत्ता को अगर अपने-आप पर छोड़ दिया जाये तो यह बहुत उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं होती; यह बहुधा प्रकृति की शक्तियों का खिलौना होती है। लेकिन आन्तरिक या उच्चतर सत्ता, अधिक गहरी चेतना हमारी नियति की स्वामिनी और निर्मात्री होती है। इसलिए इस परम चेतना को खोजना और उसके साथ एक होना इतना जरूरी है ताकि जीवन की सब प्रकार की असंगतियों और प्रकृति के सभी संघर्षों का अन्त लाया जा सके।

(आश्रम के एक दर्शक को यह लिखित उत्तर देने के बाद माताजी ने कहा, “यह मज़ेदार प्रश्न है” और फिर यह टिप्पणी की:)

आरम्भ करने के लिए यह बस पहला छोटा-सा संकेत है। एक बार तुम आरम्भ कर दो तो वस्तुएं अपना मार्ग बना लेती हैं और तुम अधिकाधिक अच्छी तरह समझते जाते हो। यह आरम्भ-बिन्दु है।

हमारे ऊपर जो कुछ है उसका अन्तःप्रकाश हम तक कैसे आता है?

ओह, हर आदमी के लिए अलग ढंग है—हर एक के लिए। एक ही चीज दो बार नहीं होती। सामान्यतः यह तब होता है जब तुम कोई आशा नहीं करते और अधिक-से-अधिक ... जब तुम अपने तथाकथित ज्ञान, अपने निश्चय और लगभग सारी आशा समर्पित कर देते हो, तब तुम उस स्थिति में होते हो जिसमें तुम उस उपलब्धि को पा सकते हो जो हमेशा उपस्थित होती है। यह हमेशा होती है, यह तो हम ही उसे ग्रहण नहीं करते। ज्ञान हमेशा उपस्थित होता है। प्रकाश हमेशा उपस्थित होता है, हमेशा, मानों वह ग्रहण किये जाने के लिए तैयार, हर चीज के ऊपर उतराता रहता है। हम जो मानते हैं कि हम जानते हैं और हम जो करना चाहते हैं उससे इतने अन्धे हो जाते हैं कि हम उसे ग्रहण नहीं कर पाते। लेकिन जब हम किसी-न-किसी कारण, समर्पण करते हैं यानी जब जरा निश्चेष्ट हो जाते हैं और खुलते हैं तब हम उसे ग्रहण करते हैं।

हां, एक सक्रिय उपाय भी है। सक्रिय उपाय है तीव्र अभीप्सा। यह एक आवश्यकता, अनिवार्य आवश्यकता है। तब कोई चीज खुलती है और हम ग्रहण करते हैं। हम ऐसा मानने देने के लिए बाधित होते हैं कि वह हमारे ऊपर है क्योंकि हम सत्ता के इस भाग से उसको ग्रहण करते हैं। (माताजी अपना हाथ सिर के ऊपर रखती हैं।) यह यहां है। यहां है—एक ऐसी चीज के साथ सम्पर्क जोड़ने की क्षमता जो शुद्ध मानवीय नहीं है।

तुम्हें उसके लिए बहुत बड़ी आवश्यकता अनुभव करनी चाहिये। यह अनुभव करना चाहिये कि हमारे जीवन का प्रयोजन यही है, कि मानवजाति का अस्तित्व इसीलिए है ताकि यह अन्तःप्रकाश रूप ले सके। जगत् में मानवजाति मानसिक उपलब्धि है और मन के अस्तित्व का प्रयोजन है रूपायित करना, प्रकट करना, एक बौद्धिक मूर्तरूप देना। तो अगर हम यह अनुभव करें कि हम इस चीज को प्रकट करना चाहते हैं, तब हम उसे ग्रहण करने के लिए तैयार होते हैं—जब हमें वास्तव में यह जानने की जरूरत होती है कि हम क्यों जीते हैं, मनुष्यों का अस्तित्व क्यों है, क्यों? और साथ ही अपनी अपूर्णता की अनुभूति, यह कि हम जो हैं उसके अतिरिक्त भी कुछ हैं और उससे भी बढ़कर हम जितना जानते हैं उसके ऊपर भी कुछ है। कोई और चीज है जिसे पाना और अभिव्यक्त करना है। तब मनुष्य अभीप्सा करता है या वह उत्कण्ठित होता है, वह अनुभव करता है कि उसके लिए जानना जरूरी है। तब आदमी तैयार होता है। लेकिन पथ अनगिनत हैं। हर एक के लिए रास्ता अलग है। पर हर एक के लिए चीज एक ही है : यह भावना कि हम जो कुछ हैं उससे भिन्न भी कुछ हैं, हम जो कुछ जानते और कर सकते हैं उसके सिवा भी कुछ है। कोई ऐसी चीज है जो हमसे परे, आगे, बहुत आगे है। तब, यह है वह अवस्था जो जरूरी है।

तुम जा रहे हो। तुम याद रखोगे।

(जब दर्शक कमरे से चला गया तो माताजी ने कहा)

हां, वह लौटकर आयेगा। जो यह जानना चाहते हैं, जिन्हें इसकी आवश्यकता का अनुभव है वे हमेशा लौटकर आते हैं। यहां भारत में, और शायद विशेष रूप से यहां, हम उसीमें सांस ले रहे हैं। हम जब-जब सांस लेते हैं, वह अपने-आप हमारे अन्दर प्रवेश करती है। हवा इससे भरी है। शायद इसीलिए जो और कहीं मुश्किल है वह यहां सरल हो जाता है।

१७ मार्च १९६८

—श्रीमां

‘नयी कॉपलें’ :

वह पंछी

एक सफेद-सा कोमल, नन्हा पंछी, अपने मधुर और सहमे-सहमे स्वर से, अपने सोने के निवास से, कभी-कभी मुझे पुकारता है। उसकी मन्द ध्वनि विरल ही मेरे कानों तक पहुंचती है, क्योंकि ऐसी बहुत-सी चीजें हैं जो उस प्यारी-सी आवाज को मुझ तक पहुंचने के लिए हमेशा रोकती रहती हैं। वह सोने का पिंजरा, जिसमें वह अनमोल पंछी कैद है, मुझसे ज्यादा दूर नहीं है बल्कि सब चीजों में से वही एक ही जो मेरे सबसे करीब है, पर फिर भी मुझसे मीलों दूर है—ऐसा प्रतीत होता है। कभी-कभी जब मुझे उसका मधुर स्वर सुनाई देता है तो मैं दौड़कर उसके पास जाती हूं, उसके पिंजरे को खोलकर उसके साथ उड़ते-उड़ते नई उमंगें ताजा करती हूं। वह मुझे सम्पूर्ण होने का एहसास-दिलाता है। वह शीशे के समान मेरे सारे विचारों, भावनाओं और मेरे अस्तित्व को झलकाता है। उसके साथ कुछ क्षण बिताकर मैं अपने-आपमें एक नयापन महसूस करती हूं पर ये पल ज्यादा नहीं होते क्योंकि एक तेज हवा का कठोर झोंका उस नन्हीं-सी जान को, जिसने अभी ही अपने पंख फैलाये थे, वापस उस सोने के पिंजरे में जाकर बन्दी बना देता है और मैं, जिसे चिल्लाकर कहना चाहिये कि मेरी कीमती वस्तु को हाथ मत लगाओ, बस एकटक इस खेल को देखती रहती हूं। उस भयंकर हवा के झोंके और उसके दोस्तों के साथ उड़ती चली जाती हूं। कुछ समय तक वह सहमा-सहमा स्वर सुनायी देता है फिर वह भी कहीं दूर वादियों में गुम हो जाता है और उसकी प्रतिध्वनि मुझे पुकारती रहती है, पर मैं उस मीठी—अपनी अन्तरात्मा की पुकार को न समझ कर कामनाओं का हाथ थामे आगे बढ़ती जाती हूं।

—कनुप्रिया पुराणिक

हार न मानना

सदियों से एक पंक्ति चली आ रही है, “सत्यम् एव जयते”। एक कितना साधारण और मामूली-सा वाक्य, पर जिसकी गहराई कोई नहीं समझता। आज के कलियुग में कौन मानता है कि सच का साथ देना हमारा कर्तव्य और धर्म है। हर जगह झूठ की छाया फैली हुई है, जय न तो सत्य की होती है न धर्म की, बल्कि बस अधर्म और भ्रष्टाचार का होता है। ऐसे हालात में सत्य बोलना शाप बन गया है और झूठ एक आवश्यकता बन गया है।

बचपन से हमें सिखाया जाता है कि ‘बच्चा सच बोलो, जो भी हो, हमेशा सच बोलो, घबराओ नहीं, हम तुम्हें माफ़ कर देंगे’, पर जब वही बच्चा सच बोलता है तो उसे बुरी तरह डांटा या कभी-कभी मारा भी जाता है। ऐसी परिस्थिति में कोई भी डर या सहम जायेगा, निश्चित रूप से झूठ का मार्ग अपनाएगा, इस रास्ते में कांटे तो नहीं हैं। तो असलियत यह है कि उस नन्हीं जान को झूठ बोलना हम बड़े ही सिखलाते हैं और फिर अन्त में उसे बुरा बनाते हैं। सत्य का सूरज अब दूर क्षितिज पर है, कह नहीं सकते कि यह सूर्यास्त है या सूर्योदय, पर सूर्य को

जगाने की क्षमता भगवान् में नहीं, हममें ही है।

सत्य की विजय भौतिक स्तर पर ही नहीं बल्कि हमारे आन्तरिक स्तर पर भी होती है। शायद हम झूठ के हाथों इस भौतिक स्तर पर हार जायें, पर अगर हमने सत्य का मार्ग चुना तो विजय तो हमारी ही हुई।

—जयदेव शर्मा

आभारी

एड़ी में लग जाने पर मैं एक अत्यधिक लम्बी रात के अन्धकार तथा गहरे विषाद के जाल में फँस गयी। हर सुबह दिल में आशा की एक मद्धिम लौ उठती जो पैर जमीन पर रखने पर चन्द पलों के अन्तराल में बुझ जाती। मन का दुःख और शरीर के कष्ट का परिणाम होता आंसुओं की अभिव्यक्ति। इस धारा के बहने पर मन को भी सुकून न मिलता, बल्कि ज्यादा रोना आता। चार दीवारों के सीमित क्षेत्र में बन्द मन भी अपनी कल्पना की उड़ान को विस्तृत न कर पाता। इसी तरह एक सप्ताह गुजर गया और अब तक मैं चलने में नाकामयाब हूँ। आशा की मद्धिम लौ अब सिर्फ एक चिनगारी के रूप में विद्यमान थी, जो समय-समय पर दिल को दुःख पहुंचाने के लिए सुलगती। इसी कारण मैंने आशा की इस डगमगाती इमारत को तोड़, दिल में निष्ठा की विश्वस्त नींव बना ली। इस विश्वास और निष्ठा की नींव से जो इमारत निर्मित हुई, सत्यमेव अद्भुत थी। इस निष्ठा से चिनगारी धीरे-धीरे लौ का रूप लेने लगी और तीव्र होने लगी, जिसके प्रकाश और तेज से पैर की हालत सुधरने लगी। जिस अन्धकार के जाल में मैं पूरी तरह से फँसी हुई थी उसको श्रद्धा की रोशनी ने फाड़ मुझे चलता-फिरता कर दिया। मैं भगवान् की बहुत ही आभारी हूँ।

—सूक्ष्मा पोद्दार

सूखा फूल

गरमी के दिन थे। सूरज की तपती हुई गरमी धरती पर पड़ रही थी। सब कुछ मानों जल रहा था। ऐसे समय पर एक दिन एक सुन्दर, कोमल और ताज़ा फूल खिला। उसने दुनिया को पूरी तरह से देखा भी न था कि इन मुश्किल परिस्थितियों का उसे सामना करना पड़ा। वह इस गरमी और तपन को सहता गया, सहता गया बिना कुछ बोले, पर इस लड़ाई को लड़ते-लड़ते वह बेचारा सूख और मुरझा-सा गया। वह पानी के लिए तड़पने लगा। तभी मानों कोई चमत्कार हुआ और पूरा आकाश काले-काले बादलों से भर गया। बारिश बस होने ही वाली थी। कुछ क्षणों के लिए सब कुछ चुप हो गया, हवा भी बन्द हो गयी। धरती मानों वर्षा का इन्तज़ार कर रही हो और यह मुरझाया हुआ फूल एक बूंद पानी का। फिर बादल के गरजने की आवाज़ सुनायी पड़ी और जोर की वर्षा शुरू हो गयी। यह नन्हा-सा फूल खुशी में मानों नहाने लगा। उसे बहुत सुकून मिला और उसमें नया जीवन, नयी शक्ति और ताज़गी आ गयी। धरती भी आशा और शान्ति से भर आयी।

नवम्बर २००५

मनुष्य का हृदय भी इस फूल की तरह कोमल और ताज़ा होता है और कभी-कभी वह भी इस फूल की तरह लड़ाइयां लड़ते-लड़ते सूख जाता और कमज़ोर पड़ जाता है। क्या आपको पता है कि ऐसे समय में उसकी आशा और ताकत क्या होती है? एक प्यारी मुस्कान, एक मीठा शब्द और सबसे महत्वपूर्ण चीज उस भगवती मां का प्यार और उसकी कृपा का स्पर्श।

—स्नेहा कपूर

एकाग्रता के केन्द्र

अधिकतर लोग चेतना का सम्बन्ध मस्तिष्क या मन से जोड़ते हैं क्योंकि वही बौद्धिक विचार और मानसिक अन्तर्दर्शन का केन्द्र है, लेकिन चेतना उस तरह के विचार और अन्तर्दर्शन तक सीमित नहीं है। वह शरीर में सब जगह है और उसके बहुत-से केन्द्र हैं, उदाहरण के लिये आन्तरिक एकाग्रता का केन्द्र मस्तिष्क नहीं, हृदय है—प्राणिक कामना का आरम्भिक केन्द्र और भी नीचे है।

योग में तुम जिन दो स्थानों पर अपनी चेतना को केन्द्रित कर सकते हो वे हैं सिर और हृदय—मानसिक केन्द्र और अन्तरात्मा का केन्द्र।

*

कभी हृदय में तो कभी सिर के ऊपर एकाग्र होने में कोई हर्ज नहीं है, लेकिन दोनों में से किसी भी स्थान पर एकाग्र होने का मतलब यह नहीं है कि तुम अपना ध्यान एक निश्चित स्थान पर लगाओ; तुम्हें अपनी चेतना को इनमें से किसी भी स्थान पर स्थिर करना और वहां, उस स्थान पर नहीं, बल्कि भगवान् पर एकाग्रचित्त होना चाहिये। यह आंखें बन्द करके, आंखों को खुला रखकर, जैसा जिसके लिये अनुकूल हो, किया जा सकता है।

तुम सूर्य पर एकाग्र हो सकते हो, लेकिन सूर्य पर एकाग्र होने की जगह भगवान् पर एकाग्र होना अधिक अच्छा है।

*

एकाग्रचित्त होने के लिये उत्तम सहायता है माताजी की स्थिरता और शान्ति को अपने मन में ग्रहण करना। वह तुम्हारे ऊपर उपस्थित है—केवल मन और उसके केन्द्रों को उसके प्रति खोलना है।

*

जितना अधिक चैत्य बाहरी सत्ता में फैलता है उतनी अधिक ये सभी चीजें (अवचेतन मन की यान्त्रिक क्रियाएं) शान्त हो जाती हैं। यह उत्तम तरीका है। मन को स्थिर करने के प्रत्यक्ष तरीके कठिन होते हैं।

—श्रीअरविन्द

‘गैर्वाणी’ :

वचनं दत्तम् अस्ति

वयं सर्वे निज-जीवने वातुलाः एव तिष्ठामः। नैवम्? यत्र गच्छेत् दृष्टिः तत्रैव धावाधावि! उन्मत्त-कुक्कुरवत् कापि दुश्चिन्ता अस्मान् अनुसरति एव। लघु-बाल-बालाः विहाय प्रायः सर्वे एव मनस्तान-व्याधिग्रस्ताः दृश्यन्ते। कदाचित् ईषत् विरम्य वयम् आत्मानं पृच्छामः “किम् अस्य नाम जीवनम्?” उत्तरं लभ्यते—“न हि। जीवनं तु वस्तुतः आनन्दस्य पर्यायः।” अस्मिन् बोधे जागरिते वयं जीवनस्य आनन्दोल्लासनिर्झरे स्नातुं शक्नुमः।

अस्माकं कथायाः नायिका सद्यः एव तमानन्दोत्सवं अनुष्ठाय गृहं प्रत्यागत्य, प्रस्तुता दैनन्दिन्यां इमं स्वर्णिमदिवसम् अङ्कयितुम्। अथ वयमपि कूपमण्डूकजीवनस्य अन्धकारात् निर्गत्य किञ्चित् कालं तया सह प्रकाशे विगतक्लमाः भवेम।

यूथी^१ दैनन्दिनीम् उदघाटयत्। अत्यन्तं स्नेहपूर्वकं दृष्टिपातमकरोत् षड्-वर्षीये पुत्रे रुचिरनामके यस्य आनने कस्यचित् सुखदस्वप्नस्य स्मितम् अखेलत्। सा स्वयमपि मन्दम् अस्मयत परं दीपं प्रज्वालय लेखनम् आरब्धवती—

अद्य मया अनुभूता निजमूर्खता। कतिवारं मे पुत्रः स्वकीयम्-आनन्दलोकं माम् आमन्त्रयत् किन्तु मूढाहं प्रत्येकं वारं तत् अस्वीकृतवती। एतादृशमेव किमपि अघटिष्यत अद्य प्रभाते अपि। किन्तु, हे प्रभो! महती कृपा तव। त्वया समयेन मह्यं सद्बुद्धिः प्रदत्ता।

प्रभातकालः। गृहस्य कति-व्यापाराः सार्धं प्रचलन्ति। तदुपरि पतिमहोदयस्य मुहुर्मुहुः कर्तव्य-वशात् पर्यटनम्! तर्हि तु यन्त्रवत् कार्यसंलग्ना भवामि। यस्मिन् गृहे रुचिरवत् षड्-वर्षीयः अतिचञ्चलः, मेधावी पुत्रः स्यात् तत्र तु मातुः जीवनं भ्रमरकवदेव। पदे पदे तस्य निषेधेन सह गृहव्यापाराः अपि सम्पाद्यन्ते...। अस्तु, अहं लिखामि स्वर्णिमदिवसस्य कथाम्—

प्रभातं यथानित्यं यान्त्रिकगत्या आरब्धम्। प्रातराशं समाप्य रुचिरः न बहिः धावितः। उपधौ एव उपविश्य चमसेन खेलन् किमपि अचिन्तयत्। परं तस्य निर्निमेषदृष्टिः स्थिरा मयि। कार्यं कुर्वती अहं तं वीक्ष्य सस्नेहम् अस्मये। तत्कालम् अवदत् सः—“अम्ब! अति-सुस्वादुः प्रातराशः रन्धितः त्वया अद्य।”

उपगम्य मया पुत्रः चुम्बितः। झटिति मे हस्तं धृत्वा सः अभणत्—“अम्ब! किमद्य आवां तत् चिरप्रतीक्षितम् उद्यानं गन्तुं शक्नुवः यत्र भ्रमणाय बहुशः प्रतिज्ञा कृता त्वया?”

पुत्रस्य हस्तात् मन्दं हस्तं विमोच्य भूयोऽपि तं चुम्बित्वा अवदम्—“वत्स! कृपया न अद्य, किन्तु अचिरमेव गमिष्यामि त्वया सह इति सत्यं प्रतिजाने त्वाम्। मम मनसि प्रादुरभवन्—प्रक्षालनीय-पात्राणां राशिः, वस्त्राणां पर्वतः, कक्षाणां सम्मार्जनम्, शाकादीनां क्रयः—इत्यादीनि बहूनि कार्याणि। छुरिकया निरन्तरं स्थालीं प्रहरन् रुचिरः निर्निमेषमपश्यत् माम्। तस्य स्मितिः विलुप्ता, सम्पूर्णशरीरं सन्ततम् इव, मयि बद्धा दृष्टिः साक्रोशमिव माम् अध्यक्षिपत्—तव उत्तरमहं सम्यग् अजानाम् इति।

^१ भाषायाः अनुरोधात् जूडी यूथी इति रॉजर च रुचिरः इति नामपरिवर्तनं कृतम्।

अकस्मात् मे सर्वाः व्यस्तताः मनसः विलुप्ताः। हृदये व्याप्तः षड्-वर्षीयः वत्सः तस्मै दत्ता सुदीर्घकालिका च प्रतिज्ञा।

पुत्रं सुदृढमालिङ्ग्य अवदम्—“चल वत्स! प्रतिज्ञा प्रतिज्ञा एव। अधुनैव भ्रमणाय गच्छावः आवाम्।”

पुत्रस्य नेत्रयोः प्रदीप्ताय तस्मै आनन्दाय अहं शतवारं सर्वम् उत्सृजेयम्!!! “न त्यक्ष्यामि अधुना त्वां कथमपि” इति भावेन सः मम हस्तं दृढमधरत्।

यथा आस्व तथैव निर्गतौ आवाम्। यथैव अरोधयमहं निज-व्यस्ततानां द्वारं तथैव उद्घाटितं सम्मुखे असीमगगनस्य मुक्तपवनस्य च अदृश्यद्वारम्—

अहो! वर्षेभ्यः परमहं भिन्नमनोभावेन उद्यानं प्राविशम्। पूर्वं तु यदापि आगता मृत्तिकाशैथिल्यार्थं तदा अवर्तत हस्ते खनित्रम्, पुष्पकर्तनाय कर्तरी अथ वा सेचनाय दीर्घः नलः। मनसा अचिन्तयम्—वस्तुतः, गतकतिचिन्मासेभ्यः उद्यानपालनाय नैव नियमितमागता। अधुना एतद् उद्यानं वनमेव अधिकं प्रतीयते। कार्यमत्र दिनानुदिनं वृद्धिं गच्छति। एवं विचिन्त्य वन्यपादपम् उत्खातुं नतमात्रां मां कोऽपि अदृश्यहस्तेन पृष्ठे प्राहरत् कर्णयोः च अजपत्, “अग्रे सर, अग्रे। नैतत् तव स्वच्छता-भियानम् अपि तु पुत्रेण सह रम्यविहारः ...।” तत्क्षणं न केवलमहम् ऋजुः स्थिता अपि तु मातृत्वं तत्रैव विहाय लघु-बालिका इव रुचिरस्य हस्तं धर्तुमधावम्।

प्रथमतया अपश्यं यद् उद्याने परिश्रमेण रोपितैः पुष्पैः सह नानावर्णानि मोहकानि वन्यपुष्पाणि अपि विकसन्ति येषां सम्बन्धे दूरादेव मत्तः अधिकम् अजानात् मम पुत्रः—किं पुष्पं कदा विकसति, कस्य सौरभं तस्मै रोचते इत्यादि। यानि पुष्पाणि सः रोचयति तानि एव चित्रलान् अपि आकर्षन्ति यतो हि ते दलशः आगत्य तेषु एव उपविशन्ति। स उक्तवान्—“मातः, सर्वथा तूष्णीं तिष्ठ! पश्य, तेषु पुष्पेषु, विविधवर्णाः कति चित्रलाः पक्षौ प्रसार्य उपविशन्ति।” सत्यमेव मया उद्यानस्य सुखदतमं दृश्यं दृष्टम्—सुशोभनपक्षयुक्ताः बहवः चित्रलाः पुष्पभरितेषु पादपेषु यत्र तत्र सर्वत्र उपविश्य मधु पिबन्ति। तेषु विभिन्नकोणेभ्यः पतिताः सूर्यरश्मयः रङ्गाणां तथा सुसमञ्जसं दृश्यम् अरचयन् यत् मे दृष्टिः तत्रैव विलग्ना। — मातः, एते चित्रलाः होराः यावत् एवमेव स्थास्यन्ति। आगच्छ, अहं त्वाम् उद्यानस्य अन्यानि आकर्षणानि अपि दर्शयामि इति मे कर्णे गदन् सः “निर्देशकः” शिशुः मां सरीसृपाणां पिपीलिकानां च सम्बन्धे प्रचुरं प्राबोधयत्—“अम्ब, न जाने एताः पिपीलिकाः कुतः आगच्छन्ति कुत्र च गच्छन्ति। सर्वदा द्रक्ष्यसि यत् भारं वहन्ती एका पङ्क्तिः इतः गच्छति अन्या च विपरीतदिशायाः आगच्छति। आगच्छन्ती गच्छन्ती च प्रत्येकं पिपीलिका परस्परं कर्णयोः किमपि जपित्वा अग्रे सरति।” सत्यमेव मया प्रथमं वारं लक्षितं यत् प्रत्येकम् एव विरम्य अन्यां स्पृष्ट्वा एव गच्छति। “किं कथयन्ति एताः परस्परं पुत्र?” साश्चर्यमहमपृच्छम्। रुचिरः मम कर्णे अभणत्—कथयन्ति मन्ये, ‘शुभाः सन्तु ते पन्थानः’ इति। आवयोः अट्टहासः गुञ्जितः।

—मातः! अधुना साहाय्यार्थं ददामि तुभ्यम् एकं दण्डम् इति कथयन् सः पतितामेकां दीर्घशुष्क-शाखां मम हस्ते दत्त्वा अकथयत्—“पश्य, विषमः कण्टकितश्च मार्गः आरब्धः। हस्ताभ्यां मा स्पृश एतान् पादपान्, दण्डेन सावधानम् अपसार्य अग्रे गच्छ। अस्तु! द्वयोः पार्श्वयोश्च पश्य, कियत् शोभनानि जम्बुवर्णानि लघूनि असङ्ख्य-पुष्पाणि विकसन्ति, केवलं दर्शने एव प्रियाणि, गन्धस्तु विचित्रः एतेषाम्...”।

जीवने प्रथमं वारमहं तानि अत्यन्तं लघु-कोमलानि पुष्पाणि अपश्यं येषां संरचनायां विधाता

अलौकिकं कौशलं प्रादर्शयत्।

अधुना प्राप्तौ आवाम् उन्मुक्तक्षेत्रम्। रुचिरः मन्दं भीतस्वरेण अवदत्—“मातः, मा-भैषीः। अहमस्मि एव, किन्तु परोह्यः अहं जेरी च तत्र एकं महाभल्लूकम् अपश्याव...!!” आश्चर्येण तस्य नेत्रे विस्फारिते।

रुचिरस्य यां मातरम् अहं पृष्ठे अत्यजं हठात् सा आविर्भूता। अशृणवमहं निजमुखात् च्युतमिदं वचनम्—“अहो पुत्र! न कदापि एतत् शक्यम्। भल्लूकः—अस्माकम् उद्याने? असम्भवम्। कथं प्राप्स्यति सः अत्र? एतत् तु जनपदं न खलु वनम्।”

तत्कालं रुचिरः विषण्णः। तस्य नेत्रे मामपृच्छताम्—“तर्हि, न विश्वसिषि मे वचनानि?”

हठात् मम कर्णकुहरे अगुञ्जत् वर्षेभ्यः पुरातनः सः स्वरः—“पितः! अस्माकम् उद्याने निस्सन्देहं स्यात् कोऽपि ‘रक्त-भारतीयः’। अत्र मया कश्चित् शरः प्राप्तः यस्य मुखे शुष्करक्तस्य पर्पटकम् अवर्तत!” पितृश्च गभीरं प्रतिवचनं श्रुतं मया—“अप्येवं वत्से? त्वया दृष्टः किम्? तदा तु सावधानं स्थातव्यम्।”

अहं भूयोऽपि स्वीयं तं भावं पृष्ठे नुत्वा अधावं पुत्रस्य पृष्ठे—“वत्स! सत्यं, सर्वथा समीचीनं वदसि त्वम्। अहमपि मन्ये यत् अत्र भल्लूकः भवेत्। तावत् विशालमस्माकम् उद्यानं न कथमपि वनाद् अल्पम्।”

एते शब्दाः मम पुत्रस्य नेत्रयोः तामेव द्युतिमुदभासयन्, तमेव गौरवं च शरीरभङ्गौ प्राकटयन् ययोः अनुभवः मया वर्षेभ्यः पूर्वं स्वपित्रे ‘रक्त-भारतीय’-सम्बद्धां विशेषसूचनां दत्त्वा प्राप्तः आसीत्। सम्प्रति आवाम् उन्मुक्तस्थाने अभ्रमाव—नावर्तत मे अधुना कण्टकत्रासः न वा सुदीर्घकालम् आतपसेवनेन शिरोव्यथायाः भयम्, न च माम् अन्वसरत् गृहस्य लघुतममपि कार्यम्। व्यवहारकुशलिनी माता इव अहं षड्-वर्षीयं पुत्रं पदे पदे—“तत्र मा गच्छ, तीव्रः अवसानः वर्तते,” “सावधानं पुत्र! तथा सवेगं धावनेन किं न पतिष्यसि अधोमुखम्?”—इत्यादिकान् भयसूचकादेशनिर्देशान् न अयच्छम्। मया तु अन्वेषिता निज-अभ्यन्तरे सा लघु-बालिका या रुचिरस्य हस्तं धृत्वा तडागतटेषु उच्छलन्ती, भूमौ लेटित्वा असङ्ख्यकीटान् दृष्ट्वा पुनश्च, पादप्रहारेण शतशः उपलान् दूरं क्षिपन्ती, आकाशपर्यन्तं चित्रलानाम् अनुसरणाय अत्यभिलषन्ती, किन्तु मध्ये मध्ये भल्लूकभयेन ईषत् बिभ्यती निरन्तरम् अधावत् नीलाकाशस्य नीचैः, शाद्वले प्राङ्गणे।

प्राप्तौ आवाम् एतादृशं स्थानं यत्र कस्यचित् कृतस्य महावृक्षस्य बृहन् स्थाणुः आवाम् आकर्षत्। “मातः! बहुधावनं जातम्। आगच्छ, उपविशाव अत्र। मित्रैः सह अत्रैव उपविश्य अहं कथां श्रावयामि तेभ्यः शृणोमि च। पश्यसि कियत् विशालं स्थानम् एतत्?” पुत्रः अगदत्।

उपविष्टौ आवां तस्मिन्। रुचिरस्य माता पुनरपि अभ्यन्तरात् झटिति अवदत्—“युवकः भूत्वा यदा एषः अत्र आगमिष्यति तदा एतदेव विशालं स्थानं अस्य दृष्ट्यां लघु भविष्यति।”

किन्तु आवां तु तत्र उपविश्य सानन्दं वार्तालापे निमग्नौ। रुचिरः निज कथानां, अनुभवानां च मञ्जूषां मम सम्मुखे उदघाटयत्—सः अत्र कान् कान् पशून् अपश्यत्, काँश्च अधुनावधि द्रष्टुं नाशक्नोत्। उद्यानस्य कस्मिन् स्थाने सुखेन गोपयितुं शक्नोति निज-सम्पत्तिम्, किं किं च स्थानम् अधुनापि अनन्विष्टम् इत्यादि मनोगतम् उदमीलयत् अन्ते च चिरपोषिताभिलाषं प्राकटयत्—“मातः! पितृसदृशं वयः प्राप्य अस्मिन्नेव स्थाने निजगृहं स्वयमेव रचयित्वा स्थास्यामि। किं न एषः मे उत्तमः विचारः?”

नवम्बर २००५

“कदाचिच्च मामपि स्वगृहे आमन्त्रयिष्यसि?”—अहम् अपृच्छम्।

पुत्रः मां लघु-अङ्के सस्नेहम् आकर्षत्। परञ्च सत्वरं तत्रैव विकसितानां वन्यपुष्पाणां लघु-गुच्छं रचयित्वा मम हस्ते प्रदाय अगदत्—“मातः! सुनिश्चितम् आह्वास्यामि। त्वम् उत्तमोत्तमा माता। अहं त्वयि भृशं स्निह्यामि।”

अजानामहं यत् तानि पुष्पाणि सः स्वस्य मातुः अभ्यन्तरे प्रच्छन्नायै तस्यै लघु-बालिकायै उपाहरत् यया सह सद्यः तस्य परिचयः जातः।

अपराहणस्य अन्तिमचरणे आवां मनोहरयात्रां सम्पाद्य गृहं प्रति घूर्णितौ। अहम् अतीव सावधानतया अन्तरस्थां तां लघु-बालिकाम् उद्याने एव उपवेश्य आगता। सा आगामि-अभियानपर्यन्तं तत्रैव मे प्रतीक्षां करिष्यति जानामि च यत् तया न बहुकालं प्रतीक्षणीयं यतो हि मया स्वपुत्राय तस्यै बालिकायै च शीघ्रं प्रत्यागमनस्य वचनं दत्तम् अस्ति।

वादा कर रखा है

हम सब अपनी ज़िन्दगी में कितने बौराये-से रहते हैं—जहां देखो भगदड़ मची है, एक बौखलाहट-सी सबके पीछे पागल कुत्ते की न्याईं लगी ही रहती है। बच्चों के सिवाय दुनिया के सभी स्त्री-पुरुष इस आपाधापी के शिकार हैं। कभी-कभी हम ठहर कर अपने-आपसे पूछते भी हैं—“आखिर, यह सब किसलिए? तनाव का नाम ज़िन्दगी कतई नहीं है।” और जैसे ही इस सच्चाई की एक अमृत-बूंद हमारे हलक में उतर जाती है, हम सचमुच आनन्दोल्लास के झरने में नहा सकते हैं।

तो चलिये, हमारी कहानी की नायिका भी अभी-अभी वह आनन्दोत्सव मना कर आयी हैं और घर आकर अपनी ‘डायरी’ में अपनी उस सुनहरी दोपहर को वे शब्दों में अंकित करने जा रही हैं। आइये, हम और आप भी अपने अधियारे और बन्द गली से निकलकर उस रोशनी में कुछ समय मिल-बैठ कर ताज़ादम हो लें।

जूड़ी ने अपनी डायरी खोली। प्यार से भरपूर एक नज़र अपने सोते हुए छह साल के बेटे रॉजर पर डाली जिसके होठों पर किसी सुखद सपने की मुस्कान खेल रही थी। वह खुद भी मुस्कुरा उठी और लैम्प जलाकर उसने लिखना शुरू किया—

आज मैंने महसूस किया कि मैं भी कितनी मूर्ख हूं। हर दूसरे दिन मेरा बेटा रॉजर मुझे आनन्द की अपनी दुनिया में चलने का निमन्त्रण देता और हमेशा मैं उसे ठुकरा देती। आज सबरे भी तो कुछ ऐसा ही होने जा रहा था। लाख-लाख शुक्रिया ईश्वर तेरा कि आज तूने मुझे सद्बुद्धि दे दी।

सबरे का समय, घर पर न जाने कितने काम एक साथ समेटने की जल्दी मची रहती है, ऊपर से पति अगर दौरे पर गये हों (जैसा कि अक्सर होता है) तो मुझ अकेली जान को मशीन की तरह काम निपटाने में जुट जाना पड़ता है। और जिसके यहां रॉजर जैसा छह साल का शैतानी का पिटारा लेकिन होनहार बच्चा हो उसकी ज़िन्दगी तो चकराघिन्नी बन जाती है—बात-बात पर, पल-पल पर बच्चे को टोकते रहने की भी गाड़ी काम की गाड़ी के साथ-साथ तेज़

रफ्तार से चलती रहती है। हां, तो मैं अपनी आज की सुनहरी सुबह की कहानी लिख रही हूँ... सवेरा तो अपनी उसी मशीनी चाल से शुरू हुआ। सवेरे का नाश्ता ख़तम कर रॉजर अपनी कुर्सी पर बैठा रहा, छुरी-कांटे से खेलते-खेलते कुछ सोचता रहा फिर मेरी तरफ एकटक देखने लगा, पल भर ठिठक कर मैंने एक बड़ी-सी मुस्कान कमरे में बिखेर दी और वह झपट कर बोल उठा—“बहुत बढ़िया नाश्ता बनाया मॉम आज तुमने।”

मैंने पास आकर उसके गाल को चूम लिया, वह एकदम से मेरा हाथ थामकर बोल उठा—“मॉम, क्या आज हम अपने बगीचे की उस सैर के लिए जा सकते हैं जिसका वादा करके तुम कितने दिनों से टालती ही जा रही हो?”

मैंने रॉजर के गाल पर एक और चुम्बन जड़, धीरे से अपना हाथ उसके हाथ से निकालते हुए कहा—“बेटे, कृपया आज नहीं, और किसी दिन हम ज़रूर चलेंगे। वादा रहा।” क्योंकि मेरी नज़रों के सामने घूम रहा था गन्दे बर्तनों का ढेर, कपड़ों का अम्बार, कमरों की झाड़-पोंछ, बाज़ार का सौदा और न जाने कौन-कौन सी अला बला...। फिर जैसे ही पलट कर मैंने रॉजर को देखा तो पाया कि वह कांटे को लगातार प्लेट पर मारता हुआ मुझे घूरे जा रहा था, उसकी वह मुस्कान लटकते चेहरे में बदल गयी थी, सारा शरीर तन-सा रहा था और मुझे घूरती वे आंखें मानों चिल्ला-चिल्ला कर उलाहना दे रही थीं—“मैं तुम्हारा जवाब अच्छी तरह जानता था।”

अचानक घर की सारी व्यस्तताएं पंख लगाकर मेरे दिमाग से उड़ गयीं। मेरे दिलोदिमाग पर छा गया मेरा छह साल का बेटा और उसको दिया हुआ कब का वादा! मेरा बेटा मुंह लटकाये बैठा था, मैंने उसे अपने सीने में भरते हुए कहा—“चलो बेटे, वादा वादा रहा। हम अभी सैर के लिए चलेंगे।”

रॉजर की आंखों की उस चमक पर मैं सौ-सौ जान निछावर!! उसने मेरा हाथ यूँ कसकर पकड़ लिया कि अब मैं तुम्हें छोड़नेवाला नहीं, मेरे हाथ ने भी उसके हाथ का साथ दिया।

हम जैसे थे वैसे ही चल पड़े। अपने पीछे मैंने अपनी तथाकथित घरेलू व्यस्तताओं का दरवाज़ा ज्यों ही बन्द किया कि मेरे बेटे ने मेरे सामने असीम गगन और मुक्त पवन का अदृश्य दरवाज़ा तुरन्त खोल दिया—

ओह! कितने अरसे बाद मैंने अपने बगीचे में इस नयी दृष्टि के साथ प्रवेश किया। पहले तो जब-जब आयी, तब-तब या तो पौधों के आसपास की मिट्टी ढीली करने के लिए हाथ में खुरपी होती, या फूल काटने की कैंची या पेड़-पौधे सींचने के लिए लम्बा-सा पाइप। पिछले कई महीनों से तो मैं सचमुच अपने बगीचे के रख-रखाव के लिए ढंग से आ भी नहीं पायी थी, अब यह बगीचा क्या, जंगल ज्यादा दीख रहा है—कतर-ब्योंत, सफाई-बुआई की गुहार कर रहा है, और मैं जैसे ही एक जंगली पौधा उखाड़ने के लिए झुकी नहीं कि किसी अदृश्य हाथ ने मेरी पीठ पर हल्का-सा धौल जमाया—“चलो, चलो, आगे बढ़ो। यह बगीचे की झाड़-झंखाड़ निकालनेवाली तुम्हारी सैर नहीं, तुम्हारे बच्चे का जादुई अभियान है...।” और मैं तुरन्त न केवल सीधी खड़ी हो गयी बल्कि रॉजर की मॉम को वहीं छोड़, मैं छोटी-सी बच्ची बन रॉजर के पीछे, उसके साथ कदम-से-कदम मिलाने के लिए दौड़ी।

पहली बार मैंने देखा कि हमारे बगीचे में सहेज-सहेज कर उगाये गये फूलों के अलावा कितने ही सुन्दर-सुन्दर तथाकथित जंगली फूल थे जिनके बारे में छह साल के उस बच्चे का ज्ञान

नवम्बर २००५

पुरोध

ही हूँ...
नी कुर्सी
घने लगा,
बोल उठा

ल उठा-
रके तुम

निकालते
ीकि मेरी
गड़-पोंछ,
मैंने रॉजर
र, उसकी
वे आंखें
था।"

दमाग पर
लटकाये
ने सेर के

कसकर
देया।

गाओं का
अदृश्य

। पहले
हाथ में

छले कई
थी, अब

रहा है,
मेरी पीठ

लनेवाली
धी खड़ी

के साथ
अलावा

का ज्ञान

मुझसे कहीं अधिक था। कौन-सा फूल कब खिलता है, किसकी खुशबू उसे पसन्द है और उसने यह भी देखा है कि जिन फूलों की सुगन्ध उसे अच्छी लगती है वे ही फूल तितलियों को भी भाते हैं क्योंकि वे झुण्ड की झुण्ड उन्हीं पर आ बैठती हैं। "मॉम, एकदम चुप रहना, देखो, उन फूलों पर कितने अलग-अलग रंग की तितलियां पंख फैलाये बैठी हैं।" और सचमुच मैंने अपने बगीचे का सबसे सुन्दर दृश्य देखा—शानदार पंखोंवाली कई तितलियां फूलों से लदी झाड़ी पर इधर-उधर छितरी हुई फूलों का रसपान कर रही थीं और उनपर विभिन्न कोणों से पड़ती धूप से चमकीले रंगों का ऐसा समां बंध गया था कि आंखें वहीं जड़ गयीं—न जाने कितनी देर तक हम दोनों उस दृश्य पर मुग्ध होते रहे; फिर रॉजर ने मेरा हाथ धीरे से सहलाकर कहा—"मॉम ये घण्टों इसी तरह बैठी रहेंगी, चलो, मैं तुम्हें दूसरी चीजें भी दिखला दूँ।" और मेरा नन्हा 'गाइड' मुझे ज़मीन पर रेंगते कीड़ों, बड़ी-बड़ी चींटियों इत्यादि के बारे में जानकारी देने लगा—"मॉम, न जाने ये चींटियां कहां से आती हैं और कहां जाती हैं, लेकिन सारा दिन इधर से उधर सामान ढोती हुई ये चलती ही रहती हैं, और देखो मॉम, एक पंक्ति उधर से आ रही है और एक इधर से जा रही है और ध्यान से देखो, सब एक दूसरे के कान में कुछ फुसफुसा कर जाती हैं।" और मैंने पहली बार इस तथ्य को देखा कि आती-जाती चींटियां सचमुच एक दूसरे को छूती हुई आगे बढ़ती हैं। "क्या कहती होंगी बेटे ये आपस में?" मैं हैरत से पूछ बैठी। रॉजर मेरे कान के पास आकर फुसफुसाया। कहती होंगी, "शुभ यात्रा, शुभ यात्रा।" और हम खिलखिला कर हंस पड़े।

"मॉम, अब तुम्हें रास्ता बनाने के लिए एक छड़ी की जरूरत होगी।" कहते-न-कहते रॉजर ने मेरे हाथों में नीचे से उठाकर एक लम्बी टहनी थमा दी। "देखो, रास्ता ऊबड़-खाबड़ है, कांटों से भरा है, हाथ मत लगाना इन कांटों को, छड़ी से सरका कर आगे बढ़ना, कहीं चुभ न जायें। और दोनों तरफ देखती रहना, कितने छोटे-छोटे बैंगनी फूल खिले हैं, बस देखने में ही सुन्दर हैं, गन्ध तो बड़ी अजीब-सी है..." मैंने पहली बार देखा उन नन्हें कोमल फूलों को जिनकी रचना में विधाता ने अपनी बारीकी का परिचय दिया था। कुछ कदम चलने के बाद रॉजर ने धीमी आवाज़ में मुझसे कहा, "डरना मत मॉम, मैं हूँ साथ, लेकिन परसों मैंने और जेरी ने उस तरफ एक बड़ा भालू देखा था..." और उसकी आंखें आश्चर्य से एकदम गोल हो गयीं।

रॉजर की जिस मॉम को मैं बगीचे में छोड़ आयी थी वह अचानक मेरे साथ हो ली क्योंकि मैंने अपने-आपको कहते सुना, "अरे नहीं बेटे, भालू हमारे बगीचे तक कैसे पहुंचेंगे भला। यह बस्ती है, जंगल नहीं।"

रॉजर का मुंह तुरन्त लटक गया। आंखें पूछने लगीं—"तो तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं न?"

मेरे कानों में गूँज उठी कई साल पहले की वह आवाज़—"डैडी! यहां हमारे बगीचे के उस तरफ जरूर कोई रेड इंडियन होगा। मुझे यहां एक तीर मिला जिस पर खून की सूखी पपड़ी जमी हुई थी।" और डैडी का गम्भीर स्वर सुनायी दिया था—"सच बेटा, तुमने देखा? तब तो हमें बहुत सावधान रहना होगा।"

मैं अपने अन्दर की मॉम को एक बार फिर खदेड़ कर रॉजर के पीछे-पीछे यह कहते हुए दौड़ी—"बेटे! हां तुम ठीक कह रहे हो, मुझे भी लगता है कि यहां भालू हो सकते हैं। हमारा इतना बड़ा बगीचा जंगल से कम नहीं है।"

वे जादुई शब्द ठीक वही चमक मेरे बेटे की आंखों में ले आये, वही ठवन उसकी भंगिमा में उतार लाये जिन्हें मैंने कई साल पहले अपने डैडी से रेड इंडियन की बात बतलाते हुए महसूस किया था।

और अब हम भरी धूप में चल रहे थे खुली जगह पर, न मुझे कोई परवाह थी कांटेदार झाड़ियों की, न धूप में इतनी देर घूमकर सिरदर्द की, न घर का कोई भी काम मेरी इस सैर में मेरा पीछा कर रहा था और न ही मैं व्यवहारकुशल मां की न्याई अपने छह साल के बेटे को “उधर मत जाना तेज़ ढलान है,” “जरा संभल कर बेटे, इतनी तेज़ दौड़ोगे तो मुंह के बल गिर पड़ोगे,” जैसे भयसूचक आदेश और निर्देश ही दे रही थी। मैंने तो अपने अन्दर से दूढ़ निकाली थी वह बच्ची जो रॉजर के साथ हाथ में हाथ डाले तलैयाँ में छपाकें मारती हुई, कभी दुनिया भर के रंगते कीड़ों को ज़मीन पर लेट कर देखती हुई, सैकड़ों पत्थरों को उलटती-पुलटती, तितलियों का आकाश तक पीछा करने का हौसला रखती हुई, लेकिन बीच-बीच में भालू के डर से कुछ सहमी हुई, दौड़ी चली जा रही थी नीले आसमान के नीचे, हरियाली के आंगन में।

हांफते-कांपते हम आ पहुंचे उस जगह पर जहां किसी बड़े पेड़ का नमी से भरा हुआ, चौड़ा टूठ हमें आकर्षित कर रहा था। “मॉम, खूब दौड़े हम, अब चलकर उस पर बैठें, मैं और मेरे दोस्त यहीं बैठकर कहानियां सुनाते हैं। देखा, कित्ता बड़ा है यह!”

हम उस विशाल टूठ पर जा बैठे। बैठते ही रॉजर की मां मेरे अन्दर बोल उठी—“बड़ा होकर जब यह यहां आयेगा तो इसे यही विशाल टूठ बहुत छोटा लगेगा!”

लेकिन हम दोनों तो उस महान् टूठ पर आराम से बैठ कर गपियां लगे। रॉजर ने अपनी कहानियों का, अपने अनुभवों का अनमोल खज़ाना मेरे सामने उंडेल दिया—उसने यहां कौन-कौन से जानवर देखे और कौन-कौन से यहां मौजूद हैं, लेकिन अभी तक वह देख नहीं पाया; बगीचे के किन-किन स्थानों पर वह अपना खज़ाना छुपा सकता है और कौन-कौन से कोने छानने बाकी हैं वगैरह, वगैरह। और आखिर में उसने अपने दिल की बात मेरे सामने खोल कर रख दी—“मॉम, जब मैं पापा के जितना बड़ा हो जाऊंगा तो इसी जगह खुद अपना घर बनाकर उसी में रहूंगा। क्यों ठीक है न?”

“और कभी-कभी अपने घर पर मुझे भी बुलाओगे न?”

उसने मुझे अपनी छोटी-छोटी बांहों में भींच लिया, फिर दौड़कर पास ही खिले हुए कुछ जंगली फूलों का एक गुलदस्ता-सा बनाकर मेरे हाथों में देते हुए वह बोला—“मॉम, ज़रूर, ज़रूर बुलाऊंगा। तुम सबसे अच्छी मॉम हो। मैं तुमसे बहुत प्यार करता हूं।”

मुझे पता था, वे फूल उसने अपनी मॉम के अन्दर छिपी उस बच्ची को उपहार में दिये थे जिसके साथ उसकी नयी-नयी पहचान हुई थी।

दोपहर ढल रही थी। हम अपने सफल अभियान से घर लौट रहे थे। लेकिन मैं बड़ी सावधानी से अपने अन्दर की उस बच्ची को वहीं बगीचे में बिठाकर आयी। वहां वह मेरे अगले अभियान तक मेरी प्रतीक्षा करेगी और मैं जानती हूं कि उसे ज़्यादा देर तक इंतज़ार नहीं करना पड़ेगा क्योंकि मैंने उससे और अपने बेटे रॉजर से वहां जल्दी लौट आने का वादा जो कर रखा है।

—वन्दना

नवम्बर २००५

ध्यान

कोई बाहरी अनिवार्य अवस्थाएं नहीं हैं, लेकिन ध्यान के समय एकान्त और निर्जनता, और साथ ही शरीर की निश्चेष्टता सहायक होती है, कभी-कभी, योग आरम्भ करनेवाले के लिये एकदम से अनिवार्य होती है। लेकिन तुम्हें बाहरी परिस्थितियों से बंधना नहीं चाहिये। एक बार ध्यान का अभ्यास हो जाने पर, सभी परिस्थितियों में, लेटे हुए, बैठे हुए, चलते हुए, अकेले में, दूसरों के साथ, नीरवता में या कोलाहल के बीच, हर एक परिस्थिति में ध्यान करना सम्भव होना चाहिये।

पहली आवश्यक आन्तरिक स्थिति है ध्यान में आनेवाली बाधाओं के विरुद्ध संकल्पशक्ति की एकाग्रता। उदाहरण के लिये ये बाधाएं हैं : मन का इधर-उधर भटकना, विस्मृति, निद्रा, भौतिक और स्नायविक अधैर्य और अस्थिरता इत्यादि।

दूसरी स्थिति है आन्तरिक चेतना, 'चित्' की बढ़ती हुई पवित्रता और स्थिरता जिससे विचार और संवेग उठते हैं, उदाहरण के लिये, सभी बाधक प्रतिक्रियाओं से मुक्ति, जैसे क्रोध, दुःख, विषाद, जगत् में होनेवाली घटनाओं के बारे में दुश्चिन्ता इत्यादि। मानसिक और नैतिक पूर्णता में हमेशा एक-दूसरे से बहुत निकट का सम्बन्ध होता है।

—श्रीअरविन्द

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road

Post Box No. 5713

NEW DELHI - 110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

sunderson@auromail.net

Tel : 23612728, 23612776

Fax : 011-23620632

Our Lines of Business :

- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
 Maihar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
 Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERY.

Completed 78 years on Basant 2004

उच्च कोटि की बिजली की सामग्रियों के लिए सम्पर्क करें :

ऑनस्टी इलेक्ट्रिक स्टोर्स

२२, रवीन्द्र सरणि

कोलकाता — ७०००७३

फोन : २२३७७९९८

ई मेल : honestyes@yahoo.co.in

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

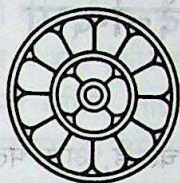
(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

13E-Rajanigandha

25, Ballygunge Park

Kolkata-700 019



प्रार्थना और ध्यान

२० अगस्त १९१४

लक्ष्य को ऐसे नये दृष्टिकोण से देखने के लिए जो और दृष्टिकोणों को उपयोगी रूप से आलोकित कर उठे, हमें अपने आन्तरिक शोध की अनुभूति को बार-बार नया करना चाहिये और पहले से ही ऐसा अनुमान किये बिना कि हमारी यात्रा का अन्त क्या होगा, हमें चेतना के अन्तिम छोर तक लौटना चाहिये।

लेकिन सहज ज्ञान से मन उस संस्कार को याद करता है जो उसे हमारी चेतना और परम केन्द्र के किसी एक या अनेक प्राथमिक सम्पर्कों से प्राप्त हुआ था और वह अपने-आपसे कहता है : "मार्ग के अन्त में आदमी यही चीज पाता है।" वह यह नहीं समझ पाता कि वह "चीज" जो उसके विचार में है वह तो उसके लक्ष्य को अनूदित करने या यहां तक कि उसका उपहास करने के अनगिनत तरीकों में से एक है, वह यह भी नहीं देखता कि बौद्धिक धारणा को अनुभूति के पीछे आना चाहिये, उसके आगे नहीं।

पूरी निदोषता के साथ मार्ग का पुनः अनुरेखन करना, मानों इसके पहले उस पर कभी कोई न चला हो, यही सच्ची शुद्धि, सम्पूर्ण सचाई है—ऐसी सचाई जो अविच्छिन्न प्रगति, विकास और 'सम्पूर्ण पूर्णता लाती है।

अपने बावजूद, समस्त विचार की नीरवता में, यानी, सभी सचेतन सूत्रों की चुप्पी में, मेरी सत्ता के अन्दर कोई चीज, जो शब्दों से ज्यादा गहरी है, तीव्र अभीप्सा के साथ तेरी ओर मुड़ती है, हे अनिर्वचनीय प्रभो, वह भेंट-स्वरूप अपनी समस्त क्रियाएं, अपने समस्त तत्त्व, अपनी सत्ता के सभी प्रकार तुझे अर्पित करती है और तुझसे अनुनय-विनय करती है कि इन सबको परम दीप्ति प्रदान कर।

... ओ तू, जिसे मैं सोच नहीं सकती लेकिन निश्चिन्ता के साथ जानती हूं!

—श्रीमां

दैनन्दिनी

दिसम्बर

१. यदि हम डटे रहें तो विजय सुनिश्चित है, और भला ऐसी विजय के लिए कठिनाई और प्रयासरूपी कौन-सा मूल्य अत्यधिक है?
२. जीव अपनी सभी कामनाओं और दुःख-कष्टों के समय भगवती मां के पास जाता है, और भगवती मां चाहती हैं कि ऐसा ही हो ताकि वे अपने हृदय का सारा प्रेम उस पर उंडेल सकें।
३. एकमात्र वही जीवन जीने-योग्य है जो भगवान् के साथ एकात्मता के लिए निवेदित हो।
४. यह कहने की जरूरत नहीं कि जो सत्य के लिए अभीप्सा करते हैं उन्हें असत्य बोलने से बचना चाहिये।
५. हृदय के पीछे विद्यमान एक पर्दा और मन के ऊपर पड़ा हुआ एक ढक्कन हमें भगवान् से विच्छिन्न करते हैं। प्रेम और भक्ति से पर्दा फट जाता है और मन के निस्तब्ध हो जाने पर घिस जाता और विलीन हो जाता है। (श्रीअरविन्द)
६. प्रकृति के प्रति प्रेम साधारणतः आधुनिक संस्कृति से अदूषित, निर्मल और स्वस्थ सत्ता का चिह्न है। शान्त मन की नीरवता में ही प्रकृति के साथ सबसे अच्छा सम्पर्क साधा जा सकता है।
७. जो लोग भगवत्कृपा और सहायता के लिए अभीप्सा करते हैं उनके लिए कृपा और सहायता हमेशा प्रस्तुत रहती हैं। अगर उन्हें श्रद्धा और विश्वास के साथ लिया जाये तो उनकी शक्ति असीम है।
८. अगर हम अपने मुख या कलम से असत्य को प्रकट होने देते हैं, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, तो हम सत्य के पूर्ण सन्देशवाहक बनने की आशा कैसे कर सकते हैं?
९. सच्चे बनो, हमेशा सच्चे बनो, अधिकाधिक सच्चे बनो।
१०. सचाई हर एक से यह मांग करती है कि वह अपने विचारों, अपने भावों, अपनी अनुभूतियों और अपने कामों में अपनी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के सिवा और कुछ न प्रकट करे।
११. यह कभी न भूलो कि तुम अकेले नहीं हो। भगवान् तुम्हारे साथ हैं और तुम्हारी सहायता एवं पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं।
१२. भगवान् ऐसे साथी हैं जो कभी साथ नहीं छोड़ते, ऐसे मित्र हैं जिनका प्रेम आश्वासन और बल प्रदान करता है। श्रद्धा बनाये रखो और वे तुम्हारे लिए सब कुछ कर देंगे।
१३. एक नियम मैं तुम्हारे लिए निश्चित कर सकता हूँ—ऐसा कोई काम मत करो, ऐसी कोई बात मत कहो या सौचो जिसे तुम माताजी से छिपाना चाहो। (श्रीअरविन्द)
१४. बस एक ही बात है, लगे रहो और डटे रहो—जब तक कि प्रकाश का समय नहीं आ जाता। (श्रीअरविन्द)
१५. हे भगवान् के सैनिक और वीर योद्धा! भला तेरे लिए शोक, लज्जा या दुःख-कष्ट कहां? तेरा जीवन तो एक गौरव की वस्तु है, तेरे कर्म हैं, आत्म-निवेदन, विजय है तेरा देवत्व-लाभ, पराजय है तेरी सफलता। (श्रीअरविन्द)
१६. हमें आवश्यकता है शान्त हृदय, सुदृढ़ संकल्प और पूर्ण आत्म-त्याग की, अपनी दृष्टि को

दिसम्बर २००५

निरन्तर परे की ओर निबद्ध रखने की, ताकि हम ऐसे समय भी, जो वास्तव में विश्वव्यापी विघटन का काल है, निरुत्साहित न हों। (श्रीअरविन्द)

१७. मनुष्य को कठिनाई की अपेक्षा कहीं अधिक आग्रही होना होगा—और कोई उपाय नहीं है।
१८. भगवान् को प्राप्त करने के अन्तरात्मा के अटूट संकल्प के आगे कोई चीज टिक नहीं सकती। (श्रीअरविन्द)
१९. सारी संकीर्णता, स्वार्थ, सीमा-बन्धन को दूर हटा दो और मानव-एकता की चेतना में जागो। शान्ति और समस्वरता पाने का एकमात्र यही तरीका है।
२०. दिव्य और अनन्त मां के प्रति आत्मसमर्पण करना ही, चाहे वह जितना कठिन क्यों न हो, हमारे लिए एकमात्र फलदायी साधन और हमारा एकमात्र स्थायी आश्रय है।
२१. मां के प्रति आत्मसमर्पण करने का यह अर्थ है कि हमारी प्रकृति उनके हाथों का यन्त्र और हमारी अन्तरात्मा उनकी गोद का बालक बन जाये।
२२. किसी चीज के लिए इच्छा न करो। हर क्षण अपनी शक्यता के अनुसार ऊंचे-से-ऊंचे स्तर पर रहो।
२३. यद्यपि अन्धकार घना है—और यह जगत् तथा साथ ही मनुष्य की भौतिक प्रकृति भी उससे भरी हुई है—फिर भी सच्ची ज्योति की एक किरण अन्त में दसगुने अन्धकार को पराजित कर सकती है। इस बात पर विश्वास करो और इसे हमेशा दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। (श्रीअरविन्द)
२४. नवीन जन्म तुम्हारे हृदय में प्रकट हो, शान्ति और आनन्द के साथ वह अपनी ज्योति फैलाये तथा तुम्हारी सत्ता के सभी भागों को—मन, दृष्टि, संकल्प, हृदय, प्राण और शरीर को अपने अन्दर ले ले। (श्रीअरविन्द)
२५. मातः दुर्गे! हम युग-युग से मानव शरीर में अवतीर्ण होकर जन्म-जन्मान्तर तुम्हारे ही कार्य सम्पन्न कर तुम्हारे आनन्दधाम में लौट जाते हैं। इस बार भी जन्म लेकर तुम्हारे ही कार्यव्रती हैं हम; सुनो मातः, भारतवर्ष में प्रकट होओ, हमारी सहायक बनो। (श्रीअरविन्द)
२६. मातः दुर्गे! हम तुम्हारी सन्तान हैं, तुम्हारे प्रसाद से, तुम्हारे प्रभाव से महान् कार्य के, महान् भाव के उपयुक्त हों। मातः, क्षुद्रता का विनाश करो, स्वार्थ का नाश करो, भय का विनाश करो। (श्रीअरविन्द)
२७. यदि कोई विश्वास और निर्भरता के साथ अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप दे तो भगवान् सब कुछ कर सकते हैं—हृदय और स्वभाव को शुद्ध, भीतरी चेतना को जाग्रत् और पदों को दूर हटा सकते हैं।
२८. तुम जो भी काम करो, जितनी पूर्णता से कर सकते हो करो। यही मनुष्य के अन्दर भगवान् की सबसे अच्छी सेवा है।
२९. तू है इसलिए मनुष्य अपने दुर्भाग्य के आगे नहीं झुकते, बल्कि सुख की मांग करते हैं और नियति से भिड़ जाते हैं। (श्रीअरविन्द)
३०. अगर तुम पृथ्वी पर शान्ति चाहते हो तो पहले अपने हृदय में शान्ति स्थापित करो।
३१. अपने जीवन के लक्ष्य तथा ध्येय को कभी न भूलो। इस महान् उपलब्धि का संकल्प हमेशा तुम्हारे ऊपर रहे, तुम जो कुछ करो, और जो कुछ तुम हो, उस पर मानों प्रकाश के एक विशाल पक्षी की भांति रहे और तुम्हारी सत्ता की समस्त गतिविधियों को नियन्त्रित करे।

सिद्धियां

कुछ लोग सिद्धियों का मज़ाक उड़ाते हैं और उन पर विश्वास नहीं करते। दूसरे इसलिए मज़ाक उड़ाते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि उनकी अवज्ञा करना उदात्त और आध्यात्मिक कर्म है। दोनों वृत्तियां अज्ञान से आती हैं। यह सच है कि कुछ लोग स्वभाव से ही हर अनजानी चीज को भव्य मान लेते हैं, जो भी चीज उनके ज्ञान से परे हो उसे वे आसानी से सत्य, भव्य और चमत्कार-भरा मान लेते हैं। भोले लोगों का स्वभाव ऐसा ही होता है। यह भी सत्य है कि कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो हर अनजानी चीज को मिथ्या मानते हैं। ऐसे लोग हर उस चीज को, जो उनके तत्त्व-ज्ञान से परे हो, धोखा-धड़ी और दयनीय अन्धविश्वास कहकर उसका मज़ाक उड़ाने से नहीं चूकते। यह अविश्वासी लोगों का स्वभाव है। लेकिन सच्ची मनोस्थिति तो यह है कि आसानी से न तो विश्वास किया जाये और न अविश्वास। सतर्कतापूर्वक, दोनों पक्षों में सतर्कतापूर्वक, खोज की जाये। कुछ लोग सोचते हैं कि अगर खोज के समय भी वे कठोर रहें तो उसमें श्रेष्ठ न्याय-परता दिखायी देती है। और कठोरता से उनका मतलब होता है जो तथ्य उनके सामने रखा गया है उसे गलत सिद्ध करने के किसी अवसर को हाथ से न जाने देना। यह वृत्ति ज्ञान का विस्तार करने की जगह उसे संकुचित करने के लिए अच्छी है। अगर यह हमें कुछ निश्चायक विश्वासों की भ्रान्ति से बचाती है तो साथ ही निषेध की बहुत सारी भ्रान्तियों में भटका भी देती है। और मानव प्रगति के लिए अत्यावश्यक विस्तार को स्थगित कर देती है।

मैं योगसिद्धियों के होने या न होने के बारे में बहस नहीं करना चाहता, क्योंकि मेरे लिए यह बहस का या मानने, न मानने का विषय नहीं है। क्योंकि मैं रोज के अनुभव से उनके अस्तित्व के बारे में जानता हूँ। मुझे रुचि है उनके स्वरूप और उपयोग में।

हमें ऐसे लोगों से काम पड़ता है जो वेदान्ती या आध्यात्मिक होने का दावा करते हैं। उनमें सिद्धियों की निन्दा करने और उनके प्रति एक पवित्र घृणा प्रकट करने का फैशन-सा बन गया है। ऐसा लगता है मानों ये सिद्धियां तान्त्रिक, भयानक और अनैतिक हों, मानों किसी जादूगर के दांव-पेंच की तरह भ्रम में डालनेवाली और आत्मा की मुक्ति के मार्ग में बाधक हों। स्वामी विवेकानन्द अपने काम के आरम्भ में इस बात का बहुत ख्याल रखते थे कि कहीं यूरोपीय लोगों के अविश्वास को न भड़का दें। शुरू-शुरू में इन बातों से कतरा कर उन्होंने इस वृत्ति को काफी प्रोत्साहन दिया। वे कहते थे कि ये बातें सच्ची हैं, पर अभी इन्हें छिपा रहने दो। अब बहुत-से लोग, जिनके उद्देश्य विवेकानन्द के उद्देश्य नहीं हैं, यह सोचते हैं कि वे उनकी सीमाओं की देखा-देखी करके उनकी आध्यात्मिक महानता की नकल उतार लेंगे।

हमारे पूर्वजों के बलिष्ठ स्वभाव में यह कमजोरी न थी। हमारे महान् ऋषि सिद्धियों के विरुद्ध चिल्ल-पों न करते थे। वे उन्हें योग की उपलब्धियों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण न सही, पर एक भाग अवश्य मानते थे और वे प्रचुर ओज के साथ उनका निःसंकोच प्रयोग करते थे। इन्हें हमारे धर्म-ग्रन्थों में भी मान्यता दी गयी है और भागवत जैसे भक्ति-प्रधान पुराण में इन्हें योग में गिना गया है। पातञ्जलि ने इनका उल्लेख किया है और इनमें से कुछ की पद्धतियों को सावधानी के साथ सारणीबद्ध किया है। कलियुग की आधी रात में सिद्धों और सन्तों ने इनका कम प्रयोग किया, पर किया है शक्ति और सामर्थ्य के साथ। उनमें से कुछ के लिए सिद्धियों के

प्रयोग के सिवा किसी और तरीके से काम करना मुश्किल होता, क्योंकि उनके लिए ये असाधारण गतियां न रहकर, उनके आध्यात्मिक उत्थान के कारण, साधारण पद्धतियां बन गयी थीं। पहाड़ों पर बैठे सिद्धजन अपने एकाकी नीरव हृदय में ही सिद्धियों के द्वारा सारे जगत् की सहायता करते हैं। ईसामसीह ने सिद्धियों को अपनी पवित्र उदात्त आध्यात्मिकता की एक मुख्य विशेषता बनाया। और उन्होंने ये चीजें अपने शिष्यों को देने में भी संकोच नहीं किया। उन्हें आशीर्वाद, अभिशाप, रोग-मुक्ति, अनेक भाषाओं को समझना आदि सिद्धियां दीं। ईसाई अभी तक पैंटीकोस्ट (ईस्टर के बाद सातवां रविवार जब पवित्रात्मा ईसा के शिष्यों पर उतरी थी) को मानते हैं और पवित्र मानते हैं। जोन ऑफ आर्क ने अपनी सिद्धियों का उपयोग फ्रांस को स्वाधीन करने में किया। सुकरात की अपनी सिद्धियां थीं जिनमें से कुछ बिलकुल भौतिक थीं। बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रायः जन्म से ही कुछ सिद्धियां लेकर आते और बिना जाने ही उनका उपयोग करते हैं। ऐसे लोगों में भी जो शक्ति और स्पष्टता में प्रतिभा से बहुत नीचे स्तर के होते हैं हमें समय-समय पर अनियमित रूप में सिद्धियों की क्रिया दिखायी देती है। पश्चिम, जो हमेशा ज्ञान के लिए लालायित रहता है, दुरुपयोग और पाखण्ड में उलझ कर उन्हें विकसित करने के लिए संघर्ष कर रहा है। वह उन्हें सम्मोहन, सूक्ष्मदर्शन और दूरबोध के तथ्यों में ढूंढने की कोशिश कर रहा है जिसकी सचाई के बारे में बहुत-से सच्चे और बुद्धिमान लोगों ने आश्वासन दिया है। पूरब की ओर को लौटें, जहां उनके सच्चे अभ्यास को ही मान्यता दी गयी है, तो हमारे उत्तर और दक्षिण के सभी सन्तों के जीवन सिद्धियों से भरपूर हैं। सिद्धियों के विरोध में बहुधा ही रामकृष्ण को उद्धृत किया जाता है, लेकिन उन्होंने इनका उपयोग न केवल आन्तरिक रूप में किया, बल्कि अपनी लीला में भी उन्हें काफी बड़ी हद तक व्यक्त किया। मुझे इस लम्बे इतिहास में कुछ भी अनैतिक, भयंकर या तुच्छ नहीं दीखता। लेकिन चूंकि यूरोप इन चमत्कारों और जादू-टोनों को तिरस्कार और अविश्वास की दृष्टि से देखता है, इसलिए हमें भी उनसे शर्माना चाहिये और पृष्ठभूमि में फेंक देना चाहिये और यह कहना चाहिये कि कुछ नीम हकीम और गलत राह पर चलनेवाले ही इनका प्रयोग करते हैं, करने का दावा करते हैं? जहां तक हमारा सवाल है, हम तो बौद्धिक, आध्यात्मिक, तपस्वी, भक्त, आत्म-त्यागी और वेदान्ती हैं, हम इन चीजों से बहुत ऊंचे हैं। हम इन्हें थियोसोफिस्ट, अनैतिक तान्त्रिकों और नकली योगियों के लिए छोड़ देते हैं।

हमें सभी बातों में पाखण्ड और आत्म-प्रदर्शन से हाथ धो डालने चाहियें। भागवत प्रक्रियाओं के इस जगत् में चमत्कार जैसी कोई चीज है ही नहीं, क्योंकि या तो चमत्कार जैसी कोई चीज नहीं है, या अगर ज्यादा ध्यान से देखें तो इस जगत् में हर चीज चमत्कार है। अगर शब्द "चमत्कार" को उसके शाब्दिक अर्थ में देखें तो उसका मतलब होगा एक ऐसी अद्भुत चीज जिसे देख कर तब तक आश्चर्य हो जब तक कि हम उसकी प्रक्रिया को न जान लें। बेतार का तार एक अद्भुत चीज है; शब्दों के बिना एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क पर विचार भेजना उससे भी अधिक अद्भुत है। फिर भी, यह हर रोज एकदम मामूली लोगों में होता रहता है। लेकिन एक बार प्रक्रिया का पता लग जाये तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं रह जाती। आश्चर्य होता है बस, बुद्धिमान की प्रशंसनीय महानता पर, कल्पना की विशालता और विविधता पर और कार्य करने की सूक्ष्मता पर—उन चीजों पर जिनसे संसार चल रहा है। और यह आश्चर्य भी समाप्त हो जाता है जब हम भगवान् को जान लेते हैं और यह अनुभव करते हैं कि इस विश्व की अधिक-

से-अधिक अद्भुत गतियां भी उनकी अनन्त यथार्थता के आगे नगण्य और भानुमती के खेल से बढ़कर नहीं हैं। जैसा कि विज्ञान की इस सिद्धि के साथ होता है जिसे हम बेंतार का तार कहते हैं या जैसा प्रकृति की उस दूसरी सिद्धि में होता है जिसमें एक ही विचार या भाव तुरन्त भीड़ में, राष्ट्र में या सेना में फैल जाता है, वैसा ही इन योग-सिद्धियों के बारे में है। इनकी प्रक्रियाओं को भली-भांति समझ लो और उन पर काबू पा लो, उन्हें विश्व की शेष अर्थ-व्यवस्था में यथास्थान बिठा दो तो पता चलेगा कि न तो वे चमत्कार हैं, न अद्भुत हैं और न अति प्राकृतिक। ये चीजें बस उतनी ही असामान्य हैं जितना हवाई जहाज़ या मोटर चलाना या चीनी वर्णमाला सीखना। उनमें कोई जादू नहीं है, अगर है तो वैसा ही जैसा ईरान के अग्निपूजक ज्योतिषियों के पास था, विज्ञान में था। वहां उसका अर्थ है उच्चतर शक्ति या उच्चतर ज्ञान की क्रिया। उस अर्थ में आज का गुह्यवाद ठीक उसी अर्थ में जादू है जिस अर्थ में रोजर बेकन या पेरा सेलसस के वैज्ञानिक परीक्षण। उसके साथ काफी सारा छल-कपट, भ्रान्ति, आत्म-वञ्चना का मिश्रण है, लेकिन यही बात पहले के यूरोपीय वैज्ञानिकों के परीक्षण के साथ थी। पश्चिमी प्रयोगकर्ताओं और पूर्वीय नीम हकीमों के दोष हमारे इस प्राचीन और सत्य योग को दूर नहीं कर सकते।

—श्रीअरविन्द

एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र^१

पत्र-लेखक की भूमिका

मैं लगभग चौदह वर्ष की आयु में सन् १९३१ में पॉण्डिचेरी आया था। उन दिनों माताजी आश्रम में बच्चों को नहीं लिया करती थीं। हम चार बच्चों को अपवाद-स्वरूप यह कृपा प्राप्त हुई थी। तब न तो विद्यालय था, न नियमित पढ़ाई की व्यवस्था। उन दिनों मेरे जीवन में दो ही चीजें थीं, एक पढ़ाई, दूसरी क्रिकेट। मैंने सोचा था कि मैं यूरोप जाकर बड़ा डॉक्टर बनूंगा। मैं पहली बार पॉण्डिचेरी बस यूं ही सैर-सपाटे के लिए आया था और छुट्टियां ख़तम होते ही वापिस चला गया, परन्तु न जाने क्या हुआ, मैं वहां दो दिन से ज़्यादा न रह सका। १९३३ तक मैं यह न जानता था कि आखिर योग है क्या? मेरे लिए माताजी और श्रीअरविन्द भौतिक मां-पिता से बढ़कर न थे। जब मुझे पत्र-व्यवहार का सुअवसर मिला तो श्रीअरविन्द को मुझे सब कुछ सिखाना पड़ा। योग ही नहीं संस्कृति, धर्म, नैतिकता, दर्शन, यहां तक कि अंग्रेज़ी भाषा तक की शिक्षा देनी पड़ी।

निचले और उपरले जगत्

वर्ष १९३३

मनुष्य निश्चेतन पदार्थ में से पृथ्वी पर कैसे आया? भगवान् उसके पीछे थे?

प्रश्न अपने-आप पेचीदा-सा है। मनुष्य जड़-प्रकृति में से विकसित हुआ है या यूं कहें कि प्रकृति^१ पुरोधा के इस अंक से हम नगीन भाई का यह नया स्तम्भ शुरू कर रहे हैं।

खेल से
र कहते
भीड़ में,
आओं को
थास्थान
ये चीजें
सीखना।

मास था,
में आज
वैज्ञानिक
रुन यही
गीय नीम

अरविन्द

ने पहले जड़-पदार्थ को तैयार किया, फिर वनस्पति, उसके बाद क्रमशः पशु और मनुष्य। जो आवेष्टित है वह मनुष्य नहीं बल्कि मन, प्राण और आत्मा है। "आवेष्टित" का मतलब है कि वे उपस्थित तो हैं पर उनकी मानसिक क्रिया दिखायी नहीं देती। (जैसे पेड़ में) कोई मानसिक या प्राणिक क्रिया नहीं दिखाई देती (जैसे पत्थरों में); जैसे-जैसे विकास होता है वैसे-वैसे आवेष्टित प्राण प्रकट होने लगता है और अपने-आपको संगठित करने लगता है : पहले वनस्पतियां प्रकट होती हैं फिर पशु, फिर मन प्रकट होता है—पहले पशु में, फिर मनुष्य में।

दिव्य चेतना का मतलब क्या है?

दिव्य चेतना से हमारा मतलब है ऐसी आध्यात्मिक चेतना जिसके लिए केवल भगवान् का ही अस्तित्व है; क्योंकि सब कुछ भगवान् ही है जिसके द्वारा हम अज्ञान और निम्न प्रकृति में से होकर भगवान् और दिव्य चेतना के साथ एकता में जाते हैं।

यहां अज्ञान में हम भगवान् से अभिज्ञ नहीं हैं और हम निम्न प्रकृति की आज्ञा का पालन करते हैं।

विश्व में कौन-सी शक्तियां कार्यरत हैं?

दिव्य प्रकृति की उच्चतर शक्तियां हैं—प्रकाश, सत्य, दिव्य शक्ति, शान्ति, आनन्द की शक्तियां और निचली प्रकृति की शक्तियां हैं जो या तो निचले सत्य या अज्ञान और भूल-भ्रान्ति की शक्तियां हैं; और फिर विरोधी शक्तियां हैं जिनका समग्र उद्देश्य है अन्धकार, मिथ्यात्व, दुःख और मृत्यु के राज्य को जीवन का विधान बना कर रखना।

क्या हमारे जीवन के हर स्तर पर विरोधी शक्तियां हैं?

विरोधी शक्तियों का मुख्य बल है प्राण में—लेकिन कुछ मन के निचले स्तर पर होती हैं और कुछ छोटी-छोटी सत्ताएं और शक्तियां सूक्ष्म शरीर में भी होती हैं।

कुछ शक्तियां विरोधी क्यों कहलाती हैं और उन्होंने भगवान् के विरोध में काम क्यों किया?

क्योंकि वे अपनी ही राह चलना चाहती थीं और उनका रास्ता अज्ञान का रास्ता है।

उनका अन्तिम उद्देश्य क्या है?

अपनी प्रकृति के अनुसार चलना, संसार पर अधिकार जमाना और प्रकाश को उस पर अधिकार न करने देना।

आपने कहा था कि भगवान् 'वैश्व शक्ति' के द्वारा सृजन करते हैं। क्या वैश्व शक्ति का

विरोधी शक्तियों के साथ कोई सम्बन्ध होता है?

उसका अच्छी, बुरी, उदासीन सभी चीजों के साथ सम्बन्ध होता है।

अगर वैश्व शक्ति भगवान् से आयी है तो जगत् पर विरोधी शक्तियों के राज्य को क्यों चलने दिया जाता है?

यह इस जगत् का स्वभाव है। यह विकसनशील जगत् है जो अचेतना में से निकल कर भगवान् की पूर्ण चेतना में बाहर आ रहा है।

क्या यह वैश्व शक्ति का काम नहीं है कि अपने सभी विकसनशील रूपों में से होकर भगवान् तक पहुंचे?

वैश्व शक्ति विश्व को बनाये रखती है। भगवान् तक पहुंचना उसका तात्कालिक नहीं, चरम कार्य है।

कहा जाता है कि सब कुछ, यहां तक कि हमारा भविष्य तक भगवान् द्वारा पहले से ही व्यवस्थित है, तो क्या हम चाह कर भी कुछ नहीं बदल सकते?

अगर वह भगवान् द्वारा व्यवस्थित है तो किसी का चाहना उसे कैसे बदल सकता है? केवल शक्तियों की लीला ही अनिवार्य मालूम होती हो तो आदमी उसे संकल्प द्वारा बदल सकता है, यदि संकल्प को भगवान् की सहायता प्राप्त हो।

क्या हर गतिविधि, यहां तक कि भविष्य भी प्रकृति द्वारा नियोजित है?

प्रकृति में परिणाम शक्तियों की लीला द्वारा निश्चित होता है।

क्या यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुओं को चरम दृष्टि से देखा जाये तो भगवान् सभी भावी घटनाओं को व्यवस्थित करते हैं और उनका ठीक समय भी नियत करते हैं?

भगवान् इसे मानसिक दृष्टि से व्यवस्थित नहीं करते—योजना शब्द तो केवल एक रूपक है। परन्तु भगवान् देखते हैं कि सत्ता की गतिविधियों में से क्या उठता है और उसके ऊपर 'पूर्व दृष्टि' और 'स्वीकृति' होती है।

क्या दिव्य शक्ति हमारे ऊपर सारे समय कार्य करती रहती है, तब भी जब हम उसके बारे में अचेतन हों?

वह सारे समय प्रत्यक्ष रूप से काम नहीं करती, बहुधा वह प्रकृति को काम करने देती है।

हमारी समझ में अशुद्धि का कारण क्या है?

अज्ञान और अहंकार।

मैं अज्ञान की गतिविधियों से बाहर निकलने के लिए बहुत उत्सुक हूँ और अपनी चेतना को माताजी के स्पर्श में लाना चाहता हूँ। यह कैसे प्राप्त करूँ?

इसका बस यही एक उपाय है कि उच्चतर चेतना की ओर खुलो ताकि वह उतरे और माताजी की ओर खुले।

मैं यहाँ मन के उच्चतर स्तरों की बात कह रहा हूँ जो हमेशा साधारण मन की अपेक्षा ज्यादा प्रदीप्त होते हैं।

यह कैसी बात है कि प्राणिक सत्ताएँ देवों को अपने स्तर पर रहने देती हैं?

प्राणमय जगत् एक नहीं कई हैं।

कौन-से जगत्‌ओं में दिव्य प्राणिक सत्ताएँ रहती हैं?

प्राणिक देवों के जगत् हैं जहाँ वे रहती हैं।

जो प्राणिक जगत् अपने निजी देवता भी रख सकता है वे हमारे अन्दर विकृत कैसे हो जाते हैं?

बाहरी जगत् में हर चीज अज्ञान से विकृत हो जाती है—अगर विकृत न हो तो अज्ञान न रहेगा।

अगर सभी स्तरों पर दिव्य शक्तियाँ हैं तो हम विरोधी आक्रमणों के समय उन्हें अपने अन्दर कार्य करते हुए अनुभव क्यों नहीं करते?

अगर तुम उनके प्रति काफी जाग्रत् हो और उन्हें पुकारो तो वे कार्य करेंगी।

विरोधी शक्तियों के बारे में भय का क्या असर होता है?

अगर तुम विरोधी शक्तियों के आते समय डर जाओ तो तुम अपने-आपको उनकी शक्ति के प्रति खोल देते हो।

विरोधी शक्तियाँ हमारे ऊपर अपने आक्रमण का समय कैसे ठीक करती हैं और हमारे मन

में ऐसे रूप कैसे ला बिठाती हैं जो हमें आकर्षित करें?

वे तुम्हारे मन में रचना के तत्त्वों पर हमेशा नजर रखती हैं और तुरन्त क्रिया कर सकती हैं।

यह कैसे होता है कि वे हमारी अपेक्षा बहुत अधिक जानती हैं? क्या उनका ज्ञान बहुत विस्तृत है?

नहीं, वे भौतिक सत्ताएं नहीं हैं, अतः वे बड़ी हद तक वस्तुओं के बारे में सीधा परिचय पा सकती हैं, बस यही।

क्या मन से ऊपर, लेकिन अतिमानस से नीचे के स्तर विरोधी शक्तियों से प्रभावित हो सकते हैं?

नहीं—लेकिन विरोधी शक्तियां अपनी नीचे भेजी हुई शक्तियों का उपयोग कर सकती हैं यदि वे मन और प्राण के साथ मिल जायें।

जब हम उच्चतर चेतना में रहने लगें तो क्या निम्न प्रकृति तब भी हमारे अन्दर काम करती रहेगी और वैसी ही चीजें करती रहेगी जैसी अब करती है?

नहीं, तब उच्चतर चेतना कार्य करेगी बशर्ते कि शरीर भी उच्चतर चेतना में रहे।

मृत्यु कैसे आती है? क्या विरोधी शक्तियां उसे लाती हैं?

शरीर की क्षति, रोग, दुर्घटना या हिंसा मृत्यु लाती हैं। इनमें से पिछले तीन विशेष रूप से विरोधी शक्तियों के आक्रमण होते हैं और बाकी निचली प्रकृति के दबाव...।

एक बार आपने कहा था कि सत्य चेतना में वस्तुएं उससे भिन्न दीखती हैं जैसी कि वे अभी दीखती हैं। क्या आप अतिमानसिक चेतना की बात कह रहे थे?

किसी भी सत्य चेतना में—चाहे वह अन्तर्भास हो, आध्यात्मिक, अधिमानसिक या अतिमानसिक हो।

जब मैं कोई भूल करता हूं तो मेरे अन्दर कोई चीज चिल्लाती है, "तुमने यह क्यों किया? तुमने यह क्यों किया?" क्या यह निम्न प्रकृति है?

हां, निम्न मन ऐसा करता है। उच्चतर मन तो भूल को पहचान कर ठीक कर देगा।

क्या उच्चतर मन बुद्धि का एक उच्चतर भाग है?

उच्चतर मन अपने-आपमें बुद्धि से ऊपर की चीज़ है—केवल तब जब उसकी शक्ति की कोई चीज़ नीचे उतरती है और निचले मन के साथ मिल जाती है, वह बुद्धि के एक भाग की तरह काम करता है।

क्या आन्तरिक मन, उच्चतर मन और अधिमान हमारे व्यक्तिगत मन की तरह अलग-अलग हैं? हम अधिमानस में कैसे पहुंच सकते हैं?

नहीं, वे अधिक वैश्व हैं। तुम तब तक अधिमानस तक नहीं पहुंच सकते जब तक तुम पृथक्कारी चेतना से बंधे हो।

जब हम पृथक्कारी चेतना में रहते हैं तब हमारा वैश्व चेतना के साथ क्या सम्बन्ध होता है?

व्यक्ति उससे चीजें पाता और उन्हें लौटा देता है, वह प्रक्रिया और चीजों के मूल से अनभिज्ञ होता है।

क्या ब्रह्म और विश्व चेतना एक और समान ही हैं?

विश्व चेतना वैश्व ब्रह्म ही है। उसके अन्दर सब कुछ एक दिखायी देता है।

क्या मनुष्य अपनी सच्ची वास्तविकता में अतिमानस से भी बढ़ कर नहीं है?

मनुष्य की सच्ची वास्तविकता क्या है—और वह किसी और व्यक्ति की सच्ची वास्तविकता से भिन्न कैसे है? सभी की सच्ची वास्तविकता भगवान् है।

क्या अतिमानस मनुष्य का एक यन्त्र नहीं है जिसके द्वारा वह भगवान् को पृथ्वी पर चरितार्थ करे?

चरितार्थ करने से तुम्हारा क्या मतलब है? शायद तुम्हारा मतलब है अभिव्यक्त करना। कोई भी भगवान् को चरितार्थ कर सकता है, यानी उनके बारे में सचेतन हो सकता है।

मनुष्य शरीर के अन्दर शारीरिक सत्ता है—वह अतिमानस के ऊपर अधिकार कैसे कर सकता है जो मन के ऊपर है? उससे तो अधिमानस भी बहुत ऊपर है।

जब आदमी भगवान् के साथ एक हो जाता है तो यथार्थ रूप में अतिमानस की क्या क्रिया होती है?

मनुष्य भगवान् के साथ मानसिक स्तर पर भी एक हो सकता है। पृथ्वी पर भगवान् के प्रकट होने के लिए अतिमानस जरूरी है।

श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार

(कई प्रश्नों के उत्तर श्रीअरविन्द ने दिये हैं उनमें हम श्रीअरविन्द का नाम उल्लिखित कर रहे हैं।—सं.)

‘त्र’ ने मुझसे कहा: “व्यंग्य करना बुरा नहीं है, अगर तुम कभी व्यंग्य न करो तो तुम रसहीन पेड़ बन जाते हो।” क्या यह सच है?

नहीं, यह सच नहीं है, व्यंग्य करना किसी बौद्धिक श्रेष्ठता का नहीं बल्कि अज्ञानी मानसिक दर्प का चिह्न है। चैत्य कभी व्यंग्य नहीं करता।

२ दिसम्बर १९३३

क्या यह सच है कि विवाहित लोगों की कठिनाइयां अविवाहितों से ज्यादा होती हैं?

यह चरित्र पर निर्भर करता है, विवाह पर नहीं।

३ दिसम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

मैंने कहा, “‘ग’ हमें लोगों का खराब पहलू नहीं, हमेशा अच्छा पहलू देखना चाहिये।” उसने जवाब दिया, “नहीं, हमें दोनों पहलू देखने चाहियें और फिर उनमें भेद करना चाहिये।”

दूसरों के दोषों के बारे में बोलना निस्सन्देह बहुत बुरा है। सबके अपने दोष होते हैं और अपने विचारों में उन पर जोर देना निश्चय ही उन्हें ठीक करने में सहायता नहीं देता।

४ दिसम्बर १९३३

‘ज्ञ’ ने मुझसे कहा कि अगर मेरे पास अखबार पढ़ने का समय न हो तो मुझे कम-से-कम उस पर एक सरसरी नज़र डाल लेनी चाहिये। मैंने पूछा, “क्या ऐसा कोई नियम है कि अखबार पढ़ना ही चाहिये?” उसने जवाब में कहा, “संसार में जो कुछ हो रहा है उसका पता होना चाहिये, तुम संन्यासी तो नहीं हो।”

मैं संन्यासी नहीं हूँ और मैं कभी अखबार नहीं पढ़ती! मेरे पास उसके लिए समय नहीं है।

चेतना के एकदम सामान्य स्तर पर गिरे बिना अखबार पढ़ना बहुत कठिन है। जब चेतना दृढ़ता से भगवान् के साथ ऐक्य में प्रतिष्ठित हो गयी हो केवल तभी निम्न चेतना में गिरने के जोखिम के बिना अखबार पढ़ना सम्भव होता है।

५ दिसम्बर १९३३

शरीर पर बहुत-से आक्रमण हो रहे हैं। क्या आप बता सकेंगी क्यों?

दिसम्बर २००५

क्योंकि तुम बहुत अधिक शारीरिक चेतना में रह रहे हो—इसलिए वे शरीर पर आते हैं।

शारीरिक चेतना में रहने का क्या अर्थ है?

इसका अर्थ है चीजों को केवल उसी तरह देखना जैसी वे बाहरी मन और इन्द्रियों को दीखती हैं, अपनी आन्तरिक सत्ता या ऊपर की चीजों के बारे में अभिज्ञ हुए बिना केवल यही जानना कि तुम शरीर में जी रहे हो। यह तब होता है जब तुम केवल शारीरिक चेतना में रहते हो।

५ दिसम्बर १९३३ —श्रीअरविन्द

लेकिन आक्रमणों को आने से रोकने के लिए मुझे क्या करना चाहिये ताकि मैं उच्चतर चेतना में उठ सकूँ?

अधिक विशाल चेतना के लिए अभीप्सा करो—निम्न प्रकृति के सुझावों का त्याग करो—या अधिक पूरी तरह से माताजी की शक्ति के प्रति खुलो।

६ दिसम्बर १९३३ —श्रीअरविन्द

इसका क्या अर्थ है: “प्रभु के लिए मेरे उत्साह ने मुझे खा लिया है?” (आर्य)

इसका अर्थ है कि उसने उसकी समस्त चेतना को भर दिया है और दूसरी चीजों और व्यक्तित्व की सामान्य क्रियाओं के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा।

किसी साधक की इच्छा और बल का भागवत इच्छा और बल में घुल-मिल जाना और उच्चतर शक्ति के साथ एक होना कब सम्भव होता है?

भागवत इच्छा और बल की सहायता और स्वीकृति के बिना नहीं।

७ दिसम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

मज़ाक करना अच्छा है क्या? क्या इससे हमें सहायता मिलती है?

यह साधना में सहायता नहीं देता—यह केवल मन या प्राण का खेल है।

८ दिसम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

ऐसा लगता है कि ‘क’ हमेशा मुझसे बात करने का संयोग ढूँढ़ती रहती है। क्या आप बता सकेंगी कि वह मुझसे क्या चाहती है?

सम्भवतः अपनी प्राणिक भूख को शान्त करने के लिए तुम्हारी शक्तियों के कुछ अंश को खाना चाहती हो।

९ दिसम्बर १९३३

एक सपना : एक बहुत बड़ा बगीचा था। मैं और कई साधकों के साथ घूम रहा था। मैं मनमोहक गुलाबों से—जिसका अर्थ था “आत्मदान”—लदा एक छोटा-सा पौधा देखा। उनका एक गुच्छा था। क्या इसका कोई अर्थ है?

यह तुम्हारी अपनी चेतना के अन्दर का बगीचा है जहां ‘आत्म-दान’ का वृक्ष पनपता है।
१० दिसम्बर १९३३ —श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द ने ‘ग’ को लिखा कि माताजी नहीं चाहती कि ‘ग’ और मैं ‘क्ष’ की दी किसी भी वस्तु को स्वीकार करें। क्या आप बतायेंगी कि अगर कोई किसी व्यक्ति से कोई चीज लेना स्वीकार करता है तो क्या होता है?

अगर तुम योग में उन्नति करना चाहते हो तो तुम्हें केवल भगवान् से ही चीजें लेनी चाहियें।
१० दिसम्बर १९३३

कुछ दिन पहले मुझे महसूस हुआ कि मैं सुखद चेतना में ऊपर उठ गया हूं, लेकिन कुछ दिनों के बाद मैंने एकदम से उल्टा अनुभव किया। मैं फिर से बहुत नीचे गिर गया। अब मैं ठीक अनुभव कर रहा हूं। क्या आप मुझे इस गतिविधि के बारे में समझायेंगी?

यह चेतना की बहुत सामान्य गतिविधि है जो अपनी सामान्य अवस्था से ऊंची अवस्था में बने रहने में कुछ कठिनाई का अनुभव करती है।

१२ दिसम्बर १९३३

निम्न का उच्च के प्रति समर्पण कब सम्पन्न हो सकता है?

जब निम्न समर्पण के लिए अपनी पूरी सहमति दे दे।

“काम का समर्पण बाहरी और भीतरी दोनों क्रियाओं को अपने आलिंगन में ले लेता है।”
(आर्य) आन्तरिक क्रियाएं कौन-सी हैं?

मन, अन्तरात्मा, आन्तरिक प्राण और सूक्ष्म भौतिक की क्रियाएं।

१२ दिसम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

सपने क्या दिखाते हैं? यह कि चीज होगी, हो रही है या हो चुकी है?

सपना बहुत कम ही ऐसी घटना के बारे में होता है जो भौतिक रूप से हो चुकी है या होगी।

अगर ‘क’ अपनी प्राणिक भूख को न शान्त कर पाये तो उसका क्या होगा?

इसके साथ तुम्हारा किसी तरह का कोई सम्बन्ध नहीं, इससे तुम्हारा कोई मतलब नहीं और तुम्हें इसके बारे में नहीं सोचना चाहिये।

१४ दिसम्बर १९३३

क्या आप मुझे कृपा करके तूफान का कारण बतायेंगी?

तूफान विरोधी शक्तियों के उग्र आक्रमण का परिणाम था।

१८ दिसम्बर १९३३

आज सुबह जब मैंने यह कापी खोलकर पढ़ी तो मैंने अपने अन्दर एक तरह की गम्भीरता का अनुभव किया। क्या यह एक तरह की स्थिरता या शान्ति है?

हां, यह स्थिरता का एक रूप है।

२२ दिसम्बर १९३३

क्या आपका ख्याल है कि केवल तीव्र अभीप्सा द्वारा हम सारी सत्ता की निश्चल-नीरवता पा सकते हैं और उस निश्चल-नीरवता से साधना कर सकते हैं?

हां।

क्या मन, प्राण और भौतिक की सारी अशुद्धियां इस निश्चल-नीरवता के अवतरण से विलीन हो सकती हैं?

निश्चल-नीरवता सारी अशुद्धियों को ठीक तो नहीं कर सकती लेकिन वह उनमें से बहुतों को घटा देती है।

२३ दिसम्बर १९३३

श्रद्धा एक ऐसी चीज है जो तुम्हारे अन्दर प्रमाण या ज्ञान से पहले होती है और वह ज्ञान या अनुभूति तक पहुंचने में तुम्हारी सहायता करती है। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि भगवान् हैं, लेकिन अगर मुझे भगवान् पर श्रद्धा है तो मैं भगवान् की अनुभूति तक पहुंच सकता हूं।

—श्रीअरविन्द

हार न मानो

विश्वप्रसिद्ध तैराक टूडी ने अपने एक लेख में लिखा है, "संसार में कोई भी वस्तु सहज प्राप्त नहीं है। परन्तु कार्य जितना भी कठिन क्यों न हो कभी हार नहीं माननी चाहिये, ईश्वर की इच्छा हुई तो सब कुछ अपने-आप ठीक हो जायेगा।"

बचपन से ही टूडी की एक नामी तैराक बनने की अभिलाषा थी। और पांच वर्ष की अल्पायु के पूर्व ही इन्होंने इस बात का निश्चय कर लिया था। प्रकृति का यह नियम है कि जब हम कोई काम आरम्भ करते हैं तो कुछ परिस्थितियां हमारे अनुकूल और कुछ एकदम प्रतिकूल होती हैं। हमारी टूडी के साथ यही हुआ। पांच वर्ष की छोटी उमर में खसरा हुआ और तभी से वे ऊंचा सुनने लगीं। डॉक्टर भली-भांति जानते थे कि तैरना उन्हें अतिप्रिय है, इसलिए उन्होंने समझाते व सावधान करते हुए कहा था—“टूडी, तुम कुछ समय के लिए पानी के पास एकदम मत फटकना।” परन्तु टूडी के लिए यह तो सांस रुकने के समान था।

टूडी को बहरा हुए आज बीस वर्ष हो चुके हैं तथा छब्बीस वर्ष से उनकी कमर और टांगों में दर्द रहता है। परन्तु वे कहती हैं—“इस सबके बावजूद मैं खुश हूं, कारण मेरे जीवन में विजय तथा सिद्धि के कुछ क्षण रहे हैं।”

मुझे भी टूडी की तरह जल-कला प्राप्त करने का अत्यधिक शौक था। हम दोनों में अन्तर केवल इतना था कि उनकी अभिलाषा तैराक बनने की थी और मेरी गोताखोर बनने की।

मैं तब शायद सात वर्ष की थी, हमारे घर के पिछवाड़े की तरफ कुण्ड में कई बच्चे, जवान, लड़के-लड़कियां तैरने आते थे। आरम्भ में तो मैं उन्हें अपने छज्जे पर से ही देखा करती थी परन्तु फिर मैंने नीचे जाना शुरू कर दिया और फिर कुण्ड के किनारे जा बैठती और वहां से उन तैराकों व गोताखोरों को देखती रहती। मैंने उसी समय गोताखोर बनने का दृढ़ निश्चय कर लिया। जब मैं उन्हें देखती तो अपने-आपको भूल कर उन्हीं में मिल जाती, ऐसा महसूस करती मानों मैं बैठी उन्हें निहार नहीं रही बल्कि उन्हीं के साथ तरह-तरह की डुबकियां लगा रही हूं।

लेकिन हां, मैंने इन तैराकों व गोताखोरों में एक चीज देखी। वे हमेशा दल के साथ आया करते थे। अपनी प्रबल इच्छा की पूर्ति के लिए मैं भी उस दल में भर्ती हो गयी और नियमित रूप से कुण्ड में तैरने जाने लगी। हम जिस कुण्ड में जाते थे वह विशेष रूप से इसी काम के लिए तैयार किया गया था। गोते लगाने के लिए दस व सोलह फीट की ऊंचाई पर, कूदने के दो तखे लगे थे। नौसिखिये आरम्भ में दस फीट की ऊंचाई पर जाते थे और बाद में ऊपर के तखे पर।

यहां मुझे सब कुछ पसन्द था लेकिन एक नियम एकदम नापसन्द था। प्रत्येक दल सप्ताह में सिर्फ एक ही दिन तैरने जाता था। एक बार विचार आया, सात दिन में एक दिन तैरने से मैं कभी कुछ न सीख पाऊंगी, टूडी की भांति अल्पायु में कभी नाम न कमा पाऊंगी। टूडी ने सोलह वर्ष की अवस्था में ही बीस विश्व तथा राष्ट्रीय प्रतियोगिताएं जीत ली थीं व ओलिम्पिक दल भी बना लिया था और १९ वर्ष की आयु में इंगलिश चैनल भी पार कर लिया था। मैंने सोचा कि मैं दल छोड़ दूँ ताकि मैं प्रतिदिन कुण्ड जा सकूँ। परन्तु यह सम्भव न था, क्योंकि दल से निकल जाने पर मैं कुण्ड में घुस भी न पाती। हमारे कुण्ड के नियम बड़े सख्त थे। किन्तु मेरा साहस घटा नहीं। बड़े चाव तथा लगन के साथ प्रयास करती रही और शीघ्र ही तैरना सीख गयी। मेरे

दिसम्बर २००५

लिए तैरना सीखना आवश्यक था, क्योंकि गोताखोर के लिए सबसे पहली शर्त यह है कि वह तैरना जानता हो।

हर एक क्षेत्र में प्रथम प्रयास हमेशा ही स्मृति-चिह्न की भांति हमारे साथ रहता है, कारण, आम तौर पर प्रथम प्रयास में असफलता ही मिलती है।

जब मैं पहली बार सोलह फीट की ऊंचाई से छलांग मारने गयी तब बहुत उत्सुक थी, और खुशी के कारण बोल नहीं पा रही थी, परन्तु ऊपर पहुंचकर जब एक बार पानी की ओर नीचे देखा, तो सारी खुशी व सारा उत्साह नदारद। उसी समय मुझे टूंडी की कही बात स्मरण हो आयी—“संसार में कोई भी कार्य सहज प्राप्य नहीं है। परन्तु कार्य जितना भी कठिन क्यों न हो, कभी हार नहीं माननी चाहिये।” घबराने के बावजूद मैं कूदने के लिए तैयार हो गयी। मेरी सहायता के लिए नीचे पानी में तैराक था, नौसिखियों के लिए हमेशा ही पानी में तैराक रहता था ताकि शुरू-शुरू में वे अधिक नीचे न जायें। पहले ही ऊंचाई देखकर सांस रुक जाती है और फिर अगर पानी में ही अधिक गहरे चले जायें तो बस... सांस लेने का प्रयत्न करते हुए सिर्फ पानी ही गटकते हैं।

हां, तो मैं भगवान् का नाम ले बिना पानी की ओर देखे कूद गयी। दुर्भाग्यवश मैं घबराहट के कारण सीधी न गिरकर कान के बल गिरी। फलस्वरूप कई महीनों तक कान का दर्द सताता रहा। परन्तु यह तो रही दूर की बात। कूदने के बाद जब मैं हवा में थी तो एकदम ऐसा महसूस हो रहा था मानों भगवान् ने रुष्ट होकर मुझे पाताल लोक में धकेल दिया है। सांस रुक गयी थी। बाद में मुझे प्रशिक्षक ने बताया कि घबराहट के कारण तेरा चेहरा पीला पड़ गया था। हवा में शायद क्षणभर ही रही, परन्तु वह नगण्य क्षण भी उस समय एक युग के समान लम्बा प्रतीत हो रहा था।

पहली बार असफल होने पर भी मैं रुकी नहीं, दुबारा ऊपर जा पहुंची। इस बार मैं ठीक ढंग से गिरी। अब क्या था, बढ़ गया उत्साह, घण्टे भर मैं इसी तरह ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर चक्कर काटती रही। जब प्रशिक्षक ने पानी से निकलने के लिए सीटी बजायी तो मैं आग्रहपूर्वक 'एक बार और' कह, बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही ऊपर भाग गयी। जल्दी में कूद तो गयी परन्तु चित हो कमर पर गिरी। तभी से मेरी कमर बहुत कमजोर हो गयी है, मुझे अब भी इसका काफी ध्यान रखना पड़ता है हालांकि चोट लगे आज तेरह वर्ष हो चुके। फिर भी मैं खुश हूं क्योंकि मैंने काफी प्रगति की है, कुछ एक प्रतियोगिताएं भी जीती हैं। परन्तु मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि मैं कभी असफल नहीं हुई। मुझे एक बार नहीं बल्कि कई बार असफलता का सामना करना पड़ा। अगर मैं एक बार सफल रही तो दो बार असफल। असफलता देख हमें अपने उद्देश्य से पीछे नहीं हटना चाहिये। असफलता ही तो सफलता की सीढ़ी है।

अगर टूंडी भी असफलता के डर से दूसरा प्रयास न करती तो क्या उसका नाम इतना चमकता जितना कि आज चमक रहा है? अपने पहले प्रयास के बारे में कहती है : “इंगलिश चैनल पार करने का मेरा एक स्वप्न था। १९२५ में मैं पहली बार अपने अधूरे स्वप्न को असली रूप देने गयी। परन्तु साढ़े आठ घण्टे तैरने के बाद मेरी सांस रुकने लगी। मेरे प्रशिक्षक ने तैराक से कहा, उसे पकड़ लो, वह डूब रही है। तैराक ने मुझे पकड़ लिया। मेरी प्रतियोगिता वहीं रुक गयी। तैरते समय किसी भी प्रकार का सहारा लेने की सख्त मनाही है। मुझे अपने

ऊपर बहुत गुस्सा आ रहा था, अंग्रेजों का समुद्रतट अब था ही कितनी दूर—सिर्फ ६ मील।

“अगले साल मैंने फिर प्रयास किया। निश्चित समय पर ६ अगस्त १९२६ को मैं वहां पहुंच गयी। शुरू में समुद्र शान्त व मनोहर प्रतीत हो रहा था, परन्तु बाद में पता चला कि उस दिन तूफान आनेवाला था और तूफान के चिह्न लग चुके थे। प्रतियोगिता आरम्भ करते समय समुद्र शान्त था, परन्तु फिर भी पिताजी को लिखकर देना पड़ा कि अगर प्रतियोगिता के समय टूडी को कुछ हो भी गया तो प्रशिक्षक उसका ज़िम्मेदार नहीं होगा।

“मैं तैयार थी। जब मैं पानी में कूदी उस समय पानी काला हो रहा था। मैंने क्षण भर आंख मूंद कर प्रार्थना की, ‘हे भगवन्, अगर तेरी इच्छा है तो तू ही मेरी सहायता कर।’ तीन घण्टे पश्चात् ज़ोर का तूफान आया। लहरों के थपेड़े सहने कठिन हो रहे थे। लहरें भी मामूली नहीं थीं, कोई लहर १५ फुट से छोटी नहीं थी। प्रत्येक लहर के साथ मैं पानी गटक रही थी। हारकर मुझे लहर के आते ही सांस रोकनी पड़ती थी।

“अन्त में जब मैंने किनारा देखा तो भगवान् को धन्यवाद दिया, वही तो मुझे इतनी दूर लाया था।”

मुझे जब कठिनाई होती है या निराशा के पैरों की आहट सुनायी देती है तो टूडी का अनुभव मेरी आंखों के आगे आ जाता है और मैं फिर प्रयास करने के लिए तैयार हो जाती हूं।

—हीरो वसिष्ठ

(‘पुरोधा’, अक्टूबर १९६५)

फूलवाली

हम अभी नये-नये ही इस मुहल्ले में आये थे। पड़ोसी रामधनजी का लड़का सतीश मुझसे दो श्रेणी नीचे पढ़ता था सो सबसे पहले मैंने उससे मित्रता बनायी। उसने बातों ही बातों में बताया कि सवेरे वह नित्यप्रति अपनी माता के साथ देवीजी के मन्दिर में जाता है। यह बात तो मेरे लिए आकर्षण का विषय न थी पर जब उसने फूलवाली की बात बतायी तो मेरे मन में शरारत घूम गयी। घर में छोटे बहिन-भाइयों की तो आफ़त आयी ही रहती थी पर स्कूल में अध्यापकों की भी नाक में दम था मेरे उत्पातों के कारण। पर मैं भी क्या करता। मैं बहुत चाहता कि मैं भी भले लड़कों की तरह आराम से बैठा करूं पर हाथों को रोकता तो पैर चल पड़ते, पैरों को रोकता तो मुंह आप-ही-आप खुल जाता, किसी तरह मुंह भी सी लेता तो टेढ़ी-मेढ़ी कुहनियां अपने-आप बिदक पड़तीं। भगवान् जाने मेरे शरीर में ऐसी क्या बिजली की धारा दौड़ती रहती थी कि कोई मुझे बिच्छू कहता, कोई नचार कहता, कोई कहता, पता नहीं इस लड़के की हड्डियों में क्या भरा है जो एक मिनट चैन से नहीं बैठ सकता। और मेरी मां तो सदा यही कहती, “प्रसाद चढ़ाऊंगी दस रुपये का अगर यह दुष्ट कहीं सीधा हो जाये।” मैं चाहता कि किसी तरह हम सीधे हो जायें और वे दस रुपये हम ही भेंट चढ़वा लें, पर कहां जी!

‘फूलवाली’ की कहानी कह रहा था और शुरू कर दी अपनी ही रामकहानी। हां, तो मैंने सतीश को कह दिया कि मैं भी तेरे साथ चलूंगा। रात को मैंने मां से कहा कि मुझे जल्दी उठा

दिसम्बर २००५

देना। उन्होंने पूछा, “क्यों?” मैंने बहुत गम्भीरता से कहा, “सतीश रोज देवीजी के मंदिर में जाता है, मैं भी उसके साथ जाया करूंगा।” मां बोलीं तो कुछ नहीं पर प्रसन्न नजर आयीं। शायद उन्हें यह आशा बंधी कि चलो नये मुहल्ले में आकर लड़के का उद्धार तो होगा या शायद उन्हें देवीजी की कृपा ही नज़र आयी। खैर, मैं सवेरे उठकर जल्दी-जल्दी तैयार हुआ। मां ने प्रसन्न-भाव से मेरी सहायता की और जाते समय दरवाज़े के पास आकर कहा, “प्रसाद मेरे लिए भी ले आना।” मैं बड़े चक्कर में आया; मैं कोई देवाजी के दर्शन के लिए थोड़े ही जा रहा था, मेरा उद्देश्य तो फूलवाली को तंग करना था।

हमसे पहले कुछ और लोग भी फूल ले रहे थे। मैंने देखा कि फूलवाली बहुत बूढ़ी और दुबली-सी है। अगर मैं उसके बहुत सारे फूल उठाकर भाग जाऊं तो वह मुझे पकड़ भी न सकेगी। जब बड़े-बड़े लोग फूल लेकर मौन भाव में चले गये तो मैंने सतीश को आगे धकेला। फूलवाली ने हंसते हुए अपनी छोटी डलिया पर से गीला कपड़ा हटाते हुए कहा, “आ गया बच्चा!” और उसने दो सुन्दर गुलाब के अधखिले फूल उसके लिए निकाले। मेरे पास यह स्वर्ण अवसर था पर न जाने किसने मेरे हाथों को जकड़ लिया था। मैं फूलवाली की ओर देखता रहा। मैंने जीवन में पहली बार अपने-आपको ऐसी अवस्था में पाया। सतीश ने फूल लिये और मुझसे भी फूल लेने को कहा। मैं वहीं खड़ा रहा। इसपर फूलवाली ने कहा, “क्यों बच्चा, कौन-सा फूल चाहिये तुझे?” मैं तपाक से बोल पड़ा, “मुझे तो सारे चाहिये।” फूलवाली मुस्कुरायी और बोली, “ले लो बेटा, ये सब उन्हीं के तो हैं पर तुम्हारे छोटे-छोटे हाथों में इतने फूल कहां आयेंगे? ये तो पूजा के फूल हैं बेटा। देवीजी दो फूल से भी उतनी ही प्रसन्न होती हैं जितनी ढेर सारे फूलों से।” यह कहते हुए उसने मेरी अंजलि फूलों से भर दी। मैं आया था कुछ मज़ा लेने और यहां लेने के देने पड़ गये। मन्दिर में जाना पड़ा और वहां भी चुपचाप ही फूल चढ़ा देने पड़े।

घर आकर मुझे अपने पर बड़ी खीज आयी कि क्या एक फूलवाली ने मेरी बुद्धि कुण्ठित कर दी। मैं क्यों उसके सामने ऐसा बुद्ध बन गया! अच्छा कल सही। अब मैं रोज नयी-नयी तरकीब सोचकर जाता पर न जाने क्यों फूलवाली को देखते ही सब भूल जाता और जी यह करने लगा कि स्कूल न जाकर फूलवाली के पास ही आकर बैठ जाया करूं। अब मैं सचमुच फूलवाली को तंग करने के उद्देश्य से नहीं अपितु उसके स्नेहभरे दो बोल सुनने को उसके पास जाया करता। एक दिन छोटी-सी लतिका ने पूछा, “फूलवाली, तुम देवीजी को फूल चढ़ाने क्यों नहीं जाती? तुम्हारे पास तो ढेर सारे फूल हैं।” फूलवाली ने लतिका की ठुड़ी को हाथ लगाते हुए कहा, “मेरी रानी बिटिया, तुम्हारे नन्हें-नन्हें हाथों से फूल पाकर देवीजी बहुत खुश होती हैं।” लतिका सगर्व मुस्कुराती अपने फूलों को संभालती मन्दिर में चली गयी।

सत्यन् आया, उसने भी कहा, “फूलवाली, फूलवाली, तुम देवीजी पर एक भी फूल नहीं चढ़ाती, देवीजी तुमसे अप्रसन्न हो जायेंगी।” “इतने फूल तो चढ़ाती हूं बेटा!” “कहां, यह तो हम लोग चढ़ाते हैं, मैं क्या रोज देखता नहीं हूं जब तुम्हारी छाबड़ी खाली हो जाती है, तुम यहीं से नमस्कार करके चली जाती हो।” “मेरे राजा बेटे, ये सब फूल उन्हीं के हैं। मुझ अकेली के हाथों से फूल पाकर वे इतनी प्रसन्न न होंगी जितनी सैकड़ों हाथों से अपना शृंगार कराके प्रसन्न होती हैं।” मेरा किशोर मन फूलवाली की सरल पर तथ्यपूर्ण बातें सुनता और भीतर ही भीतर कुछ विचारता।

दिसम्बर २००५

और आज वह एक औद्योगिक संस्था में उच्चतम प्रबन्धक है और उसकी तनखाह हजारों में है। जब भी मैं उसे देखता हूं मुझे एकदम शास्त्रीजी की वही बात याद आती है। जिस गम्भीरता से उसने वह साधारण-सा काम किया, और उसके भक्तिभाव ने जो स्वाभाविक रूप से उसमें काम कर रहा था जवान के जीवन को गढ़ने में काफी अच्छे परिणाम ला दिये। माताजी की आराधना में उसने निःस्वार्थ भाव से जो शक्ति लगायी उसने भाग्य में उसके लिए नयी रेखाएं खींचीं।

आश्रम में श्रीमां इसी प्रकार के कार्य दिया करती हैं।^१ मात्र आध्यात्मिक ही नहीं बल्कि भौतिक प्रगति और रूपान्तर का भी यह एक गतिशील साधन है। अगर उचित ढंग से अपने कार्य को समझा जाये और उसे सच्चाई के साथ किया जाये तो आश्रम में कार्य ध्यान की अपेक्षा ज्यादा तेज़ी से हमारे अन्दर परिवर्तन लाता है और प्रगति कराता है। माताजी कार्य के रूप में हमें ऐसे अवसर देती हैं जिनमें हम समर्पण करना सीखें, अपनी शारीरिक, मानसिक, प्राणिक व अन्य ऊर्जाओं को भगवान् की सेवा में उंडेलना सीखें, और अपनी चेतना के नाना क्रिया-कलापों को पुनः-पुनः भगवान् पर केन्द्रित करना सीखें। इस यज्ञ में हमारी पूर्ण सत्ता भाग लेती है। निःस्वार्थ परिश्रम और आत्मदान में एक आनन्द है और चेतना प्रसन्न होती है। देखा गया है कि निरन्तर अभ्यास चेतना में क्रमिक परिवर्तन लाता है।

कार्य किस प्रकार का है यह अपने-आपमें महत्त्व नहीं रखता। इसे जबतक उचित ढंग से अपनाकर साधनाभाव से किया जाता है तबतक श्रीमां की चेतना की ओर अग्रसर होने में यह 'लीवर' का काम करता है। कार्य करते समय वास्तव में हम एक भिन्न चेतना के स्पन्दन का अनुभव करते हैं। फिर भी कुछ प्रयत्नकर्ता जो स्वभावतः या आदत के कारण तामसिक और दीर्घसूत्री अथवा अव्यवस्थित-चित्त और बेचैन होते हैं उनके लिए शारीरिक कार्य आदर्श माना गया है। हमारे शरीर का जो सबसे असंयमित भाग है उसमें भी लगाम लगाकर काम उसे ऊंचे उद्देश्य की ओर मोड़ देता है। और हमें यह अनुभव करने में अधिक समय नहीं लगता कि हमारा तामसिक अंश धीरे-धीरे घुलता जा रहा है या एक नयी सुव्यवस्था का सञ्चार हो रहा है। तब हम एक हल्कापन महसूस करते हैं और हर्ष की एक किरण फूटती है जो धीरे-धीरे आनन्द की धारा में परिणत हो जाती है, यहांतक कि चेहरे पर भी एक नयी आभा दिखायी देती है जो द्रष्टा की निगाह से छिपी नहीं रहती। सत्ता के विभिन्न स्तरों पर भी इस परिवर्तन की प्रतिध्वनि होती है। अवसाद के आवेगों में कठोर श्रम विशेष रूप से लाभकर है।

कोई प्रश्न कर सकता है कि इस प्रकार के कार्य को करने का उचित ढंग क्या है? सर्वप्रथम, अपने कार्य को कार्यमात्र न मानकर एक धार्मिक क्रिया मानो, उसे योग का, भागवत चेतना के साथ ऐक्य का साधन मानो। यह एक पवित्र वस्तु है जिसे हम मनःशान्ति, पवित्रता और अध्यात्मभाव के साथ लेते हैं मानों प्रार्थना की तैयारी में हों। और निश्चय ही जैसा कि माताजी ने बार-बार कहा है कि कार्य ही शरीर की भगवान् के प्रति प्रार्थना है।

जब प्रतिदिन हम अपना कार्य आरम्भ करते हैं तो उसे भगवान् को अर्पण करते हैं। यह समर्पण भी एक मानसिक विचारमात्र नहीं है; एक अनुभव की गयी क्रिया है जो हृदय से फूटती है और कार्य उस आन्तरिक आवेग की लहर पर आत्मसमर्पण करता हुआ आगे बढ़ता है, विशेष

^१ यह लेख १९६८ में लिखा गया था जब माताजी सशरीर थीं।

रूप से आरम्भ में, काम करने के कुछ समय बाद व्यक्ति अपने इस उद्देश्य को भूल सकता या भूल जाता है परन्तु जैसे ही उसे इस भूल का ज्ञान हो तुरत सचेतन होकर फिर आगे बढ़ना चाहिये। इस समर्पण और भक्ति-भाव के बिना कार्य एक भारमात्र हो जाता है। और आध्यात्मिक मूल्य तो रहता ही नहीं। मुझे याद है, एक बार किसी ने माताजी के लिए कुछ पृष्ठ टंकित करके भेजे थे, माताजी ने उन पृष्ठों को देखते ही कहा : "यह सिर्फ शारीरिक श्रम है और कुछ नहीं।" आध्यात्मिक प्रकरण में कार्य की अधिकता या गति का मूल्य नहीं है। मशीन भी काम करती है और वह भी कम समय में काफी ज़्यादा। लेकिन जब साधक वही कार्य करता है तो यह आशा की जाती है कि वह उसमें सर्वोच्च चेतना डाले और आत्मसमर्पण से उसे सजीव बना दे।

जब कोई काम समर्पण-भाव से करता है तो स्वभावतः वह एक प्रकार से भगवान् के साथ एक हो जाता है। वे सारे क्रिया-कलाप जो समर्पणभाव से उलटे होते हैं, उनके दरवाज़े वह बन्द कर देता है चाहे वे मन के, प्राण-शक्ति के या शरीर के ही हों। यह देखना ज़रूरी है कि कार्य में जो शक्ति और भावनाएं अर्पण की गयी हैं वे यथाशक्ति उत्तम हों, और यह उत्तम दिन पर दिन बदलता है। यह इसलिए होता है कि भगवान् सिर्फ अर्पण की गयी वस्तु के रूप में वहां उपस्थित नहीं रहते अपितु सहारा देने और कार्यसञ्चालक की शक्ति के रूप में भी रहते हैं। जब माताजी किसी के लिए कार्य चुनती हैं तो साथ ही साथ उसे करने के लिए अपनी चेतना की शक्ति भी प्रदान करती हैं। कार्यकर्ता को केवल यही सीखना है कि किस प्रकार वह यन्त्र बने व अपने-आपको ग्रहणशीलता की उचित मनःशान्ति में रखे। उच्च शक्ति उसके द्वारा काम करती है और इस प्रक्रिया में कर्ता की सत्ता को अपने प्रभाव से सराबोर कर देती है तथा हमारे शरीर को अपने स्वभावानुसार अभ्यस्त कर लेती है और अवश्यम्भावी रूपान्तरण के लिए द्वार खोल देती है। भागवत चेतना और भागवत शक्ति यन्त्र की शक्यता के अनुकूल अपने-आपको बैठा लेती हैं; सिर्फ यही नहीं, ये हमारी शक्यता को बढ़ाने में सहायता करती हैं। उसकी सीमा और उसकी ऊंचाइयों को बढ़ाने में भी सहायता करती हैं। जबतक कोई चेतना की फैलती हुई शक्ति के साथ समस्वर रहता है तबतक वह कालगति को महसूस ही नहीं करता, उत्साह और स्फूर्ति शिथिल नहीं होतीं। जैसे ही हमें थकावट महसूस हो इसका अर्थ है अन्दर झांकने का समय आ गया है, हमें ढूँढ़ना चाहिये कि भूल कहां हुई है। अभी कुछ वर्ष पहले की ही बात है। जिस विभाग में मैं काम करता हूँ उसमें काम अत्यधिक बढ़ गया था, कुछ दिनों तक सुबह से रात तक मेज़ पर काम का ढेर लगा रहता था, और हमारा दल काम करते-करते क्लान्त हो जाता था। मैंने माताजी के सामने इस स्थिति का ज़िक्र किया। उनका उत्तर रोमाञ्चकारी था, "सिर्फ कार्य के बारे में सोचो, अपने बारे में नहीं।" कहने की ज़रूरत नहीं कि हम तत्क्षण सचेतन हुए और अपनी भूल को पकड़ा।

भौतिक शरीर की निश्चय ही कुछ सीमाएं हैं जिनके बाहर सुरक्षा के साथ शरीर को नहीं खींचा जा सकता। लेकिन इन सीमाओं में रहते हुए साधारणतः जितने घण्टों में अमुक काम करना सम्भव माना जाता है उससे अधिक समय तक बिना थकान महसूस किये काम करना सम्भव है। योग में यह देखा गया है कि ये सीमाएं भी पत्थर की लकीर नहीं हैं। इन सीमाओं को धीरे-धीरे फैलाया जा सकता है। योग की चेतना के साथ तुम कितना स्वर मिलाते हो सब उस पर निर्भर करता है।

—माधव पण्डित

कुछ तीखे, कुछ पैसे सत्य

शासन का लक्ष्य : लोगों की आदत है वे साधन को ही साध्य मान बैठते हैं और उसे चमत्कारिक आराध्य वस्तु मानकर पूरे अन्धविश्वास के साथ पूजते हैं। अच्छी सरकार का यह काम नहीं है कि वह लोगों को चुपचाप रखे, उसे प्रजा को सन्तुष्ट करना चाहिये। वफादार नौकर और प्रजा तैयार करना उसका लक्ष्य नहीं है, बल्कि लक्ष्य है राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को सच्चे मनुष्य बनने की और अपनी उच्चतम मानवता तक पहुंचने की पूरी-पूरी सुविधाएं प्रदान करना।

राष्ट्र या प्रशासन मधुमक्खियों का छत्ता या गाय-भैंस का गल्ला नहीं है जिसके चारों ओर रखवाली के कुत्ते जगें हों। वह स्वतन्त्र मनुष्यों का संघ है जो पारस्परिक सहायता और मानव-विकास के लिए बनता है। यह कोई प्रशंसा की बात नहीं है कि प्रशासन जो कुछ कर रहा है, अच्छी तरह और दृढ़ता से करता है। यह जानना ज्यादा जरूरी है कि वह क्या कर रहा है और हमें किस ओर लिये जा रहा है।

*

यूरोपीय न्याय—आधुनिक न्यायालय विचित्र और शिक्षाप्रद संस्था है। वह सभ्य सुसंस्कृत बातों में कही मध्यकालीन युद्ध द्वारा अग्नि-परीक्षा है। हां, यहां वीर योद्धाओं की तलवारों और भालों का स्थान ले लिया है वकीलों की जीभ और साक्षियों की कल्पना ने। जो भी सबसे अधिक सुसंगति के साथ, सराहनीय और कलात्मक रूप में झूठ बोल सकता है उसी के जीतने की सबसे अधिक सम्भावना रहती है। एक तरह से यह बड़ा ही उल्लासदायक जुआ बल्कि यूं कहें, आश्चर्यजनक सम्भावनाओं का साक्षात् "मोटी कार्लो" है¹। लेकिन इसमें भी एक कौशल होता है जो बुद्धि और संवेदनों को सन्तुष्ट करता है। यह एक प्रकार का मानव ब्रिज का खेल है जिसमें भाग्य और कौशल का मेल होता है, फिर यह बौद्धिक पटेबाजी है। बड़े-बड़े मामलों में मनुष्य की जान-माल की बाजी लगती है और दुर्भाग्य उसका जो हार जाये। अगर फौजदारी मामला है तो वह चाहे अपराधी हो या निरपराध, जेल की यातनाएं उसका इन्तज़ार करती हैं। जब वह अदालत के सामने खड़ा होता है तो उसकी भावनाओं के कष्ट के साथ खड़े रहने का शारीरिक कष्ट भी जुड़ जाता है। वह अपने पक्ष-विपक्ष के साक्षियों के सत्य-असत्य की ओर ध्यान नहीं देता, वह देखता है कि दोनों पक्षों के वकील किस तरह घटनाओं को तोड़-मोड़कर, प्रमाणों को इधर-उधर करके न्यायाधीश पर प्रभाव डालते हैं। इस विचित्र सभ्य संसार में जहां सिक्का उछालने का खेल चलता है, निश्चित रूप से यह जानना असम्भव होता है कि कौन अपराधी है और कौन निरपराध। स्वभावतः आदमी की सहानुभूति उसके साथ होती है जिसे कष्ट सहना पड़ता है, क्योंकि हो सकता है कि वह निरपराध हो और फिर भी उसे सज़ा मिल गयी हो। अगर भूत-दया के इस भाव को निकाल दिया जाये तो इस अर्द्ध-बर्बर युद्ध को देखने में बुद्धि को बहुत मज़ा आ सकता है। इस खेल में भाग लेनेवालों का बिना झिझक साक्षी देना,

¹ इनियाभर का सबसे बड़ा जुआ खेलने का स्थान।

और शपथें खाना एक खेल-सा होता है। अगर कोई कहे कि आधुनिक सभ्यता ने जीवन में खतरे और उत्तेजना के अंश को कम कर दिया है तो वह जाकर अदालतों को देख सकता है।...

(‘द हार्मनी ऑफ वचू’ के आधार पर)

‘नयी कॉपलें’:

कैदी नं....

२१ मार्च २००४, रोज़ की तरह आज भी यह दिन गुज़र गया पर मुझसे मिलने कोई न आया। मैं उसका इन्तज़ार ही करता रहा पर वह नहीं आयी। अपने छोटे और अंधेरे से बन्द कमरे की उस सुनहरी किरण को अपनी खिड़की के बाहर आशा-भरी निगाहों से मैं देखता रहा, प्रतीक्षा करता रहा पर रोज़ की तरह मेरी उम्मीदों ने आज भी मुझे धोखा दे दिया।

मैं कैदी नं. ६८३ बाईस सालों से इस जेल में कैद हूँ। मैंने अपनी पूरी जवानी बिना किसी साथी या सहारे के इस जेल में बिता डाली और कभी आवाज़ तक नहीं उठायी, इसी उम्मीद में कि कभी वह मुझे आकर, इस अन्धेरी दुनिया से कहीं दूर ले जाये जहाँ यह डसती तनहाई और यह सूनापन न हो।

जब कभी ये सलाखें खुलती हैं और वरदी में वह जेलर मेरे सामने खड़ा हो जाता है, तब मेरा बदन खुशी और आशा से थिरक उठता है और ऐसा लगता है अब आखिरकार यह बेदिल इनसान आज कहेगा, “आ गयी वह तुझसे मिलने और तुझे यहाँ से छुड़ाने, जा, चला जा।” यही सुनने की आशा में मैं अपनी आँखें बन्द कर लेता हूँ। पर तभी जानवरों से भी बदतर खाने से भरी थाली के पटकने की आवाज़ मेरी आशाओं और खुशियों के हज़ार टुकड़े कर डालती है। और फिर पता नहीं कब मेरी उन नमी-भरी बन्द आँखों से दो आंसू छलक जाते हैं। और दिल से एक तड़पती हुई आवाज़ बोल पड़ती है, “कब आओगी तुम मुझे रिहाई दिलवाने। अब आ भी जाओ।”

गुमसुम जब मैं अपनी खिड़की के उस पार, दुनिया को देखता हूँ तो बाईस साल पुरानी यादें नदी की तरह मेरे मन में बहने लगती हैं : उसके साथ मेरा गुज़रता हुआ बचपन का हर दिन और जवानी के बस शुरू के कुछ पल। और फिर याद आता है हमारा वह दर्दभरा बिछुड़ना जिसने हमें एक दूसरे से बहुत दूर कर दिया। ये सारी यादें इतनी ताज़ा हो जाती हैं मानों यह सब कुछ मेरी आँखों के सामने फिर से दोहराया जा रहा है। इन बाईस घने सालों में यह खिड़की ही तो मेरे लिए एक उज्ज्वल सहारा और वरदान बनी रही। इसी के एहसानों से मुझे आज तक हवा का ताज़ा और ठण्डा स्पर्श, सूरज की धीमी गरमाहट और फूलों की सौंधी खुशबू नसीब होती रही। अगर यह खिड़की न होती तो मैं उसके गम में इतना डूब जाता कि शायद आज मैं ज़िन्दा भी न होता। पर खिड़की के उस पार की दुनिया ने, जो मुझसे बाईस साल पहले अलग हो गयी थी, और जिसे मैं घण्टों निहारता रहता हूँ, मुझे ज़िन्दा रखा। अब बस दिल में एक ही ख्वाहिश है कि भगवान् हमारा मिलन जल्दी करवा दे। मेरा और मेरी आज़ादी का...

तभी... जेलर : “कैदी नं. ६८३! सरकार ने तेरी सज़ा कम कर दी, जा तुझे अपनी आज़ादी मुबारक...

—ऋचा गर्ग

‘नैर्वाणी’:

स्वर्णं रूपान्तरितम्

प्रख्यात-कथाकारस्य श्रीमनोज-दासस्य मुखात् श्रुता एषा स्वर्णिम-कथा नः जीवनमपि स्वर्णमयं कुर्यात्—

पुराकाले कश्चित् राजा दानशीलतायै दिग्दिगन्तेषु लब्धकीर्तिः आसीत्। नगरवासिनः कथयन्ति स्म—“निराहारेभ्यः अस्माकं महाराजः भोजनं ददाति, विद्वद्भ्यः पुरस्कारान्, अभिजात-वर्गेभ्यश्च उपाधीन् सम्मानञ्च। वस्तुतः अस्माकं राजा न कदापि क्लान्तः दानपुण्येन।”

किन्तु, वस्तुतः राजा निरन्तरं प्रदानेन भृशं श्रान्तः क्लान्तश्च अभवत्। अथैकदा अचिन्तयत् सः—“सम्पूर्णं जीवनं मे भिक्षादाने, पुरस्कार-वितरणे एव व्यतीतम्। कुत्र अन्तः अस्य व्यापारस्य? किं वस्तुतः मे प्रजाः तथा दरिद्राः अथ वा एताः केवलं लाभाय मुहुर्मुहुः कृतज्ञतायाः छद्मरूपं धारयित्वा आगच्छन्ति?”

अस्मिन् विषये सः दिनानुदिनम् अचिन्तयत् अन्ते च निश्चितवान्—“अलं मे दानकर्मणा। अधुना अहं केवलं तेभ्यः एव दास्यामि ये वस्तुतः दरिद्राः। सत्यम्, क्लान्तोऽहं नानावस्तुभिः सर्वेषां गृहपूरणेन। सर्वप्रथमं ज्ञातुमिच्छामि तं मनुष्यं यः अधिकाधिकं मे साहाय्यम् अपेक्षते। अतः मया राज्यस्य निर्धनतमः जनः अन्वेषणीयः।”

योजनानुसारेण राजा नगरस्य विपन्नतमस्य जनस्य अन्वेषणकार्यं मुख्यामात्याय दत्तवान्।

सप्ताहात् परं मन्त्रिवरः निज-अभियानस्य सफलतामघोषयत्—“महाराज! नातिदूरम्, वने पर्वतकस्य शिखरे निवसति अस्माकं राज्यस्य निर्धनतमः मनुष्यः—नास्ति तस्य मस्तके छादः, वस्त्रस्य नाम्ना धारयति सः वल्कलम्, जीवननिर्वाहः च भवति तस्य तेन मार्गेण गच्छद्भिः काष्ठिकैः दयावशात् परित्यक्तैः कन्दफलैः।”

“किं वस्तुतः वर्तते मम राज्ये तथा दरिद्रः निस्सहायश्च कश्चित् जनः?” आश्चर्यमूर्तिः राजा अपृच्छत्। “तर्हि मया स्वयमेव गत्वा द्रष्टव्यं यत् किमर्थम् अधुनावधि राज्यात् न कापि सहायता दत्ता तस्मै? भिक्षुकः? मम राज्ये!!” खिन्नचेताः जातः नृपः।

नतशिराः महामन्त्री बद्धाञ्जलिः अतिष्ठत्। “मन्त्रिवर!” राज्ञः स्वरः गुञ्जितः, “अधुनैव वनं गमिष्यामि। अश्वप्रबन्धं करोतु।”

तत्कालं सार्थः सज्जीभूतः। राजा अन्यान् सर्वान् त्यक्त्वा केवलं महामन्त्रिणा सह वनं प्रति प्रस्थितः। पर्वतकमारुह्य दरिद्रम् उपागतौ तौ। ध्यानावस्थितः उपाविशत् तपस्वी। दीर्घकालं प्रतीक्षायाः परं यदा तेन नेत्रे उन्मीलिते तदा बद्धकरः नृपः तम् अभणत्—“अस्मि अस्य प्रदेशस्य राजाहम्। प्रतीयते भवान् कश्चित् साधुः किन्तु क्षमां प्रार्थये, भवतः एतादृश्याः असहायावस्थायाः सम्बन्धे सर्वथा अनभिज्ञः आसमहम्। किन्तु अधुना मम राज्ये न भविष्यति भवतः किमपि कष्टम्। न भवन्तं सम्प्रति शीतकालः बाधिष्यते न वा वृष्टिः त्रासयिष्यति न च झञ्झा कथमपि भवतः अनिष्टं करिष्यति।”

दीनः मन्दं मन्दम् अस्मयत।

भूयोऽपि राजा अनुग्रहपूर्वकम् आग्रहमकरोत्—“महात्मन्। अत्रैव यदि स्थातुमिच्छति तर्हि

अहं तस्यापि सुचारुव्यवस्थां कारयिष्यामि। सदनं न इच्छेत् तर्हि उटजं रचयिष्यामि। प्रभातं सायञ्च अत्रैव भोजनं प्रेषयिष्यामि, वस्त्रादिकं च भवतः रुच्यनुसारेण कारयिष्यामि किन्तु कृपया एतादृशं विपन्नतायां मा तिष्ठतु। बद्धकरः क्षमां याचे हे तपस्विन्! एतावन्ति दिनानि आसमहं पूर्णतया अनभिज्ञः भवतः दरिद्रताविषये...।” विह्वलः नृपः प्रणतः याचकस्य चरणयोः।

संन्यासी तमुत्थाप्य अकथयत्—“हे राजन्! सुनिश्चितं भ्रमजाले पतितः भवान् यतो हि नास्मि अहं भवतः राज्यस्य निर्धनतमः मनुष्यः; वर्तते कश्चित् मत्तोऽपि दरिद्रतरः जनः राज्ये। एतत् तथ्यमपि अक्षरशः सत्यं यत् आपाततः भिक्षुकसदृशोऽहं वस्तुतः सुसमृद्धः यतो हि कर्तुं शक्नोमि अहं जगतः रूपान्तरणम् स्वर्णं...।”

विस्फारितनेत्रः नृपः चिरं चित्रलिखितः इव अतिष्ठत्। परं मन्दमपृच्छत्—“किं कथितं भवता? स्वर्णं जगतः रूपान्तरणम्!! किं खलु भवान् छद्मवेशधारी अवतीर्णः कश्चित् देवः? परञ्च मम राज्ये भवतोऽपि निर्धनतरः...?? हे तपस्विन्! सत्यं न बोधामि भवतः वचनम्। कृपया कथयतु कः वर्तते मम राज्ये भवतोऽपि विपन्नतरः? महती कृपा स्यात् यदि भवान् मामपि स्वर्णे रूपान्तरणस्य विद्यां शिक्षयेत्। तदाहं संसारस्य न केवलं समृद्धतमः अपि तु बलवत्तमोऽपि राजा भविष्यामि।” राज्ञः अनुनयः स्वरेण गुञ्जितः।

शान्तभावेन तपस्वी अवदत्—“तस्य अर्थे त्वया केचन नियमाः पालनीयाः राजन्!”
“सर्वथा प्रस्तुतोऽहम्।” हर्षोन्मत्तः इव राजा उक्तवान्।

“तर्हि राजन्, सम्पूर्णं वर्षं त्वया सूर्योदयात् सूर्यास्तात् च पूर्वम्, प्रभातं सायम्, नियमितमत्र आगन्तव्यम्। आवाम् अस्मिन् एव पर्वतके सार्धम् उपवेक्ष्यावः।”—तपस्वी अकथयत्।

—प्रमादेन विना अवश्यमहं दिने द्विवारमत्र आगमिष्यामि एव महात्मन्! इति वचनं ददामि।
नृपः पुनरपि तपस्विनं प्राणमत्।

“उत्तिष्ठ राजन्! श्वः नियतसमयम् आगच्छ।”

आगामिदिनात् राज्ञः दिनचर्या परिवर्तिता। प्रभातं सायं पर्वतकम् आरुह्य निःशब्दम् उपाविशत् सः तपस्विना सह यतो हि सः संन्यासी विरलमेव अवदत् किन्तु भुवनमोहिनी काचित् स्मितिः सर्वदैव व्यराजत तस्यानने। द्वावपि सार्धं ध्याने उपाविशताम्, किञ्चित् कालं तत्रैव स्थित्वा राजा नीचैः प्रत्यागच्छति स्म। प्रारम्भिक-दिनेषु खलु विचित्रम् अन्वभवत् राजा—अहर्निशं कोलाहलमय-जीवनव्यापारेषु संलग्नः, नगरस्य सर्वोच्चं पदं सुशोभयतः तस्य राज्ञः अर्थे प्रकृत्या सह, पर्वतकस्य क्रोडे नीरवध्याने उपवेशनं दुर्वहमभवत्। सर्वथा आशातीतम् अप्रत्याशितं च परिवर्तनम्...। राजा ईषत् विषण्णः एव अतिष्ठत् सः तपस्वी च मूकः अतिष्ठत्। धरापरिवर्तनस्य न किमपि रहस्यम् उदघाटयत्, केवलं स्मितमेव अकरोत्...।

किन्तु... मासात् परमेव राज्ञः दृष्टिकोणः सर्वथा परिवर्तितः!! सः नृपः यः प्रारम्भिकदिनेषु नूतनदिनचर्या नीरसाम् अन्वभवत् इदानीं प्रभातं सायञ्च पर्वतकं गन्तुम् अत्यभिलाषी आतुरश्च। सम्प्रति राज्यकर्म तस्मै यान्त्रिकं सर्वथा नीरसं च प्रतीयते स्म। प्रतिदिनं तैः चाटुकारैः सह निवसनं कष्टकरं जायते स्म, दिनानुदिनं प्रसारितहस्ताः ते समानाः जनाः तं विक्षोभयन्ति स्म। दाने च न सः हार्दिकसुखमलभत यतो हि प्रापकस्य आनने कृतज्ञतायाः कृत्रिमं भावं सः सम्यक् द्रष्टुमपारयत्। महाराजस्य अर्थे तु सम्प्रति दिनस्य सुखदतमानि क्षणानि आसन् तपस्विनः सान्निध्ये व्यतीतः कालः। यदा यदा सः पर्वते उपाविशत् सूर्योदयसूर्यास्तयोः कोमलरङ्गाणां जगत् तस्य हृदये उत्तरोत्तरं

विभाति स्म, तस्य शरीरं स्पृशन् पवनः तस्य कर्णयोः स्वतन्त्रतामन्त्रम् उदचारयत्, वनपक्षिणां कलरवः तम् आनन्दरहस्यम् अश्रावयत् तपस्विनः च मौनं काले काले जीवनोद्देश्यं प्राकटयत्। तस्य जीवनं च तथा पर्यवर्तत यत् अत्र यापितस्य कालस्य प्रभावेण राजा सम्मर्दे तिष्ठन्नपि सम्पूर्णं दिनम् आत्मना सह मूकालापे यापयितुं समर्थः जातः।

वर्षमेकं कदा अतीतमिति राजा नैव अवाबोधत्। वस्तुतः कानिचित् वर्षाणि विगतानि। अथ एकदा तपस्वी एव अभणत्—“हे राजन्! चतुर्वर्षाणि विगतानि। सम्भवतः नैव स्मरावः आवां यत् वर्षात् परम् अहं भवतः प्रश्नयोः उत्तरं दास्यामि इति प्रतिश्रुतमासीत् मया। प्रश्नौ आस्ताम्—कोऽस्ति संसारस्य निर्धनतमः जनः जगतश्च स्वर्णे रूपान्तरणस्य कः विधिः इति। महाराज! अपि अनुत्तरितौ एव स्थास्यतः भवतः प्रश्नौ?”

तत्क्षणं पतितः राजा संन्यासिनः चरणयोः। प्रेमानन्दयोः अश्रुधारया तस्य दृष्टिः धूमिलायिता। संन्यासी तमुदथापयत्। राजा गद्गदस्वरेण अभणत्—“महात्मन्! लज्जितोऽस्मि। किमधुनापि पृच्छा अवशिष्यते? जानाम्यहं यत् अन्येषां दृष्टौ धनिकतमः स्वयम् अहमेव आसं वस्तुतः नगरस्य निर्धनतमः प्राणी यतो हि “अधिकम्” “इतोऽपि अधिकम्” हस्तगतं करिष्यामि इति लिप्सा मां निरन्तरम् अन्वसरत्। नगण्यं दानकर्म कृत्वा तथा अभिमानी जातोऽहं यथा प्रजानाम् ईश्वरः स्याम्, मम दानकार्येण विना जगतः व्यापाराः एव विरमेयुः इति अमन्ये!! कियान् मूर्खः आसमहं यत् पृथिव्याः स्वर्णं रूपान्तरणस्य विद्यां ज्ञातुमैच्छम्! पृथिवी तु प्रतिदिनम् अस्मभ्यं तां विद्यां ददाति एव। सूर्योदयात् सूर्यास्तात् च पूर्वं किं न खलु एषा सम्पूर्णा पृथिवी स्वर्णमयी जायते? सुवर्णप्रान्तमेघाः, कृत्स्नजगति व्याप्ता एषा शान्तिः एषः च आनन्दः, धरित्र्याः पशुपक्षिभ्यः, वृक्षपादपेभ्यः चराचरेभ्यः उद्गता मूक-प्रार्थना किम् अस्मभ्यं तमानन्दं न प्रददाति यस्य तुलना संसारस्य कृत्स्नेन भौतिकधनेनापि न भवितुं शक्नोति? एषा प्राकृतिकसम्पद् वर्तते प्रभोः सा अपूर्वा समृद्धिः यां सः दिविष्ठः प्रातः सायं मुकहस्ताभ्यां वितरति—यः यावद् इच्छेत् सञ्चिनुयात्—न कोऽपि रोधः, न कस्यापि निषेधः।”

भावावेशेन राजा प्रावहदिव—“महात्मन्! अस्य स्वर्गिक-स्वर्णस्य सम्मुखे धरित्र्याः घनस्वर्णस्तु माम् अधुना नगण्यः, उपलसदृशः एव प्रतीयते! प्रभो! मां जगतः समृद्धतमं मनुष्यं कृत्वा त्वं मयि महान्तम् अनुग्रहम् अकरोः। न मया एतद् धनम् अधुना धनपेटिकासु सुरक्षणीयं न वा अस्य हरणात् भेतव्यं यतो हि अस्य समृद्धेः पालकस्तु वर्तते सः यः अस्माकमभिलाषात् अधिकम् अधिकृत्य अस्माकं हृद्देशे तिष्ठति।”

तपस्वी नतशिरसं राजानं सप्रेम परामृशन् अवदत्—“राजन्! इदानीं वस्तुतः जातस्त्वं संसारस्य समृद्धतमः पुरुषः यतो हि त्वया निज-व्यक्तित्वं स्वर्णं रूपान्तरितम्।

स्वर्ण में रूपान्तरित कर लिया है

विख्यात कहानीकार मनोजदासजी की सुनायी यह सुनहरी कहानी आइये हम सबके जीवन को भी स्वर्णिम बना दे—

बहुत पहले की बात है, किसी देश का राजा अपनी दानशीलता के लिए दूर-दूर तक सुविख्यात था। नगरवासी कहा करते थे—“भूखों को हमारे महाराज भोजन देते हैं, विद्वानों को पुरस्कार,

अभिजात-वर्ग को उपाधियां और सम्मान। सचमुच, हमारे महाराज देने से कभी नहीं थकते।”

लेकिन वास्तव में राजा देते-देते थक गये थे। एक दिन उन्होंने सोचा—“अपनी सारी उमर मैं भिक्षा और पुरस्कार ही देता रहा। इसका अन्त कहां है? क्या मेरी प्रजा सचमुच ज़रूरतमन्द है या ये लोग बस लेने के लिए बार-बार कृतज्ञता के मुखौटे पहन कर आ जाते हैं?”

उन्होंने इस विषय पर बहुत सोचा और एक दिन निश्चय कर लिया, “अब मेरा दान-कर्म समाप्त। आज से मैं बस उन्हीं लोगों को दूंगा जिन्हें सचमुच आवश्यकता है। सचमुच बहुत हो गया। उन्हीं समान लोगों के घर-बार भरते-भरते मैं थक गया हूं। अब मुझे सचमुच यह जानने की ज़रूरत है कि मेरे राज्य में कौन सबसे ज़रूरतमन्द है और इसके लिए मुझे राज्य के निर्धनतम मनुष्य को ढूंढना होगा।”

अपनी योजना के अनुसार राजा ने अपने राज्य के निर्धनतम व्यक्ति की खोज का काम महामन्त्री को सौंप दिया।

एक हफ्ते बाद मन्त्री-महोदय ने अपने अभियान की सफलता की घोषणा करते हुए कहा—“महाराज! यहां से बहुत दूर नहीं, जंगल के बीच, एक छोटी-सी पहाड़ी पर, हमारे राज्य का निर्धनतम व्यक्ति रहता है—उसके सिर पर न छत है, वस्त्र के नाम पर उसने पेड़ की छाल लपेट रखी है, और उसका जीवन-निर्वाह होता है वहां से गुज़रते लकड़हारों की दया पर जो बीच-बीच में पहाड़ी पर कन्द-मूल, फल रख आते हैं।”

“क्या सचमुच हमारे राज्य में कोई इतना गरीब और निस्सहाय मनुष्य भी है?” आश्चर्य की मूर्ति राजा पूछ बैठे। “तब तो मुझे स्वयं वहां जाकर देखना होगा कि अभी तक हमारे राज्य ने उसके लिए कुछ किया क्यों नहीं? भिक्षुक और मेरे राज्य में?” राजा तिलमिला उठे।

महामन्त्री हाथ बांधे, सिर झुकाये खड़े रहे। “मन्त्रिवर!” राजा की गूंज दरबार में सनसना उठी—“तुरन्त घोड़े का प्रबन्ध कीजिये, हम अभी जंगल जायेंगे।”

आनन फानन सारा काफ़िला तैयार खड़ा हो गया। राजा सबको पीछे छोड़, बस महामन्त्री को साथ ले, जंगल की ओर रवाना हो गये। पहाड़ी पर चढ़कर, भिक्षुक के पास पहुंचे। भिक्षुक आंखें बन्द किये ध्यानावस्था में बैठे थे। काफी समय तक राजा को मन्त्री के साथ वहीं प्रतीक्षा करनी पड़ी, अन्त में जब भिक्षुक ने आंखें खोलीं तो बद्धकर राजा बोल उठे—“मैं इस प्रदेश का राजा हूं। आप कोई साधु जान पड़ते हैं, लेकिन क्षमा कीजिये, आपकी इस असहाय अवस्था के बारे में मैं बिल्कुल अनभिज्ञ था। अब से आपको मेरे राज्य में कोई कष्ट न उठाना पड़ेगा। अब न आपको ठण्ड में ठिठुरना पड़ेगा न मेह में भीगना, न गर्मी आपको सतायेगी और न ही अन्धड़ आपको नुकसान पहुंचा पायेगा।”

भिक्षुक मन्द-मन्द मुस्कुरा उठे, कुछ बोले नहीं।

राजा ने फिर अनुग्रहपूर्वक आग्रह किया—“महात्मन्! आप यहीं रहना चाहें तो उसकी भी पूरी व्यवस्था मैं करवा दूंगा। मकान न चाहें तो कुटिया रचवा दूंगा, खाने-पीने का सारा सामान राज्य से सुबह-शाम भिजवा दिया करूंगा और वस्त्र आप जिस तरह के चाहें उसी तरह के बनवा दूंगा लेकिन, कृपया ऐसी विपन्नता में न रहिये, मैं हाथ जोड़कर आपसे क्षमा चाहता हूं कि इतने दिनों तक मैं आपकी इस दरिद्रता से अनभिज्ञ था...” विह्वल राजा ने भिक्षुक के चरणों में अपना माथा टेक दिया।

दिसम्बर २००५

भिक्षुक ने उन्हें उठाकर प्रेम से कहा—“राजन्! निश्चय ही आप किसी भ्रम के शिकार हो गये हैं। मैं यहां का निर्धनतम मनुष्य नहीं हूं, मुझसे भी ज्यादा दरिद्र व्यक्ति आपके यहां है। और यह बात भी अक्षरशः सत्य है कि भले ही ऊपर से देखने में मैं कंगालसदृश हूं, लेकिन वैसे मैं बहुत ही सम्पन्न हूं, क्योंकि मैं संसार को स्वर्ण में रूपान्तरित कर सकता हूं...।”

राजा की आंखें फटी की फटी रह गयीं। हकलाते हुए बोले—“क्या कहा, धरती का स्वर्ण में रूपान्तरण! क्या आप छद्मवेश लेकर देवलोक से धरा पर उतर आये हैं? और मेरे राज्य में आपसे भी अधिक निर्धन...?? हे तपस्विन्! आपकी बातें सुनकर वास्तव में अब मैं भ्रम के जाल में फंस गया हूं। सचमुच मुझे आपकी बातें समझ में नहीं आ रही। कृपया बतलाइये, कौन है आपसे भी ज्यादा विपन्न?? और आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप मुझे भी संसार को स्वर्ण में बदलने का कीमिया सिखा दें, क्योंकि तब मैं न संसार का समृद्धतम बल्लिक शक्तिशालीतम राजा भी बन जाऊंगा।” राजा की विनती स्वर में फूट पड़ी थी।

तपस्वी ने शान्त भाव से कहा, “इस कीमिया के समझने से पहले तुम्हें कुछ नियमों का पालन करना होगा राजन्!”

“मैं बिलकुल प्रस्तुत हूं।” राजा तुरन्त, सहर्ष बोल उठे।

“तब राजन्, पूरे एक वर्ष तक सूर्योदय और सूर्यास्त के पहले, दिन में दो बार, नियमित रूप से तुमको यहां आना होगा, हम इसी पहाड़ी पर एक साथ बैठेंगे।” तपस्वी बोले।

“मैं बिना नागा आया करूंगा महात्मन्! इसमें कभी कोई त्रुटि न होगी।” राजा तपस्वी के चरणों में दण्डवत् लेट गये।

“उठो राजन्! कल सवेरे से हमारा कार्यक्रम शुरू हो जायेगा।”

और अगले दिन से हमारे राजा की दिनचर्या बदल गयी। वे सवेरे-शाम पहाड़ी पर आकर तपस्वी के साथ-साथ निःशब्द बैठने लगे, क्योंकि तपस्वी कभी-कदास ही एकाध शब्द बोला करते थे, लेकिन उनके चेहरे पर सदैव मुस्कान बिखरी रहती थी। दोनों साथ-साथ ध्यान करते। कुछ देर ठहरकर राजा नीचे उतर आते। पहले कुछ हफ्तों तक राजा के लिए अपनी इस बदली हुई दिनचर्या का अनुभव बड़ा विचित्र-सा था। दिन-रात शोर-शराबे की ज़िन्दगी गुज़ारने-वाले, नगर के सर्वोपरि पद को सुशोभित करनेवाले महाराज के लिए प्रकृति के साथ पहाड़ी की गोद में नीरव ध्यान!!! एकदम से आशातीत व अप्रत्याशित परिवर्तन...। महाराज कुछ अन्यमनस्क से हो उठे थे, और ऊपर से वे तपस्वी न कुछ कहते थे, न बतलाते थे, बस भुवनमोहिनी मुस्कान बिखरते रहते थे...।

लेकिन... महीने भर में राजा का दृष्टिकोण ही एकदम से बदल गया!! वही व्यक्ति जिन्हें पहले कुछ हफ्तों तक अपनी यह नयी दिनचर्या कुछ उबाऊ-सी लगती थी, अब सूर्योदय और सूर्यास्त के पहले पहाड़ी पर पहुंचने के लिए लालायित रहने लगे। अब राजदरबार के काम उन्हें यान्त्रिक और नीरस प्रतीत होने लगे, रोज उन्हीं चापलूस दरबारियों के बीच उठना-बैठना उनको दूभर लगने लगा। घूम-फिर कर समान ज़रूरतमन्दों को अपने सामने हाथ फैलाये देखना उन्हें गवारा न लगा। अब देने में उन्हें हार्दिक आनन्द नहीं मिलता था क्योंकि पानेवाले के मुंह की कृत्रिम कृतज्ञता के भाव उनसे छुपे नहीं रहते थे। अब तो राजा के लिए दिन का सबसे सुखद समय होता सुबह और शाम, तपस्वी के साथ।

जब-जब वे उस पहाड़ी पर बैठते, सूर्योदय और सूर्यास्त के कोमल रंगों की दुनिया से उनका हृदय रंगों से झिलमिला उठता, उनके शरीर से छूता पवन उनके कानों में स्वतन्त्रता का मन्त्र फूंक जाता, जंगलों में चिड़ियों की चहचहाहट उन्हें आनन्द का रहस्य सुना जाती और तपस्वी का मौन उन्हें जीवन के उद्देश्य की झलकें दिखा जाता। तपस्वी ने बिना बोले राजा के जीवन को इतना परिवर्तित कर दिया कि दिन का जो थोड़ा-सा समय यहां व्यतीत करते उसीके बल पर उनका बाकी सारा दिन भीड़ से घिरे रहने पर भी अपने-आपके साथ मूक आलाप में बीतता।

राजा को समय की भी सुध न रही। एक वर्ष पंख लगा कर कब उड़ गया, किसी को पता तक न चला। यहां तक कि कुछ वर्ष बीत गये। एक दिन स्वयं तपस्वी ने कहा—“राजन्, चार वर्ष बीत गये। शायद हम उन दोनों चीजों के बारे में भूल ही गये जिनके बारे में एक साल के बाद मैंने उत्तर देने का वचन दिया था—सबसे निर्धनतम व्यक्ति कौन है और जगत् को स्वर्ण में बदलने का कीमिया। क्या ये प्रश्न अनुत्तरित ही रह जायेंगे महाराज?”

राजा संन्यासी के चरणों में गिर पड़े। प्रेम और आनन्द की अश्रुझड़ी से उनकी आंखें धुंधलाये जा रही थीं, संन्यासी ने उन्हें धीरे से उठाया। राजा गद्गद कण्ठ से बोले—“महात्मन्! मुझे शर्मिन्दा न करें। क्या अब भी कुछ पूछना बाकी रह गया? मैं जानता हूं कि औरों की दृष्टि में समृद्धतम मैं ही अपने नगर में सबसे गरीब था क्योंकि ‘और’ ‘और’ पाने की रट चौबीसों घण्टे मेरे दिलोदिमाग पर छायी रहती थी। अपने नगण्य से दान-पुण्य पर मैं इतना इतराने लगा था मानों प्रजा का ईश्वर मैं ही हूं। मेरे दान के बिना यह संसार ही ठप्प पड़ जायेगा। कितना मूर्ख था मैं कि धरती को स्वर्ण में बदलने का कीमिया हस्तगत करना चाहता था! यह धरती तो रोज अपना वह मूलमन्त्र हमें देती है। सूर्योदय और सूर्यास्त के पहले यह सारा जगत् पूरी तरह से स्वर्ण में रूपान्तरित नहीं हो जाता क्या? सुनहरी लकीरों से सजे बादल, अग जग पर छायी हुई यह सुखद शान्ति और आनन्द, धरती के पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों—सभी जीवों की उठती हुई एक प्रार्थना हमें वह आनन्द प्रदान करती है जिसकी तुलना संसार भर के सोने-चांदी, हीरे-जवाहरात, मणि-माणिक्य, किसी से नहीं हो सकती। यह तो ईश्वर का वह अपूर्व धन है जिसे यह ऊपरवाला सुबह-शाम खुले हाथों लुटाता है, जितना समेटना है समेट लो—न कोई रोक, न किसी की टोक।

भावावेश में राजा बहते चले जा रहे थे—“महात्मन्! इस स्वर्गिक स्वर्ण के सामने धरती का ठोस सोना तो अब ठीकरे के समान दीखता है। प्रभो! कितना बड़ा उपकार किया आपने मुझ पर। मुझे संसार का समृद्धतम मनुष्य बना दिया जिसे न अपने धन को तिजोरियों में बन्द करके रखना पड़े, न उस पर पहरा ही बिठलाना पड़े, क्योंकि उस धन की देख-रेख करनेवाला तो हम सबके ऊपर बैठा ही है जो हमें बिना किसी शर्त के, हम जितना चाहें उससे कहीं अधिक धन-दौलत लिये हमारे हृदयद्वार पर खड़ा ही रहता है।

तपस्वी ने राजा के झुके हुए सिर को सहलाते हुए कहा—“राजन्! अब तुम सचमुच समृद्धतम पुरुष हो क्योंकि तुमने अपने-आपको स्वर्ण में रूपान्तरित कर लिया है।”

—वन्दना

दिसम्बर २००५

अन्तःकरण की आवाज

सामान्य चेतना की आवाज एक नैतिक आवाज है जो भले और बुरे में भेद करती है, जो अच्छे कार्यों को करने के लिए हमें उत्साहित करती है और बुरे कार्यों को करने से रोकती है। वह सामान्य जीवन में और उस समय तक अत्यधिक उपयोगी है जब तक कि व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के प्रति सचेतन नहीं हो जाता और पूर्ण रूप से उसी को अपना पथप्रदर्शन नहीं करने देता, दूसरे शब्दों में जबतक वह सामान्य मनुष्यता से ऊपर नहीं उठ जाता तथा अहंभाव से मुक्त होकर भागवत इच्छा का एक सचेतन यन्त्र नहीं बन जाता। क्योंकि आत्मा भगवान् का एक अंश है, वह समस्त नैतिक विचारों से ऊपर है। वह भागवत ज्योति में स्नान करती है, किन्तु जब तक अहंभाव नष्ट नहीं हो जाता आत्मा सच्चे अर्थों में सम्पूर्ण सत्ता को शासित नहीं कर सकती।

—श्रीमां

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road

Post Box No. 5713

NEW DELHI - 110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

sunderson@auromail.net

Tel : 23612728, 23612776

Fax : 011-23620632

Our Lines of Business :

- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
Maihar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERRY.

Completed 78 years on Basant 2004

उच्च कोटि की बिजली की सामग्रियों के लिए सम्पर्क करें :

ऑनस्टी इलेक्ट्रिक स्टोर्स

२२, रवीन्द्र सरणि

कोलकाता - ७०००७३

फोन : २२३७७९९८

ई मेल : honestyes@yahoo.co.in

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

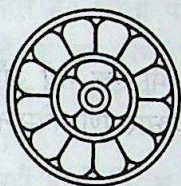
(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

13E-Rajanigandha

25, Ballygunge Park

Kolkata-700 019

निम्नीर्त



प्रार्थना और ध्यान

२१ अगस्त १९१४

प्रभो, हे प्रभो, सारी धरती पर उथल-पुथल है, वह कराहती और दुःख पाती है, वह सन्ताप में है... यह समस्त दुःख जो उस पर उतर आया है व्यर्थ नहीं होना चाहिये; वर दे कि यह सारा रक्तपात सौन्दर्य, प्रकाश और प्रेम के बीजों का अधिक तेज अंकुरण हो, ये खिल कर सारी पृथ्वी को अपनी भरपूर फसल से ढक दें। अन्धकार के इस रसातल की गहराइयों से पृथ्वी की समस्त सत्ता तुझे पुकारती है कि तू उसे वायु और प्रकाश दे; उसका दम घुट रहा है, क्या तू उसकी सहायता के लिए न आयेगा?

हे प्रभो, विजय पाने के लिए हमें क्या करना चाहिये?

हमारी सुन, क्योंकि हमें किसी भी कीमत पर विजय पानी चाहिये। हर प्रतिरोध को तोड़ दे : प्रकट हो!

—श्रीमां

दैनन्दिनी

जनवरी

१. वर दे, नव वर्ष की उषा हमारे लिए भी एक नये और अधिक अच्छे जीवन की उषा हो।
२. भगवान् के लिए स्नेह : एक मधुर, विश्वासपूर्ण कोमलता जो अपने-आपको अविरत रूप से भगवान् के अर्पण करती है।
भगवान् को उग्रता द्वारा नहीं लिया जा सकता। केवल प्रेम और सामञ्जस्य द्वारा ही तुम भगवान् तक पहुंच सकते हो।
३. जैसे-जैसे हम प्रगति करते और अपने-आपको अहंकार से शुद्ध कर लेते हैं, वैसे-वैसे भगवान् के साथ हमारी मैत्री अधिकाधिक स्पष्ट और सचेतन हो जाती है।
चेतना, समता और प्रेम के विकास के साथ भगवान् की समीपता हमेशा बढ़ेगी।
४. हमेशा अपनी पूर्णतम और सत्यतम पूर्णता को चरितार्थ करने की अभीप्सा में रहो।
और आरम्भ के लिए स्वयं अपने ऊपर लगाये गये नियन्त्रण में ईमानदार, सच्चे, सीधे-सादे, उदात्त और पवित्र होने की चेष्टा करो।
मैं हमेशा सहायता करने और राह दिखाने के लिए तुम्हारे साथ रहूंगी।
५. जब तुम्हारा भागवत प्रेम के साथ सम्पर्क हो जाये तो तुम हर चीज में, हर परिस्थिति में इस प्रेम को देखते हो।
भागवत प्रेम और ज्ञान को हमेशा हमारे विचारों और क्रियाओं पर शासन करना चाहिये।
६. सारी शरीरत सन्तुलन के अभाव से आती है।
अतः हम सर्वदा, सभी परिस्थितियों में अपना सन्तुलन बनाये रखें।
धन की हानि कम महत्त्व रखती है परन्तु सन्तुलन की हानि बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण चीज है।
७. शूरता है सभी परिस्थितियों में परम सत्य के लिए डटे रह सकना, विरोध में भी उसकी घोषणा करना और जब कभी आवश्यकता हो तो उसके लिए युद्ध करना।
और हमेशा अपनी ऊंची-से-ऊंची चेतना के द्वारा काम करना।
८. प्रश्न—मानसिक जड़ता से कैसे पिण्ड छुड़ाया जाये?
उत्तर—इसका इलाज मन को जगाने का प्रयास नहीं है। उसे अचल, नीरव अवस्था में ऊपर की ओर अन्तर्भासिक ज्योति के क्षेत्र की ओर स्थिर, शान्त अभीप्सा में मोड़ो और नीरवता में प्रतीक्षा करो ताकि ज्योति नीचे उतरे और तुम्हारे मस्तिष्क में बाढ़ ला दे। इससे मस्तिष्क थोड़ा-थोड़ा करके इस प्रभाव की ओर खुलेगा और अन्तर्भास को ग्रहण और प्रकट करने योग्य बनेगा।
९. बच्चा अपने विकास के बारे में चिन्ता नहीं करता, वह बस बढ़ता जाता है। बच्चे के सरल विश्वास में बड़ी शक्ति होती है।
१०. सफलता को लक्ष्य न बनाओ, हमारा लक्ष्य है पूर्णता। याद रखो तुम नये जगत् की देहली पर हो, उसके जन्म में भाग ले रहे हो और उसके सृजन में सहायक हो।
रूपान्तर से अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ भी नहीं है। इससे अधिक मूल्यवान् कोई हित नहीं है।
११. सत्य ही तुम्हारा स्वामी और तुम्हारा पथ-प्रदर्शक हो।
हम अपनी सत्ता और अपने क्रिया-कलाप में सत्य और उसकी विजय के लिए अभीप्सा करते हैं।

जनवरी २००६

सत्य के लिए अभीप्सा ही हमारे प्रयासों की गति और ऊर्जा हो।

हे सत्य! हम तेरा पथ-प्रदर्शन चाहते हैं। धरती पर तेरा ही राज्य आये।

१२. जब कोई सत्य में निवास करता है तो वह सभी विरोधों के ऊपर होता है।

१३. हमारे साहस और हमारी सहनशीलता को हमारी आशा के जितना महान् होना चाहिये और हमारी आशा की कोई सीमा नहीं।

हमारी आशाएं कभी इतनी बड़ी नहीं होतीं कि वे अभिव्यक्त न हो सकें।

हम किसी ऐसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते जो हो न सके।

१४. प्रसन्न रहो मेरे वत्स, प्रगति का यह सबसे अधिक निश्चित मार्ग है।

१५. हमेशा अच्छे बने रहो तो तुम हमेशा खुश रहोगे।

हम हमेशा उचित वस्तु करें तो हमेशा शान्त और सुखी रहेंगे।

हम अपनी खुशी केवल भगवान् में ही खोजें।

१६. निश्चय ही हमें शान्ति और सामञ्जस्य की चाह करनी चाहिये और उसके लिए यथासम्भव अधिक-से-अधिक काम करना चाहिये—लेकिन उसके लिए उत्तम कार्य-क्षेत्र हमेशा हमारे अन्दर होता है। एक गहरी और सत्य चेतना है जिसमें सभी प्रेम तथा सामञ्जस्य के साथ मिल सकते हैं।

१७. भगवान् से प्रेम करने और धरती पर उनकी सेवा करने का सबसे अच्छा तरीका है, अथक, स्पष्टदर्शी और व्यापक शुभ-चिन्ता जो सभी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं से मुक्त हो।

मेरा मतलब है विचारों और वाणी में सच्ची, निष्कपट और सहज शुभ-चिन्ता, क्रिया में वह दिखावटी शुभ-चिन्ता नहीं जिसके साथ कृपालुता दिखानेवाली श्रेष्ठता का भयंकर भाव होता है, जो मुख्य रूप से मानव दर्प के लिए मञ्च का काम देता है।

१८. स्वाधीनता बाहरी परिस्थितियों से नहीं, आन्तरिक मुक्ति से आती है। अपनी अन्तरात्मा को खोजो, उसके साथ एक होओ, उसे अपने जीवन पर शासन करने दो तो तुम स्वाधीन हो जाओगे।

१९. सद्भावना रखनेवाले हर व्यक्ति में सत्य के लिए प्रयास होना चाहिये। हमारे जीवन को सत्य के लिए “प्रेम” और “प्रकाश” की प्यास द्वारा शासित होना चाहिये।

अगर व्यक्ति भगवान् के समीप रहना चाहता है तो उसके जीवन पर पूर्ण सत्य का शासन होना चाहिये।

२०. सत्य का प्रकाश जगत् के ऊपर मंडरा रहा है ताकि उसमें व्याप्त होकर भविष्य को गढ़े। सत्य को अपनी शक्ति मानो, सत्य को अपना आश्रय मानो।

सत्य हमारे अन्दर है, हमें केवल उसके बारे में अवगत होना है।

२१. सत्य मिथ्यात्व से कहीं अधिक बलवान् है। एक अमर शक्ति जगत् का शासन करती है। उसके निश्चय हमेशा सफल होते हैं। उसके साथ हो जाओ तो तुम अन्तिम विजय के बारे में निश्चित रहोगे। जब मनुष्य मिथ्यात्व से ऊब जायेंगे, जिसमें वे निवास करते हैं, तब संसार सत्य के राज्य के लिए तैयार होगा।

२२. सत्य मन से ऊपर है, नीरवता में ही मनुष्य उसके साथ नाता जोड़ सकता है।

भगवान् से प्रार्थना करना और अपने-आपको पूरी तरह पूरी सचाई के साथ उनके अर्पण कर देना आवश्यक प्राथमिक शर्तें हैं। जो सचाई के साथ सत्य की सेवा करना चाहता है वह सत्य को जान जायेगा।

२३. बाह्य अनुशासन की दृष्टि से यह अनिवार्य है कि जब तुम्हारी कोई राय हो और तुम उसे प्रकट करो तो याद रखो कि यह केवल एक राय, देखने और अनुभव करने का एक तरीका है तथा अन्य लोगों की रायें और उनके देखने और अनुभव करने के तरीके भी तुम्हारे तरीकों के जितने ही न्यायसंगत हैं और उनका विरोध करने की जगह तुम्हें उन सबको जोड़कर एक अधिक सत्य और व्यापक समन्वय पाने की कोशिश करनी चाहिये।
२४. सभी रायों में कुछ सत्य होता है और कुछ असत्य। वस्तुतः क्रोध किये बिना औरों की राय सुनना एक बड़ी और उपयोगी चीज है।
२५. ईमानदारी सबसे अच्छी सुरक्षा है।
सच्चे और ईमानदार बनो तो तुम्हारा मन चैन से रहेगा।
हमेशा सच बोलना आभिजात्य का सबसे ऊंचा पद है।
२६. सबसे अधिक आवश्यक बात है ज्योति की ओर मुड़ने का निरन्तर प्रयास करते रहना। हम जितना समझते हैं उसकी अपेक्षा ज्योति हमारे अधिक नजदीक है और कभी भी उसका समय आ सकता है।
एकमात्र वही जीवन जीने योग्य है जो भगवान् के साथ एकात्मता के लिए निवेदित हो।
२७. पर, जो हो, भागवत शक्ति पीछे निरन्तर कार्य कर रही है और एक दिन, जब कोई शायद ही आशा करता हो, बाधाएं भंग हो जाती हैं, बादल विलीन हो जाते हैं और फिर से प्रकाश और धूप छा जाती है। ऐसे समयों में सबसे अच्छी बात, यदि कोई कर सके तो, यह है कि उद्विग्न न हुआ जाये, हतोत्साह न हुआ जाये, बल्कि चुपचाप अड़े रहा जाये और श्रद्धा के साथ उसके आने की प्रतीक्षा की जाये : मैंने देखा है कि यही चीज इन अग्निपरीक्षाओं को हल्का बना देती है। (श्रीअरविन्द)
२८. अपने धार्मिक चिन्तन और अनुभव में से निकाल फेंको समस्त नीचता, संकीर्णता और स्थूलदर्शिता को। विशालतम क्षितिजों से भी अधिक विशाल बनो, उच्चतम काञ्चनजंगा से भी अधिक उच्च, गभीरतम समुद्र से भी अधिक गभीर बनो।
तथाकथित मानवीय बुद्धिमत्ता की समस्त जटिलताओं से ऊपर भागवत कृपा की ज्योतिर्मयी सरलता विद्यमान है और वह कार्य करने के लिए तैयार है—यदि हम उसे करने दें।
२९. वह समय आ गया है जब हमें एक चुनाव—मौलिक और सुनिश्चित चुनाव करना होगा। हे प्रभु! हमें ऐसी शक्ति दे कि हम मिथ्यात्व का त्याग करके तेरे सत्य में ऊपर उठ सकें—विशुद्ध—और तेरी विजय के उपयुक्त पात्र बनकर उठ सकें।
३०. हे प्रभु! समस्त मानवजाति तुझसे प्रार्थना करती है कि तू उसे बार-बार समान मूर्खताओं में जा गिरने से बचा।
ऐसी कृपा कर कि जो भूलें पहचानी जा चुकी हैं वे फिर से नये सिरे से दुहरायी न जायें।
अन्त में वर दे कि मनुष्यजाति के कर्म उन आदर्शों को ठीक-ठीक और सच्चे तौर पर प्रकट करें जिनकी उसने घोषणा की है।
३१. अचञ्चल रहना और एकाग्र होना, ऊपर से शक्ति को अपना काम करने देना, यह किसी भी बीमारी और हर एक बीमारी को ठीक करने का सबसे निश्चित तरीका है। अविचल श्रद्धा और मजबूत संकल्प के साथ अगर इसे समय पर और पर्याप्त समय के लिए किया जाये तो ऐसी कोई भी बीमारी नहीं जो इसका प्रतिरोध कर सके।

एक प्रार्थना

(मार्च १९०८ में श्रीअरविन्द की 'एक प्रार्थना' नामक कविता 'वन्दे मातरम्' में छपी थी। यहां उसका भावानुवाद दिया जा रहा है।—सम्पादक)

हे भगवान्, विश्व पर राज्य करनेवाला राजा, और प्रभु, जो स्वर्ग में अपने सिंहासन पर आसीन है और मनुष्य की ओर देख रहा है, हे अपरिमेय आत्मा, तेरे चरणों में झुकने के बाद भी यदि मानव दुर्बलता का कोई विचार मेरे मन में आता है तो मुझे क्षमा कर। मैं अपने लिए नहीं, उस देश के लिए प्रार्थना कर रहा हूं जहां एक समय तू महान् योद्धा, राजा और प्रभु के रूप में रहा था।

मैं भारत के लिए, उसकी सन्तान के लिए प्रार्थना कर रहा हूं जो इस समय पतित है, वे विदेशी के आगे नाक रगड़ते हुए तुझे भूल गये हैं। हे अपरिमेय प्रभु, हे अज, वैभवशाली प्रभु, तू अपनी अवर्णनीय अनुकम्पा के कारण मानव शरीर में जन्म लेता है। तेरा ज़रा-सा अंश भीतरी और बाहरी शत्रुओं से रक्षा करने के लिए धरती पर आता है। फिर से देश में तू ही तू भरा हुआ है, वातावरण में हलचल मची है, मनुष्यों के हृदय से पुकारें उठ रही हैं। सारी धरती रोमाञ्चित हो उठी है। अस्पष्ट जनश्रुतियां, बड़े-बड़े पूर्व-बोध, कुहरे और स्वप्न में से उत्पन्न अन्तर्दर्शनों की तरह उस भूमि में चक्कर लगा रहे हैं जहां एक बार तूने अवतार लिया था। वे तेरे आने की भविष्यवाणी कर रहे हैं।

हे प्रभु, क्या तुम एक ऐसे रूप में आओगे जैसे कंस के मरण और मथुरा की मुक्ति के समय आये थे, जब उस समय तक छिपी हुई तलवार वृन्दावन से आयी थी। नाथ, हम तुझे उसी रूप में देखना चाहेंगे।

धरती के देश पाप से भरे हैं, लोभ, काम, महत्त्वाकांक्षा उनके देवता बने हुए हैं और विज्ञान के साथ आमोद-प्रमोद कर रहे हैं ताकि वह उन्हें जीवन-धारण करने के लिए भोजन प्रदान करे। दया, कोमलता और प्रेम के सभी रूप खो गये हैं और केवल बल की पूजा हो रही है, लेकिन बल भी कैसा, जिसका न्याय से गठबन्धन कट चुका है, जो उदात्त लक्ष्यों से प्रेरणा नहीं लेता। धरती की महिमा अपने उत्स को भूल गयी है, अपनी सीमाओं को भूल गयी है। ये लोग अपनी कामनाओं को पूरा करने के लिए, अपने शानदार राज्य को बनाये रखने के लिए ही तोड़ना और बनाना चाहते हैं। वे भूल गये हैं कि बल किस उद्देश्य से दिया गया था। धरती-अन्तरिक्ष को अत्याचार ने भर दिया है, घृणा और दुःख-कष्ट हत्या से उत्तर देते हैं।

आज एक ऐसे की जरूरत है जो अपनी दिव्य शक्ति से धरती की इन शक्तियों को तोड़ दे। जबतक वह न आ जाये हम व्यर्थ में संघर्ष करते हैं और व्यर्थ में अभीप्सा करते हैं। आ जा प्रभु, तूने कहा था, जब कभी शुभ की हत्या करने के लिए प्रबल अन्याय सिर उठायेगा तब-तब तू संसार की रक्षा करने के लिए अवतरित होगा, आज यह भूखण्ड तेरे आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। उसने इसी तरह तब प्रतीक्षा की थी जब रावण संसार का स्वामी था और वैभवपूर्ण, पाप से भरी लंका मनुष्यजाति पर अधिकार किये हुए थी। आज रावण एक नहीं है, लंका एक नहीं है, अनेक रावण हैं, अनेक लंकाएं हैं। इसलिए आ जा। धरती अब इनके गर्व का भार नहीं सह

सकती, वह रसातल की ओर थंसती जा रही है। तू नहीं आया तो बस अन्त होने होने को है। प्रभु आ जा, अपनी सुन्दर सृष्टि को बचा ले।

(‘सेंटनरी वॉल्यूम’ १ से)

—श्रीअरविन्द

मैं आ रहा हूँ!

अब न गहरी नींद में तुम सो सकोगे

गीत गाकर मैं जगाने आ रहा हूँ।

अतल अस्ताचल तुम्हें जाने न दूंगा

अरुण उदयाचल सजाने आ रहा हूँ।

कल्पना में आजतक उड़ते रहे तुम

साधना से सिहर कर मुड़ते रहे तुम

अब तुम्हें आकाश में उड़ने न दूंगा

आज धरती पर बसाने आ रहा हूँ।

सुख नहीं यह नींद में सपने संजोना

दुःख नहीं यह सीस पर गुरुभार ढोना

शूल तुम जिसको समझते थे अभी तक

फूल मैं उनको बनाने आ रहा हूँ।

देखकर मंझधार में घबड़ा न जाना

हाथ ले पतवार को मत छोड़ देना

मैं किनारे पर तुम्हें थकने न दूंगा

पार मैं तुमको लगाने आ रहा हूँ।

तोड़ दो मन में कसी सब शृंखलाएं

तोड़ दो मन में बसी सब संकीर्णताएं

बिन्दु बन कर मैं तुम्हें ढलने न दूंगा

सिन्धु बन तुमको उठाने आ रहा हूँ।

तुम उठो धरती उठे नभ सिर उठाये

तुम चलो गति में नयी गति झनझनाये

विपथ हो मैं तुम्हें मुड़ने न दूंगा

प्रगति के पथ पर बढ़ाने आ रहा हूँ।

अब न गहरी नींद में तुम सो सकोगे

गीत गाकर जगाने मैं आ रहा हूँ,

अतल अस्ताचल तुम्हें जाने न दूंगा

अरुण उदयाचल सजाने आ रहा हूँ।

—अज्ञात

(‘मधु-सञ्चय’ से साभार)

जीवन एक नाटक है

हम भूले हुए हैं और यह है भी स्वाभाविक। रंगमञ्च पर जाकर हमें यह भूल जाना पड़ता है कि हम वास्तव में कौन हैं, वहां तो यही याद रहना चाहिये कि कौन-सी भूमिका में काम कर रहे हैं। आनन्द, इन्द्र, मारिया अपने-अपने व्यक्तित्व को भूलकर प्रताप, रणजितसिंह और लक्ष्मीबाई बनने में ही अपनी सार्थकता समझते हैं। वे अपने-आपको पूरी तरह भूलकर वह पात्र बन जायें तभी नाटक सफल हो सकता है। इसी तरह हम सब भी भगवान् के ही रूप हैं और इस जगती के रंगमञ्च पर मनुष्य, हाथी, घोड़ा, कुत्ता आदि बने हुए हैं। हमें अगर यह याद रहता कि हम भगवान् के अंश हैं, भगवान् ही हैं तो सृष्टि की रचना ही न होती। शायद सर्वशक्तिमान् की इच्छा हुई कि अपने-आपको, अपनी नानाविध क्षमताओं को देखें, उसने अपने अन्दर से अपने अनेकानेक रूप बनाये और उनमें अपने-आपको देखा। अब उनमें से प्रत्येक को सचेतन बनाकर उनकी अनेकता में एकता देखने का खेल शुरू हो रहा है। जैसे समुद्र अपने-आपको प्रत्येक बूंद में देखे और प्रत्येक बूंद अपने-आपको पूरे समुद्र के रूप में भी देखे।

प्रत्येक जड़-भौतिक पदार्थ का मूल प्राण में और प्राण का मूल मन में है। इसी प्रकार निचले स्तर की हर चीज का मूल उससे ऊपर के स्तर में है। हर निचला स्तर अपने से ऊपर के स्तर से पोषण और जीवन पाता है और इसीलिए उसका जीवन-स्रोत सूखने नहीं पाता। प्रथम भागवत इच्छा-शक्ति ने जब बहुत-से रूप बनाये तो प्रत्येक रूप अपने-आपको अपने मूल से अलग अनुभव करने लगा। अलग होने का भाव पैदा होते ही उनका मूल के साथ सम्बन्ध न रहा, सचमुच सम्बन्ध कट जाना तो असम्भव है, हां, प्रतीति ऐसी हुई, और चेतना अचेतना में बदल गयी। यह अचेतना नाटक के लिए बहुत जरूरी थी। इसी के कारण अलग-अलग व्यक्तित्व बने, इसी के कारण नाना प्रकार के द्वन्द्व पैदा हुए। अविद्या, अन्धकार में जाकर उसे नया रूप देने के लिए यह खेल शुरू हुआ था वरना भगवान् चाहें तो क्षणभर में मकड़ी की तरह अपने बनाये हुए जाल को अपने अन्दर गुम कर सकते हैं। पर नहीं, उन्होंने सुख-दुःख, राग-द्वेष, पाप-पुण्य, भोग और त्याग आदि परस्पर विरोधी तत्त्वों को उत्पन्न किया।

पृथ्वी पर भगवान् ने नाना प्रकार के देशों की सृष्टि की, हर देश को अलग-अलग काम सौंपा। किसी को बुद्धिप्रधान बनाकर उसके द्वारा बुद्धि के उच्चतम शिखरों को मापा तो किसी को सौन्दर्यप्रिय बनाकर उसके द्वारा सौन्दर्य के नये-नये क्षेत्रों का उद्घाटन किया। सिर्फ यही नहीं, किन्हीं देशों को शक्ति और पाशविक बल-प्रदर्शन करने के लिए चुना गया और कुछ को बर्बरता दिखाने के लिए। लेकिन ये सब चीजें बिना अपवाद के उसी नाटक के दृश्य हैं और सब मिलकर पूर्ण इकाई बनाते हैं। इनमें न कोई छोटा है न बड़ा, अच्छा और बुरा भी कोई नहीं है क्योंकि हर एक अपना-अपना काम पूरा कर रहा है।

इस लीला में भारतवर्ष को एक विशेष भूमिका दी गयी है। जब सारे मञ्च पर अन्धेरा होता है तब भी यहां ज्योति जाग्रत रहती है भले वह गिने-चुने लोगों में ही क्यों न हो। मञ्च की रोशनी को घटाना-बढ़ाना या एकदम गुल कर देना इसी नियन्त्रण-गृह के हाथ में है। भगवान् जब घोर कलिकाल का दृश्य अर्थात् तामसिक और राजसिक तत्त्वों का खेल देखना चाहते हैं तो वे भारत के आलोक को नीचा कर देते हैं। यहां के योगी, यहां के आध्यात्मिक पुरुष संसार को उसी के भाग पर छोड़कर अलग हो जाते हैं और एकान्त में अपने तथा अपने शिष्यों के कल्याण के

लिए तपस्या करते हैं। इसके विपरीत, जब धरती पर आलोक का खेल करना हो तो भारत को फिर से उठाया जाता है, उसमें नवीन ज्ञान उंडेला जाता है ताकि वह उसे सारे संसार को दे सके। तब जनक और अजातशत्रु जैसे लोग सिंहासन पर आते हैं और धारा बदल जाती है।

सत्ययुग में अपनी सीमाओं में रहते हुए समस्वरता और सामञ्जस्य का राज होता है और मनुष्य अपनी पूर्णता की अनुभूति प्राप्त कर सकता और भविष्य की उज्ज्वल सम्भावनाओं को झलक पाता है। उसके बाद इसका टूटना शुरू होता है और मनुष्य अपनी इच्छा-शक्ति के द्वारा, सामूहिक संकल्प के द्वारा अपनी पूर्णता को बनाये रखने का प्रयास करता है। यह त्रेता की बात है। इसके बाद आता है द्वापर जब और अधिक विघटन होता है, वहां बुद्धि प्रधान होती है और समझौते से काम चल जाता है और फिर आता है कलि जो गिरती-पड़ती दीवारों को पूरी तरह ढा देता है, एक भूकम्प-सा लाकर सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, स्थिति बुरे-से-बुरी और उससे भी बुरी हो जाती है। समय का चक्र चलता रहता है। हर कलिकाल के बाद सत्य का आना अवश्यम्भावी है। हर कलि अपने बाद आनेवाले सत्य के लिये मैदान साफ करता है, झाड़-झंखाड़ को दूर करके नयी खेती के लिए जमीन तैयार कर जाता है।

हम लोग भागवान् हैं। कलि समाप्त हो चुका है और भावी सत्ययुग की किरणें बरसनी शुरू हो चुकी हैं। आज हमें फिर से पूर्णता की चाह है, अहंकार की उस पूर्णता की नहीं जो वास्तविक प्रगति में बाधा देती है बल्कि उस पूर्णता की जो धरती पर सत्य की स्थापना करेगी और इस मार्ग में जो बाधाएं आती हैं वे भी मानों भगवान् का आशीर्वाद बनकर हमें दृढ़ बनाती जाती हैं। स्वयं भगवान् हमारे गुरु हैं। सर्वसमर्थ प्रेम और ज्ञान हमारे उत्थान के लिए तैयारी कर रहे हैं। ईसा ने हमारे लिए पवित्रता और मानव-पूर्णता का मार्ग खोला, मुहम्मद ने भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण, उत्सर्ग और सेवाभाव को जगाया, चैतन्य ने मानव-शरीर में भागवत प्रेम और आनन्द की अनुभूति दी और रामकृष्ण ने तत्त्वतः धर्मों की एकता दिखलायी। सभी नदियां अपने-अपने मार्ग पर जा रही हैं। मनुष्य ने सभी में अपना कूड़ा-कचरा डाला है, अब हमारा उद्देश्य है इन सबके जल को, इनकी पवित्रता को इकट्ठा करके भागीरथी की एक नई धार लाना जो मानव मात्र का उद्धार कर सके और उसे नया जीवन दे सके।

मञ्च पर हर पात्र यदि बहस करने लग जाये, अपने शब्दों के बारे में ऊहापोह करे, अपने अभिनय के बारे में त्रुटियां निकालता रहे तो सारा नाटक ही चौपट हो जायेगा। वहां तर्क-कुतर्क के लिए जगह नहीं होती। नाटक जब पूरा रूप ले ले तभी एक-एक शब्द और एक-एक क्रिया का अर्थ जाना जा सकता है। इसी भांति सत्य का अनुसन्धान करनेवाले साधक को सूखे तर्क-वितर्क में समय नष्ट करने की जरूरत नहीं है। साधारण बुद्धि आध्यात्मिक सत्य के पास नहीं फटक सकती, मनुष्य की बुद्धि अपनी पसन्द के पूर्वाग्रहों को ही तर्कसंगत मानती है और यदि बहुत आगे बढ़ी तो रहस्यवाद का गज लेकर आध्यात्मिक समुद्र की गहराई नापने लगती है। ये सब व्यर्थ प्रयास हैं। शुष्क पाण्डित्य किसी प्रकार की सहायता नहीं करता। भगवान्-गुरु के बताये मार्ग पर चलते-चलते एक दिन अचानक हम आलोक में जा पहुंचेंगे और वहां पर हर चीज स्पष्ट हो जायेगी, सब प्रकार के संशय शान्त हो जायेंगे और वहां हमारे वर्तमान नाटक का एक अंक समाप्त होगा। उसके बाद भी नाटक तो चलता रहेगा पर उसमें हमारी गति आलोक से अधिक आलोक की ओर होगी और अन्धकार के दृश्य दुःस्वप्न की तरह पीछे रह जायेंगे।

—रवीन्द्र

एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र

चेतना के केन्द्र और स्तर

वर्ष १९३३

माताजी ने कुछ फूलों के चित्र भेजे जिन्हें उन्होंने नाम दिये थे। एक का नाम था "केन्द्रों का उद्घाटन"।

इसका मतलब क्या है? "केन्द्र" किसे कहते हैं?

चेतना के केन्द्र, चक्र। इनके खुलने से यौगिक या आन्तरिक चेतना का विकास होता है—अन्यथा तुम बाहरी सामान्य चेतना से ही बंधे रहते हो।

वे जितना खुलते जायें उतनी ही चेतना बढ़ती है।

उन्हें सामान्यतः छह माना जाता है और अगर सिर के ऊपर का एक और गिना जाये तो सात।

मैं यह जानना चाहूंगा कि "आधार" है क्या?

आधार वह है जिसमें अभी चेतना स्थित है—मन, प्राण और शरीर।

वेदान्त सात स्तरों की बात कहता है। वह कहता है कि स्वभावतः मानव मन अपनी क्रियाएं निचले तीन केन्द्रों की ओर जारी रखने के लिए प्रवृत्त होता है। क्या हमारा योग इसे स्वीकार करता है? निचले तीन केन्द्र कौन-से हैं?

हमारी पद्धति के अनुसार तीन निचले केन्द्र हैं प्राण, निम्न प्राण और शरीर—परन्तु स्तर बिल्कुल अलग हैं। तीन निचले स्तर हैं मन, जीवन और भौतिक। और यह भी सच है कि मनुष्य का मन अपने-आपको इन तीन प्रवृत्तियों तक ही सीमित रखता है, परन्तु यह सच नहीं है कि उसके क्रिया-कलाप प्राण और शारीरिक चीजों तक ही सीमित रहते हैं।

वेदान्त का यह भी कहना है कि जब आदमी चौथी स्थिति में पहुंचता है तो वह दिव्य प्रदीप्ति के दर्शन पाता है। क्या यह तथ्य है?

चौथा केन्द्र कौन-सा है? हमारे हिसाब से चौथा केन्द्र हृदय है और भगवान् हृदय के पीछे चैत्य में हैं। लेकिन अतिमानस के हिसाब से हमारे सात केन्द्रों में से चौथा अतिमानस है जो मस्तिष्क के बहुत ऊपर होता है परन्तु उसके साथ सातवें केन्द्र, सहस्रदल कमल के द्वारा सम्पर्क किया जा सकता है।

क्या अधिमानस और अतिमानस छठे और सातवें लोक हैं?

नहीं। अधिमानस मनोलोक का एक भाग है। अतिमानस सातवां नहीं, चौथा लोक है।

चौथे केन्द्र तक पहुंचने के बाद—जिसके पीछे चैत्य है—क्या आदमी फिर से निचले लोकों में वापिस जा सकता है?

चौथे केन्द्र को “प्राप्त” करने का क्या अर्थ है? यह केन्द्र पहले से ही व्यक्त सत्ता में होता है—वह अतिमानस की तरह ऊपर नहीं होता।

“प्राप्त” करने से मेरा मतलब था, साधना करते समय केन्द्र से होकर “गुजरना”।

तुम चैत्य केन्द्र या किसी और केन्द्रों में से होकर नहीं गुजरते। साधना के दबाव से केन्द्र खुलते हैं। तुम कह सकते हो कि शक्ति केन्द्र में चढ़ती या उतरती है।

पांचवें और छठे केन्द्र कौन-से हैं?

कण्ठस्थ केन्द्र (मूर्त रूप देनेवाला, व्यक्त करनेवाला मन, भौतिक मन) और “आज्ञा चक्र” जो भौहों के बीच में होता है, वह आन्तरिक विचार, संकल्प या दृष्टि का केन्द्र होता है।

क्या हमारे उच्चतर स्तर—उच्चतर मन, प्रदीप्त मन, अन्तर्भास, अधिमन और अतिमन—स्वभावतः भगवान् के साथ सम्पर्क में होते हैं?

निश्चय ही, लेकिन तुम उन्हें अपने स्तर नहीं कह सकते क्योंकि तुम उनके बारे में सचेतन नहीं होते और तुम्हारी व्यक्त सत्ता में वे इस तरह व्यवस्थित नहीं होते कि वे अपनी क्रिया कर सकें।

क्या हमें इन स्तरों तक पहुंचना पड़ता है या ये अपने-आप केन्द्रों की तरह खुलते हैं?

ये एकाग्रता के द्वारा और केन्द्रों के खुलने से खुल जाते हैं।

प्रत्येक केन्द्र पर भगवान् की उच्चतर शक्तियां होती हैं। जब प्राणिक आक्रमण आते हैं तो हम सहायता करने के लिए हस्तक्षेप करनेवाली दिव्य शक्तियों का अनुभव क्यों नहीं करते?

अगर तुम उनके प्रति काफी जाग्रत् हो और उन्हें बुलाओ तो वे कार्य करेंगी।

आप काम-वासना के केन्द्र का स्थान कहां बतलाते हैं?

मूलाधार रीढ़ की हड्डी से नीचे सबसे निचला केन्द्र।

आजकल मुझे सिर में, भौहों के नीचे या सिर के ऊपर के भाग में प्रायः दबाव का अनुभव होता है। यह क्यों है?

ये दो सबसे ऊंचे केन्द्र हैं जिन्हें सबसे पहले उतरती हुई शक्ति का स्पर्श प्राप्त होता है।

उच्चतर प्राण क्या है?

हृदय और क्रियाशील प्राण, हृदय-केन्द्र और नाभि-केन्द्र।

वर्ष १९३४

माताजी का संगीत सुनते हुए मुझे लगा कि मेरे अन्दर कोई चीज़ उतर रही है। गरदन तक उसका ठोस अनुभव हुआ।

गरदन तक का मतलब है, पूरे विचारशील मन तक, उसके नीचे नहीं।

केन्द्रों के मामले में रीढ़ की हड्डी क्या करती है?

रीढ़ की हड्डी केन्द्रों का सहारा है और तान्त्रिक साधना में कुण्डलिनी रीढ़ में से होकर उठती है।

कुण्डलिनी क्या है?

यह मूलाधार में सोई हुई योग-शक्ति है, और अन्य केन्द्रों में सामान्य चेतना से ढकी रहती है। जब वह मुक्त हो जाती है तो अपने मार्ग में केन्द्रों से होती हुई ब्रह्म चेतना से मिलने ऊपर जाती है। इस साधना में चेतना का नियम यह है कि निम्न चेतना उच्चतर चेतना से मिलने के लिए ऊपर जाती है और उच्चतर चेतना निम्न चेतना को रूपान्तरित करने के लिए नीचे उतरती है।

ग्रहणशील काल में मुझे लगता है कि माताजी मुझे जो प्रदान कर रही हैं उसका एक मुक्त प्रवाह आता है। वह आसानी से सिर और ललाट में से नीचे गुज़र जाता है।

आन्तरिक मन के केन्द्र खुलकर सचेतन हो गये हैं।

आज का दबाव दोहरा था। एक आंखों के पीछे से आया, दूसरा दोनों कानों में से होकर आया था। दोनों आकर मुख में मिल गये।

शायद आन्तरिक मन के केन्द्र और बहिर्मुख करनेवाले मन पर भी दबाव होगा—शायद यह दोनों की गतियों को जोड़ रहा हो।

चेहरे के निचले हिस्से पर क्रिया हमेशा एक ऐसे बाह्य रूप देनेवाले मन की क्रिया (भौतिक-मानसिक) को दर्शाती है जिसका केन्द्र कण्ठ में है।

मस्तिष्क के केन्द्रीय भाग में एक उद्घाटन-सा प्रतीत होता है। यह भाग क्या है? कोई केन्द्र है?

यह ब्रह्मरन्ध्र है। इसमें उच्चतर चेतना और शरीर के निचले भाग का सम्पर्क होता है। यह एक मार्ग है, केन्द्र नहीं। केन्द्र है सहस्रदल कमल जो सिर के ठीक ऊपर के भाग में होता है।

हृदय-केन्द्र का आसन चैत्य उद्घाटन के लिए होता है। अभी तुम जो कर रहे हो वह आत्मा की ओर ऊर्ध्वमुख उद्घाटन है और उसके लिए आन्तरिक मन का केन्द्र अधिक उपयुक्त स्थान है। हृदय केवल चैत्य का ही नहीं बल्कि भावनामय प्राण का भी आसन है जो उसे ढकता है।

कभी-कभी मैं नाभि-केन्द्र के पास रिक्तता का अनुभव करता हूँ। क्या यह आन्तरिक या बाह्य प्राण का केन्द्र है?

यह आन्तरिक प्राण का केन्द्र है, लेकिन वहाँ पर जो अनुभूति होती है वह बाह्य में भी फैल सकती है।

—नगीन दोशी

सच्ची नम्रता

नम्र होने का अर्थ है मन, प्राण और शरीर कभी यह न भूलें कि भगवान् के बिना वे कुछ नहीं जानते, वे कुछ नहीं हैं, वे कुछ नहीं कर सकते, भगवान् के बिना वे मात्र अज्ञान, अस्त-व्यस्तता और असमर्थता हैं। केवल भगवान् ही 'सत्य', 'जीवन', 'प्रेम' तथा 'परमानन्द' हैं।

अतः मन और शरीर तथा प्राण को हमेशा के लिए यह सीखना और अनुभव करना होगा कि वे भगवान् को समझने और उनका मूल्यांकन करने में पूरी तरह से असमर्थ हैं—उनके सारतत्त्व को समझने की बात तो कोसों दूर रही, वे भगवान् को उनकी क्रिया और अभिव्यक्ति में भी नहीं समझ सकते।

यही है सच्ची नम्रता; इसके साथ-साथ आती हैं अचञ्चलता और शान्ति।

सभी विरोधी प्रहारों के विरोध में भी यही सबसे अधिक सुरक्षात्मक कवच है। सचमुच, मानव सत्ता में अहंकार ही वह द्वार है जिस पर 'विरोधी' खटखटाता है, क्योंकि वही दरवाजा खुल कर विरोधी को अन्दर आने देता है।

—श्रीमां

श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार

(कई प्रश्नों के उत्तर श्रीअरविन्द ने दिये हैं, उनमें हम श्रीअरविन्द का नाम उल्लिखित कर रहे हैं।—सम्पादक)

मेरा मन आपको समर्पित है या नहीं?

हां, कुछ भागों में है, लेकिन पूरी तरह से नहीं।

२४ दिसम्बर १९३३

मन के कौन-से भाग अब तक आपको समर्पित नहीं हैं?

भौतिक मन के वे भाग जो अबतक मिथ्या और अज्ञान के प्रभाव तले हैं। वे अभीप्सा की पूर्ण निष्कपटता के द्वारा प्रदीप्त हो सकते हैं।

२५ दिसम्बर १९३३

तीसरे पहर तीन बजे मुझे हर्ष का अनुभव हुआ, लेकिन कुछ देर बाद मैंने ललाट से ठोड़ी तक किसी चीज के उतरने का, फिर उसके मुंह तक उठने का अनुभव किया—उसके बाद वह गायब हो गयी—यह एक संवेदना थी।

किस तरह की संवेदना?

२५ दिसम्बर १९३३

मैं संवेदना का वर्णन नहीं कर सकता। विशेष रूप से मैंने ऊपर से नीचे आते हुए एक दबाव का अनुभव किया।

जिसका तुम वर्णन कर रहे हो वह सामान्यतः ऊपर से आनेवाली माताजी की शक्ति का दबाव होता है।

आप मेरी प्राणिक सत्ता के बारे में कुछ कहेंगी?

वह बहुत चञ्चल है और उसे अधिक स्थिर और शान्त रहने की आवश्यकता है।

२६ दिसम्बर १९३३

कृपया बताइये कि प्राण को स्थिर और शान्त करने और उसे आपको समर्पित करने के लिए मुझे क्या करना होगा?

उसे शान्त रहने की शिक्षा दो। यह केवल आदत की बात है। उसकी सचेतन और अचञ्चल रहने की आदत डालो।

२७ दिसम्बर १९३३ — श्रीअरविन्द

क्या यह सच नहीं है कि मासिक पत्र और कहानियां पढ़ने के लिए व्यक्ति को एकदम पूरी तरह सामान्य चेतना में डूबना पड़ता है?

यह अनिवार्य नहीं है, लेकिन इससे उल्टा करना बहुत कठिन है।

२८ दिसम्बर १९३३

हे मां! वर दो कि मेरा प्राण स्थिर हो जाये। वह घड़ी निकट है जब प्राण...

एकाग्र, बलशाली और स्थिर हो जायेगा।

२९ दिसम्बर १९३३

यह कब सम्भव होता है कि भगवान् अपना प्रेम प्राण में उंडेल सकें और प्राण केवल उन्हीं से प्रभावित हो?

जब प्राण बदल जाये—यानी, जब वह भगवान् को चाहे।

३० दिसम्बर १९३३

क्या मनोमय पुरुष मानसिक सत्ता पर नियन्त्रण रखता है?

मनोमय पुरुष स्वयं मानसिक सत्ता है। उसे मानसिक प्रकृति को नियन्त्रित करना चाहिये। लेकिन बहुधा वह उस पर नियन्त्रण करती है।

३ जनवरी १९३४

— श्रीअरविन्द

आज शाम 'ज्ञ' ने मुझसे योग के बारे में बातें कीं। मैं जानता हूं कि उससे बातें करना बहुत अच्छा नहीं था। ज्यादा अच्छा होता कि मैं न करता। लेकिन क्या आपको लगता है कि इस चीज से मुझे कोई हानि पहुंची है?

हमें उन गलतियों पर सन्ताप नहीं करना चाहिये जो हमने की हैं; केवल अपनी अभीप्सा में पूर्ण निष्कपटता को बनाये रखने की आवश्यकता है—तब अन्त में सब कुछ अच्छा होगा।

४ जनवरी १९३४

३१ दिसम्बर को जब 'प' बीमार थी तो आपने डॉ. बाबू से कहा, "क्या 'प' आज रात तक

जनवरी २००६

पुरोधा

अच्छी नहीं हो सकती?" अगर "यह असम्भव है" कहने की बजाय उन्होंने कहा होता, "अगर यह आपकी इच्छा है तो हो सकता है," तो शायद 'प' नववर्ष के आधी रात के ध्यान के लिए आ पाती।

घटनाओं के चक्र को बदलने के लिए केवल उत्तर पर्याप्त नहीं होते। केवल अभीप्सा या श्रद्धा ही इसे कर सकती हैं—क्योंकि अभीप्सा और श्रद्धा ही भागवत कृपा को कार्य करने देती हैं।
९ जनवरी १९३४

आज मैं उदासी का अनुभव कर रहा हूँ। लेकिन मुझे इसका कोई कारण नहीं दीखता।

तब तुम्हें उदासी को केवल झाड़ फेंकना होगा।

९ जनवरी १९३४

'हमारा योग और उसका उद्देश्य' पुस्तक में श्रीअरविन्द ने लिखा है, "जो भगवान् से मांग करते हैं भगवान् उन्हें वही देते हैं जो वे मांगते हैं।" क्या यह सच है?

इसका यह अर्थ नहीं कि कोई कुछ भी मांगे वे उसे हमेशा देते हैं—बल्कि यह कि वे केवल वही देते हैं जिसकी व्यक्ति मांग करते हैं—वे उससे अधिक कुछ नहीं पा सकते।

और फिर : "लेकिन जो अपने-आपको उन्हें दे देते हैं और किसी चीज की मांग नहीं करते उन्हें वे सभी चीजें देते हैं जिनकी उन्होंने अन्यथा मांग की होती या जिनकी उन्हें आवश्यकता होती और इसके साथ-साथ वे स्वयं को और अपने प्रेम के सहज वरदानों को भी देते हैं।" लेकिन शान्ति, चेतना इत्यादि के लिए अभीप्सा करना जरूरी नहीं है क्या?

अभीप्सा और मांगना एक चीज नहीं है।

९ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

माताजी, क्या यह सच नहीं है कि प्राण शीघ्र ही आपको समर्पित हो जायेगा?

हां, अगर वह अपनी अभीप्सा में निष्कपट हो तो वह शीघ्र ही बदल सकता है।

११ जनवरी १९३४

"निष्कपट अभीप्सा" का क्या अर्थ है?

वह अभीप्सा जो किसी भी अहंकार या स्वार्थपरताभरे हिसाब-किताब से मिश्रित न हो।

१२ जनवरी १९३४

मेरे और 'ग' के बीच प्रेम^१ के बारे में आपकी क्या राय है?

केवल भागवत उपस्थिति पर आधारित प्रेम ही अमिश्रित रह सकता है और साधना में कोई बाधा नहीं डालता।

१७ जनवरी १९३४

आज मैंने इस विचार से कुछ पत्रिकाएं पढ़ीं कि वे मन के विकास में सहायता पहुंचाती हैं। लेकिन क्या वे आपके ख्याल से उपयोगी हो सकती हैं?

यह इस पर निर्भर है कि उनमें क्या होता है।

१७ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

उनमें साधारणतः कहानियां, इतिहास, विज्ञान, कविता होती है। लेकिन मेरे ख्याल से उन्हें न पढ़ना ही ज्यादा अच्छा है।

मुझे इसका कोई कारण नहीं दीखता कि तुम्हें इतिहास, विज्ञान इत्यादि के लेख क्यों नहीं पढ़ने चाहियें। तुम कहानियों को छोड़ सकते हो क्योंकि वे बहुधा मानसिक रूप से विकसित या विकसनशील चरित्र से नहीं आतीं।

१८ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

क्या आपके विचार से मेरे और 'ग' के बीच का प्रेम चैत्य हो सकता है?

सम्भवतः उसमें चैत्य तत्त्व है, लेकिन एकमात्र वही नहीं है।

१८ जनवरी १९३४

लेकिन क्या ऐसे पारस्परिक प्रेम का अनुभव करना सम्भव है जो भागवत उपस्थिति पर आधारित हो?

यह सम्भव है।

१९ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

मेरे ख्याल से ज्यादा अच्छा होगा अगर मेरे और 'ग' के बीच प्रेम न हो क्योंकि वह भागवत उपस्थिति पर आधारित नहीं है।

उसे, कुछ भी हो, प्राणिक मिलावट से मुक्त रखना चाहिये।

^१ प्रेम से साधक का मतलब है अपने ही संगी-साधक के साथ मित्रता का गहरा नाता।

आपके ख्याल से यह प्रेम हानिकर है क्या?

यह उसे मिलावट से मुक्त रखने पर निर्भर है।

१९ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

मुझे ऐसा नहीं लगता कि मेरा और 'ग' का परस्पर प्रेम मिलावट से मुक्त है। इसलिए मैं इसे छोड़ रहा हूँ। क्या यह अच्छा है?

इतना उग्र होने की आवश्यकता नहीं है, उसे अपने-आप मिलावट से शुद्ध होने दो।

१९ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

...अतः मैं 'घ' के लिए किसी विकर्षण का अनुभव नहीं करता।

विकर्षण हमेशा बुरी चीज है और यह आकर्षण का दूसरा पहलू है।

१९ जनवरी १९३४

—शान्ति दोशी

सुरुचि पैदा करो

... माताजी ने बतलाया है कि तुम यहां किसलिये आये हो और वे तुम्हें क्या दे रही हैं। तुम यहां उन बाहरी चीजों के लिए नहीं हो जो तुम्हें इतनी आसानी से मिल जाती हैं, खेल-कूद के लिए भी नहीं हो जो तुम्हें बहुत पसन्द हैं, और कहीं भी तुम्हें शारीरिक शिक्षण के लिए इतनी सुविधाएं न मिलेंगी। माताजी कहती हैं कि तुम यहां इसके लिए नहीं आये हो, अध्ययन के लिए भी नहीं, हालांकि यहां सब प्रकार की सच्ची शिक्षा दी जाती है। तुम यहां आये हो ऐसी चीज के लिए जो सभी बाहरी उपहारों से ज्यादा कीमती है। जहांतक शिक्षा का सम्बन्ध है वह तो तुम्हें बाहर भी मिल सकती है, कुछ पहलुओं से देखा जाये तो यहां से भी अच्छी शिक्षा मिल सकती है। लेकिन यहां पर माताजी तुम्हें जो चीज दे रही हैं वह दुनिया भर में और कहीं नहीं मिल सकती और वह है तुम्हारी अन्तरात्मा, जिसके बारे में दुनिया में कहीं कोई कुछ नहीं जानता। तुम यहां अपनी अन्तरात्मा के द्वारा लाये गये हो। वह तुम्हारे अन्दर है और तुम उसी के कारण आये हो और किसी कारण से नहीं। तुम्हें यह बात जान लेनी चाहिये।

तुम्हारी अन्तरात्मा है। क्या? वास्तव में तुम वही हो। तुम्हारा एक आकार है, एक बाहरी शरीर है, मन है, नाना प्रकार की क्षमताएं और अक्षमताएं हैं और इन्हीं कारणों से तुम अमुक व्यक्ति कहाते हो, लेकिन इस सबके पीछे, बाहर से दिखायी देनेवाले मुखौटे के पीछे, इन हाथ-पैर, आंख-नाक आदि से बने चोगे के पीछे तुम्हारा सच्चा व्यक्तित्व है। कई बार लोग माताजी से नाम मांगते हैं, तब माताजी उनके सच्चे व्यक्तित्व को देखकर उसके अनुसार नाम देती हैं। वे

तुम्हारी अन्तरात्मा को देखकर उसकी विशेषताओं को प्रकट करनेवाला नाम देती हैं ताकि तुम अपनी सम्भावनाओं के अनुसार अपना चरित्र बना सको।

एक बार किसी ने मुझसे पूछा, हम उसे कैसे जानें, कैसे पहचानें? इसका सबसे अच्छा उपाय तो यही है कि तुम इतने विकसित हो सको कि तुम अपनी अन्तरात्मा को देख और पहचान सको और यह जान सको कि यह मैं है और यह मैं नहीं है। लेकिन उसके प्रकट होने की कई निशानियाँ हैं, अभी के लिए तुम उन्हीं से काम चला सकते हो। तुम्हारी सभी सुन्दर क्रियाएँ, ऊँचे विचार, महान् संकेत, सुन्दर कर्म—ये सब अन्तरात्मा से ही आते हैं। तुम्हारे अन्दर जो कुछ अच्छा है, सुन्दर है, यहाँतक कि तुम्हारे भौतिक भावों में भी जो कुछ सुन्दर है वह अन्तरात्मा से आता है। उससे तुम्हारे अन्दर, और तुम्हारे बाहर भी, एक तरह की चमक आ जाती है। तुम्हारी अभिव्यक्ति में एक प्रकार की सुरुचि आ जाती है। तुम्हारी अन्दर की सत्ता का यह सबसे बाहरी चिह्न है। जिन चीजों को सुन्दर क्रियाएँ, सुन्दर भाव या सुन्दर विचार कहते हैं वे सब अन्तरात्मा से ही आती हैं और इनसे उलटी चीजें—बुरी क्रियाएँ, बुरे कर्म, बुरी गतिविधि तुम्हारी चेतना को ढकनेवाली चीजें हैं। जब तुम सचमुच प्रसन्न होते हो, कठिनाइयों, मुसीबतों और विपरीत अवस्थाओं के होते हुए भी प्रसन्न रहते हो तो जान लो कि यह अन्तरात्मा का काम है। सच्ची प्रसन्नता अन्तरात्मा से आती है और शारीरिक भाव पर भी अपना असर छोड़ जाती है। इसलिए कोई भी सुन्दर या महान् कार्य करने के लिए सबसे अच्छा उपाय यही है कि अपनी अन्तरात्मा को खोजो, उसे पहचानो। इसके लिए इतनी खोजने की जरूरत नहीं है जितनी पहचानने की, क्योंकि वह तुम्हारे अन्दर मौजूद ही है। तुम्हें उसे अपने पुराने मित्र या भाई की तरह पहचानना है। वह तुम्हारे अन्दर है उसे जानो। और जब उसके साथ तुम्हारा सम्पर्क हो जायेगा तभी तुम्हें ठीक तरह से पता लगेगा कि माताजी तुम्हारे लिए क्या ला रही हैं...।

अपनी रुचि को ज्यादा अच्छी चीजों के लिए तैयार करो। जब तुम एक गाना सुनते हो तो उसे सुरुचि के साथ सुनो। ऐसे गीत होते हैं जो बहुत निचले स्तर के होते हैं और तुम्हें गिराते हैं, लेकिन ऐसे भी गीत होते हैं जो तुम्हें ऊपर उठा सकते हैं। सब कुछ तुम्हारी रुचि पर निर्भर है। अगर तुम्हारे अन्दर सुरुचि नहीं है तो तुम निचले स्तर के गीत ही पसन्द करोगे। तुम्हें अच्छी आवाज़ और बुरी आवाज़, सामञ्जस्यपूर्ण और सामञ्जस्यहीन आवाज़ में भेद करना आना चाहिये। इसी तरह सभी इन्द्रियों का विकास हो सकता है। बहुत-से लोग स्वर-संगति या रंग-संगति का फर्क नहीं समझ पाते। कई वर्णान्ध होते हैं, उनके लिए सफेद और काला दो ही रंग होते हैं, नीला, पीला, हरा सब एक रहते हैं। यह सब इन्द्रियों की क्षमता और सुरुचि पर निर्भर है। इसी तरह कविता में भी अच्छी कविता और बुरी कविता में भेद होता है।

अगर तुम्हारे अन्दर सुरुचि नहीं है, अच्छे, बुरे की पहचान नहीं है तो तुम उसके लिए मांग कर सकते हो। तुम कह सकते हो कि मुझे सुरुचि दो, तो वह सहज रूप से तुम्हारे अन्दर से आयेगी। अच्छी चीजें उदार भी होती हैं। जो उनकी मांग करे उनके पास आ जाती हैं। सुरुचि विकसित करने से तुम्हारे अन्दर दृष्टि का विकास होगा और उससे धीरे-धीरे तुम्हारी अन्तरात्मा बाहर आ सकेगी।

जीवन में भी हमें अच्छे-बुरे की पहचान होनी चाहिये। यह अच्छा है, यह बुरा, मुझे यह करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये। सुरुचि के साथ विवेक भी जरूरी है। खेलते समय भी

ख्याल रखो, खेलने का अच्छा तरीका भी हो सकता है और बुरा तरीका भी। इसमें भी सुरुचि की जरूरत होती है। तुम जैसा चाहो दौड़ सकते हो, जैसे चाहो गेंद फेंक सकते हो, लेकिन इनमें एक सुन्दर ढंग होता है और एक भद्दा ढंग। तुम्हें सुन्दर ढंग से खेलना चाहिये। सभी क्षमताओं, सभी कामों के बारे में यही बात है। अच्छे तरीके तुम्हारी अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति के रूप हैं। अन्तरात्मा के सम्पर्क के कारण तुम्हारी एकदम बाहरी, शुद्ध भौतिक क्रियाओं पर भी एक जादुई असर होगा। अच्छी चीजों को सचाई के साथ मांगो, अपने अन्तर से मांगो, मां से—अन्तरात्माओं की मां से मांगो और उनके योग्य बनने की कोशिश करो। इससे तुम्हारा जीवन बन जायेगा।

—नलिनीकान्त गुप्त

(आश्रम के विद्यार्थियों के सामने दिये गये एक भाषण के कुछ अंश)

ध्यान की अवस्थाएं

“कुछ ऐसे लोग हैं, जब वे ध्यान के लिये बैठते हैं तो एक ऐसी अवस्था में चले जाते हैं जिससे वे बहुत अच्छा और आनन्ददायक मानते हैं।”

(‘प्रश्न और उत्तर’, १९२९; २१ अप्रैल)

वह कौन-सी अवस्था है?

वह जो भी हो, वे सोचते हैं कि वह आनन्ददायक और अनोखी है। उनकी अपने बारे में बहुत अच्छी राय होती है। वे मानते हैं कि चूँकि वे बिना हिले-डुले, चुपचाप बैठ सकते हैं इसलिये बहुत ही ज्यादा विलक्षण हैं, और अगर वे किसी चीज के बारे में सोचते भी नहीं तब तो और भी विलक्षण हैं। लेकिन साधारणतः उनके दिमाग में एक प्रकार का बहुमूर्तिदर्शी या बहुरंगदर्शी-यंत्र चलता रहता है और उन्हें उसकी खबर भी नहीं होती। फिर भी जो लोग कुछ क्षण, कुछ बोले और सोचे बिना, हिले-डुले बिना रह सकते हैं, उनकी अपने बारे में बहुत ही अच्छी राय होती है। हां, जैसा कि मैंने कहा, अगर उन्हें उस अवस्था में से बाहर निकाला जाये, अगर कोई आकर उनका दरवाजा खटखटाये और उनसे कहे : “कोई आपके लिये प्रतीक्षा कर रहा है,” या “श्रीमतीजी, आपका बच्चा रो रहा है,” तो वे आपसे बाहर होकर चिल्ला पड़ेंगे : “लो, तुमने मेरा ध्यान खराब कर दिया, सत्यानाश कर दिया।” मैं ऐसी बातें कह रही हूँ जो मैंने अपनी आंखों से देखी हैं। ऐसे लोग देखे हैं जो अपने ध्यान के बारे में बहुत गम्भीर थे और ध्यान में जरा-सी बाधा पड़ते ही उग्र रूप से क्रुद्ध हो उठते थे। ... स्वभावतः यह बड़ी आध्यात्मिक प्रगति का चिह्न नहीं है। अगर उन्हें अपने आनन्दपूर्ण ध्यान से बाहर निकाला जाता तो वे हर एक पर झल्ला पड़ते थे।

जो लोग ध्यान करते हैं उनमें से कुछ ही ध्यान करना जानते हैं। वे किसी विचार पर नहीं, नीरवता में ध्यान लगाते हैं—आन्तरिक ध्यान, जिसमें उनका कहना है कि वे भगवान् के साथ एकत्व भी पा लेते हैं। और वह बिल्कुल ठीक है। कुछ और हैं, बहुत थोड़े-से, जो किसी विचार का बहुत सावधानी से अनुसरण कर सकते हैं और यह जानने की कोशिश करते हैं कि उसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है। यह भी ठीक है। लेकिन अधिकतर लोग एकाग्र होने की कोशिश करते

हैं और एक प्रकार की आधी नींद में या कम-से-कम तामसिक अवस्था में प्रवेश कर जाते हैं। वे किसी प्रकार की जड़ चीज बन जाते हैं, मन जड़ हो जाता है, भावना जड़ हो जाती है, शरीर जड़ हो जाता है। वे घण्टों इस अवस्था में रह सकते हैं क्योंकि तमस् के जैसी स्थायी चीज और कोई नहीं होती! मैं इस समय तुमसे जो कुछ कह रही हूँ—ये सब ऐसे लोगों के अनुभव हैं जिनसे मैं मिली हूँ—और ये लोग जब अपने ध्यान से बाहर आते हैं तो यही समझते हैं कि उन्होंने कोई बहुत बड़ा काम कर लिया है। लेकिन सचमुच वे सीधे-सीधे तमस् और निश्चेतना में उतर गये थे : ऐसे लोग बहुत कम होते हैं जो सचमुच ध्यान करना जानते हों। और फिर यह मान भी लें कि बहुत-सी साधना और बरसों के प्रयास के बाद तुम अपने ध्यान में भागवत सत्ता के साथ सचेतन सम्पर्क साधने में सफल हो गये हो तो स्पष्ट है कि यह परिणाम है और इस परिणाम का तुम्हारे चरित्र और जीवन पर प्रभाव होना चाहिये। परन्तु यह प्रभाव व्यक्ति-व्यक्ति पर अलग-अलग होता है। ऐसे उदाहरण हैं जहां व्यक्ति दो भागों में बंट जाता है, जब ऐसे लोग ध्यान में होते हैं तो भगवान् के साथ सम्पर्क में आते हैं और उनके साथ तादात्म्य का परम आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन जब वे ध्यान से बाहर आते हैं, साधारण जीवन में उतरते हैं, जीना और काम करना शुरू करते हैं तो बहुत ही मामूली आदमी बन जाते हैं जिनकी बहुत मामूली और कभी-कभी तो बहुत ही गंवारू और भद्दी प्रतिक्रियाएं होती हैं। वास्तव में, मैं ऐसे लोगों को जानती हूँ जो एकदम साधारण मनुष्य बन जाते हैं और तब, उदाहरण के लिये, ऐसी सब चीजें करते हैं जो नहीं करनी चाहियें, जैसे, दूसरों के बारे में गप्पें लगाने में समय बिताते हैं, केवल अपने बारे में ही सोचते हैं, उनकी एकदम स्वार्थभरी प्रतिक्रियाएं होती हैं, हमेशा अपनी ही तुच्छ भलाई के बारे में सोचते हैं, किसी और के बारे में सोचते भी नहीं, कभी किसी के लिये कुछ नहीं करते और उनमें कोई बड़े विचार नहीं उठते। फिर भी वे अपने ध्यान में उस सम्पर्क को पा चुके हैं। इसीलिये जो लोग यह जान चुके हैं कि इस शरीर के साथ लगी तुच्छ बाहरी प्रकृति को बदलना कितना मुश्किल है, अपने परे जाना, अपनी गतिविधियों का रूपान्तर करना कितना कठिन है, वे कहते हैं कि यह सम्भव नहीं है, प्रयास करने का कोई लाभ नहीं। संसार में आकर तुमने माटी का शरीर धारण किया है। तुम्हें बस उसे छोड़कर चले जाने की तैयारी करनी चाहिये, संसार जैसा है, रहने दो। बस, करने लायक काम यही है, जितनी जल्दी हो सके यहां से भाग चलो। और अगर सभी भाग जायें तो फिर संसार ही न रह जायेगा और दुःख-दारिद्र्य न रहेगा। बात तर्क-संगत है। अगर उनसे कहा जाये : “तुम जो कह रहे हो वह बहुत स्वार्थपूर्ण है, तुम अपने-आप तो चले जाओ और दूसरों को छटपटाते छोड़ दो!” —“बस, वे सब भी यही करें जो मैं कर रहा हूँ। अगर हर एक वही करे जो मैं कर रहा हूँ तो वे सब भी छुटकारा पा जायेंगे, तब कोई संसार ही न रहेगा, कोई दुःख-दर्द न रहेगा।” मानों यह सब व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर करता है जिनका संसार के निर्माण में कोई हाथ न था ! वे उसे समाप्त करने की आशा कैसे कर सकते हैं ? कम-से-कम यदि यह संसार उनका बनाया हुआ होता तो वे यह जान पाते कि यह कैसे बनाया गया है और तब उसे बिगाड़ने की कोशिश कर सकते थे (यद्यपि अपनी बनायी चीज को बिगाड़ना हमेशा आसान नहीं होता)। लेकिन यह सृष्टि उन्होंने नहीं बनायी, उन्हें यह भी पता नहीं है कि इसे कैसे बनाया गया है और उन्हें यह दुराशा है कि वे इसे मेट सकेंगे क्योंकि उन्हें आशा है कि वे स्वयं इससे भाग सकेंगे...! मुझे नहीं लगता कि वह सम्भव है। आदमी प्रयत्न

जनवरी २००६

पुरोधा

जाते हैं।

शरीर

ज और

भुवध है

हैं कि

शचेतना

फर यह

त सत्ता

और इस

क्ति पर

ध्यान

आनन्द

, जीना

मामूली

गों को

चीजें

केवल

तुच्छ

ये कुछ

क को

प्रकृति

केतना

आकर

वाहिये,

भाग

रहेगा।

तुम

नहीं जो

तो, तब

निर्भर

से कर

यह

चीज

पता

उन्हें

प्रयत्न

करने पर भी भाग नहीं सकता। लेकिन यह एक और ही विषय है। बहरहाल, मेरे लिये, मेरा अनुभव (जो काफी लम्बा है, मैं प्रायः तिरपन वर्ष से लोगों के साथ, उनके योग और उनके आन्तरिक जीवन के साथ व्यवहार रखती आयी हूँ। मैंने यहां और वहां बहुत कुछ देखा है और सारी दुनिया में भी थोड़ा-बहुत देखा है); हां, तो मैं नहीं मानती कि ध्यान के द्वारा तुम अपने-आपको रूपान्तरित कर सकते हो। मुझे इससे उल्टी बात पर पूरा विश्वास है।

जो तुम्हें करना है, उसे करते हुए, वह चाहे कुछ क्यों न हो, चाहे जो काम हो—अगर तुम उसे करो और करते समय इस बात की सावधानी रखो कि भगवान् को भूलने न पाओ, तुम जो कुछ करते हो उसे भगवान् के अर्पण कर दो, अपने-आपको भगवान् को इस तरह देने की कोशिश करो कि वे तुम्हारी सारी प्रतिक्रियाओं को बदल दें, स्वार्थी, तुच्छ, मूढ़ और अज्ञानी होने की जगह उन्हें आलोकपूर्ण, उदार बना दें, तो तुम इस दिशा में प्रगति करोगे। यही नहीं कि स्वयं तुम कुछ प्रगति कर लोगे, बल्कि तुम सामान्य प्रगति में भी सहायता दोगे। मैंने यह कभी नहीं देखा कि जो लोग सब कुछ छोड़कर रीते चिन्तन-मनन के लिये बैठ जाते हैं (क्योंकि वह लगभग रीता ही होता है), मैंने ऐसे लोगों को कभी प्रगति करते नहीं देखा, किसी भी सूरत में उनकी प्रगति नगण्य-सी होती है। मैंने ऐसे लोग देखे हैं जिन्होंने योग करने का दावा कभी नहीं किया, जो पार्थिव रूपान्तर और धरती पर भगवान् के अवतरण के विचार से ही उत्साह में भरे रहते थे। उन्होंने हृदय में उत्साह लिये, अपने-आपको पूरी तरह, बिना कुछ बचाये, बिना व्यक्तिगत मुक्ति के स्वार्थपूर्ण विचार के, अपना थोड़ा-सा काम किया। मैंने इन लोगों को शानदार प्रगति करते हुए देखा है, सचमुच शानदार प्रगति। और कभी-कभी वे अद्भुत होते हैं। मैंने संन्यासी देखे हैं, मठों में रहनेवाले देखे हैं, ऐसे लोग देखे हैं जो योगी होने का दावा करते हैं। मैं उस पहले प्रकार के एक के बदले इस तरह के बारह लेना पसन्द न करूंगी—मेरा मतलब है पार्थिव रूपान्तर और जगत् की प्रगति की दृष्टि से, यानी, जो काम हम करना चाहते हैं उसकी दृष्टि से—यह प्रयास करने के लिये कि यह जगत् जैसा है वैसा ही न बना रहे, यह सचमुच भागवत चेतना के साथ भागवत संकल्प का यंत्र बन जाये। तुम जगत् से भागकर उसे नहीं बदल सकते। यहां काम करते हुए, नम्रता और विनय के साथ काम करते हुए उसे बदला जा सकता है, तुम्हारे हृदय में आग हो, ऐसी चीज हो जो आहुति की तरह जलती हो। तो बस।

तो ध्यान का कोई उपयोग नहीं ?

नहीं, और जिस हदतक वह जरूरी होगा, वह सहज रूप से आ जायेगा। अचानक तुम्हें कोई ऐसी चीज आकर पकड़ लेगी जो तुम्हें निश्चल बना देगी, तुम्हें किसी भाव के अन्तर्दर्शन या किसी मनोवैज्ञानिक अवस्था पर केन्द्रित कर देगी। वह तुम्हें पकड़ लेगी। तुम्हें प्रतिरोध न करना चाहिये। तब तुम आवश्यक प्रगति करोगे। ऐसे अवसर पर तुम कुछ देखते, कुछ समझते हो और अगले क्षण, अपने अन्दर उस चीज को प्राप्त करके, बिना किसी दावे या पाखण्ड के अपना काम शुरू कर देते हो। मुझे सबसे ज्यादा डर उनका लगता है जो अपने-आपको बहुत श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि वे बैठकर ध्यान करते हैं, और सब चीजों में यही सबसे अधिक भयंकर है क्योंकि ये लोग मिथ्याभिमान से भर जाते हैं और इतने अधिक आत्म-तुष्ट हो जाते हैं कि वे

प्रगति के सभी रास्तों को बन्द कर लेते हैं...।

एक बात है जो हमेशा कही गयी है, लेकिन हमेशा गलत समझी गयी है, वह है नम्रता की आवश्यकता। हम उसे बुरी तरह लेते हैं, बुरी तरह समझते हैं और बुरी तरह उसका उपयोग करते हैं। नम्र बनो, यदि तुम ठीक ढंग से नम्र बन सकते हो; और इससे बढ़कर, गलत तरीके से मत बनो क्योंकि यह तुम्हें कहीं नहीं पहुंचाता। लेकिन एक बात है, अगर तुम अपने अन्दर से इस जंगली घास को—जिसे मिथ्याभिमान कहते हैं—खींचकर बाहर कर सको तो वास्तव में तुम कुछ प्राप्त करोगे। काश, तुम्हें मालूम होता कि यह कितना कठिन है ! तुम (बिना जाने ही) अन्दर से सन्तुष्ट होकर फूले बिना कोई चीज ठीक तरह नहीं कर सकते, कोई अच्छा विचार नहीं कर सकते, कोई सच्ची गति नहीं कर सकते, थोड़ी-सी प्रगति नहीं कर सकते। और तब तुम जोर से हथौड़े बरसाकर इसे तोड़ने के लिये बाधित होते हो। फिर भी टूटे टुकड़े बचे रहते हैं और फिर से अंकुरित होने लगते हैं। इस रूखड़ी को जड़ से निकालने के लिये तुम्हें जन्म भर काम करना पड़ता है। यह बार-बार निकल आती है और इतने छिपे रूप में उगती है कि तुम मान बैठते हो कि अब यह चली गयी। तुम अपने-आपको बहुत विनम्र मानकर कहते हो : “यह मैंने नहीं किया। मुझे लगता है कि यह भगवान् ने किया है। भगवान् न हों तो मैं कुछ भी नहीं हूँ,” और अगले ही क्षण, ऐसी बात सोचने के लिये तुम अपने-आपसे बहुत सन्तुष्ट होते हो !

विनम्र होने का ठीक और गलत तरीका क्या है?

यह बहुत सरल है। जब लोगों से विनम्र होने के लिए कहा जाता है तो वे तुरन्त “दूसरे लोगों के सामने नम्र” होने की बात सोच लेते हैं, यह नम्रता गलत है। सच्ची नम्रता भगवान् के प्रति नम्रता है। यानी, एक यथार्थ, ठीक-ठीक जीता-जागता भाव कि हम भगवान् के बिना कुछ भी नहीं हैं, कुछ भी नहीं कर सकते और कुछ भी नहीं समझ सकते, कि अगर हम बहुत ही अधिक, विरल रूप में, बुद्धिमान हैं तो भी यह भागवत चेतना के सामने कुछ भी नहीं है। और यह जीता-जागता भाव हमेशा बना रहना चाहिये क्योंकि तब ग्रहणशीलता का सच्चा भाव हमेशा बना रह सकता है—एक ऐसी विनम्र ग्रहणशीलता का जो भगवान् के सामने व्यक्तिगत आत्म-प्रदर्शन नहीं करती।

—‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड ५, पृ. ३८-४३

गपशप न सुनना हमेशा अधिक अच्छा होता है, विशेष रूप से तथाकथित आध्यात्मिक विषयों की। हर एक को अपने तरीके का अनुसरण करना चाहिये और दूसरों का उससे कोई सरोकार नहीं।

१-१-१९३८

—श्रीमां

‘ऋषिवर बोले’ :

शरीर की प्रगति

ऋषिवर ! वन्दना ने अपनी खुशी को छिपाने का सफल प्रयास करते हुए कहा, आज मुझे अपने दिल में सबसे अच्छे खिलाड़ी का पदक मिला है। कई प्रकार की कसरतों में और खेल-कूद में मेरी प्रशंसा की गयी है ...

—अरे, तो यह कोई सुनाने की बातें हैं? पहले मुंह मीठा करवाओ, वन्दना, फिर आगे की बातें करना, कमल महाशय अपने स्वभाव के अनुसार वन्दना को तंग करने के लिए बोल पड़े।

तुम्हें हमेशा मिठाई की सूझती है, कमल। तुम पिछले जन्म में जरूर चींटे रहे होगे। सच कहती हूं, पदक और प्रशंसा-पत्र पाकर, प्रशंसा सुनकर मेरा तो मन खट्टा हो गया।

—अरे, क्यों, क्यों दादी जी, यह बेवक्त की भैरवी कैसी? अभी तो तुम्हारे अन्दर यौवन पहली अंगड़ाइयां लेता हुआ उठने की कोशिश कर रहा है और इधर तुम दादियों के-से गाने अलाप रही हो, मदन ने कहा।

नहीं, मैं उदास, निराश या हताश नहीं हूं। आज का पुरस्कार लेते समय मुझे ख्याल आया कि कोई पच्चीस वर्ष पहले मेरे पिता बहुत अच्छे व्यायामी और खिलाड़ी माने जाते थे। उनका स्वास्थ्य देखकर लोगों को ईर्ष्या होती थी। बहुत-सी स्त्रियां मेरी मां के भाग्य से जलती थीं। परन्तु आज मेरे पिता कई रोगों के शिकार हैं, खेल-कूद का नाम भी नहीं ले सकते। मैं सोच रही थी ऐसा क्यों होता है? यौवन क्या है और कहां चला जाता है? क्या उसे टिकाए रखने का कोई उपाय नहीं है?

—हमारे बीच बुद्ध ने जन्म लिया है, भाग्यवान् हैं हम! कमल ने कहा।

ऋषिवर ने कहा, वन्दना, यौवन वर्षों की गिनती पर निर्भर नहीं होता। यौवन है बढ़ने की, प्रगति करने की क्षमता। बढ़ने का मतलब लम्बाई-चौड़ाई में बढ़ना नहीं है, बल्कि अपनी क्षमताओं, योग्यताओं, शक्तियों की दृष्टि से बढ़ना। हमने अभी तक जो पाया है उससे आगे, और आगे बढ़ते जाना ही यौवन का लक्षण है।

बुढ़ापा भी वर्षों की गिनती से नहीं आता। बढ़ने और प्रगति करने से इन्कार करना या उसमें असमर्थ होना ही बुढ़ापा है। बीस वर्ष के भी बूढ़े हो सकते हैं और सत्तर वर्ष के भी युवक हो सकते हैं। महाभारत में सत्तर से ऊपर के अर्जुन आदि माने जाते थे।

जहां आदमी यह सोचता है कि उसने कुछ पा लिया, जो प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया है, वहीं उसकी प्रगति रुक जाती है। जहां पूर्णता की प्यास कम हुई वहीं बुढ़ापा आया।

सारी दुनिया में यह विचार फैला हुआ है कि बुढ़ापा अनिवार्य है, लेकिन अगर हम प्रगति जारी रख सकें तो यह अनिवार्य न रहेगा। प्रगति करते जाना कोई असम्भव काम नहीं है। ओलम्पिक के विवरण पढ़ जाओ—दौड़ने में, कूदने में, भार उठाने में, तैरने में हमेशा नये-नये कीर्तिमान बनते जाते हैं। पचास वर्ष पहले जो गति मानव क्षमता के बाहर मानी जाती थी आज मनुष्य उससे बहुत आगे निकल चुका है।

कई चीजों के बारे में कहा जाता था कि मानव शरीर के लिये इससे ज्यादा कर सकना या इससे ज्यादा सह सकना असम्भव है, परन्तु असम्भव बातें सम्भव बन चुकी हैं और असम्भव की सीमा को कई-कई बार पार किया जा चुका है।

इससे हमें यह प्रमाण मिलता है कि सचमुच असम्भव के जैसी कोई चीज है नहीं। आज जो चीज असम्भव है वह कल की सम्भावना और परसों की उपलब्धि हो सकती है। तो हम यह क्यों मान बैठें कि अमुक वर्षों के बाद मानव शरीर का जरा-जीर्ण होना जरूरी है?

कुछ ही समय पहले तक चन्द्रमा तक पहुंचना केवल कवियों के लिए सम्भव था। अब वहां आबादी की बात सोची जा सकती है, मंगल पर पहुंचना असम्भव नहीं माना जाता। मंगल पर लिए गये चित्रों को हम दूसरे दिन के अखबार में देख सकते हैं।

विश्व में सूक्ष्म शक्ति का एक अक्षय भण्डार है। यह शक्ति नीचे से नहीं, ऊपर से आती है। अगर हम सचाई के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकें तो थकान आदि भूतकाल की चीजें बन सकती हैं।

छोटे-मोटे रोगों पर विजय पाना, साधारण से बहुत अधिक श्रम कर सकना आदि ऐसे अनुभव हैं जिन्हें हर एक आसानी से प्राप्त कर सकता है। लेकिन यहां हम ज्यादा विस्तार में नहीं जा सकते। हर एक के लिए अपना ही तरीका होगा।

हां तो, वन्दना, तुम्हारी बात का संक्षिप्त-सा उत्तर देने की कोशिश की है मैंने। स्वभावतः तुम पूछोगी कि हमें इस दिशा में बढ़ने के लिए क्या करना चाहिये? मैं फिर इस बात पर जोर देता हूं कि इन चीजों के लिए कोई बंधा हुआ नियम नहीं बनाया जा सकता।

उचित मात्रा में खाना-पीना, जीभ के स्वाद के लिए नहीं, शरीर के स्वास्थ्य के लिए खाना-पीना जरूरी है—न बहुत अधिक और न बहुत कम। इसी तरह उचित मात्रा में अच्छी नींद और व्यायाम, विश्राम आदि भी जरूरी हैं, परन्तु इनसे भी अधिक जरूरी है संकल्प।

पृथ्वी पर हजारों, लाखों वर्षों से जरा-मरण की परिपाटी चली आ रही है। हमें यह न मान लेना चाहिये कि यह अनन्त काल तक चलती रहेगी। सबसे पहले यह जरूरी है कि हमें यह विश्वास हो कि रोग, शोक, दुःख आदि की तरह जरा से भी पिण्ड छुड़ाया जा सकता है, लेकिन उनके लिए कीमत चुकानी पड़ेगी।

तुम्हें ऊंचा उठना होगा। तुम यह आशा नहीं रख सकते कि तुम जीवन को जैसे मरजी चलाते रहो, दिन-भर जो मरजी ऊट-पटांग चीजें करते रहो, फिर भी जरा से मुक्ति पा जाओगे। विषय बहुत गहन है। जो विषय में अधिक जानकारी चाहे वह मुझसे अलग मिल सकता है। तब भी मैं अनुभव की नहीं आत्मोपदेश की बात बता सकूंगा। अभी के लिए इतना काफी है कि सतत प्रगति करते रहने का संकल्प बनाये रखो।

और उस संकल्प के साथ यथाशक्ति अपना प्रयास जोड़ते चलो। शक्ति का दुरुपयोग न करो। विचार, भावना, क्रिया, किसी में भी किसी ऐसी चीज को न आने दो जो तुम्हारी प्रगति में बाधक हो, और सबसे बढ़कर निरन्तर भगवान् की सहायता मांगते रहो, उससे लाभ उठाने का प्रयास करते रहो।

यह पहला कदम है।

इतना कहकर ऋषिवर ने छात्र-मण्डली पर एक दृष्टि डाली। सभी चेहरे कुछ करने के संकल्प के साथ खिल उठे थे।

उधर वन्दना बोल उठी—ऋषिवर, कितना सुन्दर प्रारम्भ आज आपने करवा दिया, अब हम सब इस डगर पर बढ़ने का पूरा-पूरा प्रयास करेंगे।

जनवरी २००६

पुरोध

ऋषिवर की मन्द-मन्द मुस्कान ने आश्रम के पवित्र वातावरण को और अधिक सुरभित कर दिया।

सचाई-निष्कपटता

अपने-आपको भागवत प्रभावों और प्रेरणाओं के सिवाय किसी और की ओर न खोलना—इस अर्थ में सचाई का उपयोग किया जाता है।

*

इस योग में हम सचाई पर इतना अधिक बल देते हैं और इसका अर्थ है समस्त सत्ता को एकमात्र सत्य, एकमेव भगवान् की ओर सचेतन रूप से खुला रखना।

*

पूरी तरह सच्चे होने का अर्थ है केवल भागवत सत्य की कामना करना। अपने-आपको अधिकाधिक दिव्य जननी के अर्पित करना, इस एकमात्र अभीप्सा के सिवा सभी निजी मांगों और कामनाओं को त्याग देना, जीवन की हर क्रिया को भगवान् के अर्पित करना और अहंकार को बीच में लाये बिना, दिये हुए काम के रूप में करना। यही दिव्य जीवन का आधार है।

तुम एकदम पूरी तरह सच्चे नहीं बन सकते, लेकिन अगर सारे समय अभीप्सा करो और सच्चे हृदय से निष्कपट इच्छा के साथ दिव्य शक्ति की सहायता को हमेशा पुकारा करो तो तुम इस चेतना में अधिकाधिक विकसित होगे।

मानव प्रकृति के लिए पूरी तरह से निष्कपट, सीधा और खुला रहना सरल उपलब्धि नहीं है। केवल आध्यात्मिक उद्यम से ही तुम इसे चरितार्थ कर सकते हो—और इसे करने के लिए कठोर रूप से अन्तर्दर्शी आत्म-दर्शन, और आत्म-निरीक्षण की ऐसी कठिन परीक्षा की जरूरत होती है जिसमें बहुत-से साधक और योगी भी सक्षम नहीं होते। एकदम प्रबुद्ध भागवत कृपा ही साधक को स्वयं के प्रति खोलती और उसके अन्दर की त्रुटि को बदल देती है ताकि वह उस उद्यम को कर सके। और वह भी केवल तभी जब वह स्वयं स्वीकार करे और अपने-आपको पूरी तरह भागवत कार्य-सञ्चालन पर छोड़ दे।

*

वस्तुओं से पिण्ड छुड़ाने की एकमात्र शर्त है सत्ता के सभी भागों में निरपेक्ष प्रमुख निष्कपटता, और इसका अर्थ है सत्य के लिए पूर्णतया दृढ़ाग्रह, सत्य के सिवाय और किसी के लिए नहीं। तब निष्ठुर आत्म-आलोचना के लिए बहुत तत्परता और प्रकाश के लिए जागरूक उद्घाटन होगा, मिथ्यात्व के आने पर एक तरह की बेचैनी होगी जो अन्त में समस्त सत्ता को पवित्र कर देगी।

*

हृदय के पवित्रीकरण के लिए सबसे महत्वपूर्ण चीज है पूर्ण निष्कपटता। अपने-आपसे कोई

दिखावा नहीं। भगवान् से, या स्वयं से या गुरु से कोई दुराव नहीं, अपनी गतिविधियों पर सीधी दृष्टि डालना, उन्हें ऋजु बनाने के लिए सीधी इच्छाशक्ति का प्रयोग करना। अगर इसमें समय लगे तो कोई बात नहीं। तुम्हें भगवान् को ढूँढ़ने को अपने समस्त जीवन का कार्य बनाने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिये। हृदय को पवित्र करने का अर्थ अन्ततः काफी बड़ी उपलब्धि है और इसमें हताश, और निरुत्साह इत्यादि होने का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि तुम अपने अन्दर उन चीजों को देखोगे जिन्हें बदलने की ज़रूरत है। अगर तुम सच्ची इच्छा और सच्ची वृत्ति बनाये रखो तो अन्दर से सहज प्रेरणाएं और संकेत विकसित होंगे जो स्पष्ट, यथार्थ और निश्चिन्त होंगे, उनका अनुसरण करने का बल भी विकसित होगा : और तब तुम अपने-आपसे सन्तुष्ट हो उससे पहले ही भगवान् तुमसे सन्तुष्ट हो जायेंगे और उस पद को हटाना शुरू कर देंगे जिससे वे स्वयं को और अपने जिज्ञासुओं की उस महानतम वस्तु की असामयिक और संकटपूर्ण पकड़ से रक्षा करते हैं जिसके लिए मानवता अभीप्सा कर सकती है।

निष्कपट हृदय संसार की समस्त असाधारण शक्तियों से श्रेष्ठ है।

—श्रीअरविन्द

‘नयी कॉपलें’ :

वन्दे मातरम्

न जाने कितनी बार मैंने क्रीडांगण में खड़े होकर ‘वन्दे मातरम्’^१ गाया है, पर न जाने क्यों इस बार एक अलग-सा अनुभव हुआ। एक ऐसा अनुभव जिससे मैं अपने-आपसे परिचित हुआ, मुझमें मेरी देश-भक्ति की भावना जाग्रत हुई जिससे मैं अबतक अपरिचित था।

उस दिन भी मैं ‘वन्दे मातरम्’ आम दिनों की तरह गा रहा था। समझ तो आ रहा था पर गाने में कुछ “जान” नहीं डाल रहा था, एक तोते की तरह शब्दों का उच्चारण कर रहा था। अचानक न जाने क्या हुआ कि शब्दों की उस ध्वनि ने मुझमें कुछ जगाया। ‘वन्दे मातरम्’ अब सिर्फ एक गान न रहा पर एक मन्त्र बन गया जिसके शब्दों में शक्ति थी, अब वे सिर्फ शब्द न रहे बल्कि उन भावों के प्रतिनिधि बन गये।

अब ज्ञात हुआ कि “वन्दे मातरम्” इन दो शब्दों में वह शक्ति थी कि स्वतन्त्रता के समय इन शब्दों के उच्चारण से भारत के रक्षकों के मनों में एक ज्वाला जग उठती थी। एक ऐसी ज्वाला जिसे सिर्फ फांसी का फंदा ही बुझा सकता था। एक ऐसी ज्वाला जिसे अंग्रेज पागलपन और भारतीय बलिदान कहते थे।

‘वन्दे मातरम्’ वह मन्त्र है जो भारत के विभिन्न प्रान्तों को जोड़े रखता है, जिसमें से भारतीयता की सुगन्धित लहरें उभरती हैं और जिसके सरोवर में भारत एक हरा-भरा टापू है।

—जयदेव शर्मा

^१ आश्रम में दर्शन-दिवसों पर शाम को क्रीडांगण में ‘मार्च पास्ट’ के बाद वन्दे मातरम् का सहगान भी होता है।

‘गैर्वाणी’ :

प्रकीर्ण-माणिक्यानि

भो वत्साः ! अस्य मासस्य गैर्वाण्यां वर्तते इतस्ततः सञ्चितैः प्रकीर्ण-माणिक्यैः रचिता बहुरङ्ग-माला—

कथ्यते यत् रूसदेशस्य महाराज्ञी कैथरीन्-द्वितीया एकदा निज-भृत्यम् आह्वातुं घण्टिका-मवादयत् । सः नैव सम्प्राप्तः । पुनरपि घण्टिका निनादिता, भृत्यमहाशयः तदापि नागतः ।

अन्ते महाराज्ञी स्वयमेव उत्थाय, कक्षात् निर्गत्य भृत्यानां निवसनं प्रति गता । तत्र सा तं पत्रक्रीडायां निमग्नमपश्यत् । अमोघगतेः गभीरचिन्तायां मग्नः उपाविशत् सः । महाराज्ञी प्राप्ता इति तथ्यं न अजानात् तत्रत्यः एकोऽपि भृत्यः । तथा दत्तचित्ताः आसन् ते सर्वे पत्रकखेले ।

तूष्णीका महाराज्ञी भृत्यस्य सर्वथा पृष्ठे अतिष्ठत् । तस्य पत्राणि दृष्ट्वा, ततः एकं पत्रं निष्कास्य, सम्मुखे प्रक्षिप्य अवदत्—“तव गतिं तर्कयित्वा प्रयोज्य च मया त्वं जितः । सम्प्रति आगत्य त्वं मे कार्यं कुरु ।

* *

तूरीन-नामधेयस्य कस्यचित् मार्शलपदस्य सेनानायकस्य कश्चित् हृष्ट-पुष्टः परिचारकः आसीत् । परिचारकस्य मित्रमासीत् स्टीफन्-नामकः कश्चित् कृशकायः जनः । सः अपि मार्शलगृहे कार्यम-करोत् ।

अथैकदा मार्शल-तूरीनः वातायनात् नीचैः पश्यति स्म । तदानीं सः भीमकायः परिचारकः कक्षं प्रविश्य तस्य पृष्ठे मुष्टिकाप्रहारमकरोत् । तत्कालं परावृत्य सेनानायकः सक्रोधमपश्यत् । नायकं दृष्ट्वा परिचारकस्य प्राणाः निर्गताः इव । तस्य चरणयोः पतित्वा मुहुर्मुहुः क्षमाम् अयाचत—“स्वामिन् ! शतशः क्षमां याचे । रात्र्याः अन्धकारे चिन्तितं मया यत् स्टीफन् तिष्ठति, न ज्ञातं मया यत् भवान्...”

परिचारकस्य वाक्ये अर्धोक्ते एव सेनानायकः तूरीनः तम् उत्थाप्य आलिङ्गने बद्ध्वा स्मयमानोऽवदत्—“अयि, स्टीफने सत्यपि न त्वया तथा प्रबलः प्रहारः कर्तव्यः । एषा मुष्टिका यदि तस्य दुर्बलस्य पृष्ठे पतिता स्यात् तर्हि तस्य कीदृशी दुरवस्था अभविष्यत्—चिन्तय तावत् ! !”

कुतः भूमिः मां न निगीलति इति विचारेण लज्जया परिचारकः तत्र गलति स्म । तस्य एतादृशीं दुरवस्थां निरीक्ष्य दयालुहृदयः सेनानायकः तस्य स्कन्धं निपीड्य मस्तकम् उन्नमय्य सहासमवदत्—“अयि भ्रातः ! मा पश्य भूमिम्, पश्य वेदनामयं मां संवाहय च सम्प्रति मे पृष्ठम् । अहो ! कियत् लज्जनायते ! !”

* *

संयानसमवायस्य सम्राट् एडवर्ड हैरिमन् एकदा कस्यचित् कर्मचारिणः कार्यालये पूर्वसूचनया विना हठात् उपस्थितः। उपधौ प्रायः अर्धलेटितः पटले पादौ प्रसार्य सः कार्यकर्तां ससुखम् अङ्गानि श्लथयति स्म। हैरिमन्-महोदयम् अकस्मात् सम्मुखं वीक्ष्य भयभीतः सः वराकः शुष्क-पत्रमिव अकम्पत, तस्य मुखं पाण्डुरं नेत्रे च भावशून्ये जाते।

तथा लज्जालुं निजकर्मचारिणम् असान्त्वयत् सः सहासम् एतेन वाक्येन—“मित्र! एतत् दृष्ट्वा भृशं प्रसन्नोऽहं यत् त्वं कर्हिचित् सुखेन उपविश्य चिन्तनम् अपि करोषि।”

*
**

सुविदितः लेखकः किप्लिंग् कस्मिन्नपि रमणीय-पर्वतप्रदेशे गृहम् अक्रीणात् ग्रीष्मकाले च पत्न्या सह तत्र वासाय गतः।

कदाचित् तस्मिन् प्रदेशे भ्रमन्तौ तौ प्राप्तौ एकम् उटजं यत्र अवसत् एकाकिनी काचित् वृद्धा। तौ दृष्ट्वा अतिहृष्टा वृद्धमहिला अपृच्छत्—“तद् गृहं भवतोः एव यस्य वातायनानि अस्यां दिशायाम् उद्घाट्यन्ते। नैवम्।”

“आम्, मातः आवयोः एव।” किप्लिंग्-महोदयः प्रत्यवदत्।

“रात्रौ तत्र प्रकाशं वीक्ष्य मे भृशम् आनन्दः भवति। चतुर्दिक्षु व्याप्तनिःस्तब्धतायाम् एषः प्रकाशः अतिसुखदः। जीवनस्पन्दनस्य सूचकः सः। युवाम् अत्र कानिचित् दिनानि स्थास्यथः तस्मिन् कक्षे प्रकाशमपि सुनिश्चितं करिष्यथः एव। नैवम्?” वृद्धा सौत्सुक्यम् अपृच्छत्।

आम्, आम्। अवश्यम् आवां कानिचित् दिनानि अत्र स्थास्यावः, अधिकमपि स्थातुं शक्नुवः, तस्य कक्षस्य प्रदीपमपि निस्सन्देहं ज्वालयिष्यावः इति सोत्साहम् अवदतां दम्पती।

मासात् परं शीतारम्भे किप्लिंग्-परिवारस्य गमनवेला उपस्थिता। प्रस्थानात् पूर्वं किप्लिंग्-दम्पतिभ्यां तत्रत्यः निज-सेवकः विशेषेण निर्दिष्टः—“त्वं तस्य कक्षस्य प्रकाशं रात्रौ विलम्बेन निर्वापयेः, वातायनानां तिरस्करिणीः अपि अपाकुर्याः येन सा एकाकिनी वृद्धा महिला आलोकेन सह स्पन्दनमयं जीवनमपि दूरात् पश्येत्!”

*
**

युद्धकाले शार्मण्यदेशस्य कश्चित् सेनाधिकारी सैनिकैः सह अश्वानामर्थे घाससञ्चयनाय निर्गतः। एकस्मिन् ग्रामे कमपि कृषकं वीक्ष्य अधिकारी रुक्षाण्या आदिशदिव—अयि त्वम्! सत्वरम् आगत्य दर्शय अस्मान् कस्य क्षेत्रस्य धान्यम् उत्तमं वर्तते इति। विवशः कृषकः तैः सह अगच्छत्। सर्वत्र सुवर्णं धान्यं विलसति स्म। उत्तमं शस्यम् अवर्तत। सैनिकाः तदेव कर्तितुमैच्छन् किन्तु कृषकः नैतत्, नैतत्, कृपया किञ्चित् अग्रे आगच्छतु वरतरं धान्यं वर्तते इति कथयन् तान् अग्रे एव अनयत्।

अन्ते कृषकः ग्रामस्य सीमान्ते स्थितं भूमिखण्डं दर्शयित्वा अभणत्—“महोदय! एतत् वर्तते ग्रामस्य उत्तमं शस्यम्।”

सैनिकाः तस्य क्षेत्रस्य सम्पूर्णं शस्यम् उत्पाद्य पोष्टलिकासु बद्ध्वा घोटकेषु अस्थापयन्।

पुरोधा

जनवरी २००६

सूचनया
अङ्गानि
पत्रमिव

दृष्ट्वा

च पत्या

वृद्धा

अस्यां

प्रकाशः

न कक्षे

गवन्नुवः

कफ्लिंग

वेलम्बेन

गालोकेन

निर्गतः।

आगत्य

। सर्वत्र

कृषकः

अग्रे एव

वर्तते

पपयन्।

सेनानायकः शस्यं वीक्ष्य कुपितः कृषकम् अभर्त्सयत्—“मां वञ्चयसि त्वम्। सर्वथा निष्प्रयोजनं एतावत् दूरम् आगताः वयम्। किं विशेषं वर्तते अस्मिन् शस्ये यत् उत्तमोत्तमानि क्षेत्राणि त्यक्त्वा वयम् अत्र आनीताः त्वया? कः तव आशयः अस्याः छलनायाः पृष्ठे? वद, नो चेत्...” सेनानायकस्य हस्तः खड्गे अपतत्।

बद्धहस्तः, विनतः कृषकः सुस्पष्टमवदत्—“महानुभाव! भवान् पृच्छति तस्मात् सत्यं वदामि—निश्चितम् अजानां यत् भवान् शस्यस्य मूल्यं नैव दास्यति। अहं च कस्यापि अन्य-कृषकस्य हानिं नैच्छम्। एतत् तु मम क्षेत्रम्। अस्याः छलनायाः पृष्ठे एषः एव अभिप्रायः अवर्तत। अथ च मम अर्थे निज-क्षेत्रस्य शस्यम् उत्तमम् एव। एतत् तु भवान् अपि स्वीकरिष्यति एव।

कृषकस्य निर्भीकम् उत्तरं निशम्य शार्मण्य-सेनानायकः लज्जितः। कृषकं प्रति तस्य मनोभावः परिवर्तितः। अश्वादवतीर्य गोहात् प्रसेविकां निष्कास्य कृषकस्य हस्ते निधाय अवदत्—“अद्य हठात् सज्जनतायाः शिक्षां प्रदाय महान् उपकारः कृतः त्वया मयि। युद्धस्य अस्मिन् नारकीयकर्दमे संश्लिष्टाय मह्यं निज-हस्तं दत्त्वा निष्कासनस्य मूल्यं दातुं नैव शक्यामि किन्तु शस्यमात्रस्य क्षति-पूर्तये एतत् मम क्षुद्रार्पणं कृपया अगृहीतं मा कुरु।”

कृषकः तां प्रसेविकां सम्मानपूर्वकम् आदाय सविनयं प्राणमत्।

बिखरे मनके

बच्चो, इस महीने की गैर्वाणी में कुछ इधर, कुछ उधर बिखरे छोटे-छोटे मनकों को समेट कर बनायी पञ्चमेल माला तैयार है—

कहते हैं कि रूस देश की महारानी कैथरीन द्वितीया ने एक दिन अपने नौकर को बुलाने के लिए घण्टी बजायी, वह न आया, दुबारा घण्टी बजी। नौकर महाशय तब भी नहीं आये।

आखिर वे उठीं, अपने कमरे से निकलकर उस तरफ गयीं जहां नौकर-चाकर रहा करते थे। वहां उन्होंने उसे ताश खेलते हुए पाया। वह कोई अचूक चाल चलने के लिए गहरी सोच में डूबा हुआ था। महारानी के आने की भनक वहां बैठे किसी भी व्यक्ति को न मिली। ऐसे लौलीन थे वे सब ताश के खेल में।

महारानी भी चुपके से उसके पीछे जाकर खड़ी हो गयीं। ताश के पत्तों पर एक नजर डाल, एक पत्ता निकाल कर चलते हुए बोलीं—“लो तुम्हारी यह चाल चल कर मैंने तुम्हें जिता दिया, अब आकर तुम मेरा काम करो।”

-131523

तूरीन नामक मार्शल का एक बड़ा हट्टा-कट्टा अर्दली था। अर्दली का एक दुबला-पतला दोस्त था स्टीफन, वह भी मार्शल के घरा पर ही नौकर था।

एक दिन मार्शल तूरीन खिड़की से झुककर बाहर देख रहे थे कि अर्दली कमरे में आया और उनकी पीठ पर जोर से घूंसा जमा बैठा। तूरीन गुस्से से पीछे मुड़े। जब अर्दली ने उन्हें देखा तो

उसके तो होशो हवास गुम हो गये। मालिक के कदमों पर गिर पड़ा, हाथ जोड़कर माफी मांगते हुए बोला—“सर, सौ-सौ बार माफी चाहता हूं, रात के अंधेरे में मुझे लगा कि स्टीफन खड़ा है, मुझे नहीं पता था कि आप...”

अर्दली को वाक्य पूरा न करने दिया तूरीन ने, उसे जमीन से उठाकर अपनी बांहों में भरते हुए मुस्कुरा कर बोल उठे—“अरे भाई, अगर स्टीफन भी होता, तो भी इतनी जोर से तो नहीं मारना चाहिये था। यह घूंसा उसकी पीठ पर पड़ा होता तो उस बेचारे की क्या हालत हुई होती भला!”

अर्दली तो शर्म से पानी-पानी हुए जा रहा था। उसे लगा कि धरती फट कर उसे अपने अन्दर समा क्यों नहीं लेती। उसकी यह हालत देख मार्शल ने उसके कन्धे को दबाकर ठोड़ी ऊपर उठाते हुए कहा—“अरे भाई अब मेरी पीठ भी तो सहलाओ जरा, कैसी झनझना रही है!!”

*
**

रेल कम्पनियों के शहंशाह एडवर्ड हैरिमन एक दिन अचानक अपने एक कर्मचारी के दफ्तर में चले गये। कर्मचारी कुर्सी पर अधलेटी हालत में बैठा मेज पर पैर फैलाये आराम कर रहा था। हैरिमन को देखते ही वह सकपका कर तुरन्त सावधान की मुद्रा में मुंह झुकाये खड़ा हो गया। शरीर उसका डर के मारे पत्ते की तरह कांप रहा था, मुंह पर हवाइयां उड़ी हुई थी।

हैरिमन ने उसके लटके मुंह को ऊपर उठाते हुए प्रसन्नता के साथ कहा—“दोस्त, मुझे यह देखकर बड़ी खुशी हुई कि तुम कभी-कभार आराम से बैठकर सोचते भी हो।”

*
**

प्रसिद्ध लेखक किप्लिंग ने किसी पहाड़ी पर एक घर खरीदा और अपनी पत्नी के साथ गर्मियों के मौसम में उसमें रहने के लिए चले गये।

एक दिन पति-पत्नी पहाड़ की ढलान पर सैर करते हुए एक छोटी-सी झोंपड़ी के पास जाकर रुके जिसमें एक बूढ़ी स्त्री अकेली रहती थी।

वृद्धा उन्हें देखकर बहुत ही खुश हुई, बोली, “वह मकान आपका ही है न जिसकी खिड़कियां इस तरफ खुलती हैं?”

“जी”, किप्लिंग ने जवाब दिया।

“रात को उसमें रौशनी दिखलायी देती है तो मुझे बहुत अच्छा लगता है। यहां चारों तरफ के सन्नाटे में वह प्रकाश बहुत सुखद लगता है। जीवन थड़क रहा है इसकी खुशखबरी सुनाता है। तुम लोग कुछ दिन और यहां रहोगे और उन खिड़कियोंवाले कमरे में बत्तियां जलाया करोगे न?” वृद्धा की खुशी आंखों में छा गयी थी।

“जी हां, हम कुछ दिन तो यहां जरूर ठहरेंगे, हो सकता है ज्यादा भी रुक जायें, और उस कमरे में हम रोज बत्तियां भी जरूर जलाया करेंगे।” किप्लिंग ने नम्रता के साथ हाथ जोड़कर कहा।

पुरोधा जनवरी २००६

पति-पत्नी को आसीस देते हुए विदा किया वृद्धा ने।

कुछ दिनों के बाद सर्दियों में जब वे दोनों वहां से लौटने लगे तो किप्लिंग ने घर की निगरानी करनेवाले नौकर को खास हिदायत दी कि उस कमरे की बत्तियां रोज देर रात तक जलती रहने दे और साथ ही उस कमरे के पर्दे भी उतार दे ताकि उस अकेली वृद्धा स्त्री को ज्यादा रोशनी के साथ-साथ दूर से ही थड़कता हुआ जीवन भी दिखायी दे।

से अपने
र ठोड़ी
ही है!!"

दफ्तर

कर रहा

खड़ा हो

थी।

मुझे यह

खेती

के साथ

जाकर

इकियां

में तरफ

गता है।

करोगे

और उस

नोड़कर

जर्मनी की सेना के एक अधिकारी लड़ाई के समय शिविर से कुछ सैनिकों के साथ घोड़ों के लिए घास एकत्र करने निकले। एक गांव के किसान को उन्होंने आदेश दिया—"चल कर बतलाओ कि इस गांव में किस खेत की फसल सबसे अच्छी है।" विवश होकर किसान को उन सैनिकों के साथ जाना पड़ा। खेत खड़ी फसल से लहलहा रहे थे। बहुत उत्तम फसल थी। सैनिक चाहते थे कि उन लहलहाते खेतों की फसल काट लें, लेकिन किसान कहता चला जा रहा था—"जी, यहां नहीं, कुछ और आगे चलिये, इससे भी अच्छी फसल आपको दिखलाऊंगा।"

धीरे-धीरे किसान सैनिकों को गांव की सीमा के खेत तक ले गया। वहां का खेत दिखला कर बोला—"महाशय, इस गांव में इस खेत की फसल सबसे अच्छी है।"

सैनिकों ने उस खेत की पूरी फसल उखाड़ कर, गट्टे बांध, घोड़ों पर लाद दी। सैनिक अधिकारी ने वह फसल देख, डपट कर किसान से कहा, "बेकार में तू हमें इतनी दूर ले आया, इससे अच्छी-अच्छी कितनी ही फसलें तो हम पीछे छोड़ आये और तू इसे उत्तम बता कर हमें बेवकूफ बना रहा है। बता इस चाल के पीछे तेरी मंशा क्या है?"

किसान ने हाथ जोड़कर, विनीत लेकिन स्पष्ट स्वर में कहा—"जी, सच बात तो यह है कि मैं जानता था कि आप खेत के मालिक की फसल का मूल्य तो देंगे नहीं। मैं किसी दूसरे का खेत दिखलाकर उस बेचारे की हानि कैसे करवाता। पहली बात तो यह है कि यह मेरा खेत है और दूसरी यह कि आप भी मानेंगे कि मेरे लिए तो अपने खेत की फसल ही सबसे अच्छी है।"

किसान की बात सुनकर वह जर्मन सैनिक अधिकारी लज्जित हो उठा, साथ ही किसान के प्रति उसका मनोभाव तुरन्त बदल गया। घोड़े से उतर कर उसने अपनी जेब से एक थैली निकाली, किसान के हाथों में थमाता हुआ बोला, "आज अचानक सज्जनता का यह पाठ पढ़ाकर तुमने मुझपर बहुत बड़ा उपकार किया भाई, युद्ध के इस नारकीय दलदल में फंसे हुए मुझको हाथ देकर उबारने की कीमत तो नहीं चुका पाऊंगा, लेकिन तुम्हारी फसल की भरपाई के लिए मेरी इस छोटी-सी भेंट को कहीं अस्वीकार न कर देना..."

किसान ने नम्रतापूर्वक उस थैली को स्वीकार कर, उसे अपने सिर-आंखों पर लगा लिया।

—वन्दना

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

13E-Rajanigandha
25, Ballygunge Park
Kolkata-700 019

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road

Post Box No. 5713

NEW DELHI - 110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

sunderson@auromail.net

Tel : 23612728, 23612776

Fax : 011-23620632

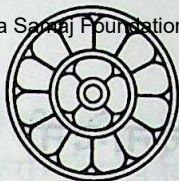
Our Lines of Business :

- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
Maihar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERRY.

Completed 80 years on Basant 2006



प्रार्थना और ध्यान

१४ अगस्त १९१४

प्रभो, हार्दिक कृतज्ञता के साथ मैं तेरे निकट आती हूँ। तूने मुझे ज्ञान के पहले शब्द दिये हैं जिनके लिए मैं इतनी लालायित थी और इस ज्ञान के साथ आयी है प्रभावकारिता, सिद्धि के हर क्षेत्र में सच्ची शक्ति।

यह केवल प्रारम्भ है, यह उपलब्धि नहीं है; लेकिन रास्ता खुल रहा है, स्पष्ट दीखनेवाला और सीधा, बस उसके अनुसरण के सिवा और कुछ नहीं करना है। अन्धकारमय दिनों के विनीत परन्तु सर्व-शक्तिशाली प्रयास के उत्तर में पर्दा चाक हो गया है। वर दे, हे प्रभो, कि सभी के लिए मार्ग इसी तरह आलोकित हो उठे और अपने अन्दर स्पष्टता के साथ देखने के बाद, दूसरों के अन्दर भी ज्ञान के सचेतन होने में कोई नयी कठिनाइयां न आयें। सभी चीजों के बावजूद मनुष्य, वह चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, अभी कम-से-कम लम्बे समय तक के लिए मानव होने के नाते ही सीमित है और जब वह विशालता के साथ सम्पर्क में आ भी जाये तो यह विशालता उसके अपने व्यक्तित्व के दृष्टिकोण के अनुसार ही उसकी बाहरी चेतना में अनूदित होती है। उसके लिए ऐसा दृश्य-आधार पाना बहुत कठिन है जो स्वयं उसके दृष्टिकोण द्वारा आंशिक रूप से मिट न गया हो। लेकिन इन अन्तिम बाधाओं को जीतना होगा, निश्चित रूप से तोड़ देना होगा ताकि वे फिर से सिर न उठा सकें। मार्ग एकदम साफ होना चाहिये और जिस ज्ञान की झांकी दी गयी है उसे दृढ़ता के साथ स्थापित होना चाहिये। प्रभो, तेरी कृपा हमारे साथ है और वह हमें कभी नहीं छोड़ती, तब भी नहीं जब आभास अन्धकारमय हो; कभी-कभी ज्यादा पूर्ण उषाओं को तैयार करने के लिए रात जरूरी होती है। लेकिन शायद इस बार तूने हमें ऐसी उषा के सामने रख दिया है जो कभी अस्त नहीं होती...।

हमारी तीव्र कृतज्ञता और हमारे सम्पूर्ण समर्पण की भेंट स्वीकार कर।

मैं जानती थी कि यह कापी मेरे आध्यात्मिक जीवन के एक पहलू की समाप्ति के साथ पूरी हो जायेगी। वस्तुतः यही हो रहा है।

प्रकाश आ गया है, रास्ता खुल गया है; श्रमसाध्य अतीत को कृतज्ञतापूर्ण नमन अर्पित कर हम तेजी से उस नये मार्ग पर बढ़ेंगे जिसे तूने हमारे आगे खोल दिया है।

हे प्रभो, एक अधिक विस्तृत और अधिक सचेतन उपलब्धि के इस नये क्षेत्र की देहली पर हम तेरे आगे सम्पूर्ण समर्पण और आराधना के साथ नमन करते हैं। हम अपने-आपको बिना किसी शर्त या प्रतिबन्ध के तुझे अर्पित करते हैं।

फिर एक बार तू ही हमारे अन्दर निवास करता है, और केवल तू ही। तू फिर से अपने राज्य का राजा बन गया है, लेकिन ऐसे राज्य का जो अधिक विस्तृत, अधिक पूर्ण और तेरे शासन के अधिक योग्य है। —श्रीमां



दैनन्दिनी

फरवरी

१. ... अपने अन्दर भागवत उपस्थिति का बोध होना—यह सब चीजों से कहीं अधिक शक्तिशाली है।
बस, एकमात्र यही चीज है जो तुम्हें भय से विमुक्त कर सकती है।
२. प्रत्येक बार जब तुम किसी अस्वस्थ कल्पना में रस लेते हो, अपने भयों की रूप-रेखा बनाते हो, दुर्घटनाओं और विपत्तियों की आशंका करते हो, तब तुम अपने भावी विनाश के लिए खाई खोदते हो। इसके विपरीत, तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक आशापूर्ण होगी, अपने लक्ष्य को पूरा करना तुम्हारे लिए उतना ही अधिक सम्भव होगा।
३. ऐसा करो कि तुम्हारी कल्पना सदा आशापूर्ण और उच्चतर 'सत्य' के दबाव के प्रति सहर्ष नमनशील रहे, जिससे वह सत्य जब आये तो तुम्हें उन रचनाओं से परिपूर्ण पाये जो उसके सर्जनकारी प्रकाश को धारण करने के लिए आवश्यक हैं।
४. यदि तुम सदा इस विचार और भाव में निवास करो कि तुम्हारा रूपान्तर होनेवाला है तो इससे तुम योग की प्रक्रिया में सहायक होगे। इसके विपरीत, यदि तुम उदास हो जाते हो और यह रोना रोते हो कि तुम योग्य नहीं हो अथवा तुम उपलब्धि को प्राप्त करने में असमर्थ हो, तो तुम अपनी सत्ता को विष से भरते हो।
५. धरती पर जीवन प्रगति के क्षेत्र के रूप में बनाया गया है और यदि हम अधिक-से-अधिक प्रगति करें तो धरती के जीवन से अधिक-से-अधिक लाभ उठा सकेंगे। और तब तुम प्रसन्न होते हो।
६. जब आदमी जो कर सकता है उसे अच्छे-से-अच्छा करे तो वह प्रसन्न होता है।
७. इस बात का विश्वास बहुत जरूरी है कि यदि आदमी समय, शक्ति, संकल्प, विश्वास, निष्कपटता आदि लगाये तो कोई चीज असम्भव नहीं है, लेकिन किसी भी तरीके से आत्म-सन्तुष्ट होना, बिना अपवाद के, हमेशा एक मूर्खता है। और यह एक ऐसी चीज है जो तुम्हें भागवत उपलब्धि से अधिक-से-अधिक दूर ले जाती है, क्योंकि यह तुम्हें मूढ़ बना देती है। और साथ ही यह उन चीजों में से है जो प्रकृति की सद्भावना के एकदम विपरीत हैं, क्योंकि प्रकृति तुरन्त तुम्हारे ऊपर हंसती है। तुम तुरन्त मज़ाक का विषय बन जाते हो। क्योंकि सचमुच ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो अपने-आप में कुछ हो। वह केवल एक सम्भावना है जिसे भगवान् ने बनाया है और जिसे केवल भगवान् ही विकसित कर सकते हैं, जिसका अस्तित्व केवल भगवान् से ही है और जिसे केवल भगवान् के लिए ही जीना चाहिये।
८. जब तुम्हारी चेतना परिपक्व हो जाये तब तुम्हें जीतने के लिए कतई नहीं खेलना चाहिये। तुम्हें खेलना चाहिये बस, खेलने के लिए, खेलना सीखने के लिए, खेल में प्रगति करने के लिए और इसलिए कि तुम्हारा खेल तुम्हारी उच्चतम आन्तरिक चेतना की अभिव्यक्ति बन सके—बस, यही है महत्त्वपूर्ण चीज।
९. समर्पण के मार्ग को यदि तुम पूर्ण रूप से और सच्चाई के साथ अपना लो तो कोई

फरवरी २००६

गम्भीर कठिनाई या कोई भय नहीं रहता। प्रश्न केवल सच्चाई का है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो योग-साधना आरम्भ मत करो। मानवीय विषयों में धोखा-धड़ी चल सकती है और तुम उसमें कुछ हद तक सफल भी हो सकते हो, किन्तु भगवान् के साथ व्यवहार करने में धोखे के लिए कोई स्थान नहीं है। हम भगवान् को धोखा नहीं दे सकते।

१०. हम यदि यह बात समझ सकें कि भगवान् के विषय में हम जो कुछ धारणा बना सकते हैं भगवान् वह सब हैं और उससे अनन्तगुना अधिक हैं तो हम उनकी सम्पूर्णता की ओर प्रगति करना आरम्भ करते हैं।

११. जितना अधिक मनुष्य जानता है, वस्तुओं के विषय में अपने निर्णय की उतनी ही कम घोषणा करता है।

१२. जब यह कहा जाता है कि यदि कोई सत्य-चेतन्य में प्रवेश कर जाता है, यदि कोई अपनी चेतना को बदल देता है तो उसके लिए स्वयं जगत् भी बदल जाता है, यह कोई बिम्ब नहीं होता, यह कोई पुष्पिता वाणी नहीं होती। और यह कोई बाहरी रूप या प्रभाव भी नहीं होता : मनुष्य साधारण चेतना में रहते हुए जैसा देखता है उससे भिन्न रूप में देखने लगता है; सम्बन्ध भिन्न हो जाते हैं, कारण भिन्न हो जाते हैं, कार्य भिन्न हो जाते हैं। ... प्रत्येक वस्तु भीतर से बाहर की ओर उलट जाती है...

१३. जो कुछ तुम हो उसे दे दो; जो कुछ तुम्हारे पास है उसे दे दो; और तुम्हारा दान पूर्ण हो जायेगा; आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वह पूर्ण होगा। यह इस बात पर निर्भर नहीं करता कि तुम्हारे पास कितना धन है या तुम्हारी प्रकृति में कितनी संख्या में सम्भावनाएं विद्यमान हैं; यह निर्भर करता है तुम्हारे दान की पूर्णता पर, कहने का तात्पर्य है, तुम्हारे अर्पण की समग्रता पर।

१४. सच्चा रूपान्तर चेतना का रूपान्तर है—बाकी सब चीजें उसके बाद अपने-आप आयेंगी।

१५. जिस क्षण मनुष्य कहता है : "हां, अब मैं जानता हूं कि केवल एक ही वस्तु है जो मेरे लिए महत्त्व रखती है, वह है दिव्य जीवन, और मैं दिव्य जीवन यापन करना चाहता हूं," —बस, उसी क्षण से उससे मांगा जाता है, उससे पहले नहीं।

१६. सच्चाई संसार की सभी इच्छाओं से अनन्तगुना अधिक बलशाली शक्ति है। वह चाहे किसी भी चीज को पलभर में बदल सकती है...

१७. जब कोई व्यक्ति प्रयास कर चुकता है तो कहता है : "ओह! मैंने प्रयास कर लिया, अब मुझे अपने प्रयास का पुरस्कार अवश्य मिलना चाहिये।"

वास्तव में यह इसलिए होता है कि मनुष्य में प्रगति करने का हर्ष नहीं होता।

१८. यौवन की परिभाषा : हम कह सकते हैं कि यह है सतत विकास और अविच्छिन्न प्रगति। और है क्षमताओं का, सम्भावनाओं का विकास, कर्मक्षेत्र का विकास और चेतना का प्रसार, और समस्त ब्योरों की उपलब्धि की ओर प्रगति।

१९. सभी वस्तुएं, निम्न लोकों की सभी शक्तियां बलप्रयोग द्वारा कार्य करती हैं। भागवत कृपा तथा प्रेम बलप्रयोग का उपयोग नहीं करते। वे तुम्हें पूरी तरह से मुक्त छोड़ देते हैं। जो उसे चाहते हैं, उसे ग्रहण कर लेते हैं, जो उसे नहीं चाहते, वे कुछ भी प्राप्त नहीं करते।

२०. अपने दोषों को एक-एक करके सुधारने की, अपनी दुर्बलताओं को एक-एक करके पार

करने की कोशिश मत करो, यह चीज तुम्हें बहुत दूर तक नहीं ले जाती। वास्तव में सम्पूर्ण चेतना को ही परिवर्तित कर देना होगा, यथार्थ में चेतना को भीतर से बाहर की ओर सम्पूर्ण उलट देना होगा, यह अपनी वर्तमान स्थिति से कूद कर एक उच्चतर स्थिति में चले जाना है जहां से मनुष्य उन सभी दुर्बलताओं पर शासन करता है जिन्हें वह सुधारना चाहता है...।

२१. चैत्य पुरुष का उद्देश्य है, एक व्यक्ति-सत्ता का निर्माण करना जो भागवत केन्द्र के चारों ओर व्यक्ति-रूप ग्रहण करे, "मूर्तिमान्" हो।
२२. प्रेम ही एकता की ओर ले जाता है और एकता ही स्वतन्त्रता की सच्ची अभिव्यक्ति है। प्रगति का चिह्न यह है कि तुम्हारे अन्दर कोई अचेतनता न रहे...।
२३. वास्तव में सबसे पहली मानव सत्ता जिसके साथ तुम्हारा सम्बन्ध है, तुम स्वयं हो। तुम दुःख कम करना चाहते हो लेकिन जबतक तुम दुःख सहने की क्षमता को प्रसन्न रहने की निश्चितता में न बदल दो तबतक संसार कभी न बदलेगा।
२४. शक्ति को प्रभावशाली बनाने के लिए विध्वंस की आवश्यकता का पुराना विचार एक ऐसा सीमा-बन्धन है जिसे जीतना ही होगा।
२५. तुम्हारे पास तुम्हारा अपना अनुभव है; उसे जितना सम्भव हो उतना सही और पूर्ण बनाने की कोशिश करो, पर प्रत्येक को उसके अपने अनुभव के साथ छोड़ दो।
२६. मनुष्य को दिखावा नहीं करना चाहिये, उसे होना चाहिये; मनुष्य को पूर्ण, सच्चा होना चाहिये और अपनी कामनाओं को सुन्दर सिद्धान्तों के द्वारा ढकना नहीं चाहिये।
२७. इस जगत् में सच्चाई इतना दुर्लभ गुण है कि यदि कोई इसे देखे तो उसे इसके सामने आदर के साथ सिर झुका देना चाहिये। 'सच्चाई', जिसे हम सच्चाई कहते हैं, अर्थात्, पूर्ण ईमानदारी और पारदर्शकता : अर्थात्, कहीं कोई चीज ऐसी नहीं होनी चाहिये जो झूठा दावा करती हो, अपने को छिपाती हो अथवा जो कुछ वह नहीं है वैसी स्वीकृत होना चाहती हो।
२८. जो कोई कार्य करो—चाहे तुम किसी ऑफिस में जाओ और हिसाब-किताब रखो, मोटरगाड़ी चलाओ, कुछ भी करो—जो भी कार्य करो, और स्वभावतः चाहे किसी भी व्यक्ति के लिए करो, वह कार्य भगवान् को अर्पित होना चाहिये। उसे करते हुए तुम्हें भगवान् को स्मरण करते रहना चाहिये और उसे भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण की अभिव्यक्ति के रूप में करना चाहिये।

आओ, हम जैसे प्रार्थना करते हैं उसी तरह काम करें, क्योंकि वस्तुतः काम भगवान् के प्रति शरीर की उत्तम प्रार्थना है।

*

क्या मैं ध्यान के लिए कोशिश करूं?

अगर तुम्हारा काम भगवान् के प्रति निरन्तर अर्घ्य है तो यह जरूरी नहीं। —श्रीमां

श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार

(कई प्रश्नों के उत्तर श्रीअरविन्द ने दिये हैं उनमें हम श्रीअरविन्द का नाम उल्लिखित कर रहे हैं।—सं.)

मैंने 'ह' को व्यायाम करने से मना किया क्योंकि उसका शरीर कमजोर है।

किसी व्यक्ति से यह कहना कि वह कमजोर है कभी अच्छा नहीं होता,—यह उसे मजबूत बनाने का तरीका नहीं है—विपरीत है।

२० जनवरी १९३४

ऐसा लगता है कि मैं लोगों की मदद करने पर जोर देता हूं और मैं सचमुच मदद करना चाहता हूं, लेकिन अब मुझे पता है कि यह बहुत अच्छी चीज नहीं है, मैंने यह बन्द कर दिया है। अगर सम्भव हो तो आपस में एक-दूसरे की मदद करना अच्छा नहीं है क्या?

दूसरों की मदद करने का विचार अहं का सूक्ष्म रूप है। केवल भागवत शक्ति ही मदद कर सकती है। तुम उसके यन्त्र बन सकते हो, लेकिन पहले तुम्हें उपयुक्त और निःस्वार्थ यन्त्र बनना सीखना होगा।

२० जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

मधुर मां! यह बताइये कि 'घ' के प्रति इस आसक्ति से पीछा छुड़ाने के लिए मुझे क्या करना चाहिये?

सबसे अच्छी चीज है कि उसके बारे में सोचना बन्द कर दो।

२० जनवरी १९३४

जब मैं यह मानता हूं कि मेरे अन्दर कोई गड़बड़ है, कोई आसक्ति इत्यादि, तो मैं उस बहुत गहराई से अनुभव करता हूं। मेरे अन्दर का कौन-सा भाग यह अनुभव करता है?

जो तुम्हारे अन्दर सचेतन है।

२१ जनवरी १९३४

आज कुछ थकान आयी।

उसे खदेड़ दो।

२३ जनवरी १९३४

मैं उसे कैसे खदेड़ सकता हूँ? और किस चीज से—क्या इच्छा, अभीप्सा की अग्नि से?

हां, दोनों अच्छे हैं।

२३ जनवरी १९३४

आज मैं 'ग' के साथ बेचैनी का-सा अनुभव कर रहा हूँ, मानों मुझे वह बहुत अच्छा नहीं लगा। भला क्यों?

प्राण का उतार-चढ़ाव—केवल चैत्य प्रेम ही निर्विघ्न रहता है।

क्या मैं अबतक भौतिक चेतना में रह रहा हूँ?

हर एक रहता है—जबतक शरीर है।

२३ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

मेरी समझ में नहीं आता कि व्यक्ति को औरों से प्रेम क्यों करना चाहिये। क्या यह कहीं अधिक अच्छा नहीं कि यह प्रेम भगवती मां के अर्पण हो?

एक ऐसा प्रेम है जिसमें संवेग बढ़ती हुई ग्रहणशीलता और विकसनशील ऐक्य के साथ भगवान् के प्रति मुड़ता है। वह भगवान् से जो कुछ प्राप्त करता है उसे मुक्त रूप से बदले में बिना कुछ मांगे दूसरों पर बहा देता है। अगर तुम यह करने में समर्थ हो तो वह प्रेम करने का सबसे ऊंचा और सबसे सन्तोषजनक तरीका है।

२३ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

इस प्रेम को पाने के लिए मुझे क्या करना चाहिये?

पहले तुम्हें इसे निरन्तर चाहना होगा।

२४ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

आन्तरिक मन और आन्तरिक प्राण क्या हैं?

बृहत्तर मन और बृहत्तर प्राण, जो सतह पर नहीं हैं।

२६ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

आन्तरिक मन और आन्तरिक प्राण का क्या कार्य है?

मन और प्राण की ही क्रियाएं, लेकिन, अधिक बड़े पैमाने पर, जो वैश्व शक्तियों के सम्पर्क में

भगिन से?

अधिक हों, जो उच्चतर चेतना के साथ अधिक आसानी से सम्पर्क में आवें।

इसका क्या अर्थ है : "ज्ञान का कमल अपने-आपको चमकती हुई दीप्ति की शक्ति में से प्रकट करता है जो हृदय-कमल के निवासी से आता है।" (आर्य)

च्छा नहीं

ज्ञान हमारे अन्दर छिपा है, वह चैत्य सत्ता द्वारा, अन्दर के भगवान् के दबाव से पर्दे के पीछे से निकलना आरम्भ करता है।

२६ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

मेरे ख्याल से माताजी यह पसन्द नहीं करतीं कि कोई उनके काम को छोड़कर और किसी कारण से दूसरे के घर जाये।

अरविन्द

यह इसलिए कि जब लोग अपने काम के सिवा मिलते हैं तो अधिकतर वे व्यर्थ की गपशप करते हैं और यह उनके हित में नहीं है।

२७ जनवरी १९३४

यह कहीं

प्यारे प्रभु, अगर मैं आपसे 'आर्य' के विषय में प्रश्न पूछूं तो क्या यह ठीक रहेगा?

भगवान्

बना कुछ

वसे ऊंचा

मेरे लिए यह सम्भव नहीं है कि मैं इन प्रश्नों के उत्तर लिखूं—क्योंकि बहुत लम्बे उत्तर देने होंगे। 'आर्य' इसलिए लिखा गया था कि लोग उसमें उत्तर पा सकें। मैं उन्हें फिर से नहीं लिख सकता।

३१ जनवरी १९३४

—श्रीअरविन्द

अरविन्द

मेरी बड़ी बहन ने मुझसे पूछा, "क्या तुम मेरे घर आओगे?" मैंने जवाब में कहा, "देखूंगा, माताजी से पूछूंगा।"

अरविन्द

उसके मामले में तुम्हें वही नियम लागू करना चाहिये जो और साधकों पर लागू होता है। उससे केवल तभी मिलो जब आवश्यक हो और केवल तभी बातचीत करो जब अनिवार्य हो।

१ फरवरी १९३४

अरविन्द

क्या मैं अपनी बहन से कह दूं कि ज्यादा अच्छा हो कि वह मुझसे केवल तभी बातचीत करे जब अनिवार्य हो?

तुम उससे हमेशा कह सकते हो कि मुझे व्यर्थ की गपशप में रस नहीं है।

३ फरवरी १९३४

म्पर्क में

'क्ष' ने मुझसे पूछा : "जब कोई व्यक्ति सिद्ध हो जाये, तो वह क्या करेगा? शायद वह

कहीं जाकर एक आश्रम खोल देगा और माताजी उसके द्वारा काम करेंगी।"

हमारा लक्ष्य एकदम से भिन्न है। हमारी पूरी स्वीकृति के साथ अभी काफी समय तक ऐसी कोई सम्भावना नहीं है कि नये केन्द्रों की स्थापना हो—हम जो चरितार्थ करना चाहते हैं उसके लिए विस्तार की अपेक्षा एकाग्रता की आवश्यकता है।

५ फरवरी १९३४

माताजी! क्या आपका यह ख्याल नहीं है कि जबतक शरीर का अस्तित्व है हम गलतियाँ करते रहेंगे और कभी-कभी चीजें भूल जायेंगे?

आवश्यक नहीं है। यह सब चेतना के विकास पर निर्भर करता है।

६ फरवरी १९३४

क्या मैं जान सकता हूँ कि प्राण किस तरह क्रिया करता है? मेरे ख्याल से वह अभीतक अशुद्धियों से भरा है।

अपनी अशुद्धियों के बारे में बहुत सोचना सहायता नहीं करता। तुम जो पवित्रता, प्रकाश और शान्ति पाना चाहते हो, उसपर अपने विचार को स्थिर रखना ज्यादा अच्छा है।

७ फरवरी १९३४

अभी-अभी मैं अनुभव कर रहा हूँ कि सब कुछ शान्त है। यह कैसी अवस्था है—सच्चा आराम या एक रचना?

व्यर्थ के प्रश्नों से आराम में क्यों बाधा डालो? मन को भी शान्त रहना चाहिये।

८ फरवरी १९३४

आज सुबह सामान्य ध्यान के समय मैंने कुछ दबाव का अनुभव किया। मैं आशा करता हूँ कि यह मेरी पढ़ाई में बाधा न बनेगा। इस हालत में ज्यादा अच्छा होगा कि मैं ध्यान न करूँ।

मुझे इसका कोई कारण नहीं दीखता कि उचित रूप में किया गया ध्यान पढ़ाई में बाधक बने—एकदम विपरीत। अगर तुम जिसे "ध्यान" कहते हो वह ध्यान बिलकुल न हो बल्कि जड़ निष्क्रियता और तन्द्रिलता की अवस्था हो तो वह तुम्हारी पढ़ाई को नुकसान पहुंचा सकती है, और चूंकि हर एक दृष्टिकोण से वह अवस्था पूरी तरह अवाञ्छनीय होती है, इसलिए निश्चित रूप से ज्यादा अच्छा है कि तुम इसमें रस न लो।

१२ फरवरी १९३४

पुरोधा

फरवरी २००६

फिर सच्चा ध्यान क्या है?

सी कोई
के लिए

वह भागवत उपस्थिति पर संकल्प के साथ की गयी एकाग्रता है और उस परम सद्बस्तु का सतत, जागरूक निदिध्यासन है।

यह दबाव कैसे और क्यों आता है?

गलतियां

आगर तुम्हारा मतलब जड़ निष्क्रियता से है तो यह निम्नतर प्राण और जड़-भौतिक प्रकृति के अन्धकार के प्रतिरोध से आती है। अथक इच्छा और अभीप्सा द्वारा इस पर विजय पायी जा सकती है।

१२ फरवरी १९३४

माताजी, क्या मैं इस अवसाद के बारे में कुछ जान सकता हूँ—यह कैसे आता है?

अभी तक

सामान्य वातावरण में अवसाद था और उसने उन सब पर आक्रमण किया जो उसके प्रति खुले थे।

श और

१ मार्च १९३४

तो, अवसाद के आक्रमण से बचने के लिए क्या किया जा सकता है?

—सच्चा

उस पर एकदम से ध्यान न दो और इस तरह व्यवहार करो मानों वह है ही नहीं।

लेकिन, सबसे पहले, वह हमारे अन्दर प्रवेश करे इससे पहले हम यह कैसे जान सकते हैं कि वातावरण में अवसाद है?

करता

ध्यान

यह ठीक नहीं है। तुम उन चीजों को दूर से देख और अनुभव कर सकते हो जो चीजें तुम्हारे बाहर हैं। उसी तरह इससे पहले कि वह तुम्हें छुए, तुम वातावरण में अवसाद का अनुभव कर सकते हो।

१ मार्च १९३४

श्रीअरविन्द

—शान्ति दोशी

क बने

क जड़

कृती है,

नेश्चित

जीवन का एक उद्देश्य है, यह उद्देश्य है भगवान् को पाना।

भगवान् दूर नहीं हैं, वे हमारे अन्दर हैं, अन्दर गहराई में, और भावनाओं तथा विचारों से ऊपर। भगवान् के साथ शान्ति और निश्चिति है और सभी कठिनाइयों का समाधान है। अपनी समस्याएं भगवान् को सौंप दो। वे तुम्हें कठिनाइयों से बाहर निकाल लेंगे।

—श्रीमां

एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र

मन

अपने पत्र-व्यवहार के आरम्भ से ही मैं श्रीअरविन्द से मन की प्रकृति के बारे में बहुत सारे प्रश्न पूछा करता था और उसे उच्चतर ज्योति और सत्य की ओर मोड़ने के बारे में भी पूछा करता था। इसका कारण यह न था कि मैं अपने अपरिपक्व मन को विकसित करना चाहता था बल्कि वास्तव में इस पत्र-व्यवहार के बन्द होने तक मैं इसके कारण को न जान पाया। मैं बस पूछता था, क्योंकि कोई चीज मुझे पूछने के लिए प्रेरित करती थी पर जैसे-जैसे समय बीतता गया, मैंने अनुभव किया कि मेरी साधना में मेरा मन मुख्य यन्त्र होगा। शुद्ध रूप से बुद्धिप्रधान मन नहीं जो स्वयं अपनी सीमित सीमाओं में घूमता रहे, बल्कि लचीला, उच्चतर सत्य के प्रति ग्रहणशील मन जो उस सत्य की प्रेरणा से क्रियाशील हो सके और साथ ही पीछे के चैत्य की ओर खुला भी हो।

जैसे-जैसे मेरा मन माताजी और श्रीअरविन्द की सहायता से विकसित होने लगा, मेरे पत्रों के उत्तर ज्यादा-ज्यादा संक्षिप्त होने लगे। पहले तो मुझे इससे धक्का लगता था पर बाद में समझ में आ गया कि श्रीअरविन्द चाहते थे कि मैं अपने-आप, अपने साधना-सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर सोचूं और फिर उनकी सत्यता जानने के लिए उनके पास भेजूं। मैं इस प्रकार के मानसिक विकास की पहले तो सराहना न कर पाया जो मुझे उनके मजेदार और मूल्यवान् उत्तरों से वञ्चित कर रहा था। मैंने थोड़ा विरोध किया; परन्तु उन्होंने मुझे यह कह कर शान्त कर दिया कि आध्यात्मिक क्षेत्र में मन का सच्चा विकास बेचैन प्रश्नों से अथवा विचारों में भटकते रहने से नहीं होता बल्कि उसके अचञ्चल रहने और अपने से परे के सत्य को पाने से होता है। आदमी जितना ही ऊंचा उठता है उतना ही ज्यादा मन प्रदीप्त हो उठता है।

विचार कैसे बनते हैं

मानस की क्रिया क्या है?

चीजों का अनुभव करना और वस्तुओं के बारे में मन के द्वारा प्रतिक्रिया करना और बुद्धि आदि तक संस्कार पहुंचाना।

हमारी साधना में मानस का क्या स्थान है?

नियमानुसार मैं इन परिभाषाओं का उपयोग नहीं करता। ये प्राचीन योग की मनोवैज्ञानिक परिभाषाएं हैं।

मानस और चित्त के बीच क्या सम्बन्ध है?

चित्त मानसिक चेतना का सामान्य उपादान है जो मानस तथा अन्य सभी चीजों को सहारा देता है। यह एक अनिश्चित चेतना है जो विचार, स्मृति, कामना, संवेदना, प्रत्यक्ष बोध, आवेश तथा चित्तवृत्ति में निश्चित होती है।

क्या यह सच नहीं है कि कभी-कभी चित्त व्यापक प्रकृति में से कोई चीज लेता है और तब उसे विचार, कामना आदि में निश्चित करता है?

दोनों तरह से होता है। चित्त इन चीजों को ग्रहण करता है और उन्हें रूप देने के लिए प्राण और मन तक पहुंचा देता है और वहां से उन्हें बुद्धि को सौंप दिया जाता है। लेकिन ऐसा भी होता है कि वह विचारों को बुद्धि से पाता है और उन्हें कामनाओं, संवेदनों और आवेशों में बदल देता है।

आप कहते हैं "चित्त इन चीजों को ग्रहण करता है और उन्हें रूप देने के लिए प्राण और मन तक पहुंचा देता है और वहां से उन्हें बुद्धि को सौंप देता है।" क्या इसका मतलब यह है कि चित्त किसी भी चीज को रूप नहीं देता, यह काम प्राण और मन का है?

चित्त वह चेतना है जिसमें से सब कुछ रूपायित होता है, परन्तु रूप देते हैं मन या प्राण या अन्य कोई शक्ति—मानों वे चित्त की आत्माभिव्यक्ति के यन्त्र हों।

जब चित्त रूपायित करने के लिए मन और प्राण में चीजें भेजता है तो क्या निर्माण के लिए चित्त की नहीं मन और प्राण की जिम्मेदारी होती है?

चित्त के अन्दर कोई चीज निर्माण में सहायता देती है या सूक्ष्म रूप से निर्माण करती है।

यहां आपके 'सूक्ष्म रूप' शब्द से क्या मतलब है?

प्रकट रूप से या ठीक यथातथ्य रूप से नहीं, और इस तरह से नहीं कि तुम यह कह सको कि चित्त ने यह किया है और बाकी किया प्राण ने।

क्या चित्त को बाहर से निरुद्देश्य आनेवाले विचारों को पकड़ना बन्द न कर देना चाहिये?

हां, निश्चय ही, लेकिन चूंकि उसका सारा काम ही है ऊपर, नीचे या इधर-उधर से आनेवाले विचारों को पकड़ना इसलिए वह इसे रोक नहीं सकता। वह इसका निर्णय अपने-आप नहीं कर सकता कि वह क्या ले और क्या न ले। इसलिए उसे बुद्धि, प्राणिक इच्छा-शक्ति या किसी उच्चतर शक्ति से सहायता लेनी पड़ती है। बाद में जब उच्चतर चेतना उतरती है तो वह बदलना शुरू करता है और इस योग्य हो जाता है कि वह अपने-आप उन चीजों को रद्द कर सके जो सत्य, उचित, दिव्य या सत्ता के अन्दर दिव्य विकास के लिए सहायक न हों।

जब प्राणिक संकल्प चित्त की सहायता करता है तो क्या वह बुद्धि की तरह खुल सकता और निर्वैयक्तिक रूप से करता है?

साधारणतः बुद्धि या प्राणिक संकल्प में निर्वैयक्तिकता की जरूरत नहीं होती।

क्या हम, जो विचार, कामनाएं, संवेदन, आवेश इत्यादि बाहर से चित्त में आते हैं और जो बुद्धि से आते हैं, उनके बीच भेद कर सकते हैं?

हां, परन्तु चित्त कामनाओं और संवेदनों को बुद्धि द्वारा प्राप्त नहीं करता। वह बुद्धि से विचार लेता है और उन्हें कामनाओं में बदल देता है।

जब तक चित्त प्रदीप्त न हो जाये तब तक यह आशा नहीं की जा सकती कि कामनाएं मूलतः परिवर्तित हो सकेंगी। है न?

हां।

जब चित्त विचारों, कामनाओं आदि को बुद्धि से नहीं, कहीं बाहर से पाता है तो क्या वह उन्हें जैसा का तैसा रख सकता है या बदल देता है?

चित्त में हमेशा या साधारणतः कुछ बदलनेवाली प्रतिक्रिया होती है—हां, वह कभी-कभी उन्हें पाकर यन्त्रों को दिये बिना संग्रह करके रख लेता है तो बात अलग होती है।

मानस सोचना बन्द कर सकता है, लेकिन अनुभव करना कैसे बन्द कर सकता है भला?

वह निष्क्रिय रूप से चुपचाप अनुभव कर सकता है—इससे कोई स्पन्दन पैदा नहीं होता, न नीरवता भंग होती है।

चित्त और अवचेतना में कैसा सम्बन्ध होता है?

वैसा ही जैसा सत्ता के किसी अन्य भाग के साथ—चित्त का एक अवचेतन भाग होता है जो वस्तुओं के अतीत के संस्कारों को रखता है और चेतना में स्वप्न के समय उनके रूपों को भेजता है या पुरानी गतियों की आदत को बनाये रखता है और जब कभी अवसर मिले उन्हें ऊपर भेज देता है।

क्या चित्त ही हमारे यान्त्रिक मन को बार-बार चक्कर लगानेवाले विचार भेजता रहता है?

हां।

क्या मैं विचारों, कामनाओं और आवेशों की प्रकृति को जान सकता हूँ, और वे मनुष्यों में क्यों और कैसे आया करते हैं?

यह ऐसी चीज है जिसे तुम अनुभव करते हो, जो बात सभी जानते हैं उससे ज्यादा कुछ नहीं कहा जा सकता। रही बात यह कि वे कैसे आते हैं तो वे वैश्व प्रकृति की गतिविधियों के रूप में आते हैं, अगर उन्हें आने दिया जाये तो व्यक्ति के अन्दर रूप धारण कर लेते हैं, जैसे अन्य प्राकृतिक लहरें आती हैं और किसी उचित पात्र के अन्दर किसी विशेष प्रयोजन के लिए रूप लेती या क्रिया करती हैं।

आपने उस दिन मुझे लिखा था कि 'क' के विचार और कामना ने मेरे स्वप्न में आकार लिया होगा। तो किसी और के विचार या कामनाएं मेरे स्वप्न में कैसे रूप ले सकती हैं?

क्यों नहीं? लोगों के विचार तुम्हारे जाने बिना जाग्रत अवस्था में भी घूमते रह सकते हैं, तो फिर स्वप्न में भी क्यों नहीं?

अगर हम माताजी की क्रिया को पूरी तरह और हमेशा स्वीकार करें तो हमारे अन्दर प्रवेश करने की अन्य सत्ताओं की कोशिश कैसे सफल हो सकती है?

अगर तुम केवल माताजी की क्रिया को ही स्वीकार करो तब वह सफल नहीं हो सकती।

यह हमेशा प्रयास से नहीं होता। तुम बिना किसी प्रयास के, बिना इरादे के औरों के विचार और उनकी भावना को ग्रहण कर लेते हो क्योंकि वे वातावरण में हैं।

अगर हम औरों के विचारों के बारे में अचेत हों तो क्या वे अपना कोई निशान छोड़े बिना ही न निकल जायेंगे?

विलकुल नहीं। अगर तुम यह नहीं जानते कि वे कैसे आते हैं तो तुम उन्हें अपना समझ बैठते हो और तब उनमें ज्यादा शक्ति होती है।

क्या यह सच है कि किसी के भी अपने विचार नहीं होते? वे या तो लोगों से, निचली प्रकृति से आते हैं या उच्चतर मन से?

सभी चीजें उस प्रकृति से आती हैं जिसके मनुष्य एक भाग हैं, लेकिन वे हमारे अपने कहलाते हैं क्योंकि वे हमारे अपने मनों में रूप-विशेष, व्यवस्था या संयोजन बना लेते हैं।

हमारे मन में से जो विचार गुजरते हैं वे सब वहां नहीं ठहरते। कुछ बिना दिखायी दिये ही निकल जाते हैं और उनका कोई चिह्न तक नहीं रहता पर कुछ और वहीं ठहर कर

अपना काम करते हैं। क्या वे इसलिए नहीं उहरते कि उन्हें सत्ता के किसी भाग से कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलती? अगर कोई चीज उन्हें प्रत्युत्तर न दे तो वे रह ही कैसे सकते हैं?

यह सचेतन प्रतिक्रिया नहीं होती। केवल जब विचार सतह पर उठ आते हैं तो सचेतन मन उनके बारे में अभिज्ञ होता है और उन्हें स्वीकार करता है, लेकिन वह उन्हें इस विचार से स्वीकार करता है कि ये उसके अपने हैं।

किस स्थिति में आदमी विचारों और कामनाओं के अन्दर आने से पहले उनके बारे में सचेतन हो सकता है?

जब आदमी अपने सीमित भौतिक व्यक्तित्व से बाहर हो जाये और उसकी चेतना बाहर फैल जाये।

क्या यह ज्यादा अच्छा नहीं है कि विचारों को अपने से दूर रखने के लिए आदमी उनसे उदासीन रहे और माताजी के प्रति अभीप्सा करे?

तुम ऐसा कर सकते हो, बशर्ते कि विचार तुम्हारी असावधानी में से होकर न घुस आयें।

क्या यह सच है कि हम सामान्य प्रकृति से जो पाते हैं उसका कोई निश्चित आकार नहीं होता, लेकिन वह एक विशेष प्रकार की शक्ति होती है न? यह शक्ति इस तरह कैसे बदल जाती है कि हम उसे विचार, संवेदन या आवेश के रूप में अनुभव करते हैं?

तुम केवल शक्ति ही नहीं बल्कि आवेश, विचार या संवेदन भी पा सकते हो। तुम उसे औरों से पा सकते हो, प्रकृति की सत्ताओं से पा सकते हो या स्वयं प्रकृति से पा सकते हो, यदि वह अपनी शक्ति को इस तरह के किसी तैयार यानी बने बनाये रूप में देना चाहे।

जब साधक किसी आवेश, ऊर्जा या विचार को रद्द कर देता है तो उसका क्या होता है?

लौटाई हुई शक्ति निश्चित रूप से वैश्व स्तर पर चली जाती है। उसका रूप गायब हो सकता है, परन्तु ऊर्जा लौट आती है।

जब हर चीज सचमुच वैश्व प्रकृति से आती है तो ऐसा क्यों लगता है कि आवेश हमारे अपने अन्दर से उठते हैं?

क्योंकि लोग अपनी व्यक्तिगत चेतना में बन्द रहते हैं—वे परिणाम देखते हैं, वे स्वयं अपने अन्दर संवेदन देखते हैं पर वे प्रक्रिया और मूल को नहीं देखते—सारे मानव जीवन में यही होता है।

फरवरी २००६

क्या एक विचार अपने ऐकान्तिक सन्तोष के मार्ग को छोड़ कर हमारा पथ-प्रदर्शन नहीं बन सकता?

कैसा विचार? मानसिक विचार आंशिक और अज्ञानमय पथ-प्रदर्शक से बढ़कर कभी और कुछ नहीं हो सकता।

भौतिक विचारों का क्या काम होता है?

उनका भौतिक चीजों, सामान्य बाहरी अनुभवों, अभ्यासगत विचार और क्रिया के साथ सम्बन्ध होता है। भौतिक मन इन चीजों को बाहरी दृष्टिकोण से देखता है, वह उन्हें उसी तरह से देखता है जैसी वे दिखायी देती हैं और उस तरह व्यवहार करता है जो उसे सामान्य व्यावहारिक ढंग लगे।

जब मन चैत्य हो जाये तो निचली शक्तियों से आनेवाले विचार भी अपने-आपको दिव्य विचारों में बदल लेंगे? ठीक है न?

हां, या झड़ जायेंगे और फिर न आयेंगे।

—नगीन दोशी

पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर

बात नेपाल की है। महाराणा का दरबार लगा हुआ था। बड़े-बड़े सरदार, नेपाल के सारे चुने हुए कलाकार और संगीतप्रेमी उपस्थित थे। भारत से आया हुआ एक युवा आज अपना गान सुनानेवाला था। ठीक समय से पहले महाराणा के मन्त्री ने गायक से उसके गुरु का नाम पूछा। युवक ने बताने से इन्कार कर दिया। सभा में खलबली मच गयी। उनके यहां रिवाज था कि घोषणा करते समय कहा जाता था कि अमुक का शिष्य अमुक गायेगा। कइयों ने समझाया पर गायक टस-से-मस न हुआ। उसने कहा, "आप मेरा गाना सुन लीजिये, पसन्द आया तो गुरु का नाम बताऊंगा और न पसन्द आया तो गुरु का नाम कलंकित किये बिना यहां से बिस्तर गोल कर लूंगा।" बात लोगों को पसन्द आ गयी। और उसे गाने की स्वीकृति मिल गयी। गान क्या हुआ, अमृतवर्षा हुई और सारे श्रोता मन्त्रमुग्ध बैठे रहे। अन्त में घोषणा की गयी कि यह गायक विष्णु दिगम्बर का शिष्य ओंकारनाथ है।

पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर के पितामह १८५७ में नाना साहब और तात्या टोपे के विश्वासपात्र सरदार थे जिन्होंने कानपुर, कालपी, झांसी आदि की लड़ाइयों में भाग लिया था और नाना साहब के परिवार को नेपाल ले जाने का भार भी उन्हें ही सौंपा गया था। इनके पिता गौरीशंकर ठाकुर बड़ौदा राज्य में दो सौ घुड़सवारों के सरदार थे। कहते हैं, एक बार राज्य की तिजोरी

कहीं ले जायी जा रही थी। पहरेदारों के साथ गौरीशंकर को भी भेजा गया। इन्होंने इतने पहरेदार देखे तो अपने-आप जरा दूर निकल गये। ठीक उसी समय डाकुओं के सशस्त्र दल का आक्रमण हुआ। पहरेदारों ने घबराकर गौरीशंकर को आवाज दी। गौरीशंकर ने दूर से कहा, "मैं आया" और सारे डाकू इस गरज को सुनकर यह कहते हुए भागे, "अरे, इनके साथ तो एक मर्द है, किसी को जिन्दा न छोड़ेगा।" कहते हैं इसी तरह एक बार शाही खजाना ले जानेवाले बैलों पर एक सांड ने आक्रमण कर दिया। इस सांड के नाम से दूर-दूर के लोग भी घबराते थे। गौरीशंकर आगे आये और मुड़ी भर मिट्टी सांड की आंखों में झाँक दी और सींग पकड़ कर उसे गिरा दिया। कहते हैं कि वे लाठी के भी उस्ताद थे। बीस लठैतों से या पचास पत्थर फेंकनेवालों से अपनी रक्षा कर लेना उनके लिए मामूली बात थी। उनके बारे में प्रचलित है कि उन्होंने अलूणी बाबा नामक एक योगी से प्रणव की दीक्षा ली थी और जब वे जप करते थे, दो-दो मील दूर तक प्रणवनाद गुंजा करता था। उन्हीं दिनों उनकी श्रीमती के गर्भ रह गया और गौरीशंकर ने निश्चय कर लिया कि गर्भ से लड़का होगा और उसका नाम ओंकार रखा जायेगा।

ओंकारनाथ के जन्म के समय पारिवारिक कलह अपनी चरम सीमा पर पहुंचा हुआ था। इनके पिता घर से दूर पड़े हुए थे और इनके ताऊ ने और सबकी मुसीबत कर रखी थी। ऐसी अवस्था में छोटे-छोटे चार बच्चों को लेकर पीहर जाना इनकी मां को अपनी मर्यादा के विरुद्ध लगा। वह बहादुर नारी दस दिन के ओंकार को लेकर आषाढ़ की बरसात में खेतों में निराई कर-कर के अपना और बच्चों का पेट पालने लगी। सारे गांव में तहलका मच गया पर ओंकार की मां झवेर बा ने परवाह न की। ओंकार चार वर्ष का हुआ। इसके ताऊ रेवाशंकर ने बड़े क्रूरतापूर्ण व्यवहार से अपने पिता को बाधित किया कि सारी सम्पत्ति उनके नाम लिख दें। गौरीशंकर ने अपने पिता के वचन को मानकर अपने भाग से हाथ खींच लिया। रेवाशंकर ने अपने छोटे भाई के परिवार को फटेहाल घर से निकाल दिया। गौरीशंकर ने किसी पड़ोसी से बारह रुपये उधार लिये और ओंकारनाथ की मां, बहन और भाइयों को अपनी ससुराल में पहुंचा आये और अपने-आप कहीं और चले गये। लेकिन चार वर्ष का ओंकार भरी दुपहरी में पैदल चार मील का रास्ता काटकर उनके पास जा पहुंचा। उस समय नाना के यहां बड़ा भोज हो रहा था इसलिए घर में किसी को पता भी न लगा। फिर छः वर्ष के होते न होते बालक ओंकार ने एक वकील के रसोइये के सहायक के रूप में नौकरी कर ली।

इसी तरह और कुछ समय बीता। गौरीशंकर ने अपने दो बेटों का यज्ञोपवीत करवाया और अपने-आप नर्मदा तट पर वैरागी होकर रहने लगे। तभी से ओंकार ने झाड़ू-बुहारन करके, रामलीला-दलों में भाग लेकर पैसा कमाना शुरू किया। कुछ समय उसने जैन साधुओं के यहां भी झाड़ू लगायी। उसी समय साधु अपने शिष्यों को पढ़ाते थे। बालक ओंकार झाड़ू लगाते समय सब कुछ सुनता जाता था और जब विद्यार्थी गुरु के प्रश्नों का उत्तर न दे पाते तो चट से ओंकार बोल पड़ता था। इससे साधु बहुत प्रसन्न हुए और इस बालक को भी पढ़ाना शुरू कर दिया। पिता गौरीशंकर अयाचक वृत्ति के साधु थे। कोई भिक्षा दे जाये तो खा लेते थे, मांगने कहीं न जाते थे। बेटा ओंकार उनकी सेवा में रहता तो उसे भी यही करना पड़ता था। इस तरह कभी-कभी चार दिन बिना खाये रहना पड़ जाता था। इस बीच बालक मां के यहां खा लेता तो उसे प्रायश्चित्त के लिए उपवास करना पड़ता था। इधर पिता की तपश्चर्या और उधर मां की

गरीबी! बालक नदी में बहते पेड़ों को पकड़ता फिरता था ताकि घर के ईंधन का काम चले। चार महीने तक रामलीला में काम करने के बाद ३२ रुपये मिले तो दस वर्ष का बालक पैंतीस मील चलकर भड़ूच गया और सारी कमाई मां के चरणों में रख आया। उधर मां भी सवेरे तीन बजे उठकर नर्मदा में से चालीस-चालीस घड़े पानी भरकर लोगों के यहां दे आया करती और नाक पर ढाटा बांधकर तमाखू पीसा करती थी ताकि चार पैसे मिल सकें।

इन दिनों की एक बड़ी मजेदार घटना है जिस पर अविश्वास करने के लिए कोई कारण नहीं। गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी पूर्णानन्द गौरीशंकर जी के साथ शास्त्रार्थ करने आये। गौरीशंकर जी को यह पसन्द न था, उन्होंने बालक ओंकार के सिर पर हाथ रखकर कहा, बेटा तू ही इनसे निबट ले और ओंकार ने धाराप्रवाह शास्त्रार्थ करना शुरू कर दिया जिसमें स्वामीजी की हार हुई।

१९१० की बात है। ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा में सात दिन बाकी थे। गौरीशंकरजी ने ओंकार को भेजकर घरवालों से कहला भेजा कि पूर्णिमा को उनका देहावसान होनेवाला है, जो उनसे मिलना चाहते हों, आकर मिल जायें। सब नातेदार-रिश्तेदार इकट्ठा हो गये परन्तु उनका स्वस्थ-सबल शरीर देखकर किसी को उनकी बात पर विश्वास न हुआ। पूर्णिमा से पहले की रात गौरीशंकर जी ने ओंकार से उपनिषद्-पाठ करवाया और उसके समाप्त होने पर सवेरे प्रसाद बांटा गया। फिर पिता ने अपने बड़े लड़के बालकृष्ण और तीसरे लड़के ओंकार को लेकर कुटिया के अन्दर प्रवेश किया और वहां पान खाकर थूका। उन्होंने पहले अपने बड़े बेटे से पूछा, तू इसे खायेगा? बालकृष्ण ने कहा, छिः गन्दा, इसे कौन खायेगा? ओंकार उछल पड़ा और बोला, पिताजी इस पर मेरा अधिकार है और यह कहते-कहते वह उसे खा गया। पिता बहुत खुश हुए और बोले, अभी योग-दीक्षा के लिए तू बहुत छोटा है पर मेरा आशीर्वाद है कि वाणी के बल पर तू सर्वत्र विजयी होगा। यह कहकर उन्होंने ओंकार की जीभ पर वाग्बीज मन्त्र लिखा और पद्मासन लगाकर जोर से ॐ ॐ कहते हुए संसार से चल बसे।

अब घर में सबसे बड़े होने के नाते बालकृष्ण ओंकार के संरक्षक बने। उनसे भड़ूच के एक सेठ ने कहा, तुम्हारे भाई में प्रतिभा है वह बहुत अच्छा गा सकेगा। उसे पं. विष्णु दिगम्बर के पास भेज दो। विष्णु दिगम्बर उन दिनों भारतीय संगीत को नया जीवन देने में लगे थे और उन्होंने बम्बई में गान्धर्व महाविद्यालय खोला था। यह प्रस्ताव सुनकर ओंकार का दिल बल्लियों उछलने लगा और वह बोला, यदि आप मुझे वहां भेज दें तो मैं संगीत में अद्वितीय बनकर दिखाऊंगा। बात तय हो गयी। सेठ ने रेल के खर्च के लिए कुछ पैसा दे दिया और फटे हाल ओंकार पुराने ब्रह्मचारियों की तरह हाथ में केवल समिधा लिए गुरुद्वार पर जा खड़ा हुआ। गुरु को रत्न पहचानते देर न लगी और उन्होंने ओंकार को अपना अन्तेवासी बना लिया। ओंकार घर का काम-काज भी करता था और संगीत भी सीखता था। इतना ही नहीं, अन्य विद्यार्थियों की सहायता भी करता था। इसके अतिरिक्त गुरु की पुस्तकें छापने में सहायता करना भी उसका एक मुख्य काम था।

इसी तरह तीन वर्ष बीत गये। भाई बालकृष्ण की इच्छा हुई कि ओंकार को काम पर लगाया जाये ताकि घर की गरीबी दूर हो। एक नाटक कम्पनी इसे ४०० रु. मासिक पर लेने को तैयार हो गयी पर जिसके भाग्य में सूर्यालोक बदा हो वह टिमटिमाता दीया लेकर कैसे सन्तुष्ट हो सकता है! घरवालों का आग्रह बढ़ता गया पर ओंकार न माना और उसने उनकी

अनुनय-विनय की परवाह न की। फिर भी बड़े भाई गरीबी की दुहाई देकर जोर देते ही गये। तब गुरु विष्णु दिगम्बर ने ओंकार की सहायता की। उन्होंने बालकृष्ण से कहा, आपने ओंकार को नौ वर्ष के लिए भेजा था। अब तीन वर्ष के बाद ही उसे ले जाना चाहते हैं। ठीक है, आपका अधिकार है, परन्तु इन तीन वर्षों में मैंने उस पर जितना खर्च किया है उतना मुझे देते जाइये। भाई इतना कहां से लाते? आखिर अपना-सा मुंह लेकर चले गये।

छः-सात वर्षों तक गुरु ने ओंकार को अपने पास रखा और फिर १९१६ में लाहौर में गान्धर्व महाविद्यालय का आचार्य बनाकर वहां भेज दिया। वहां उन्हें विद्यालय के अध्यापन-कार्य के अतिरिक्त विद्यालय का खर्च चलाने के लिए 'ट्यूशन' करनी पड़ती थीं। यहां पर पण्डित ओंकारनाथ को दिन में अठारह घण्टे काम करना पड़ता था। नौ घण्टे तो एक आसन से बैठकर अभ्यास किया करते थे। गाने के साथ ही तबला भी अपने-आप ही बजाया करते थे। इनकी कठोर तपस्या सरस्वती को रिझाये बिना न रह सकी। १९१८ में सारे भारत में प्रसिद्ध संगीताचार्य भास्कर राव बखले जालन्धर के संगीत-सम्मेलन में आये हुए थे। पण्डित ओंकारनाथ भी वहां निमन्त्रित थे। चार दिन तक सवेरे-शाम दोनों का गायन होता रहा। संगीत के पारखी सुनते-सुनते न अघाते थे। अन्तिम दिन भास्कर राव ने कहा, "अब मैं तुमसे ऊंची गद्दी पर बैठकर नहीं गा सकता।" इतने महान् गायक ने इस नवयुवक को अपने से श्रेष्ठ मान लिया। लोगों ने तालियां बजायीं और ओंकारनाथ के गले में फूलों की मालाएं पहना दीं। परन्तु उसी समय ओंकारनाथ ने मालाएं भास्कर राव के चरणों में समर्पित कर दीं और कहा, "इन पर आपका ही अधिकार है।"

१९२० में पं. विष्णु दिगम्बर ने अपने कई शिष्यों को संगीत-प्रवीण की पदवी दी। ओंकारनाथ वहां नहीं थे इसलिए उन्हें यह पदवी न मिल सकी। कुछ समय बाद जब विष्णु दिगम्बर अपने गुरु बालकृष्ण बुआ के साथ लाहौर आये तो उन्होंने कहा, यहां एक समारोह करके तुम्हें संगीत-प्रवीण की पदवी देनी है। ओंकार ने कहा, यह आपका अनुग्रह है पर अब समय बीत चुका है, इसकी आवश्यकता नहीं। जब गुरु ने बार-बार आग्रह किया तो वे बोले, जब आप अपने गुरुदेव से शिक्षा लेकर विदा हुए थे तो उन्होंने आपको कोई पदवी नहीं दी, परन्तु उनकी कृपा से आपने कितने ही संगीत-प्रवीण खड़े कर दिये। मुझे भी अपने गुरु से इतनी विद्या मिली है कि मैं भी सैकड़ों संगीत-प्रवीण तैयार कर सकूंगा। पदवी तो उन्हें चाहिये जिन्हें उसके बल पर आजीविका कमायी हो। गुरु ने गद्गद होकर ओंकार को गले लगा लिया।

इसके बाद ओंकारनाथ गुजरात लौट आये और कुछ समय अपने बचपन के साथी श्री अम्बालाल पुराणी के साथ नर्मदा-तट पर कुटिया बनाकर रहे। साधना के साथ-साथ संगीत भी चलता रहा। कुछ समय के बाद दोनों की इच्छा हुई कि श्रीअरविन्द के पास पोंडिचेरी जायें। पुराणीजी तो पोंडिचेरी जा पहुंचे पर ओंकारनाथ को लगा कि उन्हें संगीत-साधना के द्वारा ही सिद्धि मिलेगी। इसके बाद वीणावादिनी के धनहीन पुत्र का विवाह एक बहुत समृद्ध सेठ की पुत्री इन्दिरा से हो गया।

१९२३-२४ में पण्डित जी नेपाल गये। महाराजा ने पांच हजार रुपयों का ढेर लगाकर उस पर कालीन बिछाकर पण्डित जी को उस पर बिठाया और वह धन पण्डित जी को समर्पित कर दिया। एक दिन महाराजा ने कहा, "पण्डित जी, तुम हमारे राजगायक बन जाओ, तुम्हें पांच

फरवरी २००६

पुरोधा

ही गये।

ओंकार

ठीक है,

मुझे देते

महौर में

न-कार्य

पण्डित

बैठकर

इनकी

तोताचार्य

भी वहां

सुनते-

बैठकर

गोनों ने

समय

आपका

कारनाथ

अपने

क तुम्हें

य बीत

ब आप

उनकी

मिली

के बल

थी श्री

गीत भी

जायें।

मारा ही

नी पुत्री

र उस

त कर

पांच

हजार तक दे सकता हूं।” पण्डित जी ने तुरन्त उत्तर दिया, “राजन्, अभी आप मेरे साथ मान-पूर्वक व्यवहार करते हैं, मेरे कन्धे पर हाथ रखकर बातें करते हैं, राजगायक होने पर मुझे झुक-झुक कर सलामी देनी होगी और यह काम इस ब्राह्मण से न होगा।” महाराज देखते रह गये। नेपाल से लौटकर उन्होंने मां के चरणों के आगे रुपयों का ढेर लगा दिया और जिस गांव से उन्हें अपने जेठ के दुर्व्यवहार के कारण निकलना पड़ा था, उसी गांव में उनके लिए एक बड़ा-सा मकान बनवा दिया जहां वे आराम से रह सकें।

१९३० में पण्डित जी को फिर नेपाल से निमन्त्रण आया। महाराज का राजगायक बाला-प्रसाद इनसे बहुत जलता था और तरह-तरह से इनको नीचा दिखाने की कोशिश करता था। इसकी भनक महाराज के कानों में भी पड़ी। उन्होंने एक दिन दोनों के गान की प्रतियोगिता की घोषणा कर दी पर कहां राजा भोज और कहां गंगू तेली। पण्डित जी के मुकाबले में वह क्या ठहरता। महाराज ने खुले दरबार में घोषणा की कि ओंकारनाथ विजयी हुए और अपने हाथ से उन्हें विजयमाला पहनायी और दोशाला ओढ़ाया। पण्डित जी को पुलिस की सलामी मिलने लगी और उनकी मोटर को ऐसी सुविधाएं मिलीं जो केवल राजघराने के लोगों को ही मिला करती थीं। इन्हीं दिनों पं. विष्णु दिगम्बर नेपाल आये हुए थे। पण्डित जी विजयमाला और दोशाला लेकर उनके यहां पहुंचे और दोनों चीजें उनके चरणों में रख दीं। विष्णु दिगम्बर की आंखें छलछला आयीं और उन्होंने अपने शिष्य को गले से लगा लिया और फिर से माला पहनाकर दोशाला ओढ़ाया।

१९२६ में हैदराबाद सिन्ध में एक ही मञ्च पर पण्डित जी का और उनके गुरु विष्णु दिगम्बर का संगीत होनेवाला था। पण्डित जी रात के बारह बजे तक गाते रहे और उनके गुरु एक-एक कड़ी पर वाह-वाह, साधु-साधु कहते जा रहे थे। जब इनका गाना खतम हुआ तो गुरुदेव उछल पड़े और भरी सभा में बोले, “शिष्यादिच्छेत् पराजयम्” आज मेरी यह साध पूरी हो गयी। मैंने अपना नया रूप अपने शिष्य में देख लिया। अब मेरे गाने की जरूरत नहीं रही।

इसके बाद पण्डित जी यूरोप गये और वहां के हर देश में उनका शाही स्वागत हुआ। लंदन में भारत के उच्चायुक्त ने प्रस्ताव किया, आप महाराज पञ्चम जॉर्ज से निवेदन कीजिये कि वे आपका संगीत सुन लें। पण्डित जी ने तपाक् से उत्तर दिया, भारत का कलाकार-ब्राह्मण राजा से इस प्रकार की भिक्षा नहीं मांग सकता। स्वयं सम्राट् का कर्तव्य है कि अपने देश में आये हुए कलाकार को निमन्त्रित करें। अपनी ओर से याचना करना मेरी कला और मेरे ब्राह्मणत्व दोनों का अपमान होगा।

इन्हीं दिनों रूस से निमन्त्रण आया। लेकिन साथ ही घर से तार भी आया कि नवप्रसूता पत्नी अचानक चल बसी। पण्डित जी का हृदय टूट गया। भावुक हृदय इतना बड़ा आघात न सह सका। पण्डित जी स्मृति खो बैठे और उन्हें स्वदेश लौटना पड़ा। समय सबसे बड़ा चिकित्सक है। धीरे-धीरे पण्डित जी लगभग ठीक हो गये और १९५० में पं. मदनमोहन मालवीय जी की पुरानी इच्छा पूरी करने के लिए उन्होंने काशी-विश्वविद्यालय के संगीत महाविद्यालय का आचार्य बनना स्वीकार किया।

हमने पं. ओंकारनाथ के बाल्यावस्था के साथी (जिनके साथ उनका अन्त तक मधुर सम्बन्ध बना रहा) श्री अम्बालाल पुराणी से सुना है कि काशी में पण्डित जी एक विशद ग्रन्थ लिख रहे

थे। एक सज्जन शिष्य-भाव से बड़ी भक्ति के साथ आया करते थे और सहायता करने के बहाने इस ग्रन्थ की नकल करते जाते थे और एक दिन दिङ्मूढ़ पण्डित जी ने देखा कि उनका ग्रन्थ इन भक्त महानुभाव के नाम से छप गया है और उनपर चारों ओर से प्रशंसा बरस रही है। पण्डित जी चाहते तो उन सज्जन पर मुकद्दमा कर सकते थे लेकिन जिसे एक बार शिष्य मान लिया उस पर मुकद्दमा कैसे?

पण्डित जी के संगीत के बारे में तो कोई जानकार ही कह सकता है इसलिए हम उस अध्याय को अधिक योग्य व्यक्तियों के लिए छोड़ते हैं। यहां दी हुई घटनाएं कुछ तो पुरानी जी से सुनी थीं और कुछ हीरक जयन्ती अभिनन्दन-ग्रन्थ में छपी थीं।

आखिर १९६७ के अन्त में उनकी इहलीला समाप्त हो गयी।

—रवीन्द्र

अनुशासन—जीवन में अनिवार्य

भौतिक जीवन के लिए अनुशासन अनिवार्य है। अंगों के सुचारु कार्य का आधार है अनुशासन। जब शरीर का कोई अंग या भाग सामान्य शारीरिक अनुशासन की अवज्ञा करता है ठीक तभी तुम बीमार पड़ते हो।

प्रगति के लिए अनुशासन अनिवार्य है। तुम दूसरों के लगाये अनुशासन से केवल तभी बच सकते हो जब तुम अपने ऊपर कठोर और ज्ञानयुक्त अनुशासन लगा सको।

सर्वोत्कृष्ट अनुशासन है भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण और तुम्हारी भावना में या क्रिया-कलाप में कहीं किसी और की कोई समायी न हो। इस समर्पण से कुछ भी न बच पाये—यही चरम और कठोर अनुशासन है।

*

सामुदायिक जीवन में अनुशासन आवश्यक है ताकि कमजोर बलवान् द्वारा सताये न जायें और जो लोग समाज में रहना चाहते हैं उन सभी को इस अनुशासन का मान करना चाहिये। किन्तु यह अनुशासन उनके द्वारा लागू होना चाहिये जिनके मन सबसे विशाल हैं, यदि सम्भव हो तो ऐसों के द्वारा जो 'भागवत उपस्थिति' के प्रति सचेतन और समर्पित हों, ताकि समाज सुखी रह सके।

यह शक्ति उन्हीं के हाथों में होनी चाहिये जो 'भागवत इच्छा' के प्रति सचेतन हैं, ताकि धरती प्रसन्न रहे। पर अभी तो यह असम्भव है क्योंकि जो 'भागवत इच्छा' के प्रति सचमुच सचेतन हैं उनकी संख्या नगण्य है, और उनमें ऐसी कोई आकांक्षा भी नहीं दीखती।

वास्तव में, जब इस उपलब्धि का समय आयेगा तो यह स्वभावतः अपनी जगह ले लेगी। प्रत्येक का कर्तव्य है कि अपनी शक्ति-भर पूरी तरह अपने-आपको इसके लिए तैयार करे।

*

फरवरी २००६

पुरोध

बिना अनुशासन के शारीरिक शिक्षा सम्भव नहीं है। कठोर अनुशासन के बिना स्वयं शरीर भी काम न कर सकेगा। असल में, इस तथ्य को न स्वीकारना ही व्याधियों का मुख्य कारण है। पाचन, वृद्धि, रक्त-सञ्चरण, सब, सब कुछ ही तो एक अनुशासन है; चिन्तन, गतियां, चेष्टाएं सभी तो एक अनुशासन है। यदि अनुशासन न हो तो लोग तुरंत बीमार पड़ जाते हैं।

*

सच्ची बुद्धिमानी तो यह है कि जो कुछ करो खुशी से करो, और यह सम्भव है यदि तुम जो कुछ करो उसे प्रगति का साधन बना लो। पूर्णता पाना बहुत कठिन है और इसे उपलब्ध करने के लिए हमेशा बहुत प्रगति की आवश्यकता होती है।

सुख की खोज में जाना निश्चय ही अपने-आपको दुःखी करने का सबसे अच्छा उपाय है।

यदि तुम सचमुच शान्ति और आनन्द चाहते हो तो तुम्हारी सतत लगन होनी चाहिये :

“मुझे ऐसी कौन-सी प्रगति करनी चाहिये ताकि मैं भगवान् को जान सकूं, उनकी सेवा कर सकूं?”...

यह (“सुख की खोज में जाना निश्चय ही अपने-आपको दुःखी करने का सबसे अच्छा उपाय है”) पूर्ण सत्य है। यह इस बात की पुष्टि करता है कि यदि तुम अपने क्षुद्र अहं को सन्तुष्ट करना चाहते हो तो तुम जरूर दुःखी होओगे। निश्चय ही! अपने-आपको दुःखी करने का यह सबसे अच्छा तरीका है। यह कहना : “ओह, यह मुझे उबा देता है; ओह, मुझे जो पसन्द हो मुझे वही करना चाहिये; ओह, फलाना मेरे साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता; ओह, जिन्दगी मुझे वह नहीं देती जो मैं चाहता हूं!” ओह!!!

“क्या मैं वह हूं जो मुझे होना चाहिये?”

“क्या मैं वह करता हूं जो मुझे करना चाहिये?”

“क्या मैं उतनी प्रगति कर रहा हूं जितनी मुझे करनी चाहिये?”

तब वह रोचक बन जाता है! समझे!

“अपनी अगली प्रगति के लिए मुझे क्या सीखना चाहिये? मेरी कौन-सी कमजोरियां हैं जिन्हें मुझे सुधारना चाहिये? कौन-सी कठिनाई है जिसे मुझे पार करना है? मेरी कौन-सी कमजोरी है जिसे मुझे मिटाना है?” बस यही।

और तब, स्वभावतया, अगले क्षण : “भगवान् की सेवा करने और उन्हें समझने के लिए मैं कैसे समर्थ बनूं?” बस यही!

*

भीतरी और बाहरी अनुशासन के बिना तुम जीवन में कुछ भी नहीं पा सकते, न तो आध्यात्मिक तौर पर न जड़-भौतिक तौर पर। वे सब जो किसी सुन्दर या उपयोगी चीज का सृजन करने में सफल हुए हैं, वे ऐसे लोग थे जो अपने-आपको अनुशासित करना जानते थे। —श्रीमां

भौतिक चीजों की देख-रेख

तुम जिन भौतिक चीजों का इस्तेमाल करते हो उनकी देख-रेख न करना अचेतना और अज्ञान का चिह्न है। अगर तुम भौतिक चीजों की देख-रेख नहीं कर सकते तो तुम्हें उनका उपयोग करने का कोई हक नहीं।

*

... हमें चीजों की देखभाल करनी चाहिये, इसलिए नहीं कि हमें उनसे लगाव है बल्कि इसलिए कि वे भी भागवत चेतना का कुछ अंश अभिव्यक्त करती हैं।

*

भगवान् सब जगह, सब चीजों में हैं, उन चीजों में भी जिन्हें हम फेंक देते हैं और उनमें भी जिन्हें हम सुरक्षित रखते हैं, उनमें जिन्हें हम पैरों से कुचलते हैं और उनमें भी जिनकी हम पूजा करते हैं। हमें आदर के साथ जीना सीखना चाहिये और उनकी सतत और निर्विकार उपस्थिति को कभी न भूलना चाहिये।

*

चीजों का उपयोग कैसे करना चाहिये?

आह, यह... पहले तो चीजों के सच्चे उपयोग को समझकर उनको काम में लाओ, उनके वास्तविक प्रयोग के ज्ञान के साथ और अधिक-से-अधिक सावधानी के साथ, ताकि वे बिगड़ नहीं और कम-से-कम गड़बड़ हो।

मैं तुम्हें एक उदाहरण देती हूँ : तुम्हारे पास एक कैंची है। कैंचियाँ बहुत तरह की होती हैं, कागज़ काटने की कैंची, धागा काटने की कैंची...। अगर तुम्हारे पास वह कैंची है जिसकी तुम्हें जरूरत है, तो उसका उपयोग उसी काम के लिए करो जिसके लिए वह बनी है। लेकिन मैं ऐसे लोगों को जानती हूँ, अगर उनके पास कैंची हो तो वे बिना सोचे-समझे किसी भी काम के लिए उसका उपयोग करते हैं। वे रेशम के धागे काटने के लिए उसका उपयोग करते हैं, लोहे का तार काटने की कोशिश करते हैं, टीन के डिब्बे खोलने के औज़ार के रूप में काम में लाते हैं, जहाँ कहीं उन्हें किसी औज़ार की जरूरत हो वे अपनी कैंची का उपयोग करते हैं। और स्वाभाविक रूप से थोड़े-से समय के बाद ही वे फिर से आकर मुझसे कहते हैं : "ओह, मेरी कैंची खराब हो गयी है, मैं एक और चाहूँगा।" और उन्हें बड़ा आश्चर्य होता है जब मैं कहती हूँ : "नहीं, तुम्हें दूसरी कैंची नहीं मिलेगी, क्योंकि तुमने इसे बिगाड़ दिया है, क्योंकि तुमने इसका उपयोग बुरी तरह किया है।" यह केवल एक उदाहरण है। मैं ऐसे और भी बहुतेरे उदाहरण दे सकती हूँ।

लोग किसी चीज का उपयोग करते हैं जो गन्दी हो जाती है और गन्दी होते ही बिगड़ने लगती है, हम उसे साफ करना भूल जाते हैं या फिर, उसकी उपेक्षा कर जाते हैं, क्योंकि उसमें समय लगता है।

अपनी वस्तुओं के लिए एक तरह का मान होता है जिसके कारण हमें उनका उपयोग बहुत समझ-बूझकर करना चाहिये और हमें उन्हें यथासम्भव लम्बे समय तक रखने की कोशिश करनी चाहिये। इसलिए नहीं कि हमें उनसे आसक्ति है या हमें उनकी कामना है, बल्कि इसलिए कि चीजें आदरणीय हैं, जिन्हें बनाने में कभी-कभी बहुत काम और परिश्रम करने की जरूरत होती है। अतः, हमें उनके बनाने में जो काम हुआ है, जो परिश्रम लगा है उसके योग्य मान देना चाहिये।

ऐसे लोग हैं जिनके पास कुछ नहीं है, जिनके पास एकदम अनिवार्य चीजें भी नहीं हैं और जो उन्हें भली-बुरी तरह अपने निजी उपयोग के लिए बनाने के लिए बाधित होते हैं। मैंने ऐसे लोग देखे हैं, जो बहुत प्रयास और पटुता लगाकर कुछ चीजें बनाने में सफल हुए हैं जो व्यावहारिक दृष्टि से कम या अधिक अनिवार्य होती हैं। वे जानते थे कि उनके बनाने में कितना श्रम लगा है, अतः, वे जिस तरीके से उनके साथ व्यवहार करते थे वह देखने लायक था। जो चीजें उन्होंने बनायी थीं, उनके साथ बहुत सावधानी से व्यवहार करते थे, क्योंकि वे जानते थे कि उनमें उनका कितना परिश्रम लगा है। जब कि जिन लोगों की जेबें पैसों से भरी होती हैं, और जब उन्हें किसी चीज की जरूरत होती है, तो वे किसी दुकान का दरवाजा खोलते हैं, अन्दर घुसकर पैसा आगे करके चीज ले लेते हैं। वे चीजों के साथ इसी तरह का व्यवहार करते हैं। वे अपने-आपको हानि पहुंचाते हैं और एक बहुत बुरा उदाहरण रखते हैं।

बहुत बार मैंने कहा है : “नहीं, तुम्हारे पास जो है उसी का उपयोग करो। यथासम्भव अच्छे-से-अच्छा उपयोग करो। व्यर्थ में चीजों को फेंको मत, व्यर्थ में चीजें न मांगो। तुम्हारे पास जो है उसी को लेकर पूरी सावधानी, पूरी सुव्यवस्था के साथ आवश्यक ढंग से अव्यवस्था से बचते हुए काम करो...।”

—श्रीमां

जिसकी आवश्यकता है

जिस व्यक्तिगत प्रयत्न की आवश्यकता होती है वह है—अभीप्सा, त्याग और समर्पण की तिहरी साधना :—

अभीप्सा : जो सतर्क, निरन्तर और स्थिर हो, जो मन का संकल्प, हृदय की चाह, प्राण की स्वीकृति हो, देह की चेतना और प्रकृति को उसी शक्ति की ओर खोलने और सुनम्य बनाने का संकल्प हो;

त्याग : निम्नतर प्रकृति की सभी वृत्तियों का, मन के विचारों का, मतों, पसन्दों, आदतों और कल्पनाओं का त्याग, ताकि सच्चे ज्ञान को मन की निस्तब्धता में रिक्त स्थान मिले—प्राण-प्रकृति की सारी इच्छाओं, मांगों, क्षुधाओं, अनुभवों, आवेगों, स्वार्थपरताओं, अभिमान, अहम्पन्यता, काम, लोभ, ईर्ष्या, असूया, सत्य का विरोध, इन सबका त्याग ताकि एक शान्त, विशाल, सबल तथा समर्पित प्राण-सत्ता में वास्तविक शक्ति और आनन्द की वर्षा हो—देह प्रकृति की मूढ़ता, संशय, अविश्वास, अन्धता, दुराग्रह, क्षुद्रता, आलस्य, परिवर्तन की अनिच्छा, तामसिकता, इन सबका त्याग, ताकि ज्योति, शक्ति और आनन्द की सच्ची स्थिरता निरन्तर अधिकाधिक दिव्य

होती हुई शरीर में प्रतिष्ठित हों।

समर्पण : भगवान् और उनकी शक्ति के प्रति आत्म-समर्पण, हम जो कुछ हैं, और हमारे पास जो कुछ है उस सबका समर्पण, हमारी चेतना के प्रत्येक स्तर का और हमारी प्रत्येक क्रिया का समर्पण।

जब समर्पण और आत्म-निवेदन बढ़ते हैं तो उसी अनुपात में साधक को यह अनुभव होता जाता है कि भगवती शक्ति ही साधना कर रही हैं, अपने-आपको उसके अन्दर अधिकाधिक उंडेल रही हैं, और उसके अन्दर भागवत प्रकृति की स्वतन्त्रता और पूर्णता स्थापित कर रही हैं। यह सचेतन प्रक्रिया उसके निजी प्रयास का जितना अधिक स्थान लेती जायेगी उतनी ही अधिक तेज और सच्ची उसकी प्रगति होगी। परन्तु यह पूरी तरह व्यक्तिगत प्रयास की आवश्यकता का स्थान तबतक नहीं ले सकती जबतक समर्पण और आत्म-निवेदन नख से शिख तक विशुद्ध और पूर्ण न हो जायें।

ध्यान रहे कि तामसिक समर्पण, जो समर्पण की शर्तें पूरी करने से इन्कार करता है और भगवान् को इसीलिए पुकारता है कि वे उसे कष्ट और प्रयास से बचा दें, ऐसा समर्पण एक धोखा है और वह मुक्ति और पूर्णता तक नहीं ले जा सकता।

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश से बचकर चलने के लिए दो ही चीजों की आवश्यकता है, दो चीजें जो सदा साथ रहती हैं—एक तो भगवती मां की कृपा, और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी आन्तरिक स्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से पूर्ण हो। तुम्हारी श्रद्धा विशुद्ध, निश्छल और पूर्ण हो। मन और प्राण की अहंकारमय श्रद्धा—जो महत्त्वाकांक्षा, अभिमान, दम्भ व मानसिक अहंकार से और प्राण की स्वेच्छाचारिता, वैयक्तिक मांग तथा निम्न प्रकृति की तुच्छ सन्तुष्टियों की कामना से कलुषित होती है—एक निम्न और धुंए से ढकी अग्नि है जिसकी लौ ऊपर स्वर्ग की ओर नहीं उठ सकती। यही मानो कि तुम्हारा जीवन तुम्हें भगवान् के कार्य के लिए और भगवान् की अभिव्यक्ति में सहायता देने के लिए ही मिला है। केवल भागवत चैतन्य की विशुद्धता, शक्ति, ज्योति, विशालता, स्थिरता और आनन्द और उस चेतना का यह आग्रह कि उसके द्वारा तुम्हारे मन, प्राण और शरीर का रूपान्तर हो—इसके सिवा और कुछ न चाहो। कुछ मत मांगो, मांगो केवल दिव्य, आध्यात्मिक और अतिमानसिक सत्य, उस सत्य की सिद्धि पृथ्वी पर, तुम्हारे अपने अन्दर, और उन सबके अन्दर जो इसके लिए बुलाये और चुने गये हैं। उन परिस्थितियों को मांगो जो इस सत्य की सृष्टि के लिए और इसकी विजय के लिए आवश्यक हैं।

तुम्हारी निष्ठा और समर्पण सच्चे और सम्पूर्ण हों। जब अपने-आपको देते हो तो पूरी तरह दो, बिना किसी मांग के, बिना किसी शर्त के और बिना किसी संकोच के दो, ताकि तुम्हारे अन्दर जो कुछ है वह सब भगवती मां का हो जाये, और कुछ भी अहं के लिए या अन्य किसी शक्ति को देने के लिए बच न रहे।

तुम्हारी श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण जितने अधिक पूर्ण होंगे, भगवती मां की कृपा और रक्षा भी उतनी ही अधिक रहेंगी। और जब भगवती मां की कृपा और अभय-हस्त तुम पर है तो फिर कौन-सी चीज है जो तुम्हें स्पर्श कर सके या जिसका तुम्हें भय हो? कृपा का छोटा-सा कण भी तुम्हें सब कठिनाइयों, बाधाओं और संकटों के पार ले जायेगा; क्योंकि यह मार्ग मां का है, इसलिए किसी भी संकट की परवाह किये बिना, किसी भी शत्रुता से प्रभावित हुए बिना—चाहे

फरवरी २००६

वह कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो, चाहे वह इस जगत् की हो या अन्य अदृश्य जगत् की— इसकी पूर्ण उपस्थिति से घिरकर तुम अपने मार्ग पर सुरक्षित होकर आगे बढ़ सकते हो। इसका कृपास्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। क्योंकि भगवती मां की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट, अवश्यम्भावी और अनिवार्य है।
(‘माता’ पुस्तक से)

—श्रीअरविन्द

‘नयी कॉपलें’ :

प्रकृति की सुन्दरता

पानी-अन्धेरी निशा थी, धीमी-झीमी तारों की रौशनी उस अन्धकार को दूर करने का यत्न कर रही थी। अचानक दूर कहीं से एक मधुर तथा मद्धिम आवाज सुनायी दी। उसे सुन मेरी देह में सिहरन-सी उठी। यह आवाज मुझे अपनी ओर खींचने लगी, और विवश-सी मैं उसकी ओर चलने लगी। पास आने पर मुझे भिन्न-विभिन्न आवाजें सुनायी दीं। गौर करने पर रात के अन्धकार में अस्पष्ट दृश्य नजर आने लगा। वह मृदु आवाज झरने की थी और वह तराना था पक्षियों का मधुर कलरव। परिवेश में सुगन्धित फूल थे जो मन को मोह रहे थे। समीर के संग सुगन्ध दूर तक फैल रही थी। ठण्डे पवन के आने से मेरी आंखें वहीं बन्द हो गयीं। सुबह होने पर जब नयन खुले तो मैं चमत्कृत रह गयी। चारों तरफ हरीतिमा छायी हुई थी, और खिलते हुए फूलों पर ओस की बूंदें चमक रही थीं। ओस में इन्द्र-धनुष के रंग झिलमिल रहे थे। प्रभात का शीतल पवन पेड़ों में घूम रहा था और पत्ते खुशी से झूम रहे थे। इस सुन्दर दृश्य को मैंने तत्काल हृदयंगम कर लिया।

—सूक्ष्मा पोद्दार

कोरा कागज़

जब मेरी दृष्टि एक कोरे कागज़ की ओर जाती है तब मेरे मन में कितने अलग-अलग विचार आते हैं।

पहले मैं यह सोचती हूँ कि मैं इस पत्रे को कैसे भरूँ या सजाऊँ। शायद एक चित्र से, कविताओं या किसी गद्य-रचना से, नहीं तो किसी के हस्ताक्षर भी हो सकते हैं।

जब मैं एक कोरे कागज़ को देखती हूँ, मेरा मन नयी भावनाओं से भर जाता है। वह मेरे सामने एक रहस्य उद्घाटित करता है कि जो भी बुरे दिन व्यतीत हुए थे उनको भूलकर एक नया दिन शुरू करो जिसमें खुशियों और विकास का एक उत्साह हो। मुझे यह भी लगता है कि कागज़ की हर तह हमारी कठिनाइयों की तरह है। जब एक तह खुलती है तब एक कठिनाई दूर हो जाती है, फिर भी हमेशा एक निशान छोड़ जाती है।

एक कोरे कागज़ को देखकर मेरे अन्दर एक शान्त और पवित्र भाव आता है।

—निशा झुनझुनवाला

‘गैर्वाणी’ :

सरलः वरः

भो बालकाः ! श्रूयतामद्य मनोज-दास-आर्येण लिखिता कस्यचित् चतुरयुवकस्य सरला कथा या विभिन्नदेशेषु भिन्नरूपेण प्रचलिता—

घोरान्धकारमयी रात्रिः । अश्वारोही राजा मन्दगत्या मार्गेण अगच्छत् । यथानित्यमासीत् सः छद्मवेशी यतो हि प्रत्येकं दयालुः, न्यायप्रियः राजा इव सः अपि काले काले रात्रौ रूपं परिवर्त्य निज-प्रजानां सुख-दुःखानाम् आकलनम् अकरोत् । तस्य देशस्य प्रजाः निश्चिन्ताः । अनभिज्ञाः ताः चौर्यकर्मणः । न कदापि कलहादीनां वृत्तान्ताः तत्र श्रूयन्ते स्म । महाराजः प्रसन्नः, प्रजाः आनन्दिताः—यथा राजा तथा प्रजाः इति लोकोक्तिः सर्वथा समीचीना तस्य राज्यस्य अर्थे ।

तस्यां रात्रौ अपि राजा निजप्रदेशस्य अवलोकनमकरोत् । अस्मिन् काले यद्यपि अङ्गरक्षकाः निषिद्धाः यतो हि नावर्तत कुतोऽपि कापि आशङ्का भयं वा तथापि ते निज-रक्षणीयस्य समीपे गुप्तरूपेण अतिष्ठन् एव ।

आकाशे मेघाच्छन्ने सर्वत्र अन्धकारः प्रसृतः । मार्गस्थाः स्तम्भदीपाः निर्वाणाः । धारासारैः वृष्टिरपि आरब्धा । तथा निबिडान्धकारे गच्छन् नृपः नासीत् भीतः किन्तु सावधानोऽवश्यमासीत् ।

न अजानात् सः यत् तस्मिन्नेव दिने तस्य राज्ये दस्यूनां प्रवेशः जातः । राज्ञः आरब्धेन अश्वेन लुब्धाः ते तमन्वसरन् । हठात् समन्तात् दस्युभिः परिवृतः महाराजः । प्रथमं वारम् एतादृश्याः दुर्घटनायाः साममुख्यम् अकरोत् नृपः । पलं विचलितः सः... किन्तु तेषाम् आक्रमणात् प्रागेव षड्युवकैः आक्रान्ताः ते दस्यवः । ईषदपि नाहतः राजा । किङ्कर्तव्यविमूढाः दस्यवः बन्दिनः जाताः ।

एते नासन् राज्ञः अङ्गरक्षकाः । घटनास्थले अचिरमेव ते अङ्गरक्षकाः अपि उपस्थिताः किन्तु एतान् षड्-जनान् वीक्ष्य चकितचकिताः ते अनुत्तरितप्रश्नाः इव अभवन् ।

सम्प्रति श्रूयतां तेषां षड्-युवकानां वृत्तान्तः ये सर्वथा उचिते मुहूर्ते नृपस्य अङ्गरक्षकेभ्यः पूर्वमेव रक्षार्थं समुपस्थिताः । वस्तुतः आसन् तानि षड्-मित्राणि । अस्य राज्ञः न्यायप्रियतायाः सज्जनतायाश्च प्रकीर्तिः सुदूरं व्याप्ता अत्रैव निज-भाग्य-परीक्षा स्यात् इति विचिन्त्य व्यापारार्थम् आगताः ते अत्र । नगरे च प्रवेशनेन सहैव निस्सन्देहं तेषां सौभाग्यं तान् अन्वसरत् तस्मात् तु राज्ञः रक्षणार्थं प्राप्ताः ते घटनास्थलम् ।

रात्रिकालस्य वृत्तान्तः वन-वह्निः इव प्रसृतः आगामिप्रभाते सम्पूर्णं नगरे । राज्यस्य आबाल-वृद्धाः भृशमुत्सुकाः तेषां जनानां दर्शनाय ये तेषां पालकस्य प्राणान् अरक्षन् । राजसभायां तिल-मात्रमपि स्थानं न दृश्यते स्म । पूर्वम् उपस्थापिताः बन्दिनः नृपस्य सम्मुखे । तेषां बलिष्ठपुरुषाणां सुन्दर-देहयष्टिं वीक्ष्य अतिप्रभावितः राजा उदघोषयत्—“भो वीराः ! अद्य निज-मैत्रीबन्धनेन बद्ध्वा अहं युष्मभ्यम् आजीवनं कारावासं ददामि, अर्थात्, इतः प्रभृति वर्धयिष्यथ यूयं मे सेनायाः शोभाम् । एकेनैव पलेन राजा अस्माकं मस्तकात् ‘दस्युः’ इति कलङ्कं न्यवारयत् इति वीक्ष्य कृत-कृत्याः सर्वे पतिताः तस्य चरणयोः ।

राज्ञः जयजयकारैः निनदिता राजसभा । ततः परं प्रविष्टाः ते षड्-युवकाः । तान् दृष्ट्वैव

महाराजः तेषां स्वागताय सिंहासनादवतीर्णः। एकैकशः सर्वान् दृढमालिङ्ग्य निजासनस्य समकक्षम् एव सादरम् उपावेशयत्। भूयोऽपि करतलनादेन गुञ्जिता सभा। तस्मिन् नादे विरते एव नृपः वदितुमपारयत्—“हे मम शुभचिन्तकाः! एते दस्यवः मम बन्दिनः, युष्माकं प्रेम्णः दृढबन्धनेन च अहं बन्दी। आजीवनं कृतज्ञः स्थास्यामि युष्माकम्। यदिच्छथ वरं याचध्वं कृपया, यथासामर्थ्यं दास्यामि।”

ते सर्वे तूष्णीकाः अतिष्ठन्। “बन्धुवराः! कृपया कथयन्तु। ईश्वरकृपया समर्थोऽस्मि दान-दक्षिणार्थम्। प्रकाशयन्तु निज-मनोकामनाम्।” साग्रहमगदत् राजा।

तदा तेषु प्रौढतमः युवकः उत्थाय सानुनयं बद्धकरः अभणत्—“महाराज! वस्तुतः वयं षड्-मित्राणि धनोपार्जनोद्देश्येन भवतः राज्यं प्राप्ताः अत्र च आगत्यैव अस्माकं तथा भाग्योदयः अभूत् यत् विश्वासः न जायते। राजन्! अहमस्मि कुटीरवासी, एतेन स्वप्नेन सह गृहाद् निर्गतः यत् विदेशं गत्वा प्रचुरं धनम् अर्जित्वा ग्रामे भव्यभवनं रचयिष्यामि...।”

भूपतिः तत्कालं राज्यस्य कुशलतमं स्थपतिमाहूय महाप्रासादस्य निर्माणाय आदिशत्।

द्वितीयः युवा विनम्रतया अवदत्—“राजन्! शूद्रजातीयोऽहं बाल्यकालात् प्रतिरात्रं समानमेव स्नानमपश्यं यत् कुलीनजातीयोऽहं समृद्धैः सह आचारव्यवहारं करोमि। भवान् मह्यं कामपि पदवीं दातुं शक्नोति किम्? सुपोषितस्वप्ने चरितार्थं सति उपकृतः भविष्यामि खलु।”

तत्कालं राजा अभिजातवर्गस्य रत्नेषु न केवलं तस्मै स्थानमददात् अपि तु मान-सम्मान-पत्रैः, अपारधनराशिना अपि तं व्यभूषयत्।

—हे पालक! मम ग्रामस्य जनाः प्रतिसप्ताहं क्रयविक्रयार्थं नगरं गच्छन्ति किन्तु सः मार्गः अत्यधिकं दुर्गमः नतोन्नतः च वर्तते। तेषां सुगमतायै कृपया मार्गः समः भवेत्—इति तृतीयः वद्धाञ्जलिः अगदत्।

प्रसन्नः राजा न केवलं सर्वप्रकारैः उत्तममार्गनिर्माणाय आदिशत् अपि तु तस्य ग्रामस्य जनानां दैनन्दिनजीवनस्य अन्य-असुविधानिवारणायापि जनान् अप्रेषयत्।

अधुना आगतः वारः चतुर्थस्य। अति-सुदर्शनः सः लज्जया सङ्कोचेन च सह निज-अभिलाषं प्रकाशयत्—“मम पितृसदृशः भवान् हे राजन्! विवाहयोग्योऽहं विवाहाकाङ्क्षी। कामपि योग्यकन्यां मय्यै वरयतु कृपया।”

ईषद् विचिन्त्य नृपः प्रियमन्त्रिणं सकृदपश्यत्। प्रसन्नवदनः मन्त्री मन्दं शिरःसञ्चालनेन अनुमोदनमदर्शयत्। तत्रैव मन्त्रिणः विवाहयोग्यकन्यया सह चतुर्थयुवकस्य विवाहः निश्चितः।

बद्धहस्तः पञ्चमः तरुणः अवदत्—“राजन्! निज-व्यापारस्य प्रारम्भाय केवलम् ईषद् धनम् इच्छामि ततः परं निज-उद्योगपरिश्रमाभ्यामेव अर्थोपार्जनं करिष्यामि।”

तत्कालं राजा स्वर्णमुद्रापूर्णं स्योतम् आर्पयत् तस्मै अजपत् च महामन्त्रिणः कर्णे—“मन्त्रिवर! अस्य व्यापारः सफलः भवेत् इत्यस्य उत्तरदायित्वं भवतः स्कन्धयोः सम्प्रति।”

अन्ते आगतः षष्ठस्य अर्थात् अन्तिमस्य तरुणस्य वारः। सः अपि नतशिराः सादरं प्रार्थयत्—“महाराजाधिराज! एकः एव मे अभिलाषः। भवान् प्रतिवर्षं दिनमेकं मे गृहे ‘अतिथिः’ भूत्वा तिष्ठतु।”

सर्वे सभासदः चकितचकिताः। तत्रस्थजनानां मध्येऽपि मन्दवार्तालापः आरब्धः। स्वयं नृपस्य प्रकृतिः तता। सर्वेषां मनसि एषः एव विचारः अभ्रमत्—“कीदृशी विचित्रा आकाङ्क्षा एषा?”

अस्य आग्रहस्य कृते का आपत्तिः स्यात् राज्ञः ? सहर्षं प्रत्यभाषत राजा—“मित्र ! स्वीकरोमि तव इच्छाम् । प्रतिवर्षमहं चतुर्विंशतिहोराणाम् अर्थं भविष्यामि तव अतिथिः ।

भो वत्सा ! किं युष्माकमपि समानं मतं यत् अन्तिमयुवकस्य वरः विचित्रः ? वस्तुतः तेन सरलमेकं वरं याचित्वा सर्वं याचितम् ।

आगामि-दिनात् राज्यस्य विभिन्नविभागाः राज्ञः वार्षिकोपहारस्य अर्थं व्यापृताः ।

सर्वप्रथमम् आवश्यकमवर्तत यत् अस्मात् राज्यात् तस्य युवकस्य गृहपर्यन्तं स्यादेतादृशः राजमार्गः यस्मिन् राज्ञः रथः निर्विघ्नं धावेत् । परं प्रश्नः उत्थितः यत् गोशाला-सदृशे तस्मिन् गृहे कथं स्यात् महाराजस्य वासः ? अतः तस्मात् दिनादेव तत्र विशाल-अट्टालिकानिर्माणम् आरब्धम् । परम् उद्भूता एषा समस्या यत् धनहीनः सः वराकः तादृशस्य महाप्रासादस्य संरक्षणाय राज्ञः समुचित-आप्यायनाय च कुतः कथं वा उपार्जिष्यति एतावद् धनम् ?—प्रतिमासम् एषः राजकीय-कोषात् प्रचुरं धनं गृहणीयात् इत्यनेन प्रस्तावेन एषा अपि समस्या समाहिता किन्तु असमाहिताः एकः प्रश्नः अधुनापि यत् कथं भवेत् नृपः तस्य अतिथिः ? यतो हि तस्य देशस्य परम्परानुसारेण राजा केवलम् अभिजातवर्गस्यैव अतिथिः भवितुमशक्नोत् अतः अयाचितम् अनायासं च प्राप्नोत् सः अभिजात्य-पदवीमपि ।

अन्तिमं चरणं प्राप्य अन्तिमा समस्या अपि उद्भूता—महाराजस्य स्वागतसत्कारयोः कौशलं तु केवलं सः एव जानीयात् यः स्यात् राज्यस्थः, राज्ञः प्रियः, तस्य रुच्यरुच्योः सम्यक् ज्ञाता च । अस्य सर्वस्य अर्थं रूपमती गुणवती राजकन्या एव उपयुक्ततमा स्यादिति एकमन्त्या सर्वं स्वीकृतवन्तः ।

षष्ठः युवकः आसीत् अत्यधिकं सुदर्शनः सम्प्रति च तस्य सकाशे अवर्तन्त धनं, यशः, उपाधिः—सर्वमेव ।

राजकुमारी अतिहृष्टा, राजा सहर्षं विवाहप्रस्तावं स्वीकृतवान् । तत्कालं सम्पूर्णे नगरे परिणय-सज्जा आरब्धा अचिरं च साडम्बरं, सवैभवं विवाहः सुसम्पन्नः ।

दृष्टम्, बालकाः ! याचितः एकः सरलः वरः स्वेन सह अयाचितान् कतिवरान् आवहत् !!

कथा अत्रैव समाप्ता, किं नु एषा कथा कमपि सन्देशं न प्रथयति ? निस्सन्देहम् । किं वयमपि अद्य तस्मात् राजाधिराज-ईश्वरात् इमं वरं याचितुं न शक्नुमः यद् हे प्रभो ! अस्माकं हृदयगृहे कृपया करोतु पदार्पणम् । एतेन सहैव अस्माभिः निजमन्दिरस्य स्वच्छता-सुन्दरतायां एकनिष्ठया संलग्नैः भवितव्यं येन यदा सः सर्वेश्वरः आगत्य द्वारे तिष्ठेत् तर्हि तस्य अभ्यर्चनार्थं सर्वविधिना प्रस्तुताः स्याम ।

तदनु आगमिष्यति तदपि दिनं यदा भविष्यामः वयं तथा सचेतनाः यत् द्वारे तेन शब्दः अपि न कर्तव्यः भविष्यति यतो हि तस्य स्वागतसत्काराय अस्माकं हृद्द्वाराणि सर्वदैव पूर्णतया उद्घाटितानि स्थास्यन्ति ।

सरल-सा वर

आओ बच्चो, आज सुनें मनोज दास जी की लिखी हुई एक ऐसे चतुर इन्सान की कहानी जो अलग-अलग रूपों में विभिन्न देशों में प्रचलित है—

घनी, अन्धेरी रात। घोड़े पर सवार उस प्रदेश के राजा सुनसान सड़क पर चले जा रहे थे। हमेशा की तरह वे छद्मवेशी थे, क्योंकि हर दयालु, नेक और न्यायप्रिय राजा की तरह वे भी बीच-बीच में रात को रूप बदल कर अपनी प्रजा के दुःख-सुख का हिसाब रखते थे। उस देश के लोग निश्चिन्त थे। न वहां चोरी-चकारी की खबरें सुनने में आतीं, न झगड़े-झंझट की वारदातें होती। महाराज प्रसन्न, प्रजा खुशहाल—यानी 'जस राजा तस प्रजा' की कहावत वहां बिलकुल खरी उतरती।

उस रात भी राजा चुपचाप अपने प्रदेश का निरीक्षण कर रहे थे। सैनिकों को उनके साथ चलने की मनाही थी, न कोई डर होता था न आशंका, लेकिन फिर भी अंगरक्षक अपने रक्षक के आस-पास कहीं-न-कहीं होते जरूर थे।

अचानक आसमान बादलों से घिर आया, घटाटोप अंधेरा छा गया, रोशनियां गुल हो गयीं। मूसलाधार बारिश में भी राजा प्रसन्नवदन चले जा रहे थे—भयभीत बिलकुल न थे, हां, सावधान जरूर थे।

लेकिन राजा को क्या पता कि उसी रोज उनके प्रदेश में डाकुओं का दल घुस आया था। राजा के अरबी घोड़े को देख वे उनके पीछे हो लिये थे। अचानक महाराज चारों तरफ से दस्युओं से घिर गये—पहली बार ऐसा हादसा हो रहा था, पल भर के लिए राजा विचलित हो उठे... उधर डाकुओं के आक्रमण के पहले ही छह नौजवानों ने पीछे से उन पर धावा बोल दिया। डाकू सकते में आ गये। राजा को खरोंच तक न आयी।

ये छह नौजवान राजा के अंगरक्षक न थे। वैसे अंगरक्षक भी घटनास्थल पर तत्काल उपस्थित तो हो गये, लेकिन इन नये जवानों को देख सबके सब प्रश्नचिह्न-से बने खड़े रह गये। शीघ्र ही डाकुओं को बन्दी बना लिया गया।

अब सुनें उन छह नौजवानों का किस्सा जो ऐन वक्त पर राजा के अंगरक्षकों से पहले उनके बचाव के लिए लपक उठे थे। दरअसल वे छह दोस्त थे जो व्यापार के लिए अपना गांव छोड़कर इस प्रदेश में अपनी किस्मत आजमाने आये थे। इस देश के राजा की न्याय-प्रियता के डंके दूर-दूर तक बजा करते थे। यहां प्रवेश करते ही उनकी किस्मत भी उनके साथ-साथ हो ली, तभी तो राजा के बचाव के लिए वे ठीक वक्त पर मौजूद थे।

रात की घटना अगली सुबह तक जंगल की आग की तरह सारे राज्य में फैल गयी। बच्चा, बूढ़ा, मर्द, औरत सभी उन छह नवयुवकों को देखने के लिए बेताब थे जिन्होंने उनके दाता की जान बचायी थी। दरबार में तिल रखने की भी जगह नहीं थी। पहले बन्दियों को पेश किया गया। उन बलिष्ठ पुरुषों की कद-काठी से प्रभावित राजा ने उनको यह सजा सुनायी—“वीरो, आज मैं तुम्हें अपनी दोस्ती के बन्धन में बांध कर उम्र कैद की सजा सुना रहा हूं। तुम सभी नौजवान मेरी सेना की शोभा बढ़ाओगे।”

पल भर में राजा ने उन पुरुषों के माथे से दस्यु नामक कलंक का टीका मिटा दिया यह

सुनकर वे सभी महाराज के चरणों में प्रणत हो गये।

राजा की वाहवाही से सारा दरबार गूँज-गूँज उठा। इसके बाद दरबार में प्रवेश किया उन छह नौजवानों ने। उनको देखते ही महाराज सिंहासन से उठकर उनके स्वागत के लिए आगे बढ़े। उनको गले से लगाया और अपने आसन के पास उन सबको आदरपूर्वक बिठलाया। एक बार फिर तालियों की गड़गड़ाहट जो उठी तो गूँजती ही चली गयी। उसके शान्त होने पर ही महाराज बोल सके—“मेरे शुभचिन्तको, मैंने इन दस्युओं को बन्दी बनाया और तुम छहों ने मुझे अपने प्रेम की डोर से जकड़ लिया। तुम्हारे एहसान का बदला तो न चुका पाऊंगा, लेकिन दोस्तो, मांग लो जो मांगना है, मेरे बस में हुआ तो देने में कोताही कभी न करूंगा।”

सभी चुपचाप बैठे रहे। “बन्धुओ, मेरी खुशी की खातिर कृपया कुछ तो मांगो...” राजा का मनुहार-भरा स्वर फूटा।

तब उम्र के हिसाब से सबसे वयस्क ने हाथ जोड़कर कहा—“राजन्, हम धन कमाने के उद्देश्य से ही आपके प्रदेश में आये थे और यहां आकर तो रातोंरात हमारी किस्मत ऐसी खुल गयी कि विश्वास ही नहीं हो पा रहा। महाराज, मैं हूँ झोंपड़ी में रहनेवाला, मैं यही सपना लेकर चला था कि खूब सारा पैसा कमाकर एक आलीशान मकान बनवाऊंगा...”

महाराज ने उसी समय अपने कुशलतम स्थपति को बुलाकर महलनुमा मकान बनाने का आदेश दे दिया।

दूसरे युवक ने विनम्र स्वर में कहा—“राजन्, मैं हूँ शूद्र जाति का, बचपन से मैं रातों को सपने देखा करता था कि ऊंचे वर्ग के लोगों, रईसों के साथ उठ-बैठ रहा हूँ। महाराज, आप मुझे कोई बड़ी उपाधि प्रदान कर सकेंगे क्या?”

राजा ने तुरन्त उसे अपने अभिजात-वर्ग के रत्नों के समकक्ष ला बिठाया, मान-सम्मान-पत्र और अतुलित धनराशि भेंट-स्वरूप प्रदान की।

तीसरे नवयुवक ने हाथ जोड़कर कहा—“महाराज, मेरे गांव के लोग हर हफ्ते सौदा-सुलुफ करने शहर जाते हैं। गांव से शहर का रास्ता बड़ा बीहड़ और ऊबड़-खाबड़ है। कृपया उनकी सुविधा के लिए उस रास्ते को ठीक करवा दीजिये ताकि उन्हें दिक्कत न हो।”

राजा प्रसन्न हो उठे। उनके एक इशारे से न केवल प्याउओं और छायादार वृक्षों वाली पक्की सड़क बनाने का आदेश लिख लिया गया बल्कि उसी समय उस गांव के लोगों को अन्य दिक्कतों से उबारने के लिए लोग भी दौड़ाये गये।

अब आयी चौथे युवक की बारी। उस सुदर्शन नौजवान ने शरमाते-सकुचाते हुए अपनी इच्छा प्रकट की—“राजन्, आप मेरे पिता-समान हैं, आप मेरा विवाह किसी योग्य कन्या से करवा दीजिये तो मैं आजीवन सुखी रहूंगा।”

राजा ने पल भर के लिए कुछ सोचा, फिर उनकी नजरें अपने प्रिय मन्त्री पर गयीं; मन्त्री का चेहरा खिल उठा और उनकी पुत्री के साथ उस युवक के विवाह की तारीख उसी समय निश्चित हो गयी।

पांचवे युवक ने हाथ जोड़कर कहा—“महाराज! अपना व्यापार शुरू करने के लिए मैं बस कुछ पैसा चाहता हूँ, उसके बाद मैं अपने बल-बूते को परखूंगा।” महाराज अशरफियों से भरा एक बड़ा थैला उसे भेंट-स्वरूप देते हुए महामन्त्री के कान में फुसफुसाये—“इसके व्यापार के

फरवरी २००६

पुरोध

फलने-फूलने की जिम्मेवारी आपकी रही मन्त्रिवर !”

अब आयी अन्तिम यानी छोटे नौजवान की बारी। उसने सिर झुकाकर कहा—“राजन्, मेरी एक ही मनोकामना है। कृपा करके हर साल आप एक दिन के लिए मेरे घर पर मेहमान बनकर रहिये।”

सभी सभासद् चकित रह गये, सारी जनता में घुसुर-पुसुर शुरू हो गयी। स्वयं राजा भी कुछ भौचक्के हो उठे। सबके मन में एक ही विचार कौंधा—“कैसी बेतुकी-सी मांग कर बैठा यह?” महाराज को इस मांग को स्वीकार करने में भला क्या आपत्ति हो सकती थी? उन्होंने सहर्ष कहा—“बादा रहा नौजवान! हम हर साल एक दिन और एक रात तुम्हारे घर पर बितायेंगे।”

बच्चो, क्या तुम्हें भी छोटे नौजवान की बात उतनी ही बेतुकी लगी जितनी बाकी सबको? जानते हो, उसने अपनी एक सरल-सी मांग से सचमुच सब कुछ मांग लिया था।

अगले दिन से राज्य के विभिन्न विभाग राजा की वार्षिक भेंट की तैयारी में जुट गये।

सबसे पहले यह जरूरी था कि इस राज्य से उस जवान के घर तक की सड़क राजकीय हो ताकि महाराज का रथ उस पर सरपट दौड़ सके। फिर सवाल उठा कि महाराज गोशाला जैसी उस झोंपड़ी में भला कैसे सोयेंगे? आनन-फानन उस कुटिया की जगह एक महाप्रासाद का निर्माण शुरू हो गया। अब यह सवाल मुंह बाये खड़ा था कि अपनी धेले भर की कमाई से वह नौजवान इतने बड़े महल का रख-रखाव और महाराज के पधारने पर उनकी आवभगत कैसे करेगा? तुरन्त राजमहल के कोष से उसके लिए मासिक आय का प्रबन्ध हो गया। नौकर-चाकरों की बारात लग गयी।

एक सवाल और भी था—उस राज्य की पुरानी परम्परा के अनुसार राजा केवल अभिजात-वर्ग के लोगों के ही अतिथि बन सकते थे, अतः उस नौजवान को बिना मांगे कुलीन-वर्ग की उपाधि मिल गयी। अब उसकी हैसियत किसी राजकुमार से कम न थी।

और अन्तिम चरण पर आकर आखिरी सवाल ने भी अपना सिर उठा लिया—महाराज की आवभगत करने का सलीका तो वही जानता होगा जो राजमहल का हो, महाराज के करीब हो, उनकी पसन्द, नापसन्द को अच्छी तरह समझता हो। और इन सबके लिए भला राजकुमारी से अधिक उपयुक्त पात्र और कौन हो सकता था? हमारा छोटा नौजवान अत्यन्त सुदर्शन था, अब उसके पास धन-यश-उपाधि सब कुछ था। राजकुमारी विवाह के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो गयी। जोर-शोर से विवाह की तैयारियां शुरू हो गयीं और धूमधाम से विवाह सम्पन्न हुआ।

तो देखा बच्चो! मांगा हुआ एक सरल-सा वर कितने ही अनमांगे वरों को अपने साथ-साथ लेता आया!

कहानी तो यहीं खत्म हो गयी, लेकिन क्या यह अपने पीछे एक सन्देश नहीं छोड़ गयी? निस्सन्देह। और क्या आज हम भी अपने राजाधिराज ईश्वर से यह सरल-सा वर नहीं मांग सकते कि हे प्रभो! हमारे हृदय-गृह में पधारना जरूर। और तब हमें अपने मन्दिर की सफाई, साज-सज्जा के लिए एकजुट हो जाना होगा ताकि जब वे सर्वेश्वर हमारा द्वार खटखटायें तो हम उनके स्वागत के लिए हर तरह से प्रस्तुत हों।

और फिर एक दिन आयेगा जब हम इतने पूर्ण बन जायेंगे कि उन्हें दस्तक देने की जरूरत तक न पड़ेगी क्योंकि हमारे मन्दिर के कपाट उनकी अंगवानी के लिए हमेशा खुले रहेंगे।

—वन्दना

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

13E-Rajanigandha
25, Ballygunge Park
Kolkata-700 019

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road
Post Box No. 5713
NEW DELHI — 110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

sunderson@auromail.net

Tel : 23612728, 23612776

Fax : 011-23620632

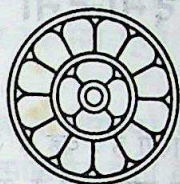
Our Lines of Business :

- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
Maihar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERRY.

Completed 80 years on Basant 2006



प्रार्थना और ध्यान

१५ अगस्त १९१४

हे प्रभो, तेरी इच्छा पूरी हो, तेरा कार्य चरितार्थ हो। हमारी भक्ति को मजबूत बना, हमारे समर्पण को बढ़ा, हमें मार्ग पर प्रकाश दे। हम तुझे अपने अन्दर अपने उच्चतम स्वामी के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं ताकि तू समस्त पृथ्वी का परम स्वामी बन जाये।

हमारी वाणी अभी तक अज्ञानमय है : उसे प्रबुद्ध कर।

हमारी अभीप्सा अभी तक अपूर्ण है : उसे शुद्ध कर।

हमारा कर्म अभी तक शक्ति-विहीन है : उसे प्रभावशाली बना।

हे प्रभो, धरती कराहती और कष्ट सहती है; अस्त-व्यस्तता ने पृथ्वी को अपना घर बना लिया है।

अंधेरा इतना घना है कि केवल तू ही उसे भगा सकता है। आ, अपने-आपको अभिव्यक्त कर ताकि तेरा कार्य पूरा हो सके।

—श्रीमां

दैनन्दिनी

मार्च

१. तत्त्वतः जीने का एक ही सच्चा कारण है : वह है अपने-आपको जानना। हम यहां सीखने के लिए आये हैं—हम क्या हैं, हम यहां क्यों हैं और हमें क्या करना है—यह सीखने के लिए। अगर हम यह न जान पायें तो हमारा जीवन रिक्त है—हमारे अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी।
२. जो नया पथ तुम्हें कहीं और ले जायेगा उस पर कदम रख कर कितनी राहत मिलती है, छलांग लगाने से पहले बहुत-से सामान से पिण्ड छुड़ाने की मुसीबत सार्थक लगती है। असल में सब साहसों में सबसे उत्कृष्ट साहस यह है, और तुम्हारे अन्दर थोड़ी सच्ची साहसिक वृत्ति हो तो सब कुछ पाने के लिए सब जोखिम उठाना सार्थक लगता है।
३. इस समय हम फिर से पृथ्वी के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ पर आ खड़े हुए हैं। सब ओर से पूछा जाता है, “क्या होनेवाला है?” सब जगह दुःख, प्रत्याशा और भय है। “क्या होने जा रहा है?” ... उत्तर केवल एक ही है, “काश, मनुष्य आध्यात्मिक होने के लिए अनुमति भर दे देता!”
४. मेरे मधुर स्वामी, मेरी नन्हीं मां,
मुझे सच्चा प्रेम दो, वह प्रेम जो अपने-आपको भूल जाता है।
५. हे मां, तुम मेरी बुद्धि का प्रकाश हो, मेरी आत्मा की पवित्रता हो, मेरे प्राण की शान्त शक्ति हो, मेरे शरीर की सहिष्णुता हो। मैं केवल तुम पर ही निर्भर हूँ और पूरी तरह तुम्हारा रहना चाहता हूँ, राह के रोड़ों पर मुझे विजय दिलाओ।
६. अटल शान्ति का आनन्द लेने का एकमात्र उपाय है, सब परिस्थितियों में उसी चीज की इच्छा करना जिसके लिए तू इच्छा करे।
७. प्रभु, हमारे अन्दर चेतना और शान्ति बढ़ती रहें ताकि हम तेरे दिव्य विधान के अधिक-से-अधिक उपयुक्त माध्यम बन सकें।
८. प्रभु, परम सत्य,
हम तुझे जानने और तेरी सेवा करने की अभीप्सा करते हैं। अपना योग्य बालक बनने में हमारी सहायता कर। तेरी ओर से सतत मिलते रहनेवाले उपहारों के बारे में हमें सचेतन कर ताकि कृतज्ञता हमारे हृदय को भर दे और हमारे जीवन पर शासन करे।
९. प्रभु, तेरा प्रेम इतना महान्, इतना उदात्त और पवित्र है कि वह हमारी समझ से परे है। वह विशाल और अनन्त है, हमें उसे घुटनों के बल बैठकर ग्रहण करना होगा, फिर भी तूने उसे इतना मधुर बना दिया है कि हममें सबसे दुर्बल बच्चा भी तुझ तक पहुंच सकता है।
१०. हे मेरे प्रभु, तेरा संरक्षण सर्वशक्तिमान् है। वह हर शत्रु को हरा देता है।
११. प्रभु, जो कुछ है उसकी गहराई में और जो कुछ होगा, उस सबमें तेरा दिव्य और अपरिवर्तनशील स्मित है।
१२. अगर तुम चाहते हो कि तुम्हें आदर मिले तो तुम्हें आदरणीय होना चाहिये।
१३. क्या तुम ममता चाहते हो? ममतामय बनो।

मार्च २००६

- क्या तुम सत्य की मांग करते हो? सच्चे बनो।
१४. भला करने की कोशिश करो और यह मत भूलो कि भगवान् तुम्हें हर जगह देखते रहते हैं।
 १५. मुंह में मिठाई की जगह एक सत्कार्य हृदय को अधिक मीठा लगता है। जो दिन बिना सत्कार्य किये बीतता है, वह आत्माविहीन होता है।
 १६. हित का कार्य, सत्कार्य के प्रेम के लिए करो, किसी पुरस्कार की आशा से नहीं। अच्छे बने रहने के हर्ष के लिए अच्छे बनो, दूसरों की कृतज्ञता पाने के लिए नहीं।
 १७. भागवत करुणा से प्रार्थना करो कि वह तुमसे हमेशा उचित कार्य उचित ढंग से करवाये।
 १८. हमेशा वही करो जिसे तुम उत्तम समझते हो, अगर वह सबसे कठिन कार्य हो तब भी उसे करो।
 १९. एक दिन आता है जब हमारे अन्दर और चारों ओर सारे व्यवधान ढह जाते हैं और हम पक्षी की तरह निर्विरोध उड़ान के लिए पर तोल सकते हैं।
 २०. हमारे विचार अब भी अज्ञानपूर्ण हैं, उन्हें प्रदीप्त होना चाहिये।
हमारी अभीप्सा अब तक अपूर्ण है, उसे शुद्ध होना चाहिये।
हमारा कार्य अब तक शक्तिहीन है, उसे प्रभावशाली होना चाहिये।
 २१. भगवान् क्या चाहते हैं यह जान लो और तुम्हें प्रभुत्व प्राप्त होगा।
 २२. आओ, हम इस भागवत हित-चिन्ता को समझें और कृतज्ञता के साथ उसे ग्रहण करें जिसे बहुधा समझा नहीं जाता।
 २३. सौन्दर्य एक महान् शक्ति है।
 २४. जीवन में सबसे मूल्यवान् चीजों में वे चीजें हैं जिन्हें तुम भौतिक आंखों से नहीं देख पाते।
 २५. आशावाद : अपने विपरीत भाव से अधिक सहायक होता है।
 २६. प्रयास एक छोटी-सी चीज है, लेकिन वह भविष्य का वादा हो सकता है।
 २७. यह साहस, यह वीरता जिसकी भगवान् हमसे मांग करते हैं, उसका उपयोग हम अपनी कठिनाइयों से लड़ने में क्यों न करें, अपनी अपूर्णताओं से, अपने अन्धकार से लड़ने में क्यों न करें?
 २८. आन्तरिक शुद्धि की अग्नि-परीक्षा का वीरता के साथ सामना क्यों न किया जाये ताकि फिर से एक बार उन भयंकर, भीमाकार विनाशों में से न गुजरना पड़े जो एक पूरी संस्कृति को अन्धकार में ले डूबते हैं।
 २९. जब कोई बालक उत्साह से भरा हो तो उस पर कभी ठण्डा पानी न डालो, उससे कभी यह न कहो : "पता है, जीवन ऐसा नहीं होता।" तुम्हें उसे हमेशा प्रोत्साहन देना चाहिये, यह कहना चाहिये, "हां, इस समय चीजें ऐसी नहीं हैं, वे कुरूप दीखती हैं, लेकिन इसके पीछे एक सौन्दर्य है जो चरितार्थ होने का प्रयास कर रहा है। तुम्हें उससे प्रेम होना चाहिये, और उसे अपनी ओर खींचना चाहिये। यही तुम्हारे स्वप्नों का, महत्वाकांक्षा का लक्ष्य होना चाहिये।"
 ३०. तुम्हारा निजी मूल्य, यहां तक कि तुम्हारी व्यक्तिगत उपलब्धि कुछ भी क्यों न हो, लेकिन योग में अपेक्षित पहला गुण है विनम्रता।

३१. भागवत उपस्थिति ही जीवन को मूल्य प्रदान करती है। भागवत उपस्थिति ही समस्त 'शान्ति', समस्त 'हर्ष' और समस्त 'सुरक्षा' का स्रोत है। अपने अन्दर इस 'उपस्थिति' को ढूँढो और सारी कठिनाइयाँ गायब हो जायेंगी।

एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र

मन का क्रिया-कलाप और विकास

सच्चा ज्ञान कैसे आता है? क्या मन तैयार न हो, तब भी वह उतर सकता है?

कुछ लोगों में आ जाता है और कुछ को मानसिक तैयारी की जरूरत होती है।

मैं मानसिक विकास कैसे प्राप्त कर सकता हूँ? क्या केवल पढ़ने से यह हो सकता है?

हो सकता है कि किसी ने बहुत पढ़ा तो हो लेकिन फिर भी मन से अविकसित हो। मानव मन सोचने, समझने और अपने से श्रेष्ठतर बौद्धिक लोगों के प्रभाव से विकसित होता है।

मन या चैत्य की विवेक-शक्ति कहां से आती है?

यह स्वभावतः उनमें होती है, लेकिन मन भूल कर सकता है, चैत्य नहीं।

एक बार आपने कहा था, "तुम्हें केवल मन में नहीं, पूरी तरह सचेतन बनना चाहिये।" मैं इन शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ नहीं पकड़ पाया।

मन ही तुम्हारा सब कुछ नहीं है, प्राण और भौतिक भी हैं। यदि मन सचेतन हो और अस्वीकार कर दे, परन्तु प्राण और भौतिक न करें तो तुम मुक्त नहीं हो सकते।

मन आसानी से किसी गलत गति के बारे में अभिज्ञ हो सकता है, लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि प्राण और भौतिक को इसका पता कैसे लगे और वे उसे कैसे अस्वीकार करें?

भौतिक मन और प्राणिक मन होता है, और साथ ही अनुभव करने की एक शक्ति होती है और चेतना भी होती है। अगर चेतना हो तो उसके अभिज्ञ होने में क्या कठिनाई है?

कभी-कभी मन को एक दबाव का अनुभव होता है और वह मानसिक कार्य से मुक्त होना और आराम करना चाहता है। क्या मैं उसे आराम कर लेने दिया करूँ?

पुरोधा मार्च २००६

समस्त
यति' को

अगर वह ऐसा करे तो उसे जड़ता की आदत पड़ सकती है। तुम चाहो तो कम मानसिक कार्य कर सकते हो।

निचले मन को कैसे बदला या फेंका जा सकता है, ताकि उच्चतर मन के क्षेत्रों की क्षमताओं को जगाया जा सके?

तुम इस मन को कैसे फेंक सकते हो जब तक कि तुम अभिव्यक्त जगत् से ही लुप्त न हो जाना चाहो? पहले उसे शान्त और उच्चतर चेतना की ओर उद्घाटित कराना होगा और फिर उच्चतर चेतना के अवतरण द्वारा बदलना होगा।

क्या अचञ्चल मन का अर्थ होता है किसी विशेष विषय पर ध्यान एकाग्र करना? उदाहरण के लिए, अभीप्सा करते समय अचञ्चल मन में भगवान् के सिवा और किसी विषय के विचारों को न आने देना।

अचञ्चल मन ऐसा मन है जो क्षुब्ध नहीं होता, बेचैन नहीं होता और हमेशा मानसिक कर्म की आवश्यकता से स्पन्दित होता है।

तुम जिसकी बात कर रहे हो वह केन्द्रित मन है, जो किसी चीज या विषय पर केन्द्रित होता है। यह अलग ही चीज है।

क्या मनुष्य जैसे अपने लिए मानसिक जगत् का निर्माण करता है उसी तरह प्राणिक जगत् का भी निर्माण करता है?

मन ही निर्माण करता है, प्राण अपनी इच्छाओं के जगत् पर अधिकार करने और उनका रस लेने की कोशिश करता है।

क्या हर मनुष्य अपने ही जगत् में रहता और गतिविधि करता है? क्या उसका दूसरे के जगत् के साथ सम्बन्ध होता है?

चूँकि वह पृथक्कारी चेतना में रहता है अतः वह अपने अनुभव द्वारा उसी एक जगत् में, जिसमें हम सब रहते हैं, एक अपना अलग ही मानसिक जगत् बना लेता है। वह उसी तरह बनता है जैसे और बनते हैं, और वह उसके अन्दर अधिकतर बिना जाने ही औरों के विचार, भावनाएं और संवेदन ले लेता है और उनका उपयोग अपने पृथक् जगत् के निर्माण के लिए करता है।

हर एक अपने चारों ओर एक वातावरण की चेतना लिये रहता है जिसके द्वारा वह औरों के साथ या वैश्व शक्तियों के साथ सम्बन्ध रखता है। इसी के द्वारा औरों की शक्तियां, विचार या भावनाएं प्रवेश करती हैं।

यदि विस्तार हो तो वह नीरव बन सकता है। तुम उसके बारे में सचेतन बन सकते हो और

उसके अन्दर से जो कुछ गुजरता है उसके साथ व्यवहार कर सकते हो। इसके बिना मनुष्य का बाकी जगत् के साथ कोई सम्पर्क न रहेगा।

क्या विरोधी शक्तियां जैसे प्राण के स्तर पर आक्रमण करती हैं उसी तरह मन पर भी आक्रमण कर सकती हैं?

हां, विशेषकर भौतिक मन आसानी से उनका शिकार हो सकता है—वे विचारशील मन पर भी आक्रमण कर सकती हैं।

हमारा इन्द्रिय-मन हमेशा सक्रिय होता और उछल-कूद करता रहता है। उसे कुछ समय के लिए कैसे चुपचाप बिठाया जाये, या यूं कहें कि अपने हाथ में कैसे रखा जाये?

इन्द्रिय-मन को बैठाना जरूरी नहीं है, बस मन को उसकी ओर ध्यान देना बन्द कर देना चाहिये।

इन्द्रियों की सच्ची क्रिया क्या होगी जो अभी भौतिक वस्तुओं के इतनी आधीन है और जो भावों के द्वित्व का (जैसे पसन्द-नापसन्द आदि का) कारण बनती है?

उनका काम है वस्तुओं के दिव्य या सच्चे रूप का आलेखन और उन्हें समान आनन्द के साथ बिना कामना और आसक्ति के लौटाना।

मानसिक भौतिक मन में क्या होता है?

स्वाभाविक विचार और ऐसे विचार जो बाह्य वस्तुओं के स्पर्श के प्रतिबिम्ब होते हैं।

बाह्य मन केवल बाहरी चीजों के साथ व्यवहार रखता है, अन्य वस्तुओं के बारे में तुम्हें बुद्धि या मन के द्वारा ही सोचना और निश्चय करना होता है, उसके भौतिक भाग से नहीं।

आज सबेरे सम्भवतः मेरा भौतिक मन बहुत हठी बन गया और एकाग्र होने या प्रकाश को ग्रहण करने से इन्कार कर रहा था। इसके इतने हठी होने का कोई कारण है?

मन के इस भाग में कोई तर्क नहीं होता, बस सनक होती है या आदतें, अथवा तामसिक होने की वृत्ति।

अगर यांत्रिक मन अपने ही चक्कर लगाता जाये तो कोई हर्ज नहीं है, परन्तु जब ऐसा लगता है कि चिन्तनशील मन उनमें फंस जाता है और उनके साथ ऐक्य का अनुभव करता है तब तकलीफ होती है। असल में कौन-सी चीज इस तरह फंस जाती है?

मार्च २००६

यह भौतिक मन होता है। भौतिक और यान्त्रिक मन में निकटस्थ सम्बन्ध होता है। दोहराते जाना मानसिक भौतिक की आदत होती है—सचमुच चिन्तनशील मन ऐसा नहीं करता। यह मानसिक भौतिक या भौतिक मन के निम्नतम भाग की आदत होती है।

आज सवेरे से शाम तक मैं कुछ-कुछ निष्क्रिय स्थिति में था। एक भाग सब तरह के विचारों को ग्रहण करता जा रहा था और दूसरा भाग देखता और पूरी तरह तो नहीं, पर कुछ अस्वीकार करता जा रहा था। हमारे अन्दर ऐसी कौन-सी चीज है जो इस तरह विचारों को ग्रहण करती है?

यदि विचार ऊट-पटांग हों तो यान्त्रिक मन, और जुड़े हुए हों तो भौतिक मन।

यान्त्रिक मन अपना भोजन कहां से पाता है?

वस्तुओं, संस्कारों, अभ्यासगत विचारों, सोचने या अनुभव करने की विधि से।

यान्त्रिक मन एक तरह का इञ्जन है। उसमें जो कुछ आ जाये उसे वह मशीन में डाल देता है, और वह कुछ भी क्यों न हो, उसे गोल-गोल घुमाने लगता है।

जैसे मुख्य मन का कार्य है देखना और सोचना, क्या उसी तरह यान्त्रिक मन का काम यान्त्रिक होना नहीं है?

हीन नहीं—वह यान्त्रिक इसलिए है क्योंकि उसमें प्रकाश नहीं है और मशीन की तरह चलता रहता है। अगर उसमें प्रकाश हो तो वह ऐसा न रहेगा।

जब उच्चतर चेतना यान्त्रिक मन को पकड़ ले तो फिर वह यान्त्रिक नहीं रहता।

जब विचारशील मन और भौतिक मन चुप हो जायें तो क्या यान्त्रिक मन भी अपने-आप यान्त्रिक रहना छोड़ देता है?

नहीं, उसे अलग से रूपान्तरित करना होगा।

क्या यह स्वाभाविक है कि अवचेतना के पुराने संस्कार ऊपर उठ आयें या यह इसलिए होता है कि सत्ता का कोई हिस्सा उनकी ओर खुलता है?

मानव मन भी पाशविक मन की तरह अधिकतर अवचेतन से उठनेवाले संस्कारों पर जीता है।

—नगीन दोशी

श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार

(कई प्रश्नों के उत्तर श्रीअरविन्द ने दिये हैं उनमें हम श्रीअरविन्द का नाम उल्लिखित कर रहे हैं।—सं.)

एक पत्र में मैंने कहा था, "भौतिक पर बहुत-से प्रहार आ रहे हैं" और आपने उत्तर दिया था, "चूंकि तुम अधिकतर भौतिक चेतना में रहते हो—इसलिए वे भौतिक पर आते हैं।" एक दूसरे पत्र में मैंने पूछा था, "क्या मैं अब भी भौतिक चेतना में रहता हूँ?" आपने जवाब दिया, "हर एक रहता है—जबतक शरीर है।" मैं यह नहीं समझ पाया।

यह उन प्रश्नों पर निर्भर है जो तुम पूछते हो। जबतक तुम्हारा शरीर है, तुम भौतिक चेतना के बिना रह ही नहीं सकते, लेकिन तुम अधिक केन्द्रीय भाव से चैत्य और दूसरे भागों में निवास कर सकते हो और उनके द्वारा भौतिक का रूपान्तर कर सकते हो।

६ मार्च १९३४ — श्रीअरविन्द

प्यारी मां! मैं सोचता हूँ कि चैत्य और मन—भौतिक मन के अलावा—आपको समर्पित हो चुके हैं।

लेकिन प्राण और भौतिक अब भी विद्रोह कर रहे हैं।

कृपया उन्हें बदलने के लिए कुछ सुझाव दीजिये।

प्राण में यह व्यक्तिगत अहंकार और कामना के त्याग से ही आ सकता है। इनके स्थान पर भगवती माता की इच्छा स्थापित हो जाये।

भौतिक के लिए—नमनीयता, अपने अभ्यासगत विचारों, संवेदनों, आवश्यकताओं, लिप्साओं पर जोर न देना बल्कि स्वयं को यन्त्र के रूप में भगवती माता के अर्पण कर देना।

१० मार्च १९३४

—श्रीअरविन्द

मेरी समझ में नहीं आता कि 'क्ष' अब भी मेरा सम्पर्क क्यों चाहती है। क्या वह कभी बन्द न करेगी? कोई बात नहीं—मुझे अपनी तरफ से केवल दृढ़ता के साथ सावधान रहना चाहिये।

हां, यही करना है। जब तुम्हारे अन्दर स्त्रियों के लिए कोई दुर्बलता न रहेगी तब वे तुम्हारा पीछा छोड़ देंगी।

प्यारी मां! इस दुर्बलता पर विजय पाने का सबसे तेज तरीका कौन-सा है?

मार्च २००६

दूसरी वस्तुओं के बारे में सोचो।

१२ मार्च १९३४

ऐसा लगता है कि अब मुझे 'ख' से ईर्ष्या का अनुभव नहीं होता, इसके विपरीत, मैं उसे चाहता हूँ। क्या यह सच है?

मैं पूरे हृदय से इसकी आशा करती हूँ। जिस दिन तुम समस्त ईर्ष्या से मुक्त हो जाओगे उस दिन तुम बहुत महान् प्रगति कर लोगे।

१९ मार्च १९३४

मेरी ईर्ष्या को नष्ट होना चाहिये, हे प्यारी मां! वर दो कि मैं ईर्ष्या के बारे में अभिज्ञ हो जाऊँ और तुरन्त उसका त्याग कर दूँ।

आगर तुम एक बार यह समझ लो कि मैं जो करती हूँ वह हमेशा प्रत्येक के और सभी के भले के लिए होता है, वह कभी कुछ को नुकसान पहुंचाकर कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के भले के लिए नहीं होता, तो तुम बहुत जल्दी ही ईर्ष्या पर विजय पा लोगे और इस पीड़ादायक व्रण से मुक्त हो जाओगे।

इस बात पर विश्वास रखो कि तुम्हारे लिए मैं जो करती हूँ वह हमेशा यथार्थ रूप से वही होता है जिसकी तुम्हें पथ पर आगे बढ़ने के लिए आवश्यकता होती है; तब समस्त ईर्ष्या और द्वेष विलीन हो जायेंगे।

२० मार्च १९३४

माताजी, कृपया यह बताइये कि 'च' से बात करने में मुझे कुछ हिचकिचाहट क्यों महसूस हुई?

वह उसकी बाहरी इच्छा का प्रभाव था जो तुम्हारे मन और प्राण पर क्रिया कर रहा था।

२० मार्च १९३४

हर एक की बाहरी इच्छा का प्रभाव दूसरों पर क्रिया क्यों नहीं करता, जिस तरह 'च' और मेरे साथ हुआ? उदाहरण के लिए, मुझे अपनी बहन से बातें करना अच्छा नहीं लगता, लेकिन वह मुझसे बातें करती है; यह चीज दिखाती है कि मेरी बाहरी इच्छा का प्रभाव न उसके प्राण पर क्रिया करता है न उसके मन पर। क्यों?

यह सिद्ध करता है कि उसकी इच्छा तुम्हारी इच्छा के जितनी ही मजबूत है—और यह बहुत अच्छी चीज है। तुम किस अधिकार से यह चाहते हो कि तुम्हारी इच्छा दूसरों पर क्रिया करे? हर एक को स्वतन्त्र रहना चाहिये। केवल गुरु को अपनी इच्छा उस शिष्य पर आरोपित करने का अधिकार होता है जिसने उन्हें चुना है।

२१ मार्च १९३४

माताजी, अगर यह विचार, "आप जो करती हैं वह हमेशा मेरे भले के लिए होता है" मेरे मन में अच्छी तरह से पैठ जाये, तो क्या मन प्राण-सत्ता को प्रभावित नहीं कर सकता?

निश्चय ही; लेकिन बदले में प्राण-सत्ता बहुधा मन को प्रभावित कर उसमें संशय उत्पन्न करती है।

२१ मार्च १९३४

आज सुबह प्रणाम के समय चैत्य-अवसाद था।

चैत्य कभी दुःखी नहीं होता।

अवसाद के समय मैंने प्रार्थना की, "प्राण कितना कृतघ्न है। माताजी मेरे लिए कितना कुछ करती हैं, फिर भी वह विद्रोह करता है। प्रेममयी मां, वर दे कि प्राण फिर से विद्रोह न करे और केवल भगवान् पर ही विश्वास करने लगे।" इस क्रिया को कौन देखता है?

यह मन का भाग है जो बदल गया है; वह औरों से अपने-आपको अलग करके सामान्य मन और अपनरुज्जीवित प्राण के व्यवहार का निरीक्षण करता, उसको आंकता और दुःखी होता है।

२१ मार्च १९३४

क्या यह सच नहीं है कि तीन तरह के अवसाद हैं : मन का अवसाद, प्राण और चैत्य का भी अवसाद?

मैं तुमसे कहती हूँ कि चैत्य अवसाद को नहीं जानता क्योंकि वह प्रकृति से भागवत है, और भगवान् में कोई अवसाद नहीं है।

जब मन और प्राण अपनी मनमानी करते और भगवान् की आज्ञा नहीं मानते या उनके विरुद्ध विद्रोह करते हैं तो क्या चैत्य अवसाद से नहीं भर जाता?

नहीं, नहीं, नहीं। समझ गये?

चैत्य सत्ता के दूसरे भागों की मूर्खता को देख सकता और शोक कर सकता है, लेकिन अपनी प्रकृति के अनुसार उसके लिए अवसादपूर्ण होना असम्भव है।

२२ मार्च १९३४

कले आपने लिखा था, "इससे सिद्ध होता है कि उसकी इच्छा तुम्हारी इच्छा के जितनी ही मजबूत है—और यह बहुत अच्छी चीज है।" मैं यह नहीं समझ पाया कि "यह बहुत अच्छी चीज है" से आपका क्या अभिप्राय है?

पुरोधा

मार्च २००६

मेरे
कता?

किसी व्यक्ति में मजबूत इच्छा-शक्ति हो तो यह हमेशा अच्छा होता है।

२२ मार्च १९३४

करती

'च' की इच्छा मेरे ऊपर क्रिया क्यों करती है, जब कि मेरी अपनी बहन के ऊपर नहीं करती?

इससे यह पता लगता है कि तुम्हारी बहन तुम्हारे प्रभाव के प्रति जितनी खुली है, तुम उससे अधिक 'च' के प्रभाव के प्रति खुले हो। यह हमेशा शोचनीय होता है कि कोई किसी दूसरे व्यक्ति के प्रभाव के प्रति खुला हो। तुम्हें भगवान् के प्रभाव के सिवाय और किसी के प्रभाव को स्वीकार नहीं करना चाहिये।

२२ मार्च १९३४

केतना

विद्रोह
गा है?

क्या मानसिक सत्ता के लिए कोई ऐसा उपाय है जिससे वह प्राण के प्रभाव से बची रहे?

मन को ऊपर से प्रकाश प्राप्त करने दो और प्रभावित होने से इन्कार करो।

२२ मार्च १९३४

य मन
ता है।

मैं प्राणिक सत्ता को यह कैसे समझाऊं कि माताजी कभी पक्षपात नहीं करतीं?

य का

एक उपाय है माताजी पर पूर्ण श्रद्धा रखना, दूसरा है यह मानना कि वे तुमसे अधिक बुद्धिमान हैं और जो कुछ करती हैं उसके पीछे जरूर कारण होते हैं जो तुम्हारे मन के निर्णयों से ज्यादा अच्छे होते हैं।

और

प्राणिकी गुणगी

मैं इसे मन में दृढ़ता से किस तरह बिठा सकता हूं?

उनके

इसे प्रतिष्ठित करना होगा—बस इतना ही। जबतक प्राण और मन यह समझते हैं कि वे माताजी से अधिक बुद्धिमान हैं और वे उनका मूल्यांकन कर सकते हैं तबतक तुम इन मूर्खताओं के विलीन होने की आशा कैसे कर सकते हो?

२२ मार्च १९३४

किन

—श्रीअरविन्द

मी ही

बहुत

मैं आपसे पूछता हूं कि अगर प्राण और मन अपने-आपको माताजी से अधिक बुद्धिमान समझें और उनके बारे में निर्णय करें तो मैं उन्हें यह कैसे अनुभव कराऊं कि यह सच नहीं है?

तुम उन्हें उनके दावे की हास्यास्पद मूर्खता नहीं दिखा सकते क्या?

२२ मार्च १९३४

—श्रीअरविन्द

‘च’ से प्रभावित होने के बारे में मैं क्या कर सकता हूँ?

विचार और क्रिया में उसपर कोई ध्यान न दो।

उससे मैं कैसे प्रभावित होता हूँ?

क्योंकि तुम उसके लिए आकर्षण का अनुभव करते हो, और उसकी इच्छा तुम्हारी इच्छा से अधिक मजबूत मालूम होती है।

चूँकि मेरी बहन की मुझसे बातें करने की प्रबल इच्छा होती है, मैं यह नहीं समझ पाता कि यह भला किस तरह अच्छी है?

यह इच्छा की अपेक्षा कामना या सहजवृत्ति है।

मैं यह नहीं कहती कि यह अच्छा है कि वह तुमसे बात करना चाहती है, मैं कहती हूँ कि सामान्यतः मजबूत इच्छा-शक्ति होना अच्छा है। जब तुम्हारी इच्छा-शक्ति मजबूत होती है तो तुम्हें बस उसे उचित रूप से निर्देशन देना होता है। अगर तुम्हारे अन्दर इच्छा-शक्ति ही न हो तो पहले तुम्हें उसका विकास करना होता है जो हमेशा समय लेता है और कभी-कभी कठिन होता है।

ऊट-पटांग प्रश्न पूछने से पहले ज्यादा अच्छा रहेगा कि तुम जरा सोचो और खुद ही समझने का प्रयास करो।

२३ मार्च १९३४

विष्णु दिगम्बर

भगवान् की लीला बड़ी मजेदार होती है। कभी लगता है कि आदमी का सब कुछ छिन गया लेकिन उसके पीछे भागवत करुणा काम करती है और उसके पास जो कुछ था, जो कुछ हो सकता था, उससे भी ज्यादा मिल जाता है। कोई लगभग अन्धा हो जाये और आप कहें, भगवान् की बड़ी कृपा है तो कैसा लगेगा? लेकिन कभी-कभी ऐसा हो भी जाता है। यहां ऐसी ही एक कहानी सुनिये।

पूना से लगभग डेढ़ सौ मील दूर एक छोटे-से गांव बसन्दवाड़ में एक ब्राह्मण परिवार में एक लड़के का जन्म हुआ। इस अवसर पर न बाजे बजे न उत्सव हुआ। लड़का पिता की कथा-वार्ता सुनता हुआ, कीर्तन में भाग लेता हुआ बड़ा होता जा रहा था। पिता स्वप्न ले रहे थे कि मेरा बेटा पढ़-लिखकर क्लर्क बाबू बनेगा। पैसा कमायेगा और प्रतिष्ठा पायेगा। लेकिन भाग्य ने तो उसके लिए कुछ और ही लिखा था।

एक दिन आतिशबाजी छोड़ते हुए उसका मुंह झुलस गया और आंखों में घाव हो गया। आंखों के बिना जीवन तो अन्धकारमय होता ही है। इस घटना से बच्चे का जीवन ही नहीं, सारे

पुरोधा मार्च २००६

परिवार का जीवन अन्धकारमय हो गया। आसपास के डॉक्टरों को दिखाया। मुंह के घाव तो ठीक हो गये पर आंखों का कष्ट दूर न हुआ। बालक देख तो सकता था पर अधिक नहीं। पिता को यह महत्वाकांक्षा कि उनका बेटा क्लर्क बाबू और फिर छोटा-मोटा अफसर बने, अभी से ही खतम होती दीख रही थी।

इस गांव के राजा ने बालक विष्णु को अपने मित्र मिरज के राजा के यहां भेज दिया जहां ज्यादा अच्छा इलाज होने की सम्भावना थी। मिरज के राजा वस्तुतः बसन्दवाड़ के राजा के सम्बन्धी लगते थे। उन्होंने बालक विष्णु को अपने बच्चे की तरह रखा, अच्छे-से-अच्छे डॉक्टरों से चिकित्सा करवायी लेकिन लाभ कुछ न हुआ। पिता का पेशा अपनाकर कीर्तन करने के लिए भी तो आंखें चाहियें। विष्णु न कीर्तनकार बन सकता था न अफसर। सबको उसकी चिन्ता सताने लगी।

विष्णु चिकित्सा के लिए डॉ. भड़भड़े के घर जाया करता था और कभी-कभी उनके यहां भी लेता था। भड़भड़े इसके गाने से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने सोचा, इतनी सुरीली और बुलन्द आवाज कम ही सुनायी देती है। उन्होंने विष्णु के पिता से कहा, "इसे तो आप गायक ही बनाइये।"

पिता मान गये और डॉक्टर की सिफारिश से मिरज महाराज की स्वीकृति भी मिल गयी। उन दिनों यह मामूली बात न थी। नाच-गान का पेशा बहुत नीचा समझा जाता था और इस पेशे के लोगों को समाज में कोई स्थान न मिलता था।

मिरज महाराज के कहने से उनके दरबारी गायक बालकृष्ण बुवा इचलकरंजीकर ने विष्णु को संगीत सिखाना स्वीकार कर लिया। बुवा ग्वालियर घराने के बहुत बड़े गायक थे। विष्णु को गुरु-सेवा के लिए उनके घर का काम-काज भी करना पड़ता था। रोज दो-तीन घण्टे पदों को याद करने में और रियाज़ करने में लगते थे, तीन घण्टे गले को साधने के लिए और दो-तीन घण्टे गुरु के साथ बैठकर गान सीखने में। आगे चलकर वे रोज तेरह-चौदह घण्टे परिश्रम किया करते थे। संगीत के आधुनिक विद्यार्थी चौदह दिन में एक घण्टा काम करके अपने-आपको निपुण समझने लगते हैं!

इन दिनों में विष्णु ने देखा कि गायक चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, समाज उसे नीची दृष्टि से ही देखता है। मिरज में और आसपास जब कोई समारोह होता था तो सब बड़े लोगों को निमन्त्रण मिला करता था पर दरबारी गायक होते हुए भी बुवा की कहीं पूछ न होती थी। यह बात उसके किशोर मन को बहुत खटकी और उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि वह इस स्थिति के विरुद्ध युद्ध करेगा और गायकों को समाज में सम्मानित करवाकर रहेगा।

इन्हीं दिनों दो-एक समारोह ऐसे हुए जिनमें विष्णु दिगम्बर को तो राजा के साथ सम्बन्ध के नाते बुलाया गया पर उनके गुरु की उपेक्षा की गयी। यह सहना उनके लिए मुश्किल हो गया। इससे गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में भी दरार पड़ने की सम्भावना थी। संगीत तो काफी सीख ही लिया था, उन्होंने सोचा, चलो अब अपने पैरों पर खड़े होकर कुछ किया जाये।

राजा की स्वीकृति मिलने की तो आशा न थी इसलिए एक दिन विष्णु दिगम्बर चुपके से खिसक पड़े और औंध तथा सातारा की यात्रा की। वहां गाकर उन्होंने अपनी पहली आमदनी की और वहां से बड़ौदा जा पहुंचे। बड़ौदा योग्य व्यक्तियों के लिए चुम्बक था। वहां के राजा-रानी

बहुत प्रगतिशील, उदार विचारों के थे परन्तु प्रश्न यह था कि दरबार तक पहुंच कैसे हो? धुन के पक्के लोगों के मार्ग में कठिनाइयां तो बहुत आती हैं पर उनका बस नहीं चलता। विष्णु दिगम्बर ने एक राम-मन्दिर में डेरा डाला और वहां हर रोज ब्राह्म मुहूर्त में गान करने लगे। ब्राह्म मुहूर्त की शान्ति और उसमें सुमधुर कण्ठ से गान! लोगों की भीड़ लगने लगी। होते-होते समाचार राजमहल में भी पहुंच गया। रानी की उत्सुकता जांगी। उसने नवीन गायक को दरबार में गाने का निमन्त्रण भेज दिया। अन्धा क्या चाहे दो आंखें। विष्णु दिगम्बर का उद्देश्य था समाज में गायकों को ऊंचा स्थान दिलाना, यह एक अच्छा अवसर हाथ लगा।

विष्णु दिगम्बर दरबार में जा पहुंचे। वहां रिवाज यह था कि पहले दरबारी गायक गाना करते थे और बाद में अतिथि गाता था। पर इस छोटी आयु के लड़के को देखकर दरबारी उस्तादों के तेवर चढ़ गये। उन्होंने कहा, 'पहले अतिथि का गान हो, पीछे हमारी बारी आयेगी।' विष्णु दिगम्बर ने इसे चुनौती के रूप में लिया, अपना तानपुरा उठाया और सबसे ऊंचे स्वर में गाना शुरू किया। अब क्या था! गायकों को छोड़ बाकी दरबार मन्त्रमुग्ध हो गया। गान तीन घण्टे तक चलता रहा और किसी को पता भी न लगा।

जब अतिथि ने तानपुरा रख दिया तो दरबारी गायकों की बारी आयी। हर एक एक-एक गीत गाकर हट गया! किसी का रंग न जमने पाया। अन्त में दरबार के मुख्य गायक फ़ैज़ मुहम्मद खां ने तानपुरा उठाया। उन्होंने सोचा, चलो, इस ब्राह्मण छोकरे को उसी के बराबर ऊंचे स्वर में गाकर हराया जाये। उन्होंने तानपुरा खूब ऊंचे स्वर से छेड़ा पर गला साथ देने से इन्कार कर गया। खां साहब की भद्द हो गयी। रानी ने विष्णु को बुलाया, ७०० नकद और सम्मान का दोशाला दिया और साथ ही इशारे से कह दिया कि जल्द ही बड़ौदा छोड़कर चले जाओ। ईर्ष्यावश यहां के गायक तुम्हारी हत्या तक कर सकते हैं।

विष्णु दिगम्बर बड़ौदा से चलकर गुजरात, काठियावाड़ की अनेक रियासतों में चक्कर लगाते रहे। उन दिनों साधारण आदमी कभी अच्छा गाना न सुन पाते थे क्योंकि अच्छे गायक राजा-महाराजाओं और रईसों के यहां ही गाया करते थे। इन्होंने जलसे करने शुरू किये जिनमें साधारण लोग भी आ सकते थे। आज हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि उन दिनों यह कितना बड़ा क्रान्तिकारी काम था।

जलसे करते-कराते ये जूनागढ़ के पास पहुंचे। वहां गिरनार पर जाकर देवी के दर्शन करने की इच्छा हुई। और ये अपने दल सहित पहाड़ पर चढ़ने लगे। अचानक वर्षा शुरू हो गयी और इन्हें एक जगह शरण लेनी पड़ी। वर्षा समाप्त होने पर विष्णु दिगम्बर ने अपने साथियों को आगे भेज दिया और अपने-आप वहीं रह गये।

चारों ओर का दृश्य बड़ा रमणीय था। उसे देखकर विष्णु दिगम्बर ने गाना शुरू कर दिया। गाते गये, गाते गये। उन्हें लगा कि कोई छिपकर उनका गाना सुन रहा है, इन्हें बात अच्छी न लगी। गाना बन्द कर दिया और इधर-उधर देखने लगे। कहीं ओट में एक संन्यासी खड़ा था।

इन्होंने उससे पूछा, "तुम गाना-वाना समझते भी हो या यूं ही खड़े हो?" उसने कहा, "थोड़ा-बहुत समझ लेता हूं।"

गायक ने कहा, "तो बताओ मेरा गाना कैसा लगा?"

संन्यासी ने कहा, "अच्छा ही था पर उसमें कई त्रुटियां थीं।"

मार्च २००६

पुरोधा

हो?

चलता।

न करने

लागी।

गायक

म्बर का

गा।

क. गाया

दरबारी

गायेगी।

स्वर में

न तीन

क-एक

क फ्रेज़

र ऊंचे

देने से

द और

र चले

चक्कर

गायक

जिनमें

नों यह

करने

मी और

ने आगे

दिया।

च्छी न

ड़ा था।

गर्वीले युवक को बड़ी ठेस लगी। वह बोला, “चलो, तुम गाकर दिखाओ।”

संन्यासी बोला, “तुम मेरे लिए तो नहीं गा रहे थे फिर मैं तुम्हारे लिए क्यों गाऊँ? यदि तुम्हारा सौभाग्य होगा तो तुम्हें मेरा गाना सुनने का अवसर मिल जायेगा।”

युवक तिलमिला उठा और वहां से चल दिया। काफी दूर निकल जाने के बाद उसके कान में बड़े मधुर संगीत की आवाज आयी। विष्णु दिगम्बर आवाज के स्रोत की खोज में निकल पड़े। अन्त में उन्होंने देखा वही संन्यासी देवी की प्रतिमा के आगे आंखें मूंदे गा रहे हैं।

गर्व चूर-चूर हो गया। युवक ने संन्यासी के पैर पर सिर रख दिया और उनसे माफी मांगी। फिर संन्यासी के पीछे पड़ गये कि मुझे अपना शिष्य बना लीजिये।

संन्यासी ने कहा, “तुम्हारे जैसा राजसी आदमी दैवी-कृपा नहीं प्राप्त कर सकता। तुम्हारे प्राय में सांसारिक जीवन लिखा है। तुम उत्तर की ओर जाओ। वहीं तुम्हें पूरी सफलता और ख्याति मिलेगी, लेकिन तुम्हें उद्वण्डता छोड़कर नम्रता सीखनी होगी और अपनी कला ईश्वर के चरणों में अर्पित करनी होगी।” और संन्यासी वहां से चला गया।

विष्णु दिगम्बर इधर-उधर चक्कर लगाते हुए, कहीं सीखते, कहीं सिखाते हुए लाहौर जा पहुंचे और वहां उन्होंने गन्धर्व-महाविद्यालय की स्थापना की। कुछ दिनों में यह विद्यालय लोकप्रिय हो गया और अच्छे-अच्छे घरों के लड़के-लड़कियां गान सीखने के लिए आने लगे। अबतक विष्णु दिगम्बर पण्डित जी कहलाने लगे थे।

पण्डित जी इधर-उधर घूम-घामकर जलसे करके, गाने सुनाकर एक ओर भद्र समाज में गान की प्रतिष्ठा कर रहे थे तो दूसरी ओर अपने विद्यालय के लिए पैसा भी जमा करते जा रहे थे। इसी बीच महाराजा कश्मीर ने उनका गान सुना और उन्हें कश्मीर में बस जाने का निमन्त्रण दिया परन्तु पण्डित जी अपना विद्यालय छोड़ने के लिए तैयार न थे। हां, उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि महाराज जब गाना सुनना चाहें तब उन्हें बुला लिया करें। इस पर महाराज ने विद्यालय को मासिक १५० का अनुदान देना शुरू कर दिया।

पण्डित जी ने देखा कि साधारण गायक संगीत को साधारण जनों के लिए सुलभ बनाने में सफल नहीं हो सकते। उन्होंने संगीत मिशनरी तैयार करने की ठानी। इस दल के लोगों को विद्यालय में सब तरह के काम करने पड़ते थे और इधर-उधर बहुत चक्कर लगाने पड़ते थे। उनके साथ एक कड़ी शर्त यह थी कि उनका आचरण और उनका व्यक्तिगत जीवन ऐसा होना चाहिये जिस पर कोई उंगली न उठा सके।

चक्कर लगाते-लगाते विष्णु दिगम्बर उदयपुर जा पहुंचे। महाराणा को संगीत का शौक न था। उन्होंने पन्द्रह मिनट गाने के लिए कहा। विष्णु समय के बहुत पाबन्द थे। पन्द्रह मिनट होते ही गाना बन्द कर दिया। महाराणा ने पूछा, “यह क्या”, तो बोले, “पन्द्रह मिनट हो गये।” उन्होंने कहा, “और पन्द्रह मिनट।” उन्होंने फिर से गाना शुरू किया, और फिर पन्द्रह मिनट बाद चुप हो गये। महाराज बिगड़ गये और बोले, “यह क्या बदतमीजी है?” गायक बोला, “साहब, आपका ही तो हुक्म था।” महाराणा बोले, “अच्छा चलो, अब की गाते जाओ, समय की परवाह मत करो।” विष्णु दिगम्बर गाते गये और महाराज मन्त्रमुग्ध होकर सुनते गये। गान समाप्त होने पर उन्होंने विष्णु दिगम्बर को बहुत आदर-सम्मान के साथ भेंट-पूजा देकर विदा किया।

उदयपुर में पण्डित जी की सफलता देखकर कई लोगों से नहीं रहा गया और रास्ता चलते

हुए पण्डित जी पर आक्रमण कर दिया, परन्तु पण्डित जी के कुछ भक्त भी आ गये और उन्होंने पण्डित जी को बचा लिया।

पण्डित जी को दिन-रात यही चिन्ता लगी रहती थी कि संगीत का उद्धार कैसे हो, उसकी प्रतिष्ठा कैसे हो। इसके लिए उन्होंने अनथक परिश्रम किया और अपने जीवनकाल में ही काफी सफलता पायी। लाहौर की सफलता देखकर पण्डित जी ने बम्बई में भी एक गन्धर्व-महाविद्यालय खोला। विद्यार्थी तो बहुत आ गये पर पैसा उस अनुपात में न आया। कलाकार ने इस बात की परवाह न की। पैसा उधार लेकर बड़े भवन खड़े कर दिये।

पहला महायुद्ध छिड़ जाने की वजह से इनके काम में अड़चन बढ़ गयीं। लोगों ने सलाह दी, चीजों के दाम बढ़ गये हैं, मकान बेच दीजिये, पांच लाख मिल जायेंगे, सारा कर्ज चुकाने के बाद विद्यालय को एक नया किन्तु छोटा रूप देने की सम्भावना रहेगी। पण्डित जी को यह बात जंची नहीं, इसमें संगीत का अपमान लगा और वे धन इकट्ठा करने के लिए निकल पड़े। १९२४ में जब पण्डित जी जी-तोड़ मेहनत कर रहे थे, उनके महाजनों ने उनकी इमारतों को नीलाम करके दो लाख सोलह हजार प्राप्त कर लिये।

पण्डित जी पर और उनसे बढ़कर उनके काम पर यह बहुत बड़ा आघात था। धन के आगे विद्या परास्त हो गयी। इसके बाद उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। लेकिन इस समय तक उनके संगीत के मिशनरी सारे भारत में फैल चुके थे। ओंकार नाथ, पण्डित खरे, विनायक पटवर्धन, नारायण राव व्यास आदि अनेक संगीत-महारथी इनके नाम की ध्वजा फहरा रहे थे। इनका बेटा जिया तो थोड़े ही दिनों में संगीत-जगत् में अपना नाम कर गया।

सन् १९३१ में मिरज में पण्डित जी ने अपनी इहलीला समाप्त कर डाली। अन्तिम दिनों में वे अखण्ड रामधुन सुना करते थे। जबतक रामधुन चलती रहती वे शान्त पड़े रहते, वह जरा रुकी नहीं कि वे बेचैन हो उठते थे।

पण्डित जी के जीवन की दो-एक मजेदार घटनाएं भी लगे हाथों सुनते चलिये। एक बार किसी बड़े संगीत-सम्मेलन में, जहां महाराज सयाजी राव गायकवाड़ भी मौजूद थे, किसी ने पण्डित जी से पूछा, “आपने इतने दिनों में कितने तानसेन तैयार कर दिये?”

पण्डित जी ने झट उत्तर दिया, “तानसेन तैयार करना तो स्वयं तानसेन के बस का भी न था। पर मैंने ऐसा काम जरूर किया है जिसे तानसेन न कर पाये थे। मैंने देश के कोने-कोने में ऐसे हजारों लोग तैयार कर दिये हैं जो तानसेन के संगीत का रस ले सकते हैं।”

एक बार किसी राजा के यहां पण्डित जी की मण्डली गानेवाली थी। इन्हें समय से पहले तैयार होकर पहुंचने की आदत थी (जिससे अन्य गायक बहुत नाराज हुआ करते थे)। ये पहुंचे तो देखा, श्रोताओं के लिए बढ़िया कुर्सियां हैं और गायक-मण्डली को जमीन पर बैठना होगा। इन्होंने कहा, “हम आपके प्रतिष्ठित लोगों के चरणों में नहीं बैठेंगे। या तो हमारे लिए एक मञ्च हो और अगर वह सम्भव न हो तो हमारे लिए भी कुर्सियां बिछा दी जायें।” बात राजा तक पहुंची। इतने कम समय में मञ्च तैयार करना सम्भव न था। कुर्सियां रखी गयीं और इनके दल ने कुर्सी पर बैठकर ही गाया-बजाया। इस घटना का महत्त्व समझ सकने के लिए पहले बताया गयी संगीत की और गायकों की अवहेलना की बात याद कर लीजिये।

इसी तरह एक और सभा में समाचार आया कि एक राजा साहब संगीत सुनने के लिए

मार्च २००६

पुरोधा

उन्होंने

उसकी

काफी

धालय

गत की

सलाह

चुकाने

को यह

पड़े।

तों को

आगे

उनके

वर्धन,

का बेटा

दनों में

ह जरा

बार

सी ने

भी न

कोने

पहले

पहुंचे

होगा।

मज्ज

तक

दल

बतायी

लिए

आनेवाले हैं। उनके नौकर आकर गद्दा, तकिया लगा गये। राजा साहब आकर आधे लेटकर संगीत सुनने के लिए तैयार हो गये।

पण्डित जी ने कहा, “संगीत का यह अपमान मेरे सामने नहीं हो सकता।”

राजा झट सम्भलकर बैठ गये। और तब संगीत आरम्भ हुआ।

विष्णु दिगम्बर का जीवन हमें यह सिखाता है कि आदमी के अन्दर दृढ़ निश्चय हो तो वह सब प्रकार की कठिनाइयों को पार करके लक्ष्य तक पहुंच सकता है।

—रवीन्द्र

लक्ष्यबेध

लक्ष्यबेध किया था

निशाना साधकर

अर्जुन ने

ऊपर घूमती हुई, मछली की आंख का

नीचे रखे कुण्ड में उसकी प्रतिच्छाया देखकर

कुछ ऐसे ही

अपने अन्तस्

को लक्ष्य मानकर

उस तक निशाना साधना है

इस अस्थिर जगत् के

झिलमिल दर्पण में

अपने अन्तस् की

प्रतिच्छाया पर

ध्यान केन्द्रित कर।

—श्री विश्वनाथ

‘अन्तरा’ से साभार

प्रयास

प्रयास स्वाभाविक रूप से क्यों नहीं आता?

क्योंकि जैसा श्रीअरविन्द ने कहा है, साधारण मनुष्य की भौतिक प्रकृति तामसिक-सी है। स्वभावतः वह प्रयास नहीं करती। प्राण जरूर प्रयास करता है, लेकिन वह, साधारणतः, स्वयं अपने सन्तोष के लिए प्रयास करता है। और प्राण प्रयास करने के लिए पूरी तरह से सक्षम है, क्योंकि यह उसके स्वभाव में है। वास्तव में, मैं यह नहीं कह सकती कि तुम कोई भी प्रयास नहीं करते, तुम बहुत-सी चीजों के लिए बहुतेरा प्रयास करते हो बशर्त कि तुम्हारी मरजी हो, या किसी-न-किसी कारण से तुम्हें लगे कि यह जरूरी है। तुम्हारा मतलब योग के लिए सतत प्रयास से है। ऐसे लोग भी हैं जो यहां योग करने आये हैं या कम-से-कम यह सोचकर आये हैं कि वे योग के लिए आये हैं, और फिर भी, बहुत प्रयास नहीं करते, चीजें जैसे आयें, जिस तरह आयें उसी तरह स्वीकार कर लेते हैं। मुझे नहीं लगता कि स्वयं अपने ऊपर छोड़ देने से भौतिक प्रकृति सहज रूप से किसी प्रयास की ओर बढ़ती है। उसे कुछ क्रिया-कलाप की जरूरत तो होती है, लेकिन बहुत कम। यहां बड़ी बात तो यह है कि शिक्षा का सिद्धान्त स्वाधीनता का सिद्धान्त है, संक्षेप में कहें तो समस्त जीवन गतिविधि की यथासम्भव अधिक-से-अधिक स्वाधीनता पर आधारित है, यहां नियम, नियन्त्रण, प्रतिबन्ध आदि घटाकर कम-से-कम कर दिये गये हैं। अगर तुम इसकी तुलना उस तरीके से करो जिससे माता-पिता साधारणतः अपने बच्चों को प्रशिक्षित करते हैं, वे हमेशा कहते रहते हैं : “यह मत करो”, “तुम यह नहीं कर सकते”, “यह करो”, “जाओ, वह करो”, इस तरह के हुकुम और नियम होते हैं, तो इन दोनों में बहुत फर्क है।

स्कूलों और कॉलेजों में हमारे यहां की अपेक्षा कहीं अधिक कठोर नियम होते हैं। चूंकि यहां तुम पर प्रगति करने की निरपेक्ष शर्त नहीं लादी जाती, तो जब तुम्हारी मर्जी होती है, तब तुम प्रगति करते हो, जब नहीं होती तो नहीं करते, और तुम चीजों को अधिक-से-अधिक आसानी से लेते हो। कुछ लोग हैं—मैं यह बात निरपेक्ष भाव से नहीं कहती—कुछ लोग हैं जो कोशिश करते हैं, लेकिन वे सहज रूप से कोशिश करते हैं। निश्चय ही, आध्यात्मिक दृष्टि से यह कहीं अधिक मूल्यवान् है। तुम जो प्रगति इसलिए करते हो क्योंकि तुम्हें अपने अन्दर उसके लिए आवश्यकता मालूम होती है, क्योंकि यह एक प्रेरणा है जो तुम्हें सहज रूप से आगे बढ़ाती है, वह तुम्हारे ऊपर नियम के रूप में लादी नहीं गयी है—यह प्रगति, आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, कहीं अधिक श्रेष्ठ है। तुम्हारे अन्दर जो कुछ चीजों को अच्छी तरह करना चाहता है, सहज रूप से, सचाई के साथ करना चाहता है, वह कोई ऐसी चीज है जो तुम्हारे अन्दर से आती है। वह इसलिए नहीं है कि तुम्हें अच्छा करने पर पुरस्कार और बुरा करने पर दण्ड देने का वचन दिया गया है। हमारी पद्धति इन पर आधारित नहीं है।

हो सकता है कि किसी समय कोई ऐसी चीज आ जाये जो तुम्हें यह संकेत दे कि तुम्हारे प्रयास की सराहना की गयी है, लेकिन प्रयास इसे दृष्टि में रखकर नहीं किया गया था; यानी, पहले से ऐसे वचन नहीं दिये जाते और न उन्हें सन्तुलित करने के लिए किसी दण्ड का विधान रखा जाता है। यहां का यह रिवाज नहीं है। साधारणतः, चीजें ऐसी हैं, इस तरह से व्यवस्थित

मार्च २००६

होती हैं कि काम अच्छी तरह करने का सन्तोष ही सबसे अच्छा इनाम होता है और बुरी तरह करने पर आदमी अपने-आपको दण्ड दे लेता है, इस तरह कि वह अपने-आपको अभागा, दुःखी और बेचैन अनुभव करता है, और सचमुच उसके लिए यह सबसे ज्यादा ठोस दण्ड है। और इस तरह आन्तरिक आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से इन गतिविधियों का उनकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्य है जो बाहरी नियम का परिणाम हों।

—‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड ६ से

“मैं तुम्हारे साथ हूँ”

“मैं तुम्हारे साथ हूँ।” इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

जब हम प्रार्थना करते हैं या किसी समस्या को लेकर अपने अन्दर जूझते हैं, तो क्या हमारे भवेपन और अपूर्णता के बावजूद, हमारी दुर्भावना और भ्रान्ति के बावजूद हमारी सुनवाई होती है? और कौन सुनता है? आप जो हमारे साथ हैं?

और क्या आप ही हैं अपनी परम चेतना में, निर्गुण भागवत शक्ति, योग-शक्ति, या फिर आप भौतिक चेतना सहित सशरीर श्रीमां के रूप में हैं? एक व्यक्तिगत उपस्थिति जो वास्तव में प्रत्येक विचार और प्रत्येक क्रिया को जानती है, और जो कोई अनाम शक्ति नहीं है? क्या आप हमें यह बतला सकती हैं कि आप हमारे अन्दर कैसे, किस तरह विद्यमान हैं?

कहा जाता है कि आपकी और श्रीअरविन्द की चेतना एक और समान ही है, लेकिन क्या आपकी और श्रीअरविन्द की वैयक्तिक उपस्थिति दो अलग चीजें हैं जो अपनी-अपनी विशिष्ट भूमिका निभाती हैं?

मैं तुम्हारे साथ हूँ क्योंकि मैं तुम हूँ या तुम मैं हो।

मैं तुम्हारे साथ हूँ, इसके बहुत सारे अर्थ होते हैं, क्योंकि मैं सभी स्तरों पर, सभी भूमिकाओं में, परम चेतना से लेकर अत्यन्त भौतिक चेतना तक तुम्हारे साथ हूँ। यहां, पॉण्डिचेरी में, तुम मेरी चेतना को अन्दर लिए बिना श्वास भी नहीं ले सकते। वह सूक्ष्म-भौतिक में सारे वातावरण को लगभग भौतिक रूप में भरे हुए है, और यहां से दस किलोमीटर दूर झील तक ऐसा है। उसके आगे, मेरी चेतना को भौतिक प्राण में अनुभव किया जा सकता है, उसके बाद मानसिक स्तर पर तथा अन्य उच्चतर स्तरों पर हर जगह। जब मैं यहां पहली बार आयी थी तो, मैंने भौतिक रूप से दस किलोमीटर नहीं, दस समुद्री मील की दूरी से श्रीअरविन्द के वातावरण का अनुभव किया था। वह एकदम अचानक, बहुत ठोस रूप में, एक शुद्ध, प्रकाशमय, हल्का, ऊपर उठानेवाला वातावरण था।

बहुत समय पहले श्रीअरविन्द ने आश्रम में हर जगह यह अनुस्मारक लगवा दिया था जिसे तुम सब जानते हो : “हमेशा ऐसे व्यवहार करो मानों माताजी तुम्हें देख रही हैं, क्योंकि, वास्तव में, वे हमेशा उपस्थित हैं।”

यह केवल एक वचन नहीं है, कुछ शब्द नहीं हैं, यह एक तथ्य है। मैं तुम्हारे साथ बहुत ठोस रूप में हूँ और जिनमें सूक्ष्म दृष्टि है वे मुझे देख सकते हैं।

सामान्य रीति से मेरी "शक्ति" हर जगह कार्यरत है, वह हमेशा तुम्हारी सत्ता के मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को इधर-उधर हटाती और नये रूप में रखती तथा तुम्हारे सामने तुम्हारी चेतना के नये-नये रूपों को निरूपित करती रहती है ताकि तुम देख सको कि क्या-क्या बदलना, विकसित करना या त्यागना है।

इसके अलावा, मेरे और तुम्हारे बीच एक विशेष सम्बन्ध है, उन सबके साथ जो मेरी और श्रीअरविन्द की शिक्षा की ओर मुड़े हैं,—और, यह भली-भाँति जानी हुई बात है कि इसमें दूरी का सवाल नहीं उठता, तुम फ्रांस में हो सकते हो, दुनिया के दूसरे छोर पर हो सकते हो या पॉण्डिचेरी में हो सकते हो, यह सम्बन्ध हमेशा सच्चा और जीवित-जाग्रत होता है। और हर बार जब पुकार आती है, हर बार जब इसकी जरूरत हो कि मुझे पता लगे ताकि मैं एक शक्ति, कोई प्रेरणा या रक्षण या कोई और चीज भेजूं, तो अचानक मेरे पास एक सन्देश-सा आता है और मैं जो जरूरी होता है वह कर देती हूँ। यह तो स्पष्ट है कि ये सन्देश मेरे पास किसी भी समय पहुंचते रहते हैं, और तुमने कई बार मुझे अचानक किसी वाक्य या काम के बीच रुकते देखा होगा; यह इसलिए कि कोई चीज मेरे पास आती है, कोई सन्देश आता है और मैं एकाग्र हो जाती हूँ।

जिन लोगों को मैंने शिष्य-रूप में स्वीकार लिया, जिन्हें "हां" कह दी है, उनके साथ सम्बन्ध से बढ़कर कुछ और होता है। उनमें मेरा एक निर्गत अंश होता है। जब कभी जरूरत हो तो यह निर्गत अंश मुझे चेतावनी देता है और मुझे बतलाता है कि क्या हो रहा है। वास्तव में मुझे सारे समय सूचनाएं मिलती रहती हैं, परन्तु मेरी सक्रिय स्मृति में वे सब अंकित नहीं होतीं, तब तो मेरे अन्दर बाढ़ आ जायेगी; भौतिक चेतना फिल्टर या छत्रे का काम करती है। चीजें एक सूक्ष्म स्तर पर अंकित होती हैं, वे वहां अप्रकट अवस्था में रहती हैं, मानों कोई संगीत ध्वन्यांकित तो कर लिया गया हो पर बजाया न गया हो, और जब मुझे अपनी भौतिक चेतना द्वारा कुछ जानने की जरूरत होती है, तो मैं इस सूक्ष्म भौतिक स्तर के साथ सम्पर्क जोड़ती हूँ और रेकॉर्ड बजने लगता है। तब मैं देखती हूँ कि चीजें कैसी हैं, उनका समय में विकास और उनका वास्तविक परिणाम क्या है।

और अगर किसी कारण से तुम मुझे चिढ़ी लिखो और मेरी सहायता मांगो और मैं उत्तर दूँ "मैं तुम्हारे साथ हूँ", तो इसका मतलब यह है कि तुम्हारे साथ की सञ्चार-व्यवस्था सक्रिय हो गयी है, तुम कुछ समय के लिए, जितने समय के लिए जरूरी हो, मेरी सक्रिय चेतना में आ जाते हो।

और मेरे और तुम्हारे बीच का यह सम्बन्ध कभी नहीं टूटता। ऐसे लोग हैं जिन्होंने विद्रोह की अवस्था में बहुत पहले आश्रम छोड़ दिया था, और फिर भी मैं अपने-आपको उनके बारे में अवगत रखती हूँ, उनकी देख-भाल करती हूँ। तुम्हें कभी त्यागा नहीं जाता।

सच तो यह है कि मैं अपने-आपको हर एक के लिए जिम्मेदार मानती हूँ, उनके लिए भी जिनसे मैं अपने जीवन में बस निमिषमात्र के लिए मिली हूँ।

यहां एक बात याद रखो। श्रीअरविन्द और मैं एक ही हैं, एक ही चेतना हैं, एक और

मार्च २००६

अभिन्न व्यक्ति हैं। हां, जब यह शक्ति या यह उपस्थिति, जो एक ही है, तुम्हारी वैयक्तिक चेतना में से गुजरती है, तो वह एक रूप, एक आभास धारण कर लेती है जो तुम्हारे स्वभाव, तुम्हारी अभीप्सा, तुम्हारी आवश्यकता, तुम्हारी सत्ता के विशेष मोड़ के अनुसार होता है। तुम्हारी वैयक्तिक चेतना, यह कहा जा सकता है, एक छत्रे या एक सूचक की तरह होती है जो अनन्त दिव्य सम्भावनाओं में से एक सम्भावना को चुनकर दृढ़ कर लेती है। वस्तुतः, भगवान् हर एक व्यक्ति को वही देते हैं जिसकी वह उनसे आशा करता है। अगर तुम यह मानते हो कि भगवान् बहुत दूर और क्रूर हैं, तो वे दूर और क्रूर होंगे, क्योंकि तुम्हारे परम कल्याण के लिए यह जरूरी होगा कि तुम भगवान् के क्रोध का अनुभव करो; काली के पुजारियों के लिए वे काली होंगे और भक्तों के लिए "परमानन्द"। और जिज्ञासु के लिए वे "सर्वज्ञान" होंगे, मायावादियों के लिए परात्पर "निर्गुण ब्रह्म", नास्तिक के साथ वे नास्तिक होंगे और प्रेमी के लिए प्रेम। जो उन्हें हर क्षण, हर गति के आन्तरिक निदेशक के रूप में अनुभव करते हैं उनके लिए वे बन्धु और सखा, हमेशा सहायता करने के लिए तैयार, वफादार दोस्त रहेंगे। और अगर तुम यह मानो कि वे सब कुछ मिटा सकते हैं, तो वे तुम्हारे सभी दोषों, तुम्हारी सभी भ्रान्तियों को बिना थके, मिटा देंगे, और तुम हर क्षण उनकी अनन्त "कृपा" का अनुभव कर सकोगे। वस्तुतः भगवान् वही हैं जिनकी तुम अपनी गहरी-से-गहरी अभीप्सा में आशा करते हो।

और जब तुम उस चेतना में प्रवेश करते हो जहां तुम सभी चीजों को एक ही दृष्टि में देख सको, मनुष्य और भगवान् के बीच सम्बन्धों की अनन्त बहुलता को देख सको, तो तुम देखते हो कि यह सब अपने ब्योरे में कैसा अद्भुत है। अगर तुम मानवजाति के इतिहास को देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि मनुष्य जो कुछ समझे हैं, उन्होंने जिसकी इच्छा और आशा की है, जिसका स्वप्न लिया है, उसके अनुसार भगवान् कितने विकसित हुए हैं। वे किस तरह जड़वादी के साथ जड़वादी रहे हैं और हर रोज किस तरह बढ़ते जाते हैं और जैसे-जैसे मानव चेतना अपने-आपको विस्तृत करती है वे भी दिन-प्रतिदिन निकटतर और अधिक प्रकाशमान होते जाते हैं। हर एक चुनाव करने के लिए स्वतन्त्र है। सारे संसार के इतिहास में मनुष्य और भगवान् के सम्बन्ध की इस अनन्त विविधता की पूर्णता एक अकथनीय चमत्कार है। और यह सब मिलाकर भगवान् की समग्र अभिव्यक्ति के एक क्षण के समान है।

भगवान् तुम्हारी अभीप्सा के अनुसार तुम्हारे साथ हैं। स्वभावतः इसका यह अर्थ नहीं है कि वे तुम्हारी बाह्य प्रकृति की सनकों के आगे झुकते हैं,—यहां मैं तुम्हारी सत्ता के सत्य की बात कह रही हूं। और फिर भी, कभी-कभी भगवान् अपने-आपको तुम्हारी बाहरी अभीप्सा के अनुसार गढ़ते हैं, और अगर तुम, भक्तों की तरह, बारी-बारी से मिलन और बिछोह में, आनन्द की पुलक और निराशा में रहते हो तो भगवान् भी तुमसे, तुम्हारी मान्यता के अनुसार, बिछुड़ेंगे और मिलेंगे। इस भांति मनोवृत्ति, बाहरी मनोवृत्ति भी, बहुत महत्त्वपूर्ण है। लोग यह नहीं जानते कि श्रद्धा कितनी महत्त्वपूर्ण है, श्रद्धा चमत्कार है, चमत्कारों को जन्म देनेवाली है। अगर तुम यह आशा करते हो कि हर क्षण तुम्हें ऊपर उठाया जाये और भगवान् की ओर खींचा जाये, तो वे तुम्हें उठाने आयेंगे और वे बहुत निकट, निकटतर, अधिकाधिक निकट होंगे।

१९५७

—श्रीमां

Central Library

Gurukul Kangri University

Hardwar-249404 (U.A.)

‘गैर्वाणी’ :

निजवक्षसा सुदृढम् आलिङ्ग...।

जीवनस्य उत्तरसप्ततिः वसन्ताः दृष्टाः मया आरूढा च अनेकवारं सुखदुःखयोः नौका। कदाचिदहमपि अन्ये इव प्रभुं विचित्रमेव मन्ये—सुखसागरे निमग्नं मनुष्यं सः कुतः बहुवारं दुःखशिलाभिः संघट्ट्य अवपातयति? बाल्यकाले मे मनःस्थिति भिन्नासीत्। तदानीं निजप्रभुणा यीशुना सह अकरवं प्रायशः वार्तालापम्। सर्वस्मिन् अनुकूले सति तं प्राशंसम्, प्रतिकूले सति न केवलं तस्मै अकुप्यम् अपि तु बहुवारं तमभर्त्सयेऽपि। यदा यदा तथा कृतं शूलारूढा सा मूर्तिः अनुकम्पापूर्ण-दृष्ट्या मां कथयति स्म—“अयि वत्से! त्वां तु सर्वदैव हस्तेन धरामि एव। जीवनस्य लघु-क्षुद्रैः आघातैः मा विचल...।” एतत् श्रुत्वैव मे सम्पूर्णः कोपः, कृत्स्ना कटुता पलायते स्म। अहञ्च यीशोः चरणौ चुम्बित्वा खलेषु पुनरपि अरमे। गृहे न कदापि कस्मै अपि एतादृशस्य वार्तालापस्य सम्बन्धे अकथयं यतो हि सर्वदैव अचिन्तयम् अपश्यं च यत् सर्वे निजसमस्यासमाधानाय प्रत्येकं रविवारे गिरिजागृहं गच्छन्ति एव। केवलम् इमं प्रश्नं मे बाल-बुद्धिः सदा अकरोत्—“कुतः एते सर्वे जनाः सप्ताहस्य सर्वाणि कष्टानि एकसार्धं समाहृत्य आनयन्ति अत्र? किमर्थं मद्भृत् गृहे एव यीशोः सम्मुखे दैनन्दिनसमस्याः न समादधति?” तदासमं शिशुः। सः कालश्च तथा सरलः...। अद्य ननु जीवनस्य तावन्ति वर्षाणि यापयित्वा अस्मि लब्धवयाः बुद्धिमती च। इतरे इव काले काले आत्मानं पृच्छामि—“कुत्र गतानि तानि बाल्यकालस्य दिनानि?” तदापि अंशतः अहम् अन्येभ्यः भिन्ना एव। शैशवस्य तद् रहस्यं मे अन्तरतमे हृदये निगूढं वर्तते। तस्मात् दुःखसागरे निमग्ना यदा तं यीशुं स्मरामि तदा एव सः हस्तेन धृत्वा माम् उद्धरति। तेन सह बाल्यकालस्य सः संवादः तु बहुपूर्वं विरतः किन्तु सर्वेषु अनुकम्पावर्षिणी सा दृष्टिः अद्यावधि मया सह मूकवार्तालापं करोति एव। तस्मात् बहुशः दुःखनौकाम् आरूढामपि माम् अन्ततः मे ध्रुवतारा दिशां दर्शयित्वा सुखसागरस्य तटमेव प्रापयति।

किन्तु अद्य?...।

दूरभाषः स्वनितः। ततः श्रुतः भग्नः, विलापमयः स्वरः यः मां पाषाणीकृतवान्...।

“मातः, मातः... शृणोषि त्वम्? किमपि वद मातः!...” दूरादागत्य कर्णे पतितः मे पुत्रस्य स्वरः।

“शृणोमि” यन्त्रवत् मुखात् निर्गतम्, किन्तु ते प्राणघातकाः शब्दाः सम्पूर्णे कक्षे व्याप्ताः इव अहञ्च तान् सम्यग् धर्तुमेव नाशक्नवम्—“कैथी... सप्तवर्षीया मम पुत्री... तव पौत्री... मार्गदुर्घटनायां दिवङ्गता...” इति।

दूरभाषस्य हस्तोपकरणं कदा हस्तात् च्युतं न जाने। सहसा मम चतुर्दिक्षु अनृत्यत् हसन्ती, गायन्ती, इतस्ततः च दोलायमाना, उत्प्लवमाना मम कैथी या चलनं न अजानात्, अजानात् केवलं नर्तनम्, मां परितः उच्छल्य दृढालिङ्गने मां बद्ध्वा निरन्तरं हसनं च।

शून्ये लम्बमानात् दूरभाषात् श्रुतैः “मातः, कुत्र त्वम्? किमपि वद... कृपया... वद...।” इत्येतैः शब्दैः बलात् पुनः वर्तमानम् आनीताहम्। मया किमपि प्रतिभाषितम्। तदनु, क्रियाकर्म निर्वर्त्य आगमिष्यावः तव सकाशे, मातः। आत्मस्था तिष्ठ त्वम् इति उत्तरवचनं सक्रन्दं श्रुतं मया।

मार्च २००६

क्रियाकर्म... कस्य... किम्...? मम बोधः लुप्यते स्म, मस्तिष्कं शून्यायते स्म, नेत्रे शुष्के, कर्णौ परिव्याप्तौ कैथी, कैथी इति विलापेन तेन च सम्पूर्णः कक्षः अकम्पत इव...। निरुद्देश्यं सम्पूर्णं गृहे इतस्ततः गत्वा अन्ते रन्धनशालायां स्वफेनजलं विकीर्य मत्तवत् भूमिमघर्षमहम्।

दूरभाषस्य कर्कशध्वनिः भूयोऽपि अरौत्।

उपस्करैः संघट्टमाना, मार्गस्थानि वस्तूनि पादेन प्रहरन्ती, पात्राणि क्षिपन्ती दूरभाषम् उपागता। पुत्रस्य स्वरः आसीत्—“मातः! एकाकिनी मा तिष्ठ यावत् न प्राप्नुवः आवाम्। कृपया कमपि गृहे आह्वय।”

—बाढं पुत्र! कस्यापि सकाशे गमिष्यामि इत्युक्त्वा मया हस्तोपकरणं मन्दं स्थापितम्।

मम सम्मुखस्था कुञ्जटिका शनैः शनैः अपगच्छति स्म, हृदये व्याप्ता निःस्तब्धता अल्पायते स यतो हि मे पुत्रः तत् परिचितं रहस्यम् अस्मारयत् यत् मया दारुणदुःखे विस्मृतमेव...। भूमिष्ठानि पात्राणि यथास्थानं स्थापयन्ती प्रविष्टाहम् अञ्जसा तं कक्षं यत्र अविद्यत मे यीशोः भुवनमोहनं रूपं यत् मां मुहुर्मुहुः अपृच्छत्—“तावान् विलम्बः कुतः कृतः, मे वत्से? कस्मात् कालात् बाहू प्रसार्य त्वां प्रतीक्षेऽहम्।”

मम विस्फारितशुष्कनेत्रयोः प्लावनम् अवतीर्णम्। यीशोः चरणौ धृत्वा तावदक्रन्दं यावत् अन्तःस्थधूमिका न विलीना। तस्यां गतायां मुखम् उन्नमय्य यीशुं वीक्ष्यैव तस्मिन् बद्धदृष्टिः जाता...। कक्षे व्याप्ते सूर्यालोके यीशुः सत्यमेव सजीवः दृश्यते स्म। न केवलं सः अस्मयत अपि तु तस्य दृष्टिरपि माकथयत्—“पश्य, पश्य, कक्षे अपि दृष्टिं पातय तावत्...।” किमपश्यहम्? मम चतुर्दिक्षु—उपरि, नीचैः, सर्वत्रैव अवर्तत स्वर्णकेशान् दोलयन्ती, सानन्दं हसन्ती, गायन्ती पितामहि पितामहि इति गुञ्जन्ती मम पौत्री कैथी...। सर्वथा सा एव कैथी। इदानीं पक्षयुक्ता आसीत् सा। एतेन अपूर्वदृश्येन मां किङ्कर्तव्यविमूढां कृत्वा सा यीशोः हृदयम् एतत् कथयन्ती प्रविष्टा—“पितामहि! अत्र अस्मि अहम्—यीशोः हृदये, अथ युष्माकं सर्वेषां हृदये।”

अवाक् हतचित्ता इव अतिष्ठमहम्...।

प्रायः ६५ वर्षेभ्यः प्राक् घटितः सः वृत्तान्तः चलचित्रवत् मम नेत्रयोः सम्मुखात् निरगच्छत् यदासमहं कैथी-सदृशी लघु-बालिका एव, यदा मे प्रत्येकम् उपालम्भस्य अभ्यर्थनायाश्च श्रवणं यीशोः राज्ये अभवत्, किन्तु तस्मिन्नपि काले एकदा असीमदुःखसागरे निमग्नाहम् एवमेव यीशुं प्रायः व्यस्मरमेव।...

एकस्मिन् मध्याह्ने, यः अन्येषामर्थे अवर्तत यथानित्यं भास्वरः मध्याह्नः किन्तु ममार्थे आसीत् तिमिरमयः यतो हि सर्वमेव घोरान्धकारेण आवृतमासीत्—गृहम्, क्षेत्रम्, नदीतीरं सर्वमेव, मम बन्धुः, चिरसहचरः मदीयः कुक्कुरः वहिर्बदुर्घटनायां दिवङ्गतः। अस्माभिः चिरं स्वापितः सः क्षेत्रभूमौ। तस्य शवकोषे अहमलिखम्—“अत्र शेते मम ‘ट्रिबली’, प्रियतमः मे बन्धुः।” सः आसीत् सप्तवर्षीयः, अहमपि आसं तद्वयस्का एव। आवां सर्वदैव एकसार्धम् अतिष्ठाव।

मम मातुः दिवङ्गमनकाले आसमहं तथा अल्पवयाः यत् अभावः इति शब्दस्य अर्थं न अजानाम्, किन्तु अधुना एतद् भयङ्करदुःखम् असह्यं जातम्। क्रन्दित्वा शोकं न निवार्य अहं तं धृतवती हृदये एव। परिणामतः मित्रस्य निखननेन सहैव हृदयेऽपि प्रस्तरस्थापनं सञ्जातम्। पिता समीपमागतः, अहं मुखं परावर्तयम्, सः आलिङ्गनाय उपागतः, अहं तं हस्तेन अपानुदम्। पितृष्वसा

भोजनाय आह्वयत् अहं नैव प्रत्यवदम्। जानुनोः शिरः निधाय खट्यायां विषण्णा उपाविशम्।
कक्षे सर्वत्रैव मे प्रिय-कुक्कुरस्य प्रतिच्छायां विहाय नासीत् अन्यः कोऽपि।

किञ्चित् परमेव पितुः स्वरः समीपतः श्रुतः मया—“पतङ्गोड्डयनाय उत्तमं दिनम् अद्य। त्वं
किं चिन्तयसि, हैरी?” आसमहं तस्य पुत्री किन्तु सः सर्वदा मां पुत्रोचितेन नाम्ना एव आह्वयत्
यतो हि नासीत् मे कोऽपि भ्राता।

तूष्णीका अहम् अधिकमेव स्वस्य अङ्गानि अन्तरे समाहरम्। रन्धनशालां गतस्य तस्य
स्वरः पुनरपि मे कर्णयोः पतितः—“मारिये! पुत्र्याः अर्थे बृहन्तं पतङ्गं रचयिष्यामि अद्य। किं
तव सकाशे पुरातनः, अनुपयोगी शय्याच्छदः अस्ति यं विदार्य प्रयोजयेयमहम्?”

“अरे! विस्मृतं किम्? शाकादि-क्रयार्थम् अद्य त्वया आपणं गन्तव्यमेव।” पितृष्वसा अवदत्।

—अयि। तत्सर्वं श्वः भविष्यति। अद्य तु अहं पतङ्गमेव रचयिष्यामि इति पितुः उद्घोषणा
मे कर्णकुहरे यथैव पतिता तदाहम् ईषत् सावधाना जाता किन्तु तत्कालमेव पुनरपि आत्मानं
समाहरम्।

घनप्रहारं अचिरमेव अशृणवम्। ‘बृहत्-पतङ्गं रचयिष्यति पिता’, ‘कियत् बृहत्?’ अहम्
अचिन्तयम्। बहिरुद्घाने द्रष्टुं मे ग्रीवा तता किन्तु तत्कालं मनसि विचारः उद्भूतः—“टिबली
दिवङ्गतः! इतः प्रभृति सः न कदापि मया सह उद्याने खेलिष्यति, विद्यालयात् प्रत्यागतायाः मे
स्वागतं न करिष्यति, न कदापि अहं तं पराम्रक्ष्यामि, न कदापि द्रक्ष्यामि...।”

अहं जानुनोः पूर्ववत् नता।

घनप्रहारः विरतः। “किं करोति पिता अधुना? पलद्वयं यदि प्रियमित्रस्य सम्बन्धे न
चिन्तयेयम्...?” बहिरपश्यम्—काष्ठपट्टिकाभिः पतङ्गस्य बृहन् कङ्कालः सज्जः, अधुना बन्धनार्थं
ग्रन्थिकां कर्तुं चेष्टते सः किन्तु नैव पारयति। सर्वदैव बन्धनसमये अहम् अङ्गुलिं मध्ये स्थापयामि
स्म येन बन्धः न सरेत्, किन्तु अद्य तस्य पार्श्वे कोऽपि नास्ति।

• बहिरागत्य अहम् अङ्गुलिं मध्ये अस्थापयम्।

पिता अस्मयत। मम पृष्ठं परामृश्य अगदत्—“वत्से! विशाल-पतङ्गं रचयामि अद्य।”

अनिच्छुकापि अहं मन्दम् अस्मये।

सर्वथा सत्यमेव। अद्यावधि पिता न कदापि एतादृशं महाकायं पतङ्गम् अरचयत्। कियान्
शोभनः सुन्दरश्चासीत्। मम पिता सत्यं महान्!!

पित्रा सह अहं क्षेत्रस्य तमुन्नतस्थलम् आरूढा यतः आवां सर्वदैव पतङ्गम् उदडाययाव।
समीरः मम दीर्घकेशैः सह अखेलत् मे घर्घरी च पुनः पुनरपि दोधूयते स्म।

“हैरी! अहं सूत्रं धृत्वा धावामि त्वं पतङ्गं उत्क्षिप। पश्यावः प्रथमे एव वारे सफलतां
प्राप्स्यावः न वा इति?” पिता अवदत्।

पतङ्गम् अहमधरम्, पिता अधावत्। “उत्क्षिप” सः उच्चैः अवदत्। अहमत्यजं किन्तु न
तत्कालम्। फलतः पतङ्गः पक्षविहीनः पक्षी इव भूमौ अपतत्।

त्वं बहु लघुः, वत्से! देहि मह्यम्, त्वं सूत्रं धृत्वा धाव इति कथयन् पिता पतङ्गम् अगृह्णात्।
सम्प्रति अहम् अधावम्, अपतम्, पुनरपि उत्थाय अधावम्—अस्मिन् वारे पतङ्गः वायुना
सह अखेलत्—उपरि, अधिकाधिकम् उपरि अगच्छत्, नीलाकाशे श्वेतपक्षी इव उदडयत।

पिता अपृच्छत्—“पुत्रि! उपरि देवदूतानां सकाशे कमपि सन्देशं प्रेषयितुमिच्छसि किम्?”

मार्च २००६

पुरोधा

वेशम्।

ध। त्वं

ह्वयत्

तस्य

य। किं

वदत्।

घोषणा

भात्मानं

अहम्

ट्रिबली

यायाः मे

न

नन्धनार्थं

पयामि

।।"

कियान्

ययाव।

फलतां

क्तु न

हणात्।

वायुना

कम्?"

अहं स्वीकृतिम् अदर्शयम्। तदा स्वस्य गोहात् वर्गाकारं कर्गजखण्डं निरकासयत् सः यस्य मध्ये आसीदेकं छिद्रम्। तेन उक्तम्—“वत्से! इदं कर्गजं पतङ्ग-सूत्रे निवेश्य यथाशक्यम् उपरि सारय। न वर्तते अङ्कनी अत्र तस्मात् निज-प्रार्थनां मनसा एव चिन्तय।”

अहं तथैव अकरवम्। पिता तत् कर्गजम् ऊर्ध्वतरम् असारयत्, शनैः शनैः समीरः तद् उत्तरोत्तरम् उपर्युपरि असारयत् दिविष्टदेवदूतानां सकाशे अनयत्।

“मनोकामना मे पूर्णा भविष्यति, नैवं पितः?” सोल्लासम् अपृच्छमहम्।

पिता अहसत्—“किं प्रार्थितं त्वया वत्से?”

मस्तकं नत्वा अवदम्—“मम प्रिय-कुक्कुर-ट्रिबली-अर्थे याचना यत् सः भूयोऽपि जीवेत्, पूर्ववत् सर्वैः सह जीवेत्।”

निर्निमेषं पिता मामपश्यत्। पतङ्गम् एकेन हस्तेन धृत्वा सः सर्वथा मम मुखस्य सम्मुखे एकेन जानुना उपविष्टः। अहं निजाननं तस्य नेत्रयोः द्रष्टुमशक्नवम्—द्वयोः नेत्रयोः मम लघु रूपद्वयम्!!

“हैरी! वत्से! एतद् असम्भवम्। ईदृशी याचना न कदापि कर्तव्या पुत्रि! यं प्राणिनम् ईश्वरः स्वस्य हृद्देशे निवेशयति तस्य पुनरपि समाने भौतिकरूपे अवतरणम् अशक्यम्।”

“तर्हि, न प्रार्थयितुम् इच्छामि किमपि... न इच्छामि अन्यत् किमपि।” साक्रोशं व्यलपमहम्।

“सत्यमेव किम् अन्यत् किमपि प्रार्थयितुं न इच्छसि वत्से,” पिता पतङ्गं त्यक्त्वा मां दृढं समालिङ्ग्य अपृच्छत्—“किं त्वम् एतद् याचितुं न इच्छसि यत् तव हृदये ट्रिबली-स्मृतयः—तव प्रियबन्धोः स्मृतयः, सर्वदैव तिष्ठेयुः, यत् त्वम् एतदेव चिन्तयित्वा सर्वदैव सुखिनी स्याः यत् तेन सह त्वया कियन्ति मधुरवर्षाणि यापितानि।”

पितुः एतैः वचनैः साक्षाद् अन्वभवमहं यथा मे प्रियतमः ‘ट्रिबली’ सोल्लासं धावन् मे हृदयं प्रविष्टः। तेन सहैव मम हृदयस्थः सः सम्पूर्णः पाषाणभारः अश्रुधारारूपेण पितुः स्कन्धे प्रावहत्। पिता मह्यम् अददात् तद् वस्तु यत् न कोऽपि मत्तः अपहर्तुं शक्नोति—तस्य मधुरस्मृतयः। मस्तकम् उन्नम्य पुनरपि यदा पितुः नेत्रयोः अपश्यं तदा किं लक्षितं मया??? अधुना तत्र न तु मम अपि तु तस्यैव यीशोः मूर्तिः दृश्यते स्म यस्य सम्मुखे सर्वदा मे उपालम्भपोडलिका उद्घाटयते स्म!!

अधावमहं गृहं प्रति। पिता—अयि वत्से, पुत्रि—इति पुनः पुनः आह्वयत् मां किन्तु अहं तु—“पितः! बहुशः धन्यवादाः—इति उच्चारयन्ती अधावम्। त्वरमाणासं यीशोः दर्शनाय, तस्मै धन्यवादार्पणाय। अहं तं व्यस्मरं तर्हि सः पितुः नेत्रयोः अवतीर्णः!!

तस्मिन् दिने, यदासमहं सप्तवर्षीया लघु-बालिका यीशुः मे कर्णयोः जीवनस्य गहनतमं मन्त्रम् अजपत्—“प्राणिमात्रस्य जीवने जीवनमरणयोः, सुखदुःखयोः आवागमनं न कदापि विरस्यति। दुःखे असद्यो सति मामुपगम्य हृदयं रिक्तं कुरु येन अहं तस्मिन् शान्तिसुखे पूरयेयम्।”

वर्षेभ्यः पूर्वं घटितं तं वृत्तान्तं मनश्चक्षुषा चलचित्रमिव वीक्ष्य प्रत्यागताहं वर्तमानम्। यीशोः यरणौ चुम्बित्वा सगद्गदहृदयं प्रार्थये तम्—“मम पुत्रः पुत्रवधू च आगच्छतः यीशो! अहं तौ त्वेव चरणयोः आनेष्यामि। त्वमेव तयोः प्रशामकः निजवक्ष्यामि सुदृढम् आलिङ्ग...।”

प्रभुः यीशुः अस्मयत।

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

हृदय से लगा लेना...।

मैं अपने जीवन के सत्तर से अधिक वसन्त देख चुकी हूँ और चढ़ चुकी हूँ कई-कई बार सुख और दुःख की नाव पर; और कभी-कभी मैं भी औरों की तरह प्रभु को अजीब ही समझ बैठती हूँ—जब आदमी सुख-सागर में गोते लगाता है तो बहुधा वह ईश्वर उसे दुःख के थपेड़ों से क्यों पछाड़ देता है भला? छोटी थी तो अलग बात थी। अपने ईश्वर, उन्हीं यीशु से कई बार बातें किया करती थी। चीजें मेरे मन-माफिक होतीं तो उन पर लाड़ जताती, उल्टी होतीं तो उन पर खीन उतारती, ज्यादा बुरी होतीं तो उन्हें डांटने-फटकारने से भी नहीं चूकती। और जब-जब ऐसा करती, सलीब पर चढ़ी वह मूर्त अपनी अनुकम्पा-भरी दृष्टि से मानों मुझसे कहती—“अरी बच्ची, तुझे तो मैं हर वक्त थामे रहता हूँ, इन जरा-जरा-सी ठोकरों से इतनी परेशान न हुआ कर...”। यह सुनते ही मेरा सारा गुस्सा, सारी कड़वाहट एक मुस्कान में बदल जाती और मैं झट यीशु के चरण चूम अपने खेल में रच-बस जाती। घर में कभी किसी को यह सब बताने की जरूरत ही न समझी, क्योंकि मैं तो यही सोचती और देखती भी थी कि सभी अपनी-अपनी समस्याएं सुलझाने हर इतवार गिरजाघर जाते ही हैं, लेकिन एक प्रश्न उस समय मेरी छोटी बुद्धि हमेशा किया करती थी—“भला ये सब हफ्ते भर की समस्याएं एक साथ जुटा कर क्यों लाते हैं यहां, मेरी तरह घर पर ही अपने यीशु के सामने रोज का मामला निपटा क्यों नहीं लेते?” लेकिन तब मैं छोटी थी, और छोटा होना कितना भला होता है...! और आज, जिन्दगी के इतने वर्ष गुजारने के बाद मैं भी सयानी, बड़ी हो गयी हूँ, औरों की तरह बीच-बीच में कभी-कभी अपने आपसे पूछती भी हूँ—“आखिर कहाँ गये बचपन के वे दिन?” लेकिन अब भी शायद इस बात में मैं औरों से कुछ अलग हूँ कि मेरे अन्तरतम में आज भी बचपन का वह रहस्य कहीं न कहीं छिपा हुआ जरूर है, तभी तो कभी दुःख के सीमाहीन सागर में डूबते हुए अगर उन यीशु के सामने अपना दुःखड़ा रो दूं तो वे मेरा हाथ पकड़कर हमेशा उबार लेते हैं। बचपन में जैसे उनके साथ बैठकर बतियाती थी वह सिलसिला तो कब का टूट गया, लेकिन सब पर अनुकम्पा बरसानेवाली वह दृष्टि आज भी मेरे साथ मूक वार्तालाप किया करती है। और यही वजह है कि भले ही मैं कई बार दुःख की नौका में चढ़ी, लेकिन हमेशा मेरे ध्रुवतारे ने दिशा दिखा, मेरी नाव को सुख के तट पर ला पहुंचाया। लेकिन आज?...।

फोन की घण्टी बजी। दूसरी तरफ की टूटती, सुबकती आवाज ने मुझे पत्थर की शिला बना दिया...।

“मां,... मां... तुम ठीक हो न मां, कुछ बोलो...” कहीं दूर से मेरे बेटे की आवाज सुनायी दी।

“ठीक हूँ,” यन्त्रवत् मेरे मुंह से निकला, लेकिन वे जानलेवा शब्द सारे वातावरण में घूम रहे थे, मैं उन शब्दों को ठीक पकड़ नहीं पा रही थी—कैथी... सात साल की उसकी छोटी बेटो... मेरी पोती कैथी... एक सड़क-दुर्घटना में चली गयी...।

फोन का चोगा कब मेरे हाथ से छूट गया मुझे मालूम नहीं, मेरे चारों तरफ तो नाच रही थी हंसती, झूमती, गाती, फुदकती मेरी नन्हीं कैथी जिसे चलना तो आता ही नहीं था, आता था तो बस नाचना, नाच-नाच कर ‘दादी, दादी’ कहकर मुझसे लिपटना और लिपट-लिपट कर खूब चहकना।

मार्च २००६

लटकते हुए चोगे से “मां, मां, कहाँ हो तुम, कुछ बोलो कृपया...” की आवाज से मैं कुछ सचेत हुई, चोगा कान से लगाकर जवाब दिया; बेटे और बहू दोनों की सुबक मेरे कानों में पड़ी—“अपना ख्याल रखना मां, क्रिया-कर्म के बाद हम तुरन्त तुम्हारे पास आयेंगे।”

क्रिया-कर्म, कैसा क्रिया-कर्म... मेरी समझ खत्म हो रही थी, दिमाग सुन्न पड़ गया था, आखें सूख चुकी थीं और कान की भांय भांय ने सारे घर में ‘कैथी कैथी’ का कोहराम मचा दिया था...।

निरुद्देश्य सारे घर में इधर से उधर भटककर, चौके के फर्श पर साबुन का पानी उंडेल, मैं पागलों की तरह फर्श रगड़ने लगी।

फोन की कर्कश घण्टी फिर से चीख उठी।

मेज-कुर्सी से टकराती, सामने रखी चीजों को लात मारती, जो बर्तन नजर आया उसे पटकती, मैं फोन की तरफ बढ़ी। बेटे की आवाज सुनायी दी—“मां, मां... तुम अकेले मत रहना, हमारे वहाँ पहुँचने तक किसी को अपने पास बुला लेना।”

“ठीक है बेटा, मैं किसी के पास चली जाऊँगी” कहकर मैंने चोगे को धीरे से फोन पर रख दिया।

मेरे सामने की धुंध छंटने लगी, मेरे अन्दर का सन्नाटा कम होने लगा क्योंकि मेरे बेटे ने मुझे अपने ऊपर काबू पाने का वह परिचित राज बता दिया था जिसे अपने दुःख में डूबी, मैं भूले जा रही थी। इधर-उधर पटके बर्तनों को समेटती मैं सीधी उस कमरे में चली गयी जहाँ मेरे यीशु की वह भुवनमोहिनी मूर्ति थी जो मुझसे पुकार-पुकार कर पूछ रही थी, “इतनी देर क्यों लगा दी मेरी बच्ची? मैं कब से बाँहें फैलाये तेरा इन्तजार कर रहा था।”

मेरी फटी-फटी, सूखी आंखों में सैलाब उतर आया, मैं अपने यीशु के चरणों में सिर दबा कर रोती रही, रोती रही। अन्दर का कोहरा जब छंटा तो नजरें उठाकर यीशु की तरफ देखा और ताकती ही रह गयी... कमरे के अन्दर आयी धूप ने उनके चेहरे को सचमुच सजीव बना दिया था, न केवल होंठ मुस्कुरा रहे थे बल्कि उनकी आंखें मुझसे कह रही थीं—“देखो, देखो, जरा इस कमरे में नजर दौड़ाओ।” और मैंने अपने चारों ओर, ऊपर नीचे, सभी जगह सुनहरे बालों को लहराती, हँसती, चहचहाती, ‘दादी’ ‘दादी’ कहती, इधर-से-उधर खुशी से झूमती अपनी पोती कैथी को देखा—हूबहू वही कैथी, बस उसके पंख लग गये थे, मुझे यह नज़ारा दिया, वह यीशु के हृदय में मुझसे यह कहते-कहते समा गयी—“दादी, मैं यहीं हूँ, यीशु के हृदय में, तुम सबके हृदय में।”

मैं अवाक्, दत्तचित्त रह गयी—करीब ६५ साल पहले की वह घटना चलचित्र की तरह मेरी आंखों के सामने आने लगी जब मैं कैथी के बराबर की बच्ची रही होऊँगी, जब मेरी हर फरियाद की सुनवाई यीशु के दरबार में हुआ करती थी, लेकिन उस रोज भी तो मैं अपने अथाह दुःख में डूबी यीशु को इसी तरह भूले ही तो जा रही थी...

औरों के लिए वह सुनहरी दोपहर थी, लेकिन मुझे तो अपना घर, खेत, नदी का तट सभी कालिमा से पुते दीख रहे थे—मेरा अपना कुत्ता, मेरा दोस्त, मेरा संगी नहीं रहा था। आज सवेरे गाड़ी की चपेट में आकर उसने दम तोड़ दिया था। अब वह एक बक्से में बन्द हमारे खेत की धरती के नीचे हमेशा के लिए सो रहा है, उस बक्से पर मैंने लिखा है—“ट्रिबली, मेरा अपना प्यारा दोस्त।” वह सात साल का था, मैं सात की हूँ। हम दोनों सारे जीवन साथ-साथ रहे।

जब मेरी मां गुजरती तब मैं इतनी छोटी थी कि अभाव का मतलब नहीं जानती थी, इसलिए आज यह अजीब, भयंकर दुःख मेरे लिए असह्य हो उठा; रो-धो कर निकाल बहाने की जगह मैंने उसे अपने हृदय में बन्द कर दिया। फल यह निकला कि ट्रिबली को दफनाने के साथ-साथ दिल पर पत्थर रखने का भाव महसूस होने लगा। पापा मेरे करीब आये, मैंने मुंह फेर लिया, मुझे दुलारने-पुचकारने की कोशिश की, मैं उनके हाथ झटक कर दूर छिटक गयी। आण्टी मारिया ने खाने के लिए बुलाया, मैंने कोई जवाब नहीं दिया, मैं बस घुटनों में सिर डाले, अपने पलंग पर गुमसुम बैठी थी, कमरे में अब कोई नहीं था, सिवाय मेरे ट्रिबली की परछाइयों के, जो मुझे चारों तरफ से घेरे हुए थीं।

थोड़ी देर बाद कमरे में पापा की आवाज सुनायी दी—“मेरे ख्याल से आज पतंग उड़ाने के लिए अच्छा मौसम है बेटे, तुम्हारा क्या ख्याल है हैरी?” मैं उनकी बेटी थी, लेकिन वे हमेशा मुझे हैरी कहकर पुकारते थे, क्योंकि मेरा कोई भाई न था।

मैं अपने घुटनों में और सिमट गयी। मैंने उन्हें चौके में जाकर, आण्टी मारिया से कहते सुना—“मैं हैरी के लिए एक बड़ी पतंग बनाऊंगा। क्या तुम्हारे पास कोई पुरानी बेकार चादर है जिसे फाड़कर इस्तेमाल कर सकूँ?”

“लेकिन भूल गये क्या? आज तो तुम्हें बाजार से सौदा लाना था...”

“अरे, मारो गोली सौदे को, कल होता रहेगा। आज तो मैं पतंग ही बनाऊंगा।” पापा की आवाज सुनायी दी। मेरे कान जरा खड़े हुए, लेकिन फिर मैंने अपने-आपको समेट लिया।

कुछ मिनटों में हथौड़ी की आवाज मेरे कानों में पड़ने लगी। ‘बड़ी पतंग बनायेंगे’, पापा ने कहा था। ‘कितनी बड़ी?’ मैं सोचने लगी। मैंने बाहर बगीचे में झांकने के लिए अपना सिर उठाया नहीं कि मेरे अन्दर से आवाज उठी—

“ट्रिबली मर गया, अब वह कभी मेरे साथ शाम को बगीचे में नहीं खेलेगा, विद्यालय से लौटने पर लपक कर कभी मुझ पर नहीं चढ़ेगा, अब मैं उसे कभी न सहला पाऊंगी, कभी न देख पाऊंगी...।”

मैंने अपना सिर फिर घुटनों में छिपा लिया।

हथौड़ी की आवाजें बन्द हो गयी थीं। “अब पापा क्या कर रहे होंगे? अगर दो मिनट ट्रिबली के बारे में न सोचू तो...” मैंने अपना सिर उठाकर बाहर झांका—पापा ने दो खपच्चियों को लेकर बड़ी-सी पतंग का खांचा तैयार कर लिया था। अब वे उन्हें बांधने में लगे थे, लेकिन गांठ लग नहीं पा रही थी। जब कभी वे गांठ बांधते, मैं अपनी उंगली बीच में रखती, ताकि गांठ फिसले नहीं, आज उनके पास कोई नहीं था।

बाहर निकल कर मैंने उंगली बीच में रख कर पापा की मदद की।

पापा मुस्कुरा उठे, मेरे सिर को थपथपाते हुए बोले—“बेटा, खूब बड़ी पतंग बना रहा हूँ आज।”

न चाहते हुए भी मैं मुस्कुरा दी।

सच, आज तक पापा ने इतनी बड़ी पतंग कभी न बनायी थी। उनके जित्ती लग रही थी, और कितनी सुन्दर! मेरे पापा सचमुच महान् हैं!!

मैं और पापा पतंग उड़ाये अपने उसी छोटे-से टीले पर चढ़ गये जहां से हमेशा उड़ान

मार्च २००६

करते थे। हवा मेरे बालों के साथ खेल रही थी, और मेरी स्कर्ट बार-बार उड़ रही थी।

“मैं दौड़ता हूँ बेटे, तुम पतंग पकड़ कर ऊपर छोड़ने की कोशिश करना। देखें, पहली बार मैं हम कर पाते हैं या नहीं।” पापा बोले।

मैंने पतंग पकड़ी, वे दौड़े। “छोड़ दो” वे चिल्लाये। मैंने छोड़ तो दी, लेकिन देर से। पतंग पंखकटी चिड़िया की तरह जमीन पर आ गिरी।

“तुम छोटी हो बेटा, लाओ, मुझे पतंग दो और तुम दौड़ो।” कहकर पापा ने पतंग ले ली।

इस बार मैं दौड़ी, गिरी, संभली, फिर दौड़ी। और पतंग हवा से बातें करने लगी, ऊपर, ऊपर, ऊपर उठती चली गयी, नीले आसमान में सफेद पक्षी की तरह उड़ने लगी।

पापा ने मेरी ओर मुस्कुरा कर देखा—“बेटा, ऊपर फरिश्तों के पास कोई सन्देश भेजना चाहती हो क्या?” उन्होंने जब से चौकोर कागज का एक टुकड़ा निकाला जिसके बीच में एक छेद था, वे बोले, “इस कागज को डोर के अन्दर डालकर ऊपर सरका दो। हमारे पास यहाँ पेंसिल तो है नहीं, इसलिए अपना सन्देश मन ही मन सोच लेना।”

मैंने वह कागज डोर पर जितना हो सका उतनी ऊपर चढ़ा दिया। पापा ने उसे और ऊपर कर दिया, कुछ ही देर में हवा ने उसे ऊपर, और ऊपर आकाश के फरिश्तों की ओर उठा दिया।

“मेरी इच्छा पूरी होगी न पापा?” मैं खुशी से चहक उठी।

पापा हंसे—“क्या मांगा बेटा तुमने?”

“वह ठीक मांगना नहीं था, वह एक प्रार्थना थी पापा।” मैंने धीरे से कहा।

पापा तुरन्त बोल उठे—“कैसी प्रार्थना?”

मैंने सिर झुकाकर कहा—“ट्रिबली के लिए प्रार्थना, कि वह लौट आये, हमारे साथ पहले की तरह रहने लगे।”

पापा मुझे एकटक देखते रहे फिर पतंग को वैसे ही थामे, घुटना टेक मेरे चेहरे के एकदम करीब आ गये। मैं अपने चेहरे को उनकी आंखों में देख रही थी, दो छोटे-छोटे शीशों में दो मैं!

“हैरी, मेरी बच्ची, यह असम्भव है। एक यही चीज है जिसकी हम मांग नहीं कर सकते—जो भगवान् के पास चला गया उसे वापिस नहीं बुला सकते।”

“तो मैं कोई सन्देश नहीं भेजना चाहती,” मैं चीख पड़ी, पापा के कन्धे पर सिर रखकर रो-रो कर सुबकने लगी—“तब फिर मैं और कुछ नहीं मांगना चाहती... कुछ नहीं मांगना चाहती...”

“सचमुच कुछ नहीं मांगना चाहती बेटा?” पतंग की डोर छोड़, पापा ने मुझे अपनी दोनों बांहों में भरते हुए कहा—“क्या तुम भगवान् से यह नहीं मांगना चाहोगी कि तुम्हारे दिल में ट्रिबली की यादें हमेशा बनी रहें और तुम यह सोचकर हमेशा खुश रहोगी कि तुमने कितने मधुर साल उसके साथ बिताये।”

पापा के इन शब्दों से मुझे एकदम लगा कि ट्रिबली, मेरा प्यारा कुत्ता खुशी-खुशी दौड़ता हुआ आकर मेरे अन्दर समा गया। मेरे दिल पर रखा सारा बोझ आंसुओं की धार बनकर पापा के कन्धों पर बह गया। पापा ने मुझे वह चीज दे दी थी जिसे कोई भी मुझसे कभी नहीं छीन सकता—ट्रिबली की मधुर यादें। सिर उठाकर जो पापा की आंखों में दुबारा झांका तो क्या देखा मैंने??? अब वहां मेरी नहीं, मेरे उन यीशु की मूरत झलक रही थी जिनके सामने मेरी हर परियाद का पुलिन्दा खुलता था!!

मैं लपकी घर की तरफ। पापा 'बेटा, बेटा' करते रह गये और मैं उन्हें हाथ हिलाकर, 'पापा, बहुत, बहुत शुक्रिया' कहती हुई दौड़ गयी। मुझे तो यीशु से मिलने की जल्दी थी। उन्हें शुक्रिया अदा करना था।

मैं उन्हें भूल गयी तो मुझसे मिलने वे मेरे पापा की आंखों में उतर आये!!

उस रोज, जब मैं सात साल की बच्ची थी, यीशु ने मेरे कानों में जीवन का सबसे गहरा मन्त्र फूँका था—“आदमी की जिन्दगी में जीवन-मृत्यु, यानी सुख-दुःख का आना लगा रहेगा, दुःख से जब हृदय लबालब भर जाये तो मेरे सामने आकर उसे खाली कर दो ताकि मैं उसमें सुख और शान्ति उंडेल सकूँ।”

बरसों पुरानी उस फिल्म को देख, मैं वर्तमान में लौट आयी। यीशु के चरण चूम मैंने उनसे कहा—“मेरे बच्चे आ रहे हैं यीशु। मैं उन्हें यहां तुम्हारे सुपुर्द कर दूंगी। तुम्हीं उन्हें राहत पहुंचा कर अपने हृदय से लगा लेना।”

यीशु स्वीकृति में हल्का-सा मुस्कुरा दिये।

—वन्दना

*Statement about ownership and other particulars about the
Monthly PURODHA to be published in the first issue
every year after the last day of February.*

Form IV (see Rule 8)

- | | |
|--|---|
| 1. Place of publication | Sri Aurobindo Society
Pondicherry - 605 002 |
| 2. Periodicity of its publication | Monthly |
| 3. Printer's Name | Amiyo Ranjan Ganguli |
| Nationality | Indian |
| Address | Sri Aurobindo Ashram Press
Pondicherry - 605 002 |
| 4. Publisher's Name | Aniruddha Sarkar |
| Nationality | Indian |
| Address | Sri Aurobindo Society
Pondicherry - 605 002 |
| 5. Editor's Name | Anuben, Vandana |
| Nationality | Indian |
| Address | Sri Aurobindo Ashram
Pondicherry - 605 002 |
| 6. Names and Addresses of
individuals who own the news-
paper and partners or shareholders
holding more than one per cent
of the total capital | Sri Aurobindo Society
Pondicherry - 605 002 |

I, Aniruddha Sarkar hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

March 2006

(sd) Aniruddha Sarkar
Signature of Publisher

मार्च २००६

पुरोधा

लाकर,
१। उन्हेंगहरा
रहेगा,
उसमें
उनसे
पहुंचा

वन्दना

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर, झुंझुनूं श्रीअरविन्द दिव्य जीवन शिक्षा-केन्द्र, झुंझुनूं (राजस्थान)

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा स्थापित इस संस्था का मूल उद्देश्य श्रीअरविन्द व श्रीमां के मनुष्य जाति के लिये दिव्य जीवन के स्वप्न को साकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह केन्द्र ऐसे श्रद्धालुओं के समूह के निर्माण की अभीप्सा रखता है जिनके जीवन का केवल यही उद्देश्य हो।

यह केन्द्र पूर्ण रूप से आवासीय है जिसमें छात्र-छात्राओं की शिक्षा, आवास व भोजन पूर्णतः निःशुल्क है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। शैक्षणिक सत्र हर वर्ष १५ अगस्त से प्रारंभ होता है तथा केवल ६ से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता है।

यह केन्द्र पूर्ण शिक्षा प्रदान करने तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिये समस्त साधन प्रदान करने की अभीप्सा रखता है। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिये सरकारी प्रमाण-पत्र, डिग्री व डिप्लोमा की आकांक्षा नहीं रखते अपितु उनकी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के अनुरूप उनके पूर्ण व सर्वांगीण विकास की अभीप्सा रखते हैं और अपने बच्चों को इस शिक्षण-संस्था में प्रवेश दिलाने के इच्छुक हैं, वे पूरी सूचना के लिये निम्नलिखित पते पर संपर्क करें।

जो आध्यात्मिक पिपासु इस केन्द्र के कार्य में सहयोगी होना चाहते हैं तथा अपना जीवन इस कार्य में लगाकर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे लोग अधिक जानकारी के लिये संपर्क करें :

पंकज बगड़िया

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर

मीरा अम्बिका भवन, खेतान मोहल्ला

पो० - झुंझुनूं - ३३३००१ (राजस्थान)

टेलीफोन - (०१५९२) २३५६१५, २३२८८७

e-mail: sadlecjn@rediffmail.com

the best
Sarkar
blisher

Completed 80 years on Basant 2006

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

13E-Rajanigandha

25, Ballygunge Park

Kolkata-700 019

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road

Post Box No. 5713

NEW DELHI — 110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

sunderson@auromail.net

Tel : 23612728, 23612776

Fax : 011-23620632

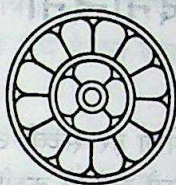
Our Lines of Business :

- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
Maihar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERRY.

Completed 80 years on Basant 2006



प्रार्थना और ध्यान

२६ अगस्त १९१४

हे मेरे मधुर स्वामी, हे सुख-शान्ति के स्वामी, ये सब सुख-शान्ति के जगत् जो एक-दूसरे में समाए हुए और एक-दूसरे के पूरक हैं, उन्हें उनकी समग्रता में देख सकना बहुत अधिक कठिन है। हमें इन विधानों का ज्ञान दे, हमें वह शक्ति दे कि हम जिस लक्ष्य का अन्धभाव से अनुसरण कर रहे हैं उसके प्रति पृथ्वी को समझा और जगा सकें।

सभी चीजों में तू ही विशुद्ध सुख है, धन्य सुख-शान्ति है... लेकिन सुख-शान्ति तभी पूर्ण होती है जब वह सम्पूर्ण हो—अत्यन्त बाहरी अभिव्यक्तियों से लेकर अधिक-से-अधिक अथाह गहराइयों तक—में।

हे प्रभो, तूने मुझे विस्मय की देहली पर रख दिया है; मुझे इस ज्ञान में प्रतिष्ठित कर। मुझे चेतना के उस केन्द्र में स्थापित कर जहां मेरे सारे क्रिया-कलाप तेरे विधान की अमिश्रित अभिव्यञ्जना हों।

समर्थ और मूक आराधना में मैं प्रतीक्षा करती हूं।

—श्रीमां

दैनन्दिनी

अप्रैल

१. किसी चीज से न डरो : भगवान् हमेशा हर सच्ची अभीप्सा का उत्तर देते हैं और उन्हें पूरे हृदय के साथ जो कुछ दिया जाये उसे लेने से कभी इन्कार नहीं करते। इस तरह तुम इस निश्चिति की शान्ति में रह सकते हो कि तुम्हें भगवान् ने स्वीकार कर लिया है।
२. **साधक** : मां, मेरा जीवन शुष्क है। वह हमेशा ऐसा ही रहा है, मेरे जीवन की शुष्कता बराबर बढ़ती रहती है।
श्रीमां : यह किन्हीं बाहरी परिस्थितियों पर नहीं, तुम्हारी भीतरी स्थिति पर निर्भर है। यह इसलिए होता है क्योंकि तुम अपने मन के बहुत ही छिछले स्तर पर रहते हो। तुम्हें अपनी चेतना में कुछ गहराई पाने की कोशिश करनी चाहिये और फिर वहीं निवास करना चाहिये।
३. हर एक से बस उतनी ही मांग की जाती है जितना उसके पास है, जितना वह है, उससे अधिक नहीं पर उससे कम भी नहीं।
४. खोजने में एक आनन्द है, प्रतीक्षा करने में आनन्द है, अभीप्सा करने में आनन्द है, कम-से-कम उतना ही अधिक जितना अधिकार कर लेने में है।
५. साहसी बनो और अपने बारे में इतना अधिक न सोचो। तुम दुःखी और असन्तुष्ट इसलिए रहते हो क्योंकि तुम अपने छोटे-से अहंकार को अपनी तन्मयता का केन्द्र बना लेते हो। इन बीमारियों का बड़ा इलाज है—अपने-आपको भूल जाना।
६. चैत्य पुरुष दुःखी नहीं होता; मन, प्राण और अज्ञानी मनुष्य की सामान्य चेतना दुःख झेलती है।
७. **साधक** : मेरे हृदय को खाली न छोड़ो मां।
श्रीमां : मैं हमेशा तुम्हारे हृदय में रहती हूँ।
८. **साधक** : मेरे अन्दर चैत्य पुरुष सोया हुआ है।
श्रीमां : चैत्य सोया हुआ नहीं है। उसके साथ सम्बन्ध ठीक तरह से नहीं बना है क्योंकि मन बहुत ज्यादा शोर मचाता है और प्राण बहुत बेचैन है।
९. अपने हृदय को बेकार की बातों से भरने की जगह तुम्हें बड़े आग्रह के साथ उसे हर चीज से खाली करना चाहिये, पूरी तरह सभी चीजों से खाली, चाहे वे छोटी हों या बड़ी—ताकि उस महान् रिक्तता की शक्ति “अद्भुत उपस्थिति” को वह अपनी ओर खींच सके। तुम्हें उस परम कृपा का उसके योग्य मूल्य चुकाना सीखना चाहिये।
१०. निश्चय ही उदास और दुःखी होकर तुम भगवान् के पास नहीं पहुंचते। तुम्हें हमेशा अपने हृदय में दृढ़ श्रद्धा और विश्वास तथा मस्तिष्क में विजय की निश्चिति रखनी चाहिये। मेरे और तुम्हारे बीच जो छायाएं आती और मुझे तुम्हारी दृष्टि से छिपाती हैं उन्हें निकाल बाहर करो। निश्चिति के शुद्ध प्रकाश में ही तुम मेरी उपस्थिति के बारे में सचेतन हो सकते हो।
११. तुम जितने अधिक दुःखी होओगे और रोना-धोना करोगे उतने ही अधिक मुझसे दूर होते जाओगे। भगवान् दुःखी नहीं हैं और भगवान् को पाने के लिए तुम्हें समस्त दुःख और समस्त भावुक दुर्बलता को अपने से बहुत दूर फेंकना होगा।

अप्रैल २००६

१२. प्राण कामनाओं और ऊर्जाओं, आवेगों और प्रेरणाओं का, भीरुता और साथ ही शौर्य का स्थान है। उसमें लगाम लगाने का अर्थ है इन सबको भागवत इच्छा की ओर मोड़ना और उस इच्छा के आधीन करना।
१३. हमेशा प्रलोभन से बचना ज्यादा अच्छा होता है।
१४. तुम्हें केवल शान्त विश्वास के साथ डटे रहना चाहिये और प्राण हड़ताल करना भूल जायेगा।
१५. अवसाद हमेशा विवेकहीन होता है और तुम्हें कहीं नहीं ले जाता। वह योग का सबसे सूक्ष्म शत्रु है।
१६. एक प्रार्थना—हे प्रभो, मेरी समस्त सत्ता को जगा ताकि वह तेरे लिए आवश्यक यन्त्र, पूर्ण दास हो सके।
१७. साधक : मैं जानता हूं मेरे अन्दर बहुत-सी गलत चीजें हैं, लेकिन कोई खास आधारभूत गड़बड़ भी होनी चाहिये, मां, वह क्या है ?
श्रीमां : तुम्हारे लिए कोई विशेष बात नहीं है। एक ही कठिनाई सभी मनुष्यों में मौजूद है—भौतिक मन का घमण्ड और उसकी अन्धता।
१८. साधक : प्यारी मां, मुझ गरीब के लिए आपका प्यार ध्रुवतारा है और मैं उसके लिए कृतज्ञ हूं।
श्रीमां : मेरे प्यारे बालक, मेरा प्रेम तुम्हें लक्ष्य तक ले जाना चाहता है और उसकी विजय निश्चित है।
१९. भागवत प्रेम तुम्हारा लक्ष्य हो।
शुद्ध प्रेम तुम्हारा मार्ग हो।
अपने प्रेम की ओर सच्चे रहो और तुम सभी कठिनाइयों पर विजय पा लोगे।
२०. अर्पण का रूप चाहे जैसा हो, जब वह सचाई के साथ किया जाता है तो हमेशा अपने अन्दर भागवत प्रकाश की एक चिनगारी लिये रहता है जो पूर्ण सूर्य में विकसित हो सकती और समस्त सत्ता को आलोकित कर सकती है।
२१. तुम मेरे प्रेम के बारे में विश्वस्त रह सकते हो, तुम मेरी सहायता के बारे में विश्वस्त रह सकते हो।
२२. मेरे बहुत प्यारे बालक,
मेरे प्रेम में निवास करो, उसे अनुभव करो, उससे भर जाओ और सुखी रहो—कोई चीज मुझे इससे ज्यादा खुश नहीं कर सकती।
२३. साधक : प्यारी मां, जैसे-जैसे मेरा शरीर दुर्बल होता जायेगा, प्राणिक कामनाएं धीरे-धीरे गायब हो जायेंगी न ?
श्रीमां : हर्गिज नहीं, बल्कि इसके एकदम विपरीत। प्राण की कामनाओं को जीतने के लिए तुम्हारे अन्दर बढ़िया सन्तुलन और अच्छा स्वास्थ्य होना जरूरी है।
२४. जो चीज महत्त्वपूर्ण है वह है भय को उठा फेंकना। भय ही तुम्हें बीमार करता है और भय के कारण ही रोगमुक्त होना इतना कठिन होता है। सारे भय को जीतना चाहिये और उसके स्थान पर भागवत कृपा पर पूर्ण विश्वास लाना चाहिये।

२५. दवाइयों के बिना काम चलाने के लिए तुम्हारे अन्दर दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये।
२६. तुम्हें कभी आशा या श्रद्धा न खोनी चाहिये—कोई चीज असाध्य नहीं है। और भगवान् की शक्ति पर कोई हदबन्दी नहीं की जा सकती।
२७. तुम्हें आन्तरिक शान्ति को पाना और हमेशा बनाये रखना चाहिये। वह शान्ति जो शक्ति लाती है, उससे ये सब छोटी-मोटी विपत्तियां गायब हो जायेंगी।
२८. तुम्हारे लिए यह बहुत ज्यादा अच्छा होगा कि तुम अपने-आपको इसमें व्यस्त न रखो कि दूसरे क्या कहते हैं।
जब तुम निर्दोष हो तो तुम्हें दुर्व्यवहार के बारे में एकदम उदासीन होना चाहिये क्योंकि तब तुम्हारे अन्दर कोई ऐसी चीज नहीं होती जिसके लिए तुम अपने-आपको दोष दो और अपने-आपको दिलासा देने के लिए तुम्हारे पास अन्तःकरण की स्वीकृति होती है।
२९. अगर तुम विरोधी शक्तियों को तृप्त करना शुरू करोगे तो वे तुमसे अधिकाधिक खींचना शुरू करेंगी और कभी सन्तुष्ट न होंगी।
३०. चिन्ता न करो। बस अपने अन्दर सदा चीजों को अच्छी तरह करने का संकल्प रखो।

कब...

मेरे हृदय में
बसा है मेरा देश

हृदय जब स्पन्दन करता है—

हर्ष के अतिरेक में

तो लगता है

मेरे देश की धरती करवट ले रही है

मेरे देश में वसन्त छाने वाला है

परन्तु ऐसा कभी-कभी ही होता है

स्वतन्त्रता की भोर हुए

आधी सदी हो चुकी है

फिर भी सोये रहने की आदत छूटी नहीं

मेरा हृदय अलसाया-सा रहता है

क्योंकि मेरे देश की तन्द्रा टूटी नहीं

कब आयेगा

मेरे हृदय में वसन्त

कब होगा

देश की तन्द्रा का अन्त।

१९-९-२००४

—विश्वनाथ
'अन्तरा' से साभार

एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र

मन का ज्ञानोदय

किस स्तर पर कल्पना सत्य को पा सकती है?

कैसा सत्य? कल्पना मन की एक शक्ति है। वह मन को रूप और आकार देती है जो सच्चे हो भी सकते हैं और नहीं भी। यह कल्पना का धन्धा नहीं है कि यह पता लगाये कि वे सच्चे हैं या नहीं। यह अन्य शक्तियों का काम है।

कौन-सी अन्य शक्तियों का?

कोई भी ऐसी शक्तियाँ, मानसिक विवेक से लेकर अन्तर्भास या अतिमानस तक कोई भी शक्ति जिसका काम है सत्य को खोजना और प्रकट करना। मेरा मतलब यह था कि सत्य को खोजना कल्पना का कार्य नहीं है, कल्पना तो बस सब प्रकार की चीजों की कल्पना करती है, सब तरह की सम्भावनाओं को सोचती है, परन्तु वह हमें यह नहीं बताती कि उनमें से कौन-सी सच्ची है।

बुद्धि का ठीक कार्य क्या है? क्या वह साधना में सहायक होती है?

उसका काम है मन और इन्द्रियों के प्रत्यक्ष दर्शन से विचार करना, निष्कर्ष निकालना और चीजों को एक-दूसरे के सम्बन्ध में क्रम से रखना। एक सुप्रशिक्षित बुद्धि अधिक महान् ज्ञान के लिए अच्छी तैयारी है, पर वह अपने-आप यौगिक ज्ञान नहीं दे सकती और न ही भगवान् को जान सकती है—उसमें भगवान् के बारे में विचार हो सकते हैं परन्तु केवल विचार होना ज्ञान नहीं है। साधना में बुद्धि को उच्चतर मन में बदलना होता है जो अपने-आप सत्य ज्ञान का मार्ग है।

मन, प्राण और शरीर के विचारों और उनकी क्रियाओं में कैसे भेद किया जाये? क्या प्राण के विचार और उसकी क्रियाएं कामना और अहंकार से नहीं आते?

हां, किसी प्राणिक गतिविधि से। प्राणिक विचार प्राणिक गतिविधियों को व्यक्त करता है जो प्राणिक शक्तियों का खेल होता है। वह विचारशील मन की तरह खुलकर आजादी से नहीं सोच सकता। सच्चा विचारशील मन प्राणिक गतिविधियों से ऊपर रह सकता है, जैसे वह बाहरी चीजों का निरीक्षण करता, उनका अवलोकन करता या उनके बारे में निर्णय करता है, उसी तरह वह प्राणिक गतिविधियों को भी देखता और उनका अवलोकन करता है, लेकिन अधिकतर लोगों में विचारशील मन (तर्क बुद्धि) स्वाधीन नहीं होता, उस पर प्राणिक मन का आक्रमण होता रहता है।

क्या विचारशील मन को प्राण से ऊपर रहकर सोचने-विचारने और निर्णय करने के लिए किसी पथ-प्रदर्शन की जरूरत होती है?

नहीं, वह अपने-आप यह कर सकता है, क्योंकि उसका कार्य है सोचना-विचारना, खोजना और निर्णय करना।

यदि बुद्धि अवैयक्तिक रूप से निश्चय करे तो क्या उसके निश्चय हमेशा ठीक न होंगे? निर्वैयक्तिक रूप से किया गया निश्चय जरूरी नहीं है कि हमेशा ठीक ही हो। इसमें सिर्फ ठीक होने की ज्यादा सम्भावना होती है।

मेरे पास एक "मेकैनो" (एक खेल) है। मेरे मन में यह विचार आया कि मैं इसे माताजी को दे दूँ क्योंकि मेरे पास उससे जहाज और हवाई-जहाज बनाने के लिए समय नहीं है। फिर तुरन्त ही यह विचार आया कि मैं अभी छोटा हूँ। मुझे उसका उपयोग करना चाहिये और उसकी किताब माताजी के पास भेज देनी चाहिये और उनसे कहना चाहिये कि वे उसमें से कुछ नमूने चुन दें जिनमें से मैं कुछ बना कर उन्हें दिखा सकूँ। प्रणाम से लौट कर निश्चय किया कि सारा 'सेट' ही माताजी के पास भेज दूँ, परन्तु पहले किताब की जिल्द बंधवा कर, आधार को रंगवा कर भेजूँ। मैं इन विचारों से बहुत चकरा गया हूँ। इनमें सच क्या है? इनमें से ठीक विचार को कैसे चुना जाये? कृपया मुझे स्पष्ट उत्तर दीजिये। अन्त में मैंने निश्चय किया है कि "मेकैनो" आपके अर्पण कर दूँ।

ये केवल अलग-अलग विचार हैं जो एक ही प्रश्न के अलग-अलग पहलू सामने रखते हैं। मानव विचारशील मन के सामने हमेशा हर चीज के विभिन्न पक्ष होते हैं और वह अपनी प्रवृत्ति, पसन्द या अपनी अभ्यस्त आदतों के अनुसार उसको चुनता है जो उसकी बुद्धि को उत्तम लगे। उसे सच्चा सत्य तभी मिलता है जब कोई अन्य चीज उसमें उच्चतर प्रकाश डालती है—जब चैत्य या अन्तर्भास उसे छूकर दिखाता या अनुभव कराता है।

चैत्य सत्ता हमारे आधार पर अधिकार करे उससे पहले कौन-सा भाग हमारे मन, प्राण और शरीर पर अधिकार रखता है?

साधारणतः यह मन (बुद्धि) ही होता है जो बाकी सब पर अपना अच्छे-से-अच्छा नियन्त्रण रखता है।

जब बुद्धि आधार (मन, प्राण और शरीर) पर नियन्त्रण रखती है तो क्या माताजी की शक्ति बुद्धि द्वारा काम करती है?

जरूरी नहीं है—अगर बुद्धि माताजी की ओर समर्पित या खुली हो तो माताजी उसके द्वारा काम

अप्रैल २००६

पुरोध

के लिए

करती हैं। अगर वह अज्ञानी या उनके प्रति बन्द हो तो मानसिक प्रकृति बुद्धि के द्वारा काम करती है।

ना और

जब बुद्धि माताजी की ओर खुली हुई या समर्पित हो तो उसकी उचित क्रिया क्या होगी?

बुद्धि की उचित क्रिया हमेशा अवलोकन, विवेक, विभेद करना, ठीक तरह समझना और प्राण तथा शरीर को ठीक दिशा देना है। लेकिन जबतक वह अज्ञान में हो तबतक वह उसे अधूरे ढंग से करती है; माताजी के प्रति खुल जाने पर उसे सच्चा प्रकाश और दिशा मिलने लगती हैं। बाद में वह अन्तर्भास में बदल जाती है और वहां से अतिमानस या अतिमानसिक चेतना के यान्त्रिक कार्य में बदल जाती है।

माताजी

नहीं है।

चाहिये

कि वे

से लोट

नाब की

गया हूं।

उत्तर

बुद्धि किस तरह माताजी की ओर खुलना या समर्पित होना शुरू करती है?

स्वयं अपने अज्ञान को पहचानने और ज्योति तथा परिवर्तन के लिए अभीप्सा करने से।

क्या वह अपने-आप उचित कार्य-कलाप पा सकती है या इसके लिए उच्चतर चेतना से प्रदीप्त होना जरूरी है?

यदि वह प्रशिक्षित है तो अपनी सीमाओं के अन्दर रहकर ठीक तरह से काम कर सकती है, लेकिन इससे उच्चतर सत्य नहीं मिल जाता।

चैत्यभावापन्न बुद्धि की सच्ची क्रिया क्या है?

वस्तुओं को उनके बाहरी रंग-रूप में ही नहीं, भीतरी या आध्यात्मिक सत्य में देखना और जांचना।

एक बार आपने लिखा था : "मन या चैत्य प्राण पर नियन्त्रण रखते हैं या मन और चैत्य दोनों मिलकर।" चैत्य मन के साथ मिलकर प्राण पर नियन्त्रण क्यों रखता है भला? मेरा ख्याल था कि केवल चैत्य ही इसके लिए काफी शक्तिशाली है।

मन को क्रिया से बाहर क्यों रखा जाये? मन को आध्यात्मिक कैसे बनाया जाये यदि चैत्य ही उससे सम्पर्क रखने से इन्कार कर दे? और यदि अन्तरात्मा अपने उपकरण के रूप में मन का उपयोग न करे तो मन है ही किसलिए?

साधना करते समय हमारे अपने मानसिक जगत् का क्या होता है?

सत्य मन में उतर आता है और वहां सत्य के जगत् का निर्माण होता है।

जब मन को पता लग जाता है कि उसने जो पाया था वह सत्य नहीं है तो फिर उसे अस्वीकार करने में कोई "अनिच्छा या प्रतिरोध" क्यों होता है?

तुम्हारा प्रश्न यह मान लेता है कि मन केवल सत्य की परवाह करता है और अपनी रायों की परवाह नहीं करता। अधिकतर मनो में सत्य के लिए ऐसी इच्छा नहीं होती।

जो चीज पहले कभी हुई थी वह हमारी चेतना में तथ्य की तरह आने की जगह एक ऐसे निरूपण के रूप में क्यों आती है जिसमें रूप ही बदल जाता है?

कहां? मन में? मन चीजों का वैसा आलेखन नहीं करता जैसी वे हैं, बल्कि जैसी वे दीखती हैं। वह कुछ अंशों को पकड़ लेता और कुछ को छोड़ देता है। उसके बाद स्मरण-शक्ति और कल्पना मिलकर एक और ही निरूपण तैयार कर देती हैं।

अब तक मेरे लिए यह सम्भव हो गया है कि अगर मैं लापरवाह न बनूं तो शारीरिक काम करते हुए माताजी के बारे में सचेतन रह सकता हूं। मुझे लगता है कि समय आ गया है कि मैं बौद्धिक काम करते हुए भी उनकी उपस्थिति के बारे में सचेतन रह सकूं। इसका आरम्भ कैसे करूं?

दोहरी चेतना विकसित करके। एक जो पढ़ाई-लिखाई करे और दूसरी जो निगरानी रखे, प्रेरणा प्राप्त करे, या सदा भगवान् के साथ सम्पर्क बनाये रखे।

बौद्धिक काम करते समय माताजी को याद करते हुए मैं लिखाई-पढ़ाई पर ज्यादा ध्यान नहीं दे पाता। ऐसा क्यों होता है?

क्योंकि तुम्हारी चेतना इतनी विस्तृत नहीं है कि एक साथ कई चीजों को ले सके।

—नगीन दोशी

लघु कथा

एक दिन शिबली अपने गुरु जुनैद के पास गये और उनसे बोले : "गुरुजी, मैंने सुना है कि आपके पास जागृति और दिव्य ज्ञान के हजारों मोती हैं। उनमें से कृपया या तो एक मुझे दे दीजिये या फिर एक बेच दीजिये।" जुनैद मुस्कुरा कर बोल उठे—“अगर मैं तुम्हें बेचना भी चाहूं तो तुम उसकी कीमत चुका न पाओगे। अगर मैं मुफ्त दे दूं तो तुम्हारे लिए उसका कोई महत्व न रहेगा। मेरी तरह करो : सिर के बल समुद्र में गोता लगाओ। अगर तुम धीरज के साथ प्रतीक्षा करोगे तो तुम खुद ही मोती पा लोगे।”

श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार

(कई प्रश्नों के उत्तर श्रीअरविन्द ने दिये हैं उनमें हम श्रीअरविन्द का नाम उल्लिखित कर रहे हैं।—सं.)

मैं प्रणाम के बाद उठर गया था क्योंकि आपने मुझसे कहा था कि अगर कुछ लोग रह जायें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। आज मैं नहीं रुका क्योंकि 'ह' ने मुझसे कहा कि माताजी ने मना किया है।

यह सूचना मैंने उस समय लगवायी थी जब बहुत-से बाहर के अतिथि आये हुए थे और सभी हके रहते थे, और इसलिए भी क्योंकि ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को प्रणाम के बाद बैठने और दूसरों को देखने की आदत होने लगी थी, मानों यह कोई प्रदर्शन हो। लेकिन अगर थोड़े-से लोग रहें तो मुझे आपत्ति नहीं।

१४ मार्च १९३४

आज शाम से मुझे ऐसा महसूस हो रहा है कि एक काला बादल हट गया है और मैं खुशी का अनुभव कर रहा हूँ। क्या यह सच है?

तुम्हें इच्छा करनी चाहिये कि यह सच और स्थायी हो।

१४ मार्च १९३४

अपनी इच्छा को मजबूत बनाने के लिए मैं क्या कर सकता हूँ?

उसे शिक्षित करो, उसे प्रशिक्षित करो—जिस तरह उपयोग द्वारा तुम अपनी मांसपेशियों को प्रशिक्षित करते हो।

१६ मार्च १९३४

क्या आप मुझे बतायेंगी कि अब सन्देह क्यों आने लगे हैं जब कि शुरू में एकदम नहीं थे।

सम्भवतः तुम जिनके साथ मिलते-जुलते हो उनके सन्देहों की तुम्हें छूत लग गयी है।

१६ मार्च १९३४

—श्रीअरविन्द

क्या मैं यह जान सकता हूँ कि जिन लोगों से मैं मिलता हूँ उनमें से किनके अन्दर सन्देह हैं? मैं उनसे मिलना एकदम बन्द कर दूंगा, क्योंकि ये सन्देह मुझे बहुत परेशान करते हैं।

यह तुम्हें स्वयं ढूँढ़ निकालना चाहिये। बहुत-से हैं जो सन्देहों को सतत सहचर की भाँति रखते हैं।

१६ मार्च १९३४

—श्रीअरविन्द

माताजी, क्या आप चाहती हैं कि मैं रोज एक प्रार्थना लिखूं?

तुम्हें केवल तभी लिखना चाहिये जब प्रार्थना सहज रूप से आये।

३१ मार्च १९३४

महीने तेजी से गुजर रहे हैं और मेरी कमजोरी बढ़ती जा रही है। मैं कितनी बेचैनी का अनुभव कर रहा हूं! कितना अवज्ञाकारी, कपटी, ईर्ष्यालु, कमजोर, आवेशों, अज्ञान और मिथ्यात्व से घिरा हूं! मैं अपनी निम्न प्रकृति को देख ही नहीं सकता। हे मां, मैं क्या करूं?

उसकी ओर बहुत अधिक न देखना ही ज्यादा अच्छा है। अपना ध्यान ज्यादा मजेदार चीजों की ओर मोड़ लो। तुम जो सोचते हो वही बन जाते हो। तुम्हें शक्ति, ईमानदारी और निष्कपटता के बारे में सोचना चाहिये, जो तुम बनना चाहते हो।

मार्च १९३४

यह देखते हुए कि निम्न प्रकृति को शुद्ध करने के लिए कोई उग्र प्रयास नहीं, मेरे लिए कोई आशा हो ही कैसे सकती है? मैं औरों के बारे में सोचता ही क्यों हूं? इससे मेरा क्या भला होगा? हे मां, मैं किसी भी चीज के लिए अयोग्य हूं! मां, अभी तक कोई सच्ची और निष्कपट अभीप्सा नहीं है। हे मां, मुझे कोई सलाह दो। मैं अज्ञानी, अन्धकारमय बालक हूं। मेरा पथप्रदर्शन करो, मुझे सच्चा रास्ता दिखाओ।

ऐसा लगता है कि तुम इस बारे में अभी से बहुत सचेत हो कि क्या होना चाहिये और क्या नहीं। लेकिन तुम्हारी मुश्किल शुरू होती है व्यावहारिक प्रयोग में। तुम्हें अधिक ज्ञान के लिए मांग न करनी चाहिये, तुम्हें मांगना चाहिये बल और साहस ताकि जो कुछ थोड़ा-बहुत ज्ञान पहले से तुम्हारे पास है उसका सचाई और ईमानदारी के साथ उपयोग कर सको।

४ अप्रैल १९३४

माताजी, मैं आज सवेरे से बेचैनी का अनुभव कर रहा था। जब मैं तीसरे पहर साढ़े तीन के लगभग जागा तो बेचैनी गायब हो गयी थी और उसकी जगह खुशी ने ले ली। मैं इस प्रक्रिया को नहीं समझता।

यह कोई प्रक्रिया हर्गिज नहीं है। यह केवल तुम्हारी अवस्था में उतार-चढ़ाव है। जब तक प्राणिक स्थिरता न आ जाये ये चीजें होती रहती हैं।

४ अप्रैल १९३४

—श्रीअरविन्द

पता नहीं मेरे अन्दर ऐसी क्या चीज है जो 'ब' को कष्ट देती है। चूंकि मेरी प्रकृति 'ब' से घटिया है इसलिए मैंने सोचा, कहीं उसपर इसका असर न पड़े।

पुरोधे अप्रैल २००६

किसने कहा है कि तुम्हारी प्रकृति 'ब' से घटिया है। हर एक की अपनी प्रकृति होती है। और हर एक अपने पथ पर चलता है। औरों के साथ तुलना करना हमेशा व्यर्थ और प्रायः संकटपूर्ण होता है।

४ अप्रैल १९३४

वह कौन-सी चीज है जिससे 'ब' को कष्ट पहुंचता है?

तुमसे किसने कहा कि 'ब' को किसी चीज से कष्ट पहुंचता है? बहरहाल तुम्हारे अन्दर एक ही चीज है जो 'ब' को कष्ट पहुंचा सकती है और वह है तुम्हारी ईर्ष्या।

५ अप्रैल १९३४

इस ईर्ष्या को दूर करने के लिए मुझे क्या करना चाहिये? यह किस प्रकार की ईर्ष्या है?

ईर्ष्या के प्रकार नहीं हुआ करते—ईर्ष्या सब जगह वही पुरानी चीज है।

५ अप्रैल १९३४

—श्रीअरविन्द

कमजोरी : कल रात 'द' ने मुझसे पूछा, गुजराती में 'मुझे पानी दो' कैसे कहेंगे? मैंने उसे बतला दिया। मैं किसी को नाराज नहीं कर सकता। मुझे अपना स्वभाव बचकाना लगता है। कैसी कमजोरी है! इस कमजोरी के कारण मैं अपने लिए अनगिनत कठिनाइयां खड़ी कर लेता हूं।

तुम्हें इन छोटी-मोटी चीजों को बहुत अधिक महत्त्व न देना चाहिये। महत्त्वपूर्ण बात है उस आदर्श को कभी अपनी आंखों से ओझल न होने दो जिसे तुम सिद्ध करना चाहते हो और उसे सिद्ध करने के लिए अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करो।

६ अप्रैल १९३४

मेरी बहन मेरे साथ बातचीत करना चाहती है, लेकिन मैं उसके साथ बहुत गम्भीर रहता हूं। जब हम मिलते हैं तो मैं कभी मुस्कुराता नहीं। लेकिन प्रायः सभी के साथ ऐसा ही है।

आर तुम औरों को देखकर मुस्कुराते हो तो उसको देखकर भी मुस्कुरा सकते हो। एक तरह से 'क' और 'झ' की ओर मुस्कुराने से बहन की ओर मुस्कुराना कम संकटापन्न है।

१० अप्रैल १९३४

माताजी, मैं यह जानकर बहुत खुश हूं कि मुस्कान भी संकटापन्न हो सकती है। अब से मैं किसी स्त्री की ओर देखकर न मुस्कुराऊंगा।

यह निश्चय शायद कुछ कठोर है। मेरे वाक्य का यह उद्देश्य न था, बल्कि यह कि तुम्हें अपनी

बहन के साथ बहुत बुरा व्यवहार न करना चाहिये—वह उससे कुछ नहीं समझ पाती। सत्य तो यह है कि भगवान् के प्रति तुम्हारा समर्पण इतना पक्का होना चाहिये कि तुम औरों के साथ इन सम्बन्धों को कोई महत्त्व न दो।

११ अप्रैल १९३४

आपने मुझसे कहा है, “सत्य तो यह है कि भगवान् के प्रति तुम्हारा समर्पण इतना पक्का होना चाहिये कि तुम औरों के साथ इन सम्बन्धों को कोई महत्त्व न दो।” मैं इसे व्यवहार में कैसे ला सकता हूँ?

तुम और लोगों के साथ अपने सम्बन्ध के ब्योरों पर ध्यान देने की जगह अपने-आपको भगवान् के प्रति समर्पण के लिए ज्यादा मजबूत बनाने में लगाओ।

दिव्य जननी, कल आक्रमण का दिन है। यह प्राणिक विद्रोह लगभग सात बजे आता है।

मेरी समझ में नहीं आया कि तुम्हारा मतलब क्या है। तुम एक बुरी आदत को क्यों स्वीकार करते और मान्यता देते हो?

२१ अप्रैल १९३४

मैंने यह इसलिए लिखा था कि पिछले रविवार को और उससे पिछले रविवार को भी आक्रमण हुआ था, अतः मैंने सोचा कि वह इस रविवार को भी हो सकता है।

इन विचारों को त्यागना ज्यादा अच्छा है क्योंकि वे आक्रमण को लाने में सहायता देते हैं।

२१ अप्रैल १९३४

मुझे नहीं लगता कि ‘ब’ और मैं अपनी दोस्ती का सदुपयोग कर रहे हैं। हम बहुधा व्यर्थ और खतरनाक बातचीत करते हैं। क्या यह ज्यादा अच्छा न होगा कि मैं उससे ज्यादा न मिलूँ?

मेरा ख्याल है कि यह कहीं अधिक उपयुक्त होगा कि तुम अपनी वाणी का संयम करो और दूषित और खतरनाक विषयों पर बोलने से इन्कार करो। लेकिन स्पष्ट है कि अगर तुम्हारे मिलने से तुम दोनों में ठीक वही चीजें जागती हैं जिनपर तुम विजय पाना चाहते हो तो निश्चय ही मिलने से बचना ज्यादा अच्छा है।

२६ अप्रैल १९३४

साधारणतः ‘ब’ योग के बारे में बातें करता है। उदाहरण के लिए “‘क्ष’ का संगीत प्राण से आता है इसलिए माताजी ने उसे गाने के लिए मना कर दिया है।”

अगर तुम्हारी बातचीत इस प्रकार की बातों तक सीमित रहती है तो उनका उन अनगिनत

अप्रैल २००६

पुरोधा

सत्य तो
साथ इन

अज्ञानभरी बातों से अधिक महत्त्व नहीं है जिनके आदान-प्रदान की आश्रमवालों को आदत है, जब वे यह समझते हैं कि वे यह जानने में समर्थ हैं कि मैं क्या करती हूँ और क्यों करती हूँ।

२७ अप्रैल १९३४

—शान्ति दोशी

ना पक्का
व्यवहार

भगवान्

आता है।

स्वीकार

को भी

ने हैं।

यर्थ और
मिल?

रो और

तुम्हारे
निश्चय

प्राण

नगिनत

त्याग

शास्त्रों में त्याग के बारे में बहुत कुछ कहा गया है—कि तुम्हें सम्पत्ति को त्यागना चाहिये, आसक्तियों को त्यागना चाहिये, कामनाओं को त्यागना चाहिये। लेकिन मैं इस निष्कर्ष पर आयी हूँ कि जब तक तुम्हें कोई चीज त्यागनी पड़े तब तक तुम इस मार्ग पर नहीं हो, क्योंकि जब तक तुम चीजों की वर्तमान स्थिति से पूरी तरह उकता नहीं गये हो और तुम्हें उन्हें त्यागने के लिए कोशिश करनी पड़ती है तब तक तुम अतिमानसिक उपलब्धि के लिए तैयार नहीं हो। अगर तुम्हें 'अधिमानस' की रचनाएं—उसकी बनायी हुई यह दुनिया और इसकी वर्तमान व्यवस्था, जिसे वह सहारा देता है—अब भी सन्तुष्ट करती हैं तो तुम अतिमानसिक उपलब्धि में भाग लेने की आशा नहीं कर सकते। सिर्फ तभी जब तुम्हें ऐसी दुनिया से विरक्ति हो जाये, तुम्हें वह असह्य और स्वीकार करने के अयोग्य लगे तभी तुम चेतना के रूपान्तर के योग्य बनते हो। इसलिए मैं त्याग के विचार को कोई महत्त्व नहीं देती। त्याग का मतलब है ऐसी चीज को छोड़ना जिसका तुम्हारी दृष्टि में मूल्य है, जिसे तुम रखने लायक समझते हो उसे अलग कर देना। इसके विपरीत, तुम्हें यह लगना चाहिये कि यह दुनिया भद्दी, मूर्खताभरी, क्रूर और असह्य कष्टों से भरी है, और एक बार तुम ऐसा अनुभव करो तो तुम्हारी सारी भौतिक चेतना, सारी शारीरिक चेतना, जो इस स्थिति को ऐसा नहीं रखना चाहती, इसे बदलना चाहेगी, वह चिल्ला उठेगी, "मैं कुछ और पाना चाहूंगी—कुछ ऐसी चीज जो सत्य, सुन्दर, आनन्द, ज्ञान और चेतना से भरी हो!" यहाँ सब कुछ एक अंधेरी अचेतना के सागर पर तैर रहा है। लेकिन जब तुम अपनी पूरी इच्छा-शक्ति से, अपने पूरे निश्चय से, अपनी पूरी अभीप्सा और तीव्रता से केवल भगवान् को चाहोगे तो वे जरूर आयेंगे। लेकिन यह केवल दुनिया को सुधारने की बात नहीं है। ऐसे लोग हैं जो शासन में परिवर्तन, सामाजिक सुधार और परोपकार के कामों के लिए शोर मचाते हैं। वे समझते हैं कि इससे वे दुनिया को ज्यादा अच्छा बना सकेंगे। हम एक नया जगत् चाहते हैं, एक सच्चा जगत् जो 'सत्य-चेतना' की अभिव्यक्ति हो। और यह होगा, यह होना चाहिये, और जितनी जल्दी हो उतना अच्छा!

लेकिन यह केवल आत्मपरक परिवर्तन नहीं होना चाहिये। सारे भौतिक जीवन का रूपान्तर होना चाहिये। जड़ जगत् केवल हमारे अन्दर चेतना का रूपान्तर नहीं चाहता। वास्तव में वह कहता है: "तुम आनन्द में चले जाते हो, ज्योतिर्मय बन जाते हो, तुम्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है, लेकिन इससे मैं नहीं बदलता। मैं व्यावहारिक रूप में नरक हूँ और वही बना रहता हूँ!" चेतना का सच्चा रूपान्तर वह होगा जो दुनिया की भौतिक अवस्थाओं को बदल देगा और उसे बिलकुल नयी सृष्टि बना देगा।

—'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १३७-२८

‘मणि’—एक सच्चा दोस्त

कुछ समय पहले मैंने आपको अपनी बिल्ली फ़िफ़ि के बारे में कुछ बातें सुनायी थीं। और आज मैंने एक बार फिर हाथ में कलम उठाया है, आपको अपने कुत्ते ‘मणि’ की कहानी सुनाने के लिए। सच कहा जाये तो वह कुत्ता मेरा अपना तो कभी था ही नहीं, वह एक लावारिस था, जिसका न कोई घर था न ही मालिक। खाना भी शायद भरपेट नहीं मिलता था, पतले-दुबले शरीर पर पसलियां साफ नजर आती थीं। वह लंगड़ाता था और ठीक से भौंक भी नहीं पाता था। भौंकने की कोशिश करता तो एक अजीब-सी “चीं पों”-सी आवाज निकलती थी। उसकी दुम भी ठीक नहीं थी, मानों कहीं फंसकर, कटकर आधी हो गयी हो। मगर भगवान् ने जब उसे धरती पर भेजा ही था, तब कुछ तो ठीक उसमें डाला ही होगा! जी हां, देखने में हालांकि वह बेडौल था, उसकी सुन्दर काली आंखों से मानों उसकी आत्मा का प्रकाश छलकता था।

मणि से मेरी मुलाकात कुछ महीने पहले हुई थी। हर शनिवार, मित्रों का हमारा एक झुण्ड घूमने निकलता है। दो गाड़ियों में सवार, हम दोपहर के साढ़े तीन बजे रवाना होते हैं। पॉण्डिचेरी से लगभग ९० किलोमीटर की दूरी पर, ‘ईस्ट कोस्ट रोड’ से हटकर, समुद्र-तट से आधे किलोमीटर पर, एक बहुत ही सुन्दर जगह है। इर्द-गिर्द पेड़-पौधे हैं। एक तरफ ‘बकिंगम कनाल’ है और सामने समुद्र। ‘बकिंगम कनाल’ आपको शायद मालूम होगा, अंग्रेजी राज्य के समय बनाया गया था। उन दिनों ‘हाई वे’ पर आज के जैसा यातायात नहीं हुआ करता था। नौकाओं के जरिये, अंग्रेज ‘बकिंगम कनाल’ पर कडलोर से चेन्नै तक सामान भेजा करते थे। वह लगभग २०० किलोमीटर तक बहता है। अब तो खैर उसका कोई उपयोग नहीं। उस पर कुछ चलता है तो वह है हवा, जिससे पानी लहराता हुआ नजर आता है।

ठीक पांच बजे हम सब वहां पहुंच जाते हैं। अपनी-अपनी गाड़ियों से उतर कर हम समुद्र-तट की ओर बढ़ते हैं। सबकी अलग-अलग क्रियाएं हैं। जैसे, कुछ लोग रेत पर बैठकर ठण्डी हवा और नीले समुद्र का मजा लेते हैं। कुछ रेत पर दौड़ते हैं या फिर कसरत करते हैं। जिनको समुद्र में तैरना है, वे पानी की तरफ चल पड़ते हैं। मैं, लगातार एक घण्टे तक नंगे पांव रेत पर चलती हूं। रेत पर चलना सड़क पर चलने से कहीं ज्यादा कठिन होता है! घण्टे-भर बाद हम सब गाड़ियों के पास लौट आते हैं। वहां, अपना डेरा डालकर, हाथ-पांव धोकर, खाने के लिए बैठ जाते हैं; खाना हम अपने साथ ले आते हैं। वह स्वादिष्ट तो होता है, तिसपर खुली हवा और खूब कसरत! इसलिए हम तो उंगलियां चाटते रह जाते हैं! भर-पेट खाकर सितारों से जड़े आसमान के तले, ठण्डी हवा के झोंकों में हम बैठकर कुछ देर तक चर्चाएं करते हैं। कोई श्रीअरविन्द और श्रीमां के बारे में बोलता है, कोई दिलचस्प कहानी या घटना सुनाता है। फिर जिनकी आवाज सुरीली है वे कुछ भजन गाकर सुनाते हैं। फिर पांच मिनट का ध्यान होता है। उसके बाद हम सब लौट आते हैं।

कई सालों से चली आ रही है यह परम्परा। हर शनिवार को हम उसी स्थान तक जाते हैं, वही क्रियाएं या कसरतें करते हैं, मगर उनसे थकते नहीं। बल्कि हर बार वहां का प्राकृतिक सौन्दर्य हमारे दिल को हिल्लोलित कर देता है। वे हरे-भरे पेड़-पौधे, नीला और फिर सूर्यास्त के बाद सितारों से जड़ा अम्बर, विशाल समुद्र, सुनहरी मुलायम रेत... न जाने कितनी अनगिनत

अप्रैल २००६

सदियों पहले भगवान् ने इस चित्र की रचना की थी... अनगिनत मनुष्यों ने उसका रसपान किया होगा और सदियों तक करते भी रहेंगे!

हां, तो जैसा कि मैं कह रही थी, अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंचते ही हम अपनी-अपनी गाड़ियों से उतर कर समुद्र की ओर चल पड़ते हैं, जो आधे किलोमीटर की दूरी पर है। तो इसी तरह एक शनिवार को मैं गाड़ी से उतरी, तो देखा कि एक कुत्ता (सफेद और भूरे धब्बोंवाला), कुछ दूरी पर बैठा हमें निहार रहा है। जैसे ही हम समुद्र की ओर बढ़े तो वह झट से उठ खड़ा हुआ और लगा हमारा पीछा करने। हम चलते तो वह भी चलता, हम रुकते तो वह भी रुककर हमारी ओर ताकता। जब रेत पर कसरत के रूप में मैं चलना शुरू करती तो वह कुछ देर तक मेरे साथ चलता, फिर दौड़कर किसी और सदस्य के पास बैठ जाता। इस तरह वह हम सबके साथ, कुछ समय बिताता। वापसी के वक्त भी वह हमारे साथ-साथ रहता, मानों हमारी रक्षा कर रहा हो। फिर जब खाने बैठते, तब हमसे कुछ दूरी पर चुप-चाप बैठ जाता। और जो बचा-खुचा खाना हम उसके सामने रख देते, उसे खाकर गाड़ियों के पास जाकर तैनात खड़ा हो जाता! कोई हमारे नजदीक आने की कोशिश करे, तो भौंकता हुआ, (भौंकने की कोशिश करता हुआ), वह उसे भगा देता। हम जब वापस चल पड़ते तो बेचारा लंगड़ाता हुआ, दौड़ता हुआ, गाड़ियों के मुड़ने तक हमारा पीछा करता, फिर रुककर एकटक हमारी ओर ताकता, मानों कह रहा हो "अगले शनिवार को भी आपकी रक्षा करूंगा, यह मेरा वादा रहा।" हमने उसका नाम रखा 'मणि'। मणि ने अगले शनिवार को अपना वादा तो जरूर निभाया मगर अफसोस, वह हमारी आखिरी मुलाकात साबित हुई।

हर बार की तरह वह हमारे साथ-साथ रहा। हमारे साथ समुद्र-तट तक आया, घण्टे-भर हम सबके साथ रहा, फिर जब हम अपनी गाड़ियों की तरफ लौट रहे थे तो हमने देखा कि एक आदमी हमारी तरफ बढ़ रहा है। पहले हमें लगा कि वह एक मछुआरा है जो पास में ही स्थित छोटें-से गांव को लौट रहा है। फिर उसके चीथड़े देखकर लगा कि वह एक भिखारी है जो हमसे भीख मांगने आ रहा है। लेकिन अचानक उसके कन्धे पर एक बड़ी काली बन्दूक देखी तो हम चिन्तित हो उठे, कुछ डर भी गये। तिस पर उसके बदन से इतनी तेज बदबू आ रही थी कि हम रफतार तेज कर उससे जहां तक हो सके फासला बढ़ाने लगे। लेकिन वह हमारे पीछे-पीछे आने लगा। हम सब एक झुण्ड में तो नहीं चल रहे थे, तीन या चार झुण्डों में थे। मणि बेचारा भौंकता हुआ उस आदमी की ओर भागा, मानों कह रहा हो, "सावधान! ये लोग मेरी जिम्मेदारी हैं, भागो यहां से!" फिर दौड़ता हुआ वह हमारे पास लौट आया। फिर दूसरे झुण्ड के पास जाकर उनके साथ चलता, फिर तीसरे झुण्ड के पास भागकर तैनात खड़ा हो जाता, और बार-बार उस आदमी को भगाने की कोशिश करता... इस तरह यहां से वहां, वहां से यहां, दौड़ते हुए, भौंकते हुए उस बेचारे जीव ने अपने पतले-दुबले बेडौल शरीर में जितनी शक्ति थी, उसे पूरी तरह समेटकर हमारी रक्षा के लिए स्वाहा कर दिया। घण्टे भर रेत पर चलने के बाद मैं, थकी हुई, आखिरी झुण्ड का आखिरी व्यक्ति थी। शाम के साढ़े छह बज गये थे। सूर्यास्त हो चुका था। अंधेरेपन का चोगा धरती पर आहिस्ता-आहिस्ता उतर रहा था। सामने से, पहले झुण्ड के एक व्यक्ति ने आवाज लगायी, "सावधान, एक आदमी हमारा पीछा कर रहा है। कोई उससे बात नहीं करेगा। हमारे कप्तान का आदेश है कि हम अजनबियों से बातें न करें। चलो, जल्दी चलो।" मैंने चिल्लाकर कहा, "जी हां, आ रहे हैं!" तभी अचानक मेरी

चप्पल टूट गयी। हे भगवान्, डर के मारे तो पसीने छूट रहे थे, चप्पल को भी इसी वक्त टूटना था! मैं स्वभावतः उसे हाथ में उठाने के लिए झुकी तो बाकी सब लोगों से और पीछे रह गयी। इतने में वह आदमी मेरे बराबर आ गया। उसके तन से आ रही दुर्गन्ध असहनीय थी। मणि, मुझे उस आदमी के साथ अकेले देख, भागा-भागा मेरी रक्षा के लिए आ गया, और उस अजनबी को, भौंककर धमकाने की कोशिश में लग गया। तभी उस आदमी ने मुझसे पूछा, "क्या यह कुत्ता आपका है?" भयानक हुलिया, असहनीय दुर्गन्ध और तिसपर बड़ी-सी काली बन्दूक! डर के मारे मेरी आवाज गले में ही अटकती रही। न अटकती तब भी मैं जवाब देनेवाली थोड़े ही थी, कप्तान का आदेश जो था अजनबियों से बातें न करने का। इसलिए दोबारा जब उस आदमी ने वही प्रश्न दोहराया, मैं चुप रही और तेज रफ्तार से चलकर आगे निकल गयी। अपनी गाड़ियों के पास आकर ही हम सबने चैन की सांस ली।

इस घटना की चर्चा करते हुए हम सब खाने बैठ गये। सबने मणि की खूब सराहना की। और जिस तरह हमारा रक्षक बनकर उसने उस अजनबी को भगा देने की कोशिश की थी वह सचमुच प्रशंसनीय तो थी ही। भर-पेट खाकर, बचा हुआ (मैं जान-बूझकर बचाती थी) खाना मणि को देने का वक्त आया तो किसी ने कहा, अरे, मणि कहां है? अंधेरा पूरी तरह उतर चुका था। उसे चीरती हुई हमारी नजरें मणि को ढूँढ़ने लगीं। उसका स्थान तो खाली था, जहां बैठकर चुपचाप वह हमारे भोजन की समाप्ति का इन्तजार करता था। एक मनुष्य के लिए भी, अगर उसे जोरों की भूख लगी हो तो सहन कर पाना मुश्किल हो जाता है। तो क्या एक "साधारण जानवर" भूख के मारे चिल्ला-चिल्ला कर जमीन-आसमान एक नहीं कर देगा? मगर मणि किसी और ही मिट्टी का बना था। बड़ी सभ्यता के साथ वह अपने भोजन का इन्तजार करता था! लेकिन वह था कहां? लौटते वक्त तो हमारा रक्षक बनकर खूब रौब जमा रहा था और अब जब उसे मेहनत का फल मिल रहा था तो नौ दो ग्यारह हो गया था। हमने कई बार उसे पुकारा "मणि!... मणि! अरे ओ मणि!" मगर हमारे चारों ओर बस सन्नाटा और अंधेरा हाथ में हाथ डाले, छाये रहे।

फिर अचानक उन दोनों को चीरती हुई एक तीव्र आवाज सुनायी दी, आतिशबाजी की? नहीं, एक छोटे-से बम-विस्फोट की... नहीं नहीं... एक बन्दूक के चलने की आवाज! हां, वह बन्दूक के चलने की आवाज थी। हम सब दंग रह गये। बन्दूक तो हमने अभी-अभी देखी थी, उस अजनबी के कन्धे पर! हमें तो लगा था कि वह पास के गांव का रहनेवाला एक मछुआरा या भिखारी था, मगर वह तो एक शिकारी निकला! लेकिन यहां समुद्रतट पर वह शिकार किस प्राणी का करेगा? हां, सियारों का हुआ हुआ तो हमने कई बार सुना था, एक-आध बार उन्हें देखा भी था। और फिर हरियाली से भरे पेड़-पौधों में पक्षी भी तो रहते थे। तभी बन्दूक फिर से चली और उसके साथ-साथ दर्दनाक भौंके सुनाई दीं। हम सब पत्थर बनकर बैठे रहे। सभी के मन में यही विचार कौंध गया, "क्या वह कुत्ता मणि था?" हे भगवान्, मणि की रक्षा करना, उसने हमारी इतनी रक्षा की थी, अब उसे शिकार मत बनने देना। ध्यान के समय बस यही मेरी प्रार्थना थी। जब जाने का वक्त आया तब भी मणि नहीं आया। जब गाड़ियां चलने लगीं, तो मैंने बार-बार मुड़कर देखा। दिल में आशा की चिनगारी अभी जल रही थी, कि शायद मुझे वह सफेद बेडौल धब्बा हमारे पीछे-पीछे आता हुआ नजर आयेगा। मगर अफसोस! मेरी आंखें भर आयीं। जब उस आदमी ने मुझसे पूछा था कि वह कुत्ता हमारा है या नहीं, तब अगर मैं हां कर देती, कह देती

कि वह ह
मुझमें इत
ने हमें अ
पराया ही
है, लेकिन
यह
आ जाती
की सृष्टि
भगवान् व
सहानुभूति

बहुत-से
समझते हैं
करने के
मैं उंडेल
एकदम स
पाने से
अपने-अ

...
भगवान्
बाद में त

तीन
पूरी तरह
भगवान्
भी दिव्य

...
होती है,
सत्ता बन

अप्रैल २००६

कि वह हमारा ही कुत्ता है तब वह शिकारी शायद चला जाता। मगर मणि तो एक लावारिस था, मुझमें इतनी भी हिम्मत नहीं थी कि हां कहकर उसकी जान बचा लेती। उस बेचारी नन्हीं-सी जान ने हमें अपना मानकर, मरते दम तक हमारी रक्षा करने की कोशिश की थी। मगर हम तो उसे पराया ही मानते रहे। यह सच कहा है किसी ने कि एक कुत्ता मनुष्य का सबसे अच्छा दोस्त होता है, लेकिन शायद हम मनुष्य वह दोस्ती निभा नहीं पाते हैं।

यह घटना घटे काफी समय बीत चुका है मगर उसकी सोचती हूं तो आंखों में अब भी नमी आ जाती है। उस दिन एक चीज तो मैंने जरूर सीखी, और वह यह कि हम सब एक ही भगवान् की सृष्टि हैं, आदमी हों या जानवर। जानवरों को चोट पहुंचाकर, उनका शिकार करके हमें भगवान् की इस अद्भुत सृष्टि का निरादर नहीं करना चाहिये। बल्कि उनके साथ सम्मान और सहानुभूति से पेश आना चाहिये। मुझे पूरा विश्वास है कि आप भी मुझसे सहमत हैं, हैं न?

—कनिष्ठा

अपने अन्दर झांको

बहुत-से लोग जो यहां हैं वे एक बात भूल जाते हैं। वे अन्त से शुरू करना चाहते हैं। वे समझते हैं कि जिसे वे अतिमानसिक शक्ति या चेतना कहते हैं उसे वे अपने जीवन में अभिव्यक्त करने के लिए तैयार हैं, और वे इसे अपनी क्रियाओं, अपनी गतिविधियों, अपने दैनिक जीवन में उड़ेलना चाहते हैं। लेकिन मुश्किल यह है कि वे अतिमानसिक शक्ति या चेतना के बारे में एकदम से कुछ नहीं जानते। वे नहीं जानते कि जिस सत्य को प्रकट करना है उसे अपने अन्दर पाने से पहले सबसे पहली जरूरत है उल्टे पथ पर चलने, यानी अन्तर्मुख होने की, जीवन से अपने-आपको खींच लेने की...

... पहले-पहल व्यक्ति को न केवल अपनी अन्तरात्मा तथा उसपर अधिकार रखनेवाले भगवान् को ही पाना होगा बल्कि मनुष्य को उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा। फिर बाद में तुम बाहरी क्रिया-कलापों की ओर लौट सकते हो, और उन्हें रूपान्तरित कर सकते हो।

*

तीन अवस्थाएं हैं : पहली है, व्यक्ति बनना, दूसरी है व्यक्तित्व का उत्सर्ग करना ताकि वह पूरी तरह से भगवान् को समर्पित हो सके और उनके साथ एक हो जाये; तीसरी अवस्था है : भगवान् इस व्यक्ति पर अधिकार कर लें और उसे अपनी प्रतिमा के रूप में बदल दें, यानी वह भी दिव्य बन जाये।

*

... तुम्हारी सत्ता की पहली अवस्था हर तरह की बाहरी चीजों का लगभग पूरा-पूरा मिश्रण होती है, और व्यक्तीकरण का भाव नहीं के बराबर होता है, यानी विशेषीकरण जो तुम्हें भिन्न सत्ता बनाता है। तुम उन सभी व्यापक वैश्व शक्तियों, प्राण-शक्तियों या मानसिक शक्तियों से

विचलित हो जाते हो—एक तरह का आकार जो तुम्हारा भौतिक आकार है वह विचलित हो जाता है—जो तुम्हारे रूप से होकर गुजरती हैं और उसे क्रियान्वित करती हैं...।

और तुमने इस व्यापक अर्ध-चेतना में से जो कुछ खींच लिया है, और उसे न्यूनाधिक स्वतन्त्र सत्ता का निश्चित रूप दे दिया है, जो अपने बारे में सचेतन है और जिसमें अपने गुण होते हैं, यह सब तुम्हारी वैयक्तिक सत्ता है। और यह वैयक्तिक सत्ता अन्धकार, निश्चेतना और सामान्य जीवन की सीमाओं की गतिविधियों से भरी रहती है, और यही... और तुम्हें इसी को क्रमशः भागवत प्रभाव की ओर खोलना चाहिये और उनमें वस्तुओं की चेतना और समझ लानी चाहिये।

*

और मनुष्य-जाति की बहुत बड़ी संख्या कभी व्यक्ति नहीं बनेगी, वह हमेशा आकारहीन, एकदम से मिली-जुली राशि बनी रहेगी, इस तरह (संकेत)। व्यक्ति बनने को श्रीअरविन्द सचमुच मानसिक मनुष्य बनना कहते हैं। हां, अगर तुमने 'ह्यूमन साइकिल' पढ़ी है तो तुम देखोगे कि सचमुच एक ऐसा मानसिक मनुष्य बनना भी इतना आसान नहीं है जो अपने-आप सोचता हो, जो सभी बाहरी प्रभावों से मुक्त हो, जिसमें अपना व्यक्तित्व हो, जो अस्तित्व रखता हो, उसकी अपनी वास्तविकता हो; यह भी इतना आसान नहीं है।

*

पहले तुम्हें सचेतन, सुनिर्मित व्यष्टीकृत सत्ता बनना होगा, जो अपने-आपमें, अपने द्वारा, अपने समस्त परिवेश से स्वतन्त्र होकर जिये, जो बदले बिना कोई भी चीज सुन सके, कोई भी चीज पढ़ सके, कोई भी चीज देख सके। वह बाहर से केवल उसी चीज को लेता है जिसे वह लेना चाहे। जो कुछ उसकी योजना के अनुकूल न हो उसे वह सहज रूप से अस्वीकार कर देता है और कोई भी वस्तु उसपर तबतक छाप नहीं छोड़ सकती जबतक कि वह स्वयं उसे ग्रहण करना स्वीकार न करे। तब तुम व्यक्तित्व बनना शुरू करते हो! जब तुम व्यक्तित्व हो तभी अपने-आपको समर्पित कर सकते हो...

जबतक तुम अपने-आपमें अस्तित्व नहीं रखते तबतक तुम कुछ दे भी नहीं सकते... और अपने-आपको दे सकने के लिए पहले तुम्हारा अस्तित्व होना चाहिये। और अस्तित्व होने के लिए पहले तुम्हें व्यष्टीकृत होना चाहिये।

*

तुम्हारा आरम्भ-बिन्दु होना चाहिये अपने अन्दर उस वस्तु की खोज जो शरीर तथा जीवन की परिस्थितियों से स्वतन्त्र है, जिसका जन्म उस मानसिक रचना से नहीं हुआ है जो तुम्हें दी गयी है, जिस भाषा में तुम बोलते हो, न ही उस परिवेश की आदतों तथा रीति-रिवाजों से जिसमें तुम रहते हो, न उस देश से जहां तुम्हारा जन्म हुआ है और न ही उस युग से जिसमें तुम हो। तुम्हें अपनी सत्ता की गहराइयों में उस वस्तु को ढूँढना होगा जो अपने अन्दर वैश्व भाव, असीम विस्तार, अटूट निरन्तरता का भाव लिये रहती है...।

अप्रैल २००६

पुरोध

लित हो

यूनाधिक

पने गुण

ना और

इसी को

झ लानी

कारहीन,

सचमुच

खोगे कि

व्यता हो,

उसकी

द्वारा,

कोई भी

जसे वह

कर देता

से ग्रहण

हो तभी

कते...

त्व होने

जीवन

तुम्हें दी

जाओं से

जिसमें

र वैश्व

आन्तरात्मिक सत्ता एक महान् खोज है जिसके लिए कम-से-कम उतनी ही सहनशक्ति तथा धैर्य की आवश्यकता है जितनी नये महाद्वीपों की खोज में होती है। जिसने इस कार्य को अपने हाथ में लेने का निश्चय कर लिया है उसके लिए सलाह के कुछ शब्द उपयोगी हो सकते हैं।

पहली और शायद सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि मन आध्यात्मिक चीजों का मूल्य आंकने में असमर्थ है। जिन लोगों ने इस विषय पर लिखा है वे सब यही कहते हैं; लेकिन बहुत कम ऐसे हैं जो इसे व्यवहार में लायें। और फिर भी, इस पथ पर अग्रसर होने के लिए यह एकदम से अनिवार्य है कि समस्त मानसिक धारणाओं तथा प्रतिक्रियाओं से बचा जाये।

आराम, सन्तोष, सुख-भोग या हर्ष की समस्त वैयक्तिक कामना का त्याग कर दो। केवल प्रगति की धधकती लौ बन जाओ, जो कुछ तुम्हारे मार्ग में आये उसे अपनी प्रगति की सहायता के रूप में लो और तुरन्त वह अपेक्षित प्रगति कर लो।

तुम जो करो उसी में सुख लेने का प्रयास करो, लेकिन कभी कोई काम सुख के लिए न करो।

कभी उत्तेजित, उद्विग्न या विक्षुब्ध मत होओ। सभी परिस्थितियों के सामने पूरी तरह से अचञ्चल रहो। और फिर भी हमेशा सजग रहो ताकि जो प्रगति तुम्हें करनी है उसे तुम जान सको और उस प्रगति को कर सको, समय नष्ट न करो।

भौतिक घटनाओं के बाहरी मूल्य पर न जाओ। वे हमेशा किसी दूसरी वस्तु को—उस सच्ची वस्तु को अभिव्यक्त करने का भद्दा प्रयास होती हैं जो हमारी सतही समझ से बच निकलती है।

कभी किसी के आचरण के बारे में शिकायत न करो, जबतक कि तुम्हारे अन्दर उसकी प्रकृति की उस वस्तु को बदलने की शक्ति न हो जो उससे इस तरीके से कार्य करवाती है; और अगर तुम्हारे अन्दर शक्ति है, तो शिकायत करने की जगह उसे बदल दो।

तुम जो भी करो, कभी उस लक्ष्य को न भूलो जिसे तुमने अपने सामने रखा है। एक बार तुम इस महान् अभियान पर निकल पड़ो तो कोई भी चीज बड़ी या छोटी नहीं होती; सभी चीजें समान रूप से महत्वपूर्ण होती हैं और या तो उसकी सफलता को तेज कर देती हैं या उसमें देर लगा सकती हैं। अतः खाने से पहले, इस अभीप्सा के साथ कुछ क्षणों के लिए एकाग्र रहो कि जो भोजन तुम करनेवाले हो वह तुम्हारे शरीर को वह तत्त्व प्रदान करे जो तुम्हारे महान् अन्वेषण के प्रयास का मजबूत आधार बनाने के लिए आवश्यक है और इस प्रयास में स्थायित्व तथा अध्यवसाय के लिए ऊर्जा प्रदान करे।

सोने से पहले, तुम कुछ क्षणों के लिए इस अभीप्सा में एकाग्रचित्त होओ कि नींद तुम्हारी थकी हुई स्नायुओं को फिर से चंगा कर दे, तुम्हारे मस्तिष्क में स्थिरता और अचञ्चलता लाये ताकि जागने पर तुम पुनर्नवीकृत ओज के साथ महान् उपलब्धि के पथ पर अपनी यात्रा को फिर से आरम्भ कर सको।

क्रिया करने से पहले, इस संकल्प के साथ अभीप्सा करो कि तुम्हारा कार्य इस महान् उपलब्धि की ओर अग्रसर होने में तुम्हें सहायता पहुंचाये या कम-से-कम किसी भी तरह से बाधक न बने।

जब तुम बोलो, तो मुंह से शब्द निकालने से पहले कम-से-कम इतनी देर तो अपने-

आपको एकाग्र कर लो कि शब्दों पर तुम्हारा नियन्त्रण रहे और उन्हीं शब्दों को मुंह से निकलने दो जो एकदम से अनिवार्य हों, केवल उन शब्दों को जो इस महान् उपलब्धि के पथों पर अग्रसर होने में किसी भी प्रकार बाधक न हों।

संक्षेप में, अपने जीवन के ध्येय तथा लक्ष्य को कभी न भूलो। इस महान् उपलब्धि का संकल्प हमेशा तुम्हारे ऊपर बना रहे, तुम जो कुछ करो, और जो कुछ तुम हो, उसपर मानों प्रकाश के एक विशाल पक्षी की भांति रहे जो तुम्हारी सत्ता की समस्त गतिविधियों को नियन्त्रित करे।

—श्रीमान्
अचञ्चल रहो

जब मैं किसी से कहती हूँ, “अचञ्चल रहो”, तो मेरा मतलब होता है : कोशिश करो कि तुम्हारे अन्दर विक्षुब्ध, उत्तेजित, अशान्त विचार न हों; अपने मन को अचञ्चल बनाये रखने और अपनी समस्त कल्पनाओं, अवलोकनों तथा मानसिक रचनाओं को एक वृत्त में चक्कर काटते रहने से रोकने का प्रयास करो...

तब, हम तुरन्त देखते हैं कि एक दूसरी अचञ्चलता भी है जो आवश्यक है, यहाँतक कि उसकी बहुत अधिक आवश्यकता है—यह है प्राणिक अचञ्चलता यानी, कामना का अभाव। केवल प्राण जब पर्याप्त रूप से विकसित नहीं होता, तो जैसे ही उससे शान्त-स्थिर रहने के लिए कहा जाता है तो वह या तो सोने चला जाता है या फिर हड़ताल कर बैठता है; वह कहता है, “आह! नहीं। यह सब नहीं! मैं अब और आगे नहीं बढ़ूंगा। मुझे जिस पोषण की आवश्यकता है, उत्तेजना, उत्साह, कामना, यहाँतक कि आवेश आदि यदि तुम नहीं देते तो मैं हिलना-डुलना भी पसन्द नहीं करता और अब मैं कुछ भी नहीं करूंगा।” तो यहाँ समस्या जरा ज्यादा नाजुक बन जाती है और सम्भवतः और भी अधिक कठिन; क्योंकि निस्सन्देह, उत्तेजना में से तमस् में जा गिरना प्रगति से बहुत दूर है। मनुष्य को तमस् या निद्राजन्य निष्क्रियता को कभी अचञ्चलता समझने की भूल नहीं करनी चाहिये।

अचञ्चलता बहुत भावात्मक स्थिति है; एक भावात्मक शान्ति है जो संघर्ष की विरोधी नहीं है—एक सक्रिय, संक्रामक, बलशाली शान्ति जो वश में करती और शान्त करती है, जो प्रत्येक वस्तु को यथास्थान रखती, व्यवस्थित करती है... सच्ची अचञ्चलता बहुत महान् शक्ति है, बहुत महान् बल है... और यह बात भौतिक क्षेत्र तक में सच है।

*

तुम्हें बाहरी परिस्थितियों में अचञ्चलता को नहीं खोजना चाहिये, उसे अपने अन्दर से ढूँढ़ना चाहिये। सत्ता की गहराई में एक शान्ति है जो—अगर हम उसे अवसर दें तो—शरीर तक में, वह समग्र सत्ता में अचञ्चलता उतार लाती है।

—श्रीमान्

'नयी कॉपलें':

महिलाओं का जादू

आज की दुनिया में जहां पुरुष और महिलाओं को समान माना जाता है और दोनों को एक जैसी सुविधाएं प्राप्त होती हैं शायद ही कोई क्षेत्र हो जहां महिलाएं और पुरुष बराबरी के न हों, पर एक ऐसा कुरुक्षेत्र है जहां महिलाओं की कुशलता अब भी सर्वश्रेष्ठ है। और यह क्षेत्र है खरीदारी में "सौदा करना"। मुझे यह बात आज तक खलती है कि जहां हम पुरुष इतने खराब हैं वहीं हमारी माताएं और बहनें हमसे दस, बीस गुना बेहतर हैं।

जहां मैं सौ रुपये में एक चीज़ लाऊंगा वहीं मेरी मां तीन-तीन चीज़ें ले आयेगी। मेरी बहनें भी मुझे कोसों दूर छोड़ आगे चली गयी हैं। रिक्शेवालों से सौदा करना तो कोई उनसे सीखे। एक बार पैसे बोल दिये तो बस उसी पर अड़े रहना, बेशक पैदल पहुंच जाएं पर अपनी बोली नहीं बदलना।

पैसे कम कराने के तरीकों का उनके पास एक खज़ाना है। इस खज़ाने के ताले खोलने की अनगिनत चाबियां हैं।

अगर दुकानदार उमर में कम हो तो उसे ममता से पटाओ, "अरे तू तो मेरे बेटे के बराबर है, अपनी मां के लिए इतना नहीं करेगा, चल अब बता कितना कम करेगा!"

यह तरकीब 'भाई', 'बापू' बोलकर भी चलती है।

न जाने भगवान् ने उन्हें ऐसा क्या दिया है कि जहां हम पुरुषों की मरदानगी नहीं चलती वहां महिलाओं का जादू अवश्य कायम होता है।

—जयदेव शर्मा

स्वप्न और सच्चाई

क्या हम सो रहे हैं या जग रहे हैं? यह जिन्दगी एक सच्चाई है या माया? यह प्रकृति का कैसा विचित्र खेल है। यह भ्रान्ति सदा मन को विचलित रखती है।

जब हम सोते हैं तब हमें स्वप्न तथा दुःस्वप्न आते हैं। इसी तरह जिन्दगी में कुछ लमहे जितने अच्छे होते हैं, कुछ उतने ही बुरे होते हैं। तो क्या यह जिन्दगी एक स्वप्न तो नहीं?

जिस तरह रिश्ते बंधते हैं, उसी तरह टूटते भी हैं, जिस माप से प्यार बढ़ता है, उसी अनुपात में नफरत भी बढ़ती है; जहां रौशनी होती है परछाईं में उतना ही अन्धकार होता है। इस द्वन्द्वता में आप्लावित क्या हमें कभी भी एहसास होता है कि हम यह कैसा अनियमित जीवन जी रहे हैं!

हम जितना ही किसी चीज़ को पाना चाहते हैं, लगता है कि वह हमसे उतनी ही दूर चली जा रही है। ऐसा लगता है मानों अभी कुछ हाथ में आया हो और फिसला जा रहा है। इस धरती पर सब कुछ विकृत, खतम, भ्रष्ट तथा नष्ट हो जाता है। कुछ भी स्थायी नहीं है।

यह स्थिरता सिर्फ एक ही दुनिया में सम्भव है, वह है भगवान् की दुनिया। यह स्वप्न नहीं, सच्चाई है। मानों हमारा जीवन धरती पर एक छोटी-सी नींद के समान है जिसके समाप्त हो जाने पर हमारा जागरण होता है। और इस जग में जागकर हमें सच्चाई की भ्रान्ति से मुक्ति मिल जाती है। जो स्वप्न लगता है वही सच्चाई है और जो सच्चाई वही स्वप्न।

सूक्ष्मा पोहार
'गैर्वाणी':

इन्द्रजालमयः रागः

न कदापि अस्माकं परिवारस्य गणना धनिकेषु अभवत्। पितरौ एतावदेव आर्जतां यत् परिवारः दिने द्विवारम् आडम्बररहितं, सरलं भोजनं प्राप्नुयात्। फुल्लपूरं सम्प्राप्य तु उत्सवः एव अनुष्ठीयते स्म। वेशादिकं सर्वदैव सीमितमतिष्ठत्। किन्तु न जाने ईश्वरः नः मातुः हस्ते कस्य सौचिकस्य मायाविनीं सूचीम् आर्पयत् यत् सा चतुःसन्ततीनामर्थे तासां जन्मदिने सुजातोत्सवे च सर्वदैव नूतनवेशम् अरचयत्—सुजाते तु सुजातपिता तस्याः साहाय्यं करोति एव इत्यासीदस्माकं युक्तियुक्ता मतिः किन्तु गृहस्य नानाविधव्यापारेषु आप्रभातात् संलग्ना सा कथं कुतश्च समयं धनं वा प्राप्नोति अस्माकं जन्मदिनस्य वेशसज्जीकरणाय इति प्रहेलिकासमाधानं न कदापि प्राप्तम् अस्माभिः। वस्तुतः अयं विषयः अवर्तत अस्माकं बुद्धेरतीतः। अस्मासु प्रत्येकं निज-जन्मदिने नूतनवेशं धारयित्वा सम्राट् इव प्रतिवेशे दिने दशकृत्वः अभवत्। न केवलम् अस्माकम् अपि तु पितुः जन्मदिनेऽपि सा प्रतिवर्षम् एकं तनु-युतकं सीवित्वा महाप्रभाते तस्मै आर्पयत्। पिता च सर्वदैव तस्याः हस्तौ धृत्वा अगदत्—“मैरी! यदापि धनमागमिष्यति सर्वप्रथमं तवार्थं सीवन-यन्त्रं क्रेष्यामि।” माता च सर्वदा हस्तौ उत्थाप्य अकथयत्—“अयि! वर्तते एव मम सकाशे एतद् उत्तमं सीवनयन्त्रम्। अन्येन किं प्रयोजनम्?” एतत् श्रुत्वा पिता तस्याः हस्तौ अचुम्बत्।

अस्माकं चतुर्णामपि सम्मिलितः दृढनिश्चयः आसीत् यत् मातुः हस्तौ संसारस्य उत्तमं यन्त्रम्। न केवलं सीवनम् अपि तु वयनम्, कार्मिकम्, रन्धनम्, गृहसज्जनम्—यत् किमपि अकरोत् सा सर्वस्मिन् तस्याः हस्तयोः विलक्षणस्पर्शः अदृश्यत। अस्माकं चासीत् एषः अचलविश्वासः यदस्माकं मातरम् ईश्वरः जगतः उत्तमां मातरं सृष्टवान्। मातरः सर्वदा एतादृश्यः एव भवन्ति इति तथ्यं तु परम् अभिज्ञातम्। विपन्नतायां सौन्दर्यमयम्, स्वच्छतापूर्णम्, सरलं सुखदं च जीवनं कथं यापनीयमिति सत्यस्य सजीव-दृष्टान्तः आसीत् अस्माकं माता। तस्मात् अस्मासु अपि एते गुणाः अनायासं विकसिताः।

विद्यालयः स्याद् क्रीडाक्षेत्रं वा—सर्वत्र वयं चत्वारः उत्तमाः। अर्थाभावेऽपि सर्वदैव प्रसन्नचिताः अतिष्ठाम। अहञ्च बाल्यकालाद् आत्मानं ज्यायांसम् अमन्ये यतो हि भ्रातृभगिनीषु ज्येष्ठः आसम्। अष्टवर्षीयस्यैव मम पितृसदृशः उत्तरदायिभावः विकसितः तस्मात् तस्मिन् ग्रीष्मावकाशे पित्रोः स्वीकृत्या ‘लॉङ्ग’ इति उपनामधारिण्याः वृद्धप्रतिवेशिन्याः उद्याने घासकर्तनकार्यम् आरब्धं मया। अतीव सदृहदया आसीत् महोदया ‘लॉङ्ग’—अस्मद् समृद्धतरा अपि अल्पधना एव आसीत्।

अप्रैल २००६

पुरोधा

न नहीं,
माप्त हो
के मिल

पोहार

रिवारः

पूछीये

चकस्य

सर्वदैव

केयुक्ता

प्राप्नोति

वस्तुतः

रयित्वा

देनेऽपि

हस्तौ

गता च

अन्येन

यन्त्रम्।

तेत् सा

दस्माकं

मय्यं तु

यमिति

नायासं

चिताः

रासम्।

पित्रोः

मया।

सीत्।

वृद्धावस्थायाम् उद्यानकार्ये असमर्था सा मां न्ययोजयत् तस्मिन् कर्मणि। मह्यं प्रतिसप्ताहम् अल्पमेव धनं दातुमपारयत्। किन्तु मह्यम्—मनुष्यत्वस्य अपेक्षया धनं तुच्छम्—इति मन्त्रः पितृभ्यां बाल्यकाले एव दत्तः आसीत् तस्माद् यावदपि धनं सा मम हस्ते न्यदधात् तदेव मम कृते कुबेरनिधिः अभवत्। सम्यक् स्मरामि यदा निज-प्रथमम् अर्जनं मातुः हस्ते आर्पयं हर्षेण आवयोः नेत्रे आर्द्राभूते। माता तद्धनं मह्यमेव दत्त्वा अवदत्—“वत्स! निज-भ्रातृभगिनीभिः सह पयोहिमम् उपभुज्य स्वस्य प्रथमार्जनस्य आनन्दं लभस्व। भ्रातृभगिन्यः हर्षमग्नाः मामन्वसरन्। किन्तु मार्गे अस्माकं मतिः परिवर्तिता। परिणामतः रात्रिभोजने भुक्तमस्माभिः पित्रोः अभीष्टं ‘प्लम् केक्’।

मम पठनं कार्यञ्च समकालं प्राचलताम् प्रावहत् च नः सन्तुष्टपरिवारस्य जीवन-धारा। अक्तूबरमासस्य अन्ते महोदया ‘लॉड्ग्’ एतत् कथयित्वा मम हर्षमवर्धयत् यत्—मिकेल, वर्तते मम सकाशे तवार्थे सुन्दरः सुजातोपहारः।

तस्याः उक्तौः उत्साहम् अभिलक्ष्य अहं दृढमनाः जातः यत् तस्याः उपहारः अद्भुतः, अद्वितीयः एव स्यात्।

नवम्बरमासः आरब्धः। दिवानक्तम् अहम् उपहारस्य एव स्वप्नमपश्यम्—किं स्थापितं स्यात् तथा? एषः एकः एव प्रश्नः मम मस्तिष्के अधूर्णत। यैः बालकैः सह अखेलमहं तेषु बहूनां सकाशे आस्तां ‘बेज़बॉल’-खेलस्य हस्तपौ, द्विचक्रम् अथ वा हिम-लोठकयुगलम्।—अवश्यम् एतादृशम् एव किमपि वस्तु ममार्थे तथा स्थापितं स्यादिति विचिन्त्य एव अपूर्वाह्लादं प्राप्नवमहम्।

किन्तु परं मनसा अतर्कयमपि—“‘बेज़बॉल’-खेलस्य हस्तपौ कथं भविष्यतः? महोदया ‘लॉड्ग्’-सदृशी महिला अस्य खेलस्य विषये कियत् जानीयात् खलु?” “द्विचक्रस्य सम्भावना तु ततोऽपि अल्पा—महार्घं वस्तु एतत्। तादृशं बृहन्तं द्विचक्रं कुतः कथं वा आनेष्यति सा?”

अन्ततो गत्वा मे मनः लोठकयुगले एव स्थिरीभूतम्।

शनिवारः, दिसम्बरमासस्य, पञ्चदश-दिनाङ्कः। महोदया ‘लॉड्ग्’ मामवदत्—“मिकेल, उद्यान-निभालने सत्यं त्वया मे बहु-सहायता कृता। त्वां प्रतीक्षमाणः ते सुजातोपहारः। उत्सवात् दिनद्वयात् पूर्वं गृहमागत्य उपहारं गृहाण कृपया।”

मम मस्तिष्के प्रकाशः अवतीर्णः। गृहं गत्वा उपहारः ग्रहीतव्यः मया। अर्थात् स्वयमेव एतया ममार्थे आपणाद् लोठकयुगलं क्रीतं स्यात्। मम लघु-पादच्छदे कथं स्थापयिष्यति सा तादृशं वस्तु तस्मात् गृहमाहूय स्वहस्ताभ्यां मह्यम् उपहारं प्रदास्यति!

ततः परं दिवारात्रि अहमात्मानं न भूतले अपि तु लोठकयुगले एव अपश्यम्...

परवर्ती सप्ताहः नैव सरति स्म इति मे प्रतीतिः। लोठकयुगलस्य रहस्यं मया गृहे न उद्घाटितम्—सर्वान् आश्चर्यान्वितान् कर्तुमैच्छमहम्! “कमपि उपहारं प्राप्स्यामि” एतत् सर्वविदितमासीत्। किन्तु किम्...? ते नैव अजानन्...। अहो! उद्विग्नोऽहम्...। दिसम्बरस्य २१ दिनाङ्के रात्रौ तथा हिमपातः अभूत् यदस्माकं गृहस्य सम्मुखस्थः सरोवरः हिमीभूतः। प्रभातात् लोठकयुगलैः सह बालबालानां बाहुल्यम् आर्विभूतं तत्र। अहमात्मानमबोधयम्—“केवलं-दिनद्वयस्य प्रश्नः। ततः परम् अहमपि यथेच्छम् अस्मिन् आनन्दे रंस्ये।” किन्तु अवशं मे मनः आकृष्य मामानयत् ‘लॉड्ग्’-महोदयायाः गृहस्य सम्मुखे। घण्टिकामवादयम्। तस्मिन् दिने तस्याः स्मयमानं वलितं तदाननं मह्यं शब्दातीतम् आनन्दं प्रायच्छत्।

आगतः वत्स! प्रतीक्षमाणा आसम् इति कथयन्ती सा मां हस्तेन धृत्वा सभाजनकक्षे उपावेशयत्।

एषा आयामि, मिकेल्! इत्युक्त्वा अन्तरे प्रविष्टा सा। सम्यक् जानामि यत् घट्यनुसारेण सा सम्भवतः मुहूर्तमात्रेण प्रत्यागता किन्तु मे हृदयघटी तु तथा वेगेन अस्पन्दत यत् मदर्थे सः मुहूर्तमात्रेऽपि अति दीर्घः भारी च अभवत्...

सुजातोपहारम् आदाय अतिष्ठत् सा मम सम्मुखे। किन्तु... किन्तु... यं संवेष्टम् अधरत् सा तस्मिन् न कथमपि 'द्विचक्रम्' आगच्छेत्, न 'हस्तपौ' न वा केनापि प्रकारेण 'लोठकयुगलम्'!! आशा मे चूर्णविचूर्णा। किन्तु यावत् स्मरामि, न मया सा गभीरनिराशा मुखे प्रकाशिता यतो हि उपहारप्रापणस्य मे उद्वेगं वीक्ष्य पितरौ दिने न्यूनतमं त्रिवारं तु उपादिशतामेव—"पुत्र! यत्किमपि दद्यात् सा, सहर्षम्, सधन्यवादं स्वीकुरु।"

तस्याः हस्ते वर्तमानः मे उपहारसम्पुटः स्यात् २५ शतिमानमितः प्रशस्तः, ३० शतिमानमितः लम्बः, अधिकाधिकम् १ शतिमानमितः च स्थूलः। तं स्व-हस्ते धृत्वा निराशा उत्सुकतायां परिवर्तिता। वायुवद् अल्पभारः आसीत्...

"कः उपहारः वर्तते अस्मिन् महोदये लॉङ्ग्?" मया साश्चर्यं पृष्टम्।

"सुजातप्रभाते स्वयमेव उद्घाट्य पश्य वत्स!" सहासमवदत् सा।

अहं सम्पुटं हस्तेन अचालयम्। न किमपि खडखडायितं किन्तु प्रतीतिः जाता यथा कोऽपि मन्दः स्वरः श्रुतः मया। नाबोधं कीदृशः स्वरः सः अतः भूयोऽपि सौत्सुक्यम् अपृच्छमहम्—"कथयतु कृपया किमस्ति अस्मिन्?"

"किमपि इन्द्रजालम्, मिकेल्" नेत्रे तस्याः प्रोद्भासिते।

तस्याः एतैः शब्दैः मस्तिके अधिष्ठितं लोठकयुगलं क्षणेन विलुप्तं हृदये च नूतनसम्भावनां नृत्यम् आरब्धम्। यावद् गृहं प्राप्तः तावत् विश्वासः जातः यदद्य किमपि अद्भुतं वस्तु हस्तगतम्। सा मह्यम् ऐन्द्रजालिकस्य मञ्जूषाम् उपहारस्वरूपेण अददात्। सम्प्रति अहं दुग्धचषकान् शशकेषु रूपान्तरयितुं शक्यामि!!

'इन्द्रजालम्', 'इन्द्रजालम्' इति कोलाहलः मया गृहे कृतः।

सुजातोत्सवस्य सुशोभनं प्रभातम्। सूर्योदयात् प्रागेव गृहसदस्यैः परिवृतः तम् उपहारम् आदाय उपाविशमहं सभाजनकक्षे। बन्धनसूत्रम् उन्मोच्य, कर्गजावरणम् अपाकृतं मया—पत्रपट्टकेन रचितः पुरातनः तनुः सम्पुटः मे क्रोडे आसीत्।

तम् उद्घाटयम्... तस्मिन् आसन् दश कालाः तनुकर्गजाः। किम् ऐन्द्रजालिकटोपिकायाः अर्थं कर्गजाः? तेषु प्रत्येकं किमपि लिखितम् आसीत्—किम् इन्द्रजालस्य सङ्केताक्षराणि?? प्रत्येकं कर्गजे अपठम्—"कार्बन् पेपर् रीगल् प्रीमियम्"—एतेषु अहं केवलं 'पेपर्'-शब्दस्य अर्थमजानाम्।

"किमेतद् इन्द्रजालम्?" साश्चर्यमपश्यं स्वजनान्।

विद्यालयस्य अध्यापिका 'आण्टी-लॉरा' तत्रैव आसीत्। झटिति तया उद्घोषितम्—"अयि मिकेल्! सत्यम् इन्द्रजालमेव वर्तते।"

वयं सर्वे भ्रातृभगिन्यः तमुपागताः।

मातरं प्रार्थयत सा द्वौ श्वेतकर्गजौ। तेभ्यः कालकर्गजेभ्यः एकं सावधानं निष्कास्य द्वयोः श्वेतकर्गजयोः मध्ये स्थापयित्वा अङ्कन्या उपरिष्ठे श्वेतकर्गजे बृहदक्षरैः गाढम् अलिखत् सा—ऐन्द्रजालिकसम्पुटस्य कृते अनेकानेकाः धन्यवादाः, 'लॉङ्ग्'-महोदये! इति। "वत्स! अस्य नीचैः स्वस्य नाम लिख"—लॉरा अवदत्। मुक्तासदृशैः अक्षरैः मया लिखितम्—तव प्रियः मिकेल् इति।

अप्रैल २००६

पुरोधा

रेण सा
मात्रोऽपिअधरत्
लम्!!यतो हि
त्किमपिमानमिदं
वर्तिता।कोऽपि
महम्—मावनानां
तगतम्।
शशकेषुआदाय
रचितःपेकायाः
प्रत्येकं
जानाम्।

मिकेल!

य द्वयोः
सा—
य नीचैः
नू इति।

परमभवत् इन्द्रजालम्!! 'आण्टी-लॉरा' उपरिष्ठात् श्वेतं मध्यमात् च कालं कर्गजम् अपाकरोत्। अन्तिमे श्वेतकर्गजे सर्वथा तदेव लिखितमवर्तत यत् आवां प्रथमे कर्गजे अलिखाव। अधः स्थितं कर्गजं मह्यं दत्त्वा अवदत् सा—“दृष्टम् अद्भुतम् इन्द्रजालम्!” वयं चत्वारः सत्यमेव चित्रार्पिताः। वं कर्गजम् अङ्कन्या न कोऽपि अस्पृशत् तस्मिन्नपि सर्वे शब्दाः तथा शोभन्ते स्म यथा अशोभत सुजातस्य सः अरुणोदयः।

हृदये आनन्दं धर्तुं न अपारयमहम्। अङ्कन्या एकस्मिन् पत्रे अङ्किताः शब्दाः कथम् अस्पृष्टे पत्रे प्रकटिताः? मम बालबुद्धये एतत् संसारस्य महत्तमम् आश्चर्यम् उत्तमं च इन्द्रजालमासीत्।

तस्मिन् सुजातोत्सवे सार्ध-अष्ट-वर्षीयस्य बालकस्य हस्ते महोदया 'लॉङ्ग्' याम् इन्द्रजालमयीं दृष्टिमददात् तथा तस्य जीवनधारा एव परिवर्तिता।

तानि दशपृष्ठानि परितः मे जीवनचक्रम् अधूर्णत। 'आण्टी-लॉरा' मां तेषाम् ऐन्द्रजालिक-कर्गजानां समुचितम् उपयोगं शिक्षितवती। प्रथमे एव दिने सा मामकथयत्—“मिकेल! सावधानम् एतान् प्रयोजय। नित्यं नूतनान् शब्दान् शिक्षित्वा इन्द्रजालं कुरु अत्र।

तस्मादेव दिनात् मया निजशब्दभाण्डारस्य वर्धनमारब्धम्। भ्रातृभगिनीभ्यः अपि स्वस्य निरीक्षणे कदाचित् ऐन्द्रजालिकं खेलं खेलितुम् अददां किन्तु तस्य विशेषसम्पुटस्य स्वामी आसम् अहमेव।

सम्यक् स्मरामि, बहुशः धन्यवादाः अर्पिताः आसन् मया देवदूतसदृशै तस्यै 'लॉङ्ग्'-महोदयायै वा मह्यम् एतादृशम् अपूर्वं वस्तु अददात्। तथा च मे ललाटं चुम्बित्वा आशीर्वचनानि उक्तानि आसन्—वत्स! सम्पूर्णमनोयोगेन अध्ययनं कृत्वा सर्वप्रकारैः समर्थः भव इति।

सत्यमेव तेषु मायावि-कर्गजेषु प्रतिदिनं नवीनशब्दान् लिखित्वा मम सम्मुखे कल्पनायाः तावन्ति क्षितिजानि उन्मीलितानि यत् ममार्थं लेखनं श्वसनमिव अभूत्। षण्मासेषु अहं कथाः अरचयम्, आगामि-सुजातोत्सवे 'अहं मम परिवारश्च' नामकं लघु-उपन्यासमपि गृहसदस्यान् अश्रावयम्।

अहं प्रचुरम् अलिखम्, तावदलिखं यत् तेषां कृष्ण-कर्गजानां प्रत्येकम् अंशं पूर्णतया प्रायोजयमहम्।

वयसा सह इन्द्रजालस्य रहस्यमपि अबोधम्। बहूनि सुजातपर्वाणि आगतानि, बहवः सुशोभनाः महार्घाः उपहाराः अपि प्राप्ताः ये मह्यम् अस्थायि-सुखमपि अयच्छन् किन्तु यदा यदा उपहारविषये अचिन्तयं तदा तदा 'लॉङ्ग्'-महोदयायाः तस्य उपहारस्य सम्मुखे अन्यत् सर्वम् अल्पमूल्यमेव अभवत्।

कतिपय-वर्षेभ्यः परम् एतदपि ज्ञातं यद् 'लॉङ्ग्'-महोदया मह्यं यानि पत्राणि अददात् तेभ्यः न तथा किमपि व्ययितम्। तथा स्वयं प्रयुक्तानि अतीव-सावधानतया च संस्थापितानि प्राङ्गार-पत्राणि मह्यम् उपहतानि। कीदृशः सुबोधः अवर्तत तस्यां—कस्यचित् लघोः निर्धन-बालकस्य अर्थे इन्द्रजालमयाः एतादृशाः कर्गजाः कियत्-बहुमूल्याः भविष्यन्ति! सामान्यक्रीडनकानां स्थाने एतानि पत्राणि तस्य सम्मुखे अनल्पानि नूतनानि, विशालानि क्षितिजानि उद्घाटयिष्यन्ति इत्येतत् सम्यग् अजानात् सा।

अद्यास्मि अहं सुविख्यातः लेखकः। अन्येषां दृष्टौ अत्यधिकं धनाढ्यः, दयालुः, विशालाट्टालिकायाः स्वामी, यस्य सन्ततयः भौतिक-सुविधासम्पन्नं जीवनं यापयन्ति, किन्तु निजदृष्टौ तु अहं तद्वापि महाधनिकः आसं यदा स्वकीय-सुखि-परिवारेण सह धनाभावे भाटकिते लघु-गृहे अवसम्, सीमितवेशान् धारयित्वा जीवनं सानन्दम् अयापयम्, यदा च पितरौ सुन्दरम्, शिष्टम्, सुघटितं च जीवनम् अशिक्षयताम्।

बहुनि वर्षाणि विगतानि। न वर्तते सम्प्रति मे पितरौ, न महोदया 'लॉड्ग्', न वा 'आण्टी लॉरा'; किन्तु अद्यपर्यन्तं प्रतिवर्षं वयं सर्वे भ्रातृभगिन्यः सपरिवारं ममैव गृहे सुजातोत्सवम् अनुतिष्ठामः। तस्मिन् दिने सायं 'प्लम्-केक्' सुनिश्चितं खादामः, बाल्यकालस्य मधुर-सुगन्धित-आख्यानानां पुनरावर्तनम् अवश्यं जायते, आनन्दाश्रूणि अवश्यं स्रवन्ति, सभाजनकक्षे अलङ्कृतं सुजातवृक्षं परितः अन्यैः महाघैः, नूतनैः उपहारैः सह सुनिश्चितं सुशोभते मे बाल्यकालस्य पत्रपट्टकनिर्मितः सः ऐन्द्रजालिकः तनुः सम्पुटः यस्मिन् सयत्नं स्थापितानि तानि दश जर्जर-प्राङ्गारपत्राणि सफलजीवनस्य रागम् अनुगुञ्जन्ति।

जादू का राग

हमारे परिवार की गिनती अमीरों में कभी नहीं हुई क्योंकि मेरे माता-पिता इतना ही कमा पाते थे कि परिवार को दो वक्त डबलरोटी और सूप मिलने में कोई दिक्कत न हो, हां, कभी-कदास केक भी नसीब हो जाता तो हम त्योहार मनाते। कपड़े-लत्ते हमारे पास बहुत सीमित रहते, लेकिन पता नहीं मां के हाथ में भगवान् ने कौन-से दर्जी की ऐसी जादुई सूई पकड़ा दी थी कि वे हम चारों भाई-बहनों के जन्मदिन और 'क्रिसमस' पर घर के खर्चों में कहीं-न-कहीं चुपचाप कतर-ब्यौत कर, रात-रात भर जागकर अपने हाथों से हमारे लिए सुन्दर-सी पोशाक जरूर तैयार कर देती थीं। बचपन में तो क्रिसमस के दिन मिली पोशाक को देखकर हम समझ लेते थे कि 'सैण्टा' ने उनकी मदद की है, लेकिन हमारे जन्मदिन पर वे कौन-सी जादुई छड़ी घुमाती थीं, हम समझ नहीं पाते थे; वैसे हमें समझने की जरूरत भी न थी, हम भाई-बहन तो बस अपने-अपने जन्मदिन पर नयी पोशाक पहने राजा-महाराजा की तरह अनुभव करते हुए दसियों बार गली-मोहल्ले का चक्कर लगा आते। हां, पापा के जन्मदिन पर भी वे हमेशा एक पतली-सी कमीज जरूर बना कर सवरे-सवरे उन्हें भेंट में देती थीं। पापा भी हमेशा उनके हाथ पकड़ कर बड़े प्यार के साथ कहते, "मैरी, जब कभी पैसे आर्येंगे, सबसे पहले मैं तुम्हारे लिए कपड़े सीने की मशीन खरीदूंगा।" और वे मुस्कुरा कर अपने दोनों हाथ उठाकर कहतीं—"अरे, है तो मेरे पास अपनी यह हरफनमौला मशीन, दूसरी की क्या जरूरत भला?" और पापा बड़े प्यार से उनके हाथ चूम लेते।

और हम चारों बच्चों का भी एकजुट यही मानना था कि मां के ये हाथ दुनिया भर की सबसे अच्छी मशीन हैं। न केवल सिलाई बल्कि बुनाई, कढ़ाई, रसोई, सफाई जो कुछ वे करतीं, सब चीजों में उनके हाथों की वह सौंधी-सौंधी खुशबू बसी होती।

और हम चारों बच्चों के लिए यह अटल सत्य था कि भगवान् ने हमारी मां को दुनिया की सबसे अच्छी मां बनाकर भेजा है। वह तो बाद में पता चला कि माएं होती ही ऐसी हैं। फिर भी... हमारी मां में एक विशेष गुण यह था कि गरीबी में सौन्दर्य, सादगी, सफाई और किफायत से कैसे रहा जाये इसका वे जीता-जागता उदाहरण थीं। तभी तो हम बच्चों के अन्दर जाने-अजाने यह गुण छनता चला जा रहा था।

हम चारों पढ़ाई में अव्वल रहते, छुट्टियों में मजे भी खूब उड़ाते। लेकिन मैं बचपन से ही

पुरोधा अप्रैल २००६

अपने-आपको बड़ा समझता था, चारों भाई-बहनों में सबसे बड़ा जो था। और आठ साल पार करते-न-करते तो मैं अपने-आपको पापा के जितना बड़ा महसूस करने लगा। तभी तो गरमी की उन छुट्टियों में मैंने मां-पापा की अनुमति लेकर पास की वृद्ध महिला मिसेज़ लॉग के बगीचे की घास काटने का काम हाथ में ले लिया ताकि मैं भी घर पर अपनी कमाई ला सकूँ। मिसेज़ लॉग बड़ी भली थीं, हमसे कुछ अमीर, लेकिन फिर भी गरीब ही थीं। उम्र के तकाज़े की वजह से वे अपने बगीचे का रख-रखाव नहीं कर पा रही थीं इसीलिए मुझे थोड़े ही पैसे दे पातीं, लेकिन मेरे माता-पिता ने बचपन में ही पैसे से ज्यादा इन्सानियत की कद्र करना हमें घुट्टी में पिला दिया था। इसी कारण वे हर हफ्ते बड़े प्यार से जितना मेरे हाथ में थमा देतीं मेरे लिए वही कुबेर का खजाना बन जाता। अपनी पहली कमाई मां की मुट्ठी में बन्द करते हुए हम दोनों की आंखों में अनायास खुशी के आंसू झलक उठे। मां ने मेरा माथा चूम, पैसे मेरे हाथों में रखते हुए कहा —“बेटे, अपनी पहली कमाई का जश्न तुम भाई-बहनों के साथ आइसक्रीम खाकर मनाओ।” सभी उछल पड़े और मेरे पीछे-पीछे हो लिये। रास्ते में हमने सलाह-मशविरा किया और रात के खाने के समय हम सबने ‘प्लम केक’ की दावत की जो मम्मा और पापा दोनों को बेहद पसन्द था।

मेरी पढ़ाई और काम साथ-साथ बदस्तूर चलते रहे और चलती रही हमारे सन्तुष्ट परिवार की गाड़ी। अक्तूबर के अन्त में मिसेज़ लॉग ने मेरी खुशियों में एक और खुशी जोड़ दी। वे मुझसे बोलीं, “मिकेल, क्रिसमस के लिए मेरे पास तुम्हारे लिए एक सुन्दर उपहार है।” इस बात का ऐलान उन्होंने इतने उत्साह से किया था कि मुझे पूरा पक्का यकीन हो गया कि वह तोहफा सचमुच लाजवाब होगा।

नवम्बर की शुरुआत से ही मैं अपने उपहार के दिवा-स्वप्न देखने लगा। क्या रखा होगा दयालु मिसेज़ लॉग ने मेरे लिए? मेरे अन्दर यही उधेड़-बुन चलती रही। मैं जिन बच्चों के साथ खेलता था उनमें से कइयों के पास ‘बेज़बॉल’ के दस्ताने या साइकिल या बर्फ पर फिसलने के ‘स्केट्स’ थे और मैं बचपन से ही इन चीजों के सपने देखा करता था। “हो न हो, इनमें से कोई चीज़ उन्होंने मेरे लिए सहेज कर रखी होगी।” मैं सोच-सोच कर मुस्कराता।

लेकिन फिर मैं मन-ही-मन तर्क भी करता, “बेज़बॉल के दस्ताने कहां से होंगे। मिसेज़ लॉग जैसी महिला को इस खेल के बारे में कितनी जानकारी होगी भला?” “साइकिल के आसार तो और भी कम नज़र आते। काफी महंगी होती है और इतनी नाजुक महिला इतनी बड़ी साइकिल कहां से जुटायेगी?”

धूम-फिर कर मेरा मन एक जोड़ी ‘स्केट्स’ पर ही टंक जाता। शनिवार १५ दिसम्बर को मिसेज़ लॉग ने मुझसे कहा—“मिकेल, बगीचे की देखभाल करके तुमने सचमुच मेरी बहुत मदद की बच्चे। क्रिसमस का तोहफा तुम्हारा इन्तजार कर रहा है, क्रिसमस के दो-एक दिन पहले घर आकर ले जाना अपना उपहार।”

मेरे दिमाग की बत्ती जली। घर आकर उपहार लेने की बात की है इन्होंने, यानी खुद खरीद कर ले आयी होंगी स्केट्स, मेरे छोटे-से मोजे में कहां समायेगी ऐसी चीज़, इसीलिए घर पर बुलाकर अपने हाथ से मुझे मेरा उपहार सौंपेंगी!

उसके बाद से सोते-जागते मैं अपने-आपको धरती पर नहीं, बस ‘स्केट्स’ पर ही खड़ा देखता...

हफ्ता मेरे लिए पहाड़-सा कटा, सरकने का नाम ही न ले रहा था। मैंने 'स्केट्स' वाला राज अपने दिल के अन्दर ही छिपा कर रखा था, किसी भी भाई-बहन को भनक तक न होने दी-आखिर सबको चौंकाना जो था! उपहार मिलने की बात तो सबको पता थी और इसके सिलसिले में भाई-बहनों की गुपचुप सभाएं भी हुई, लेकिन मैं तो बेताब था...। २१ दिसम्बर को इतनी बर्फ पड़ी कि हमारे घर के सामने की झील जम गयी। 'स्कैटिंग' करते हुए बच्चों की रेलपेल मच गयी। मैंने अपने दिल को समझाया—"बस दो दिन का सवाल है, फिर तू भी इस मस्ती-भरे रंग में रंग जाना।" लेकिन मेरा बेकाबू मन तो खींच कर मुझे मिसेज़ लॉग के दरवाजे पर ले आया। दस्तक दी, मिसेज़ लॉग के झुर्रीदार मुस्कुराते चेहरे को देख उस दिन मुझे जो सुकून मिला उसको शब्दों में उतारने की मुझमें शक्ति कहाँ?

"आ गये बेटा, मुझे तुम्हारा ही इन्तजार था," कहते-कहते वे मेरा हाथ पकड़ अपनी बैठक में ले गयीं। "बैठो मिकेल, मैं अभी आयी" कहती हुई वे अन्दर चली गयीं। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि घड़ी के हिसाब से उन्होंने शायद आधा मिनट लगाया हो, लेकिन मेरे दिल की घड़ी तो ऐसी तेज रफ्तार से धड़क रही थी कि इन्तजार का वह समय मुझे लम्बा और बहुत भारी लगा...।

वे खड़ी थीं मेरे सामने, क्रिसमस का मेरा उपहार लिये—लेकिन... लेकिन... जो पैकिट वे थामे थीं उसमें किसी भी तरीके से न 'साइकिल' समा सकती थी, न 'बेज़बॉल के दस्ताने' और न ही किसी भी हालत में 'स्केट्स'!!! मेरी आशा बुरी तरह चूर-चूर हो गयी, लेकिन जहाँ तक मुझे याद है, मैंने उस गहरी निराशा को अपने चेहरे पर आने नहीं दिया क्योंकि दस दिनों से रोज मेरे माता-पिता उपहार पाने की मेरी उफनती खुशी देखकर मुझे दिन में कम-से-कम तीन बार हिदायत जरूर देते—"बेटे, वे जो भी दें, खुशी-खुशी लेना और उनसे धन्यवाद कहना न भूलना।"

उनके हाथ में था बस २५ सें. मी. चौड़ा, ३० सें. मी. लम्बा और मुश्किल से १ सें. मी. मोटा उपहार, और जब उन्होंने उसे मेरे हाथों में थमाया तो निराशा उत्सुकता में बदल गयी। हवा से ज्यादा हल्का लग रहा था वह...।

"क्या उपहार है इसमें मिसेज़ लॉग?" मैंने हैरानी से पूछा।

"ओह! क्रिसमस की सुबह खोलकर देखना बच्चे!" उन्होंने हंस कर कहा।

मैंने उसे हिलाया, अन्दर कोई चीज न खड़खड़ायी, लेकिन मुझे लगा कि मैंने कुछ आवाज जरूर सुनी, ठीक समझ नहीं पाया कैसी आवाज थी वह। मुझसे रहा नहीं गया। दुबारा पूछ बैठा—"बताइये न मिसेज़ लॉग, क्या है इसमें?"

"एक तरह का जादू।" कहकर उनकी आंखें मुस्कुरा उठीं।

उनके इन शब्दों से मेरे मन में बसे 'स्केट्स' छूमन्तर हो गये और दिमाग में नयी-नयी सम्भावनाओं का नृत्य शुरू हो गया। जब तक मैं घर पहुंचा मुझे पूरा यकीन हो गया कि मैं दुनिया का कोई आश्चर्य लिये चल रहा हूँ। उन्होंने मुझे जादूगरों का 'पिटारी' उपहार में दिया है। अब मैं दूध के गिलासों को खरगोशों में बदल सकूंगा!!

'जादू', 'जादू' का शोर मैंने घर भर में मचा दिया।

क्रिसमस की सुहानी सुबह। सूरज उगने से काफी पहले मेरा उपहार मेरे घुटनों पर रखा था,

अप्रैल २००६

पुरोधा

भाई-बहन सब मुझे घेरे हुए थे। मैंने उपहार पर बंधे फीते की गांठ खोली, कागज़ निकाला, दफ्ती का पुराना पतला डिब्बा मेरी गोद में था।

उसे खोला... उसमें थे पतले-पतले दस काले कागज़। क्या जादूगर की टोपी का सामान? और कागज़ों पर कुछ अक्षर भी चमक रहे हैं... जादू के कुछ संकेत-अक्षर?? मैंने हर कागज़ पर पढ़ा—“कार्बन पेपर रीगल प्रीमियम”—इन चार शब्दों में मैं बस दूसरे शब्द ‘पेपर’ का मतलब जानता था।

“क्या यह जादू है?” मेरी उत्सुक दृष्टि बड़ों पर गयी।

आण्टी लॉरा, जो विद्यालय की अध्यापिका थीं, तपाक् से बोल उठीं—“अरे! मिकेल! यह तो सचमुच जादू है।”

हम सब भाई-बहन उन्हें घेर कर खड़े हो गये।

उन्होंने मां से दो सफेद कागज़ मांगे। उन काले, पतले कागज़ों में से एक निकाल कर आहिस्ता से दोनों सफेद कागज़ों के बीच रखा; फिर एक अच्छी काली पेंसिल से ऊपर के सफेद कागज़ पर लिखा—“इस जादू के पिटारे के लिए आपका बहुत-बहुत शुक्रिया मिसेज़ लॉग!”

“बेटे अब नीचे अपना नाम लिख दो।” लॉरा बोलीं। मैंने मोती जैसे अक्षरों में नीचे लिख दिया—“आपका ही प्यारा मिकेल।”

फिर हुआ जादू!! आण्टी लॉरा ने ऊपर का सफेद और बीच में रखा काला कागज़ हटा दिया। उस काले कागज़ के नीचे के सफेद कागज़ पर हूबहू वही था जो उन्होंने ऊपर के कागज़ पर लिखा था। नीचे वाला कागज़ मुझे पकड़ाते हुए वे बोलीं—“हुआ न कितना बढ़िया जादू!!” हम सब सचमुच सकते में आ गये—उस निचले कागज़ को बिना छुए शब्द इतने साफ चमक रहे थे जितनी साफ क्रिसमस की वह सुहावनी सुबह थी।

खुशी मेरे दिल में समा न पा रही थी। पेंसिल से एक कागज़ पर लिखा और दूसरे पर जादू से वही प्रकट हो गया?? मेरी बाल-बुद्धि के लिए यह संसार का सबसे बढ़िया और अनोखा जादू था।

क्रिसमस के उस त्योहार पर साढ़े आठ साल के मिकेल के हाथों अनुभवी मिसेज़ लॉग ने जादू की जो छड़ी थमा दी उससे उसकी जीवनधारा ही बदल गयी...।

मेरी दुनियां उन दस पृष्ठों के इर्द-गिर्द सिमट आयी। आण्टी लॉरा ने मुझे उन जादूभरे काले कागज़ों का सही तरीके से उपयोग करना सिखा दिया था। पहले ही दिन उन्होंने कहा था—“मिकेल, बहुत संभाल कर इन कागज़ों का इस्तेमाल करना, नये-नये शब्द सीखकर उनका जादू चलाना इन पर।”

उसी दिन से मैंने अपना शब्द-भण्डार बढ़ाना शुरू कर दिया। छोटे भाई-बहनों को भी कभी-कभार अपनी कड़ी निगरानी में जादू का खेल खेलने देता, लेकिन अपने पिटारे का मालिक मैं स्वयं था।

अच्छी तरह याद है, मिसेज़ लॉग को धन्यवाद देते-देते मैं दोहरा हो गया था। उन्होंने मेरा माथा चूमते हुए मुझे आशीर्वाद दिया था—“बेटे, खूब अच्छी तरह पढ़-लिख कर हर तरह से कबिल इन्सान बनना।”

श्री

श्रीअ

श्रीअरवि

के मनुष्य

र्षित के

जिनके ज

यह

भोजन पू

अगस्त स

प्रवेश दि

यह

समस्त स

लिये सर

सत्ता के

रखते हैं

पूरी सूच

जो

अपना ज

लोग अ

सचमुच उन जादुई कागज़ों पर नित नये शब्द लिख-लिख कर मेरे सामने कल्पना के इतने सारे क्षितिज खुलने लगे कि लिखना-पढ़ना मेरे लिए सांस लेने का पर्याय बन गया। छह महीनों के अन्दर-अन्दर मैं छोटी-मोटी कहानियां लिखने लगा और अगली क्रिसमस पर तो मैंने अपना पहला लघु उपन्यास 'मैं और मेरा परिवार' अलाव के पास सबको इकट्ठा कर, पढ़ कर सुनाया।

मैंने लिखा, खूब लिखा, इतना लिखा कि उन सभी 'कार्बन पेपर' का इंच-इंच इस्तेमाल कर लिया।

उम्र के साथ-साथ जादू का रहस्य भी समझ में आ गया। कई क्रिसमस आयीं, कई सुन्दर, कीमती उपहार भी मिले जिन्होंने मुझे अस्थायी खुशी भी दी, लेकिन जब-जब उपहारों के बारे में सोचता, मिसेज़ लॉग के उस तोहफ़े के सामने क्या 'स्केट्स', क्या 'दस्ताने' और क्या 'साइकिल'—सभी फीके पड़ जाते।

कुछ साल बाद मुझे इस बात का अहसास हुआ कि मिसेज़ लॉग ने मुझे जो दस 'कार्बन' दिये थे उन पर उन्होंने कोई खर्च न किया था। अपने इस्तेमाल किये हुए, सहेज कर रखे 'कार्बन' उन्होंने मुझे भेंट-स्वरूप दिये थे। उनके अन्दर इतनी सूझ-बूझ थी कि एक छोटे बच्चे के लिए जादू का यह पिटारा कितना मायने रखेगा। क्रिसमस पर मिलनेवाले सामान्य खिलौनों के बदले ये कागज़ उसके लिए कितने ही नये-नये विशाल क्षितिज खोल देंगे!!

आज मैं जाना-माना लेखक हूँ—दुनिया की नज़रों में बहुत अमीर, दयालु इन्सान, जो आलीशान मकान का मालिक है, जिसके बच्चे भौतिक सुख-सुविधाओं में पले-बढ़े हैं, लेकिन अपनी नज़रों में तो मैं अपने सुखी परिवार के साथ तब भी बड़ा रईस था जब हमारे पास पैसों की बहुत तंगी थी, जब हमारी गुजर-बसर किराये के छोटे-से मकान में होती थी, जब सीमित कपड़ों में हम भाई-बहन हंसी-खुशी चहकते रहते थे—जब हमारे माता-पिता, परिवार जनों ने हमें सुन्दर, सलीकेदार, सुघड़ जीवन जीना सिखा दिया था।

मेरे माता-पिता, मिसेज़ लॉग और आण्टी लॉरा को गुजरे कई वर्ष हो गये, लेकिन आज तक मेरे अन्य तीनों भाई-बहन क्रिसमस सपरिवार मेरे परिवार के साथ ही बिताते हैं। उस दिन 'प्लम केक' जरूर कटता है, बचपन की उन सोंधी-सोंधी, मीठी-मीठी यादों के किस्से जरूर दोहराये जाते हैं, हम सबकी आंखों से खुशी के आंसू जरूर टपकते हैं और बैठक में सजे क्रिसमस के पेड़ के आस-पास दूसरे कीमती, नये-नये उपहारों के साथ-साथ जरूर सजता है बचपन का मेरा वह अनमोल जादुई 'पिटारा' जिसके अन्दर बड़े सहेज कर रखे वे दस जर्जर 'कार्बन पेपर' एक सफल जिन्दगी का राग गुनगुनाते हैं।

—वन्दना

अप्रैल २००६

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर, झुंझुनूं श्रीअरविन्द दिव्य जीवन शिक्षा-केन्द्र, झुंझुनूं (राजस्थान)

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा स्थापित इस संस्था का मूल उद्देश्य श्रीअरविन्द व श्रीमां के मनुष्य जाति के लिये दिव्य जीवन के स्वप्न को साकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह केन्द्र ऐसे श्रद्धालुओं के समूह के निर्माण की अभीप्सा रखता है जिनके जीवन का केवल यही उद्देश्य हो।

यह केन्द्र पूर्ण रूप से आवासीय है जिसमें छात्र-छात्राओं की शिक्षा, आवास व भोजन पूर्णतः निःशुल्क है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। शैक्षणिक सत्र हर वर्ष १५ अगस्त से प्रारंभ होता है तथा केवल ६ से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता है।

यह केन्द्र पूर्ण शिक्षा प्रदान करने तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिये समस्त साधन प्रदान करने की अभीप्सा रखता है। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिये सरकारी प्रमाण-पत्र, डिग्री व डिप्लोमा की आकांक्षा नहीं रखते अपितु उनकी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के अनुरूप उनके पूर्ण व सर्वांगीण विकास की अभीप्सा रखते हैं और अपने बच्चों को इस शिक्षण-संस्था में प्रवेश दिलाने के इच्छुक हैं, वे पूरी सूचना के लिये निम्नलिखित पते पर संपर्क करें।

जो आध्यात्मिक पिपासु इस केन्द्र के कार्य में सहयोगी होना चाहते हैं तथा अपना जीवन इस कार्य में लगाकर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे लोग अधिक जानकारी के लिये संपर्क करें :

पंकज बगड़िया

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर

मीरा अम्बिका भवन, खेतान मोहल्ला

पो० - झुंझुनूं - ३३३००१ (राजस्थान)

टेलीफोन - (०१५९२) २३५६१५, २३२८८७

e-mail: sadlecjjn@rediffmail.com

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

13E-Rajanigandha

25, Ballygunge Park

Kolkata-700 019

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road

Post Box No. 5713

NEW DELHI — 110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

sunderson@auromail.net

Tel : 23612728, 23612776

Fax : 011-23620632

Our Lines of Business :

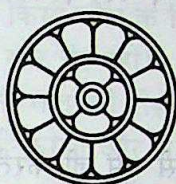
- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
Maihar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERRY.

Completed 80 years on Basant 2006

हिन्दी



प्रार्थना और ध्यान

२७ अगस्त १९१४

हे प्रभो, प्रत्येक क्रिया में, सत्ता के सभी लोकों के अन्दर तू दिव्य प्रेम, शक्तिशाली प्रेम, अनन्त, अथाह प्रेम के रूप में विराज—इसके लिए मैं तेरा आवाहन करती हूं। वर दे कि मैं इस दिव्य प्रेम, शक्तिशाली प्रेम, अनन्त, अथाह प्रेम में, प्रत्येक क्रिया में, सत्ता के सभी लोकों में घुल जाऊं! मुझे उस उद्बुद्ध वेदी में बदल दे ताकि सारी पृथ्वी का वातावरण उसकी ज्वाला से शुद्ध हो जाये।

ओह, अनन्त रूप से तेरा प्रेम बन जाना...

—श्रीमां

612776
620632

ERRY.

दैनन्दिनी



मई

१. आध्यात्मिक जीवन के दृष्टिकोण से तुम जो करते हो उसका सबसे अधिक महत्त्व नहीं है। महत्त्व है तुम जिस तरह करते हो उसका और उस चेतना का जो तुम उसमें लगाते हो। भगवान् को हमेशा याद रखो और तुम जो कुछ करोगे वह 'भागवत उपस्थिति' की अभिव्यक्ति होगा।
२. तुम्हें जो चीज़ जाननी चाहिये वह है, ठीक तरह से यह जानना कि तुम जीवन में क्या करना चाहते हो, इसे सीखने में जो समय लगता है उसकी कुछ परवाह नहीं क्योंकि जो लोग 'सत्य' के अनुसार जीना चाहते हैं, उनके लिए हमेशा कुछ सीखने के लिए, कुछ प्रगति के लिए होता ही है।
३. जीवन का एक प्रयोजन है।
यह प्रयोजन है भगवान् को खोजना और उनकी सेवा करना। भगवान् दूर नहीं हैं, वे हमारे अन्दर हैं, अन्दर गहराई में भावनाओं और विचारों के ऊपर। भगवान् के साथ हैं शान्ति, निश्चिति और साथ ही सभी कठिनाइयों का समाधान।
४. हम सुखी होने के लिए धरती पर नहीं हैं क्योंकि पार्थिव जीवन की वर्तमान दशा में सुख असम्भव है। हम धरती पर भगवान् को पाने और चरितार्थ करने के लिए हैं क्योंकि केवल 'दिव्य चेतना' ही सच्चा सुख दे सकती है।
५. मनुष्य भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए बनाया गया था। इसलिए उसका कर्तव्य है कि भगवान् के बारे में सचेतन हो और अपने-आपको पूरी तरह 'उनकी इच्छा' के प्रति अर्पण कर दे। बाकी सब, चाहे कुछ भी क्यों न दीखता हो, मिथ्यात्व और अज्ञान है।
६. यह कभी न भूलो कि तुम अकेले नहीं हो। भगवान् तुम्हारे साथ हैं, तुम्हारी सहायता और तुम्हारा मार्गदर्शन कर रहे हैं। 'वे' ऐसे साथी हैं जो कभी धोखा नहीं देते, ऐसे मित्र हैं जिनका प्रेम दिलासा देता और बल देता है। तुम जितना अधिक अकेला अनुभव करो उतना ही अधिक तुम उनकी ज्योतिर्मयी उपस्थिति को देखने के लिए तैयार होते हो। श्रद्धा रखो और वे तुम्हारे लिए सब कुछ कर देंगे।
७. एक नियम मैं तुम्हारे लिए निश्चित कर सकता हूँ, ऐसा कोई काम मत करो, ऐसी कोई बात मत कहो या सोचो जिसे तुम माताजी से छिपाना चाहो। (श्रीअरविन्द)
८. अपनी प्राण-सत्ता के दरवाज़े पर अब यह 'नोटिस' लगा दो, "अब कोई मिथ्यात्व यहां कभी प्रवेश न करे" और वहां एक सन्तरी तैनात कर दो जो यह निगरानी रखे कि उसका पालन किया जा रहा है। (श्रीअरविन्द)
९. दिव्य और अनन्त मां के प्रति आत्मसमर्पण करना ही, चाहे वह जितना कठिन क्यों न हो, हमारे लिए एकमात्र फलदायी साधन और हमारा एकमात्र स्थायी आश्रय है, मां के प्रति आत्मसमर्पण करने का अर्थ यह है कि हमारी प्रकृति उनके हाथों का यन्त्र और हमारी अन्तरात्मा उनकी गोद का बालक बन जाये। (श्रीअरविन्द)

१०. किसी चीज़ के लिए इच्छा न करो, किसी चीज़ के लिए कभी दावा न करो। हर क्षण अपनी शक्यता के अनुसार ऊंचे-से-ऊंचे स्तर पर रहो।
११. अतिमानस का अवतरण चीज़ों की गति को तेज़ बना सकता है, पर वह किसी 'पेटेंट' रामबाण औषध की तरह काम नहीं करेगा और न एक निमिष में हर एक चीज़ को बदल ही डालेगा।
१२. यदि तुम्हें किसी बाहरी परिवर्तन की आवश्यकता हो तो इसका मतलब है कि तुम आन्तरिक रूप से उन्नति नहीं कर रहे हो। क्योंकि जो व्यक्ति आन्तरिक रूप से उन्नति करता है वह सर्वदा एक ही प्रकार की बाहरी अवस्थाओं में रह सकता है, वे निरन्तर उसके सम्मुख नये-नये सत्यों को प्रकट करती रहती हैं।
१३. यद्यपि अन्धकार बहुत अधिक है—और यह जगत् तथा साथ ही मनुष्य की भौतिक प्रकृति भी उससे भरी हुई है—फिर भी सच्ची ज्योति की एक किरण ही अन्त में दस गुने अन्धकार को भी पराजित कर सकती है। इस बात पर विश्वास करो और इसे हमेशा दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। (श्रीअरविन्द)
१४. साधना-पथ पर चलने के लिए तुम्हारे अन्दर निर्भीक वीरता होनी चाहिये, तुम्हें कभी इस हीन, तुच्छ, दुर्बल और कुत्सित वृत्ति अर्थात् भय के कारण पीछे नहीं हटना चाहिये।
१५. दुर्दमनीय साहस, पूर्ण सचाई, सर्वांगपूर्ण आत्मदान—इस हद तक कि तुम कभी हिसाब या मोल-तोल न करो, तुम इसलिए न दो कि तुम पाओगे, तुम इस उद्देश्य से आत्मोत्सर्ग न करो कि तुम सुरक्षित रहोगे, तुम ऐसी श्रद्धा न रखो जिसे प्रमाण की आवश्यकता हो; इस पथ पर अग्रसर होने के लिए यह सब अनिवार्य है, बस यही तुम्हें सब विपत्तियों से बचने के लिए आश्रय प्रदान कर सकता है। (श्रीअरविन्द)
१६. जो लोग सीधे नहीं हैं वे मां की सहायता से लाभ नहीं उठा सकते, क्योंकि वे अपने-आप ही उसे दूर हटा देते हैं। जब तक वे परिवर्तित नहीं हो जाते तब तक वे यह आशा नहीं कर सकते कि अतिमानसिक ज्योति और सत्य उनकी निम्नतर प्राणिक और भौतिक प्रकृति में अवतरित होंगे; वे लोग अपनी ही बनायी हुई दलदल में फंसे रहते हैं और उन्नति नहीं कर सकते। (श्रीअरविन्द)
१७. तुम जो भी काम करो, जितनी पूर्णता के साथ कर सकते हो करो। यही मनुष्य के अन्दर भगवान् की सबसे अच्छी सेवा है।
१८. अगर तुम पृथ्वी पर शान्ति चाहते हो तो पहले अपने हृदय में शान्ति स्थापित करो। यदि तुम विश्व में एकत्व चाहते हो तो पहले अपनी सत्ता के विभिन्न अंगों में एकत्व लाओ।
१९. भौतिक रूप में, स्थूल रूप में, इस पृथ्वी पर कृतज्ञता के अन्दर ही शुद्धतम आनन्द का स्रोत पाया जाता है।
२०. हम प्रार्थना करते हैं कि भगवान् हमें हमेशा अधिकाधिक सिखायें, अधिकाधिक बोध दें, हमारे अज्ञान को छिन्न-भिन्न करें, हमारे मनों को प्रकाश दें।
२१. भागवत कृपा के प्रति कभी तीव्र और सच्ची प्रार्थना व्यर्थ नहीं जाती। हमें सतत अभीप्सा की स्थिति में रहना चाहिये, लेकिन जब हम अभीप्सा न कर सकें तो

- हम एक बालक की सरलता के साथ प्रार्थना करें।
२२. प्रश्न—माताजी, भगवान् ने इतने सारे मनुष्यों की रचना क्यों की?
- उत्तर—एक अच्छा मनुष्य पाने की आशा में और फिर भी भगवान् हर जगह हैं, बुद्धिमान् में भी हैं और अज्ञानी में भी!
२३. मनुष्य की रचना हुई ही इसलिए है कि वह एक मानसिक प्राणी बने, तो केवल मनुष्य होने के लिए—हम किसी और चीज़ के लिए नहीं कह रहे, केवल मनुष्य होने की बात कर रहे हैं—जीवन पर बुद्धि का शासन होना चाहिये, प्राणिक तरंगों का नहीं।
२४. प्रश्न : मनुष्य भयभीत क्यों होता है?
- उत्तर : मैं समझती हूँ कि इसका कारण यह है कि मनुष्य अहंवादी होता है। इसके तीन कारण हैं। पहला, अपनी सुरक्षा के लिए मनुष्य अत्यधिक चिन्तित होता है। दूसरा, मनुष्य जो कुछ नहीं जानता वह उसे सर्वदा एक प्रकार की बैचनी का बोध प्रदान करता है और वह चीज़ उसकी चेतना में भय का रूप ले लेती है। और सबसे अधिक, मनुष्य के अन्दर भगवान् के प्रति स्वाभाविक विश्वास बनाये रखने का अभ्यास नहीं होता...
२५. बहुत अधिक बोलने से व्यक्ति बुद्धिमान् नहीं बनता; व्यक्ति तभी बुद्धिमान् कहा जाता है जब वह क्षमाशील, शत्रुहीन और भयहीन हो।
२६. हमें उस सबसे बचने की सावधानी हमेशा बरतनी चाहिये जो हमारे अन्दर दिखावे के भाव को प्रोत्साहित करता हो।
२७. हमारे विचार अभी तक अज्ञान-भरे हैं, उन्हें प्रकाशमान और प्रबुद्ध होना चाहिये। हमारी अभीप्सा अभी तक अपूर्ण है, उसे शुद्ध होना चाहिये। हमारा कर्म अभी तक शक्तिहीन है, उसे समर्थ बनना चाहिये।
२८. हमेशा वही करो जिसे तुम अच्छे-से-अच्छा समझते हो, चाहे वह करने में सबसे अधिक कठिन क्यों न हो।
२९. भागवत कृपा से हमेशा यह प्रार्थना करो कि वह तुमसे हमेशा ठीक चीज़ ठीक तरह से करवाये। अपनी अभीप्सा को उद्दीप्त और निष्कपट बनाओ और यह कभी न भूलो कि तुम भगवान् के बालक हो। यह तुम्हें कोई भी ऐसी चीज़ करने से रोकेगा जो भगवान् के बालकों के अयोग्य हो।
३०. प्रभो, सुन्दरता और सामञ्जस्य के देव, वर दे कि हम संसार में तेरी परम सुन्दरता को अभिव्यक्त करने-योग्य यन्त्र बन सकें। यही हमारी प्रार्थना और हमारी अभीप्सा है।
३१. आदमी जिन चीज़ों का उपयोग करता है उनकी देखरेख न करना निश्चेतना और अज्ञान का चिह्न है। अगर तुम किसी भौतिक चीज़ की देखरेख नहीं करते तो तुम्हें उसका उपयोग करने का कोई अधिकार नहीं है। तुम्हें चीज़ों की भली-भाँति देखरेख करनी चाहिये—इसलिए नहीं कि तुम्हें उनसे मोह है बल्कि इसलिए कि वे भी भागवत चेतना के किसी अंश की अभिव्यक्ति हैं।

छा गया

हवा के झोंके से
जैसे ही अचानक खिड़की खुल गयी
खुला आसमान
मेरे कमरे में चला आया

मेज़ पर
कुहनियों में सिर दिये
सोच में डूबा मैं चौंक उठा
नई स्फूर्ति की लहर
कौंध गई मुझमें
और खुला आसमान मेरे
अन्तस् पर भी छा गया।

१४.२.२००५

—विश्वनाथ
'अन्तरा' से साभार

एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र

मानसिक नियन्त्रण की क्षति

मैं पिछले तीन दिनों से यह फ़र्क देख रहा हूँ। मेरी चेतना में सामान्य प्रकृति की गति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के लिए बल या शक्ति का अभाव है। मुझे क्या हो गया है?

मुझे लगता है कि मानसिक नियन्त्रण चुप हो गया है और नया नियन्त्रण अभी तक नहीं आया है।

आप कहते हैं कि मेरा मानसिक नियन्त्रण चुप हो गया है तो मैं अपने कार्य कैसे संभालूँ?

पुरुष के संकल्प को कार्य का सामना करना चाहिये। यह संकल्प एक मौन शक्ति है जिसे उन चीज़ों पर डाला जाता है जिन्हें बदलना होता है।

मेरी चेतना ने मानसिक नियन्त्रण को ढीला क्यों कर दिया?

क्योंकि तुमने सोचा कि तुम्हें कोई हस्तक्षेप किये बिना हर चीज़ माताजी पर छोड़ देनी चाहिये।

क्या माताजी को मेरा यह करना पसन्द नहीं आया?

यह अमुक स्थिति में ज़रूरी हो सकता है, परन्तु यह मानसिक नियन्त्रण को रोक देता है।

क्या आप कृपा करके मानसिक नियन्त्रण पर कुछ और प्रकाश डाल सकेंगे? क्या उसे खो देना मेरे लिए सचमुच ज़रूरी था?

यह बिल्कुल स्पष्ट है। तुम मानसिक नियन्त्रण का उपयोग कर रहे थे। जब मौन आया तो मन ने अपनी क्रिया बन्द कर दी, इस तरह मानसिक नियन्त्रण बन्द हो गया। इसका स्थान आध्यात्मिक नियन्त्रण को, नीरव पुरुष के संकल्प को लेना चाहिये था।

सम्भवतः यह निष्क्रियता, रिक्तता और मौन के प्रति विभिन्न प्रकार की गतियों के कारण अनिवार्य हो गया।

बातचीत

कल मैंने आपको अपनी अच्छी आन्तरिक स्थिति के बारे में लिखा था। परन्तु बाहरी दृष्टि से किसी चीज़ ने मुझे बहुत बोलने के लिए प्रवृत्त किया। हालांकि मैं जानता था कि इस तरह की अनावश्यक बातचीत आन्तरिक और उच्चतर अनुभूति में बाधा देगी, फिर भी मैं उसे रोक न सका। कृपया बताइये कि मैं ऐसा क्यों करता गया?

यह हमेशा भौतिक या बाह्यतम प्राण की किसी चीज़ का काम होता है।

तुम्हें यह सीखना होगा कि बातचीत तुम्हारी स्थिति को न बदल सके या जैसे ही यह बाधा समाप्त हो, तुम स्वस्थ हो जाओ।

तुम्हें हमेशा बातचीत से दूर रहना चाहिये। मुक्त होने के लिए अनासक्ति पहली आवश्यक शर्त है।

मौन के द्वारा मेरा लेखन बोलंचाल की अपेक्षा ज़्यादा आसानी से प्रकट होता है।

बातचीत लेखन की अपेक्षा ज़्यादा बाहरी चीज़ है, यह ज़्यादा भौतिक और उसकी अवस्था पर निर्भर करती है। इसलिए अधिकतर उसे बाह्य मन की पकड़ से छुड़ाना ज़्यादा मुश्किल होता है।

बातचीत करते समय एकाग्र रहना बहुत मुश्किल होता है।

यह तो सामान्य बात है। जब चेतना दृढ़ता के साथ स्थापित हो केवल तभी वह बातचीत में भी बनी रह सकती है।

आपने कहा है, "इस स्थिति में बहुत ज़्यादा अच्छा है कि अपने-आपको अलग रखो और

मई २००६

दूसरों की करनी की ओर उदासीनता से देखो।" मेरा ख्याल है कि इसका अर्थ है कि बातचीत भी न की जाये। आपके कथन के अन्तिम शब्दों का अर्थ क्या है?

वे जो कुछ करते हैं उसकी परवाह न करो, उसमें रस न लो, आलोचना या हस्तक्षेप न करो—सब कुछ माताजी पर छोड़ दो।

अब मानसिक कार्य में भी मौन रखना सम्भव होता जा रहा है। परन्तु यह एक धीमी और कठिन प्रक्रिया है। बोलते समय मुझे पहले हर शब्द को अपने अन्दर बोलना पड़ता है और फिर सिर्फ उसे अभिव्यक्त करना होता है।

अच्छी बात है। पर बाद में यह प्रक्रिया ज़रूरी न रहेगी। बोलते समय भी तुम अपने-आप ही नीरवता में रहोगे।

—नगीन दोशी

श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार

मधुर मां, आज रात मैंने कुछ बेचैनी का अनुभव किया। क्या यह बेचैनी मेरे 'द' के साथ सम्पर्क के कारण आयी थी या उसका कोई और कारण था?

सम्भवतः, लेकिन सामान्य नियम के तौर पर इस तरह की बेचैनी के कोई बुद्धिसंगत कारण नहीं होते, सिवाय इसके कि प्राण में असन्तोष या विद्रोह की एक छोटी-सी गति होती है।

१ मई १९३४

मैं आज सवेरे से बेचैनी, थकान और उदासी का अनुभव कर रहा हूँ। मैंने बहुत-सा समय जड़ता में गंवाया। मैं निष्कपट नहीं हूँ और बेचैन हूँ।

बाहरी प्रकृति हमेशा अपूर्णता से भरी रहती है जब तक कि भागवत उपस्थिति उसका रूपान्तर न कर दे। लेकिन इन बातों से उदास होना गलत है।

४ मई १९३४

जब मैंने अपनी चादर उठायी तो फर्श पर एक बिच्छू गिरा। वह भाग निकले उससे पहले मैंने उसे अपनी चप्पल से मार डाला। कुछ दिन पहले मैंने ठीक यही चीज़ सपने में देखी थी।

इसे पूर्व-सूचक स्वप्न कहते हैं। जो होने वाला था उसे तुमने पहले ही देख लिया था।

तो इसका कोई अर्थ नहीं है?

अर्थ से तुम्हारा क्या मतलब है? तथ्य तथ्य है।

७ मई १९३४

आज रात मुझे कुछ सुझावों और सन्देहों का अनुभव हुआ, लेकिन मैं जानता था कि वे विरोधी शक्तियों से आये थे। मैंने अपने-आपसे कहा, "माताजी जो कुछ करती हैं वह हमेशा मेरे भले के लिए होता है, चले जाओ!"

यह अच्छा है, यही करना चाहिये।

लेकिन बहुधा मैं औरों के सुझावों से धोखे में आ जाता हूँ। वे प्रायः मुझे ठीक मालूम होते हैं परन्तु बहुधा गलत होते हैं।

यह बिलकुल ठीक है।

उदाहरण के लिए मैं बिच्छूवाले सपने का अर्थ न पूछना चाहता था। 'न' ने सुझाव दिया कि मैं आपसे पूछूँ।

हां, ज्यादा अच्छा यह है कि केवल वही करो जो तुम्हारे अन्तर की गहराई से आये।

९ मई १९३४

कल रात मैं व्याकरण के अभ्यास कर रहा था जिससे मैं पौने बारह तक काम में लगा रहा। मुझे नींद नहीं आ रही थी। क्या यह अच्छा है?

नहीं, मुझे यह बिलकुल अच्छा नहीं लगा। तुम्हें अधिक-से-अधिक दस बजे तक सो जाना चाहिये। नींद आदत की बात है। अगर तुम हमेशा एक ही समय सोने की आदत डाल लो, तो नींद अपने-आप आयेगी।

९ मई १९३४

दो दिन हुए मैं फूल बीनने के लिए 'ह' के स्थान पर गया था। जब मैंने उसे देखा तो मुझे कंपकंपी-सी आयी और उसके तुरन्त बाद बेचैनी हुई। मेरा ख्याल है कि प्राण में बेचैनी आयी थी। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि उसे देखकर मेरे अन्दर बेचैनी क्यों आयी?

कुछ लोग अपने साथ निराशा और अवसाद के विचार लिये फिरते हैं और उनसे परेशान रहते

पुरोध
मई २००६

हैं। ये विचार बीमारी की तरह छुतहा होते हैं और तुम उन्हें उसी तरह पकड़ लेते हो जैसे किसी और बीमारी को।

१४ मई १९३४

मैं इन जंगली और विरोधी विचारों के आक्रमण से कैसे बच सकता हूँ?

जब वे आयें तो उन्हें अस्वीकार करना तुम्हें सीखना होगा।

जो लोग इन्हें लिये फिरते हैं उनके सम्पर्क में न आना?

यह असम्भव है। तब तुम्हें बहुत अधिक लोगों से बचना होगा।

लेकिन प्रश्न यह है कि यह कैसे जाना जाये कि कौन इन्हें लिये फिरते हैं?

यह किसी भी बाहरी साधन से असम्भव है—केवल आन्तरिक विवेक प्राप्त करने से ही ये चीजें जानी जा सकती हैं।

१५ मई १९३४

आपने मुझसे कहा, “मुझे आश्चर्य होगा यदि ‘ह’ तुम्हारी सलाह को गम्भीरता से ले।”

क्या इसका यह मतलब हुआ कि हमें किसी और की सलाह गम्भीरता से न लेनी चाहिये?

एक सामान्य नियम के तौर पर जब तक कोई तुमसे मांगने न आये, सलाह न देना ज़्यादा अच्छा है। लेकिन अगर तुम्हें किसी से कोई सलाह मिले तो तुम्हें उसपर सावधानी से विचार करना चाहिये और उससे लाभ उठाने की कोशिश करनी चाहिये।

१६ मई १९३४

जहां तक मेरा सवाल है, मैं हमेशा सलाह सुनने के लिए तैयार रहता हूँ और अगर मुझे ठीक लगे तो आलोचना या विवाद के बिना उससे लाभ उठाता हूँ। अगर कोई मेरी अशुद्धियाँ दिखलाये तो मैं उसे बहुत सराहता हूँ।

यह बहुत अच्छा है परन्तु हर एक ऐसा नहीं है।

१६ मई १९३४

मधुर मां, हम आप पर सन्देह क्यों करते हैं? क्या कोई चीज़ आपसे अच्छी या कोई व्यक्ति आपसे अधिक बुद्धिमान है? हम आप पर विश्वास क्यों नहीं करते?

क्योंकि बाहरी प्रकृति अज्ञानी, अन्धकारपूर्ण और मूर्ख है और निश्चय ही उसकी सत्ता के तरीके

और उसके कार्य भी अज्ञानभरे, अंधेरे और मूर्खतापूर्ण हैं।

१६ मई १९३४

आज सवेरे जब मैंने 'क' को देखा तो मुझे कंपकंपी-सी आ गयी, लेकिन शाम को ऐसा नहीं हुआ। यह क्यों है?

शायद शाम को तुम सवेरे की अपेक्षा अधिक सक्रिय और प्राणिक सम्पर्कों के प्रति कम खुले हुए थे।

अगर हम दिनभर की सभी गतिविधियों का निरीक्षण साक्षी रूप में अलग खड़े रहकर कर सकें तो, मेरा ख्याल है कि हम शीघ्र ही निम्न प्रकृति से ऊपर उठ सकते हैं। लेकिन सच्चा विवेक पाने के लिए हमें पहले वह चेतना पानी चाहिये जो सत्य और मिथ्या में फ़र्क कर सके। मैं अपनी गतिविधियों का निरीक्षण करता हूँ, लेकिन मैं अब भी अंधेरे और प्रकाश में ठीक-ठीक फ़र्क कर सकने में असमर्थ हूँ।

हां, यह सच है। लेकिन विवेक अभ्यास और संयम द्वारा बढ़ता है। मतलब यह कि तुम मुझसे पूछो कि तुमने जो कुछ देखा है वह ठीक है या नहीं और तब मेरे उत्तरों की मदद से तुम अपने निरीक्षण को ठीक कर सकते हो।

१७ मई १९३४

आज सवेरे 'क' ने मुझसे पूछा, " 'न' ने कोको क्यों नहीं पी और वह क्यों चहलकदमी कर रहा है? " मैंने जो कुछ सोचा वह उसे बता दिया।

औरों के बारे में बोलना न केवल उपयोगी नहीं होता, बल्कि हानिकर होता है।

हम दूसरों के कामों का हेतु क्यों जानना चाहें? पता नहीं, ऐसे मामलों में क्या करना चाहिये। अगर कोई पूछे तो मुझे उत्तर देना पड़ता है।

तुम हमेशा कह सकते हो "माताजी नहीं चाहती कि हम औरों के बारे में गप्पें लगायें।"

१८ मई १९३४

लेकिन यह सब उस व्यक्ति पर निर्भर है जिससे हम यह बात कहते हैं। और अगर वह विद्रोह करे?

तो उसी के लिए बुरा होगा!

मुझे क्या करना चाहिये ताकि मैं प्राणिक सम्पर्कों की ओर न खुलूँ?

मई २००६

अपनी चेतना को प्राण से ऊपर स्थिर करो।

१८ मई १९३४

मैंने निश्चय कर लिया है कि कुछ लोगों को छोड़कर कभी किसी के आगे नहीं मुस्कुराऊंगा, किसी स्त्री के सामने तो कभी नहीं। क्या यह बिलकुल ठीक है?

कठोर नियम बनाने की अपेक्षा दिव्य जीवन पर केन्द्रित रहने की वृत्ति अधिक महत्वपूर्ण है। प्राणिक आदान-प्रदान की आशा में न मुस्कुराने का निश्चय ज्यादा अच्छा होगा।

२१ मई १९३४

हमेशा गहरी अभीप्सा में रहना, अपनी चेतना को नीचे न करना, अपने मन को भटकने न देना, अपनी प्राणिक सत्ता पर संयम रखना। मधुर मां, इन्हें पाने के लिए...

तुम्हारे अन्दर धीरज और अध्यवसाय होना चाहिये।

२१ मई १९३४

क्या यह सच नहीं है कि मनुष्य को अपनी सारी अशुद्धता जाननी चाहिये?

उन्हें जानना निश्चय ही ज़रूरी है, लेकिन लगातार उन्हीं पर अपना ध्यान लगाये रखना अच्छा नहीं है; यह चीज़ उन्हें हटाने में मदद नहीं देती—बल्कि इसके विपरीत होता है।

२१ मई १९३४

—शान्ति दोशी

*
**

यहां साधक और साधिका के बीच एकमात्र सम्बन्ध जिसकी अनुमति दी जा सकती है वह वही है जो साधकों और साधिकाओं के बीच या साधिकाओं और साधिकाओं के बीच होता है—एक ऐसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध की जैसा एक ही योग-मार्ग के अनुयायियों और एक ही मां के बालकों के बीच होता है।

*

साधारण रूप में नर और नारी के बीच मुक्त और स्वाभाविक यौगिक सम्बन्ध रखने के लिए—जो इस योग-मार्ग में साधक और साधिका के बीच होना चाहिये यह है कि वे एक-दूसरे से यह सोचे बिना मिल सकें कि एक पुरुष है और दूसरी स्त्री—दोनों मानव सत्ताएं हैं, दोनों साधक हैं, दोनों भगवान् की सेवा करने की कोशिश कर रहे हैं, और भगवान् की, और किसी की नहीं, केवल भगवन् की खोज कर रहे हैं। अपने अन्दर यह बात पूरी तरह से याद रखो तो सम्भवतः कोई कठिनाई न आवेगी।

—श्रीअरविन्द

बढ़ती जाऊंगी

कुछ लोगों का कहना है मैं बहुत घमण्डी हूं, मेरा सिर आकाश में रहता है और मैं किसी से सीधे मुंह बात नहीं करती। कुछ और हैं जो समझते हैं कि मैं इतनी ज़्यादा पढ़ाकू हूं कि मुझे सिर उठाने की फुरसत नहीं मिलती इसीलिए मेल-जोल नहीं हो पाता। और ऐसे भी हैं जो मुझे इतना ज़्यादा आदर्शवादी मानते हैं कि उनकी दृष्टि में मुझे सामान्य स्तर पर आना नहीं सुहाता, मैं जो कुछ करती हूं किसी उच्च आदर्श पर नज़र टिकाकर करती हूं। मेरी कोई चीज़ बुरी हो ही नहीं सकती।

ये और इस तरह की बहुतेरी बातें मेरे कानों में पड़ा करती हैं। कह नहीं सकती कि इनसे कुछ फ़ायदा या नुकसान होता है या नहीं, लेकिन इतना तो ज़रूर होता है कि मैं भी सोचने लग जाती हूं कि मैं हूं कौन और यहां क्यों आयी हूं, मैं अपने जीवन का लक्ष्य जानने के लिए उत्सुक हो उठती हूं।

मुझे याद है, मेरे पहले अध्यापक पढ़ाते तो बहुत लाड़ से थे पर साथ-ही-साथ संटी के उपयोग में भी कंजूसी न करते थे। उत्तर देने में ज़रा ठिठकी नहीं कि बस एक पड़ गयी। मुझे उनका पढ़ाना अच्छा लगता था इसलिए मैं उनकी शिकायत न करती थी। मुझे डर रहता था कि कहीं पिताजी उन्हें निकाल बाहर न करें। मारने के बाद वे प्यार से समझाया करते थे, “संटी मारो चम चम तो विद्या आवे छम छम”, और मुझे उनकी बातों पर पूरा विश्वास था। वे कहा करते थे, “इच्छा होती है सारी किताबें घोटकर ठण्डाई बनाकर तुझे पिला दूं ताकि तू देखते-देखते विद्वान् हो जाये।” और मैं स्वप्न लिया करती थी कि एक दिन मास्टरजी सिलबट्टा लेकर किताबों पीस रहे हैं और बहुत-सी शक्कर और इलायची डालकर मुझे पिला रहे हैं। मैं यह भी सोचा करती थी कि कौन-कौन-सी किताबों की, किस-किस विषय की ठण्डाई बनेगी।

मैं ज़रा बड़ी हुई। ठण्डाई पिलानेवाले अध्यापक न जाने क्यों और कैसे ठण्डाई पिलाये बिना ही छूट गये। अब कुछ नये अध्यापकों से पाला पड़ा। पिताजी मेरी पढ़ाई के लिए खुले हाथों खर्च करने को तैयार रहते थे, इसलिए अच्छे अध्यापकों की कमी न रहती थी। इस बार जो सज्जन आये वे बात-बात में अंग्रेज़ी गिटपिट करते थे। उनका ख्याल था कि विद्यार्थी मिट्टी का लोंदा है जिसे ठोक-पीटकर, काट-छांटकर रूप देना उनका काम था। उन्होंने निश्चय कर लिया कि मुझे हर एक विषय में अच्छे-से-अच्छा होना चाहिये। वे जो कुछ जानते थे वह तो मेरे अन्दर उंडेलना चाहते ही थे, साथ ही यह भी चाहते थे कि मुझे देखकर सब अच्छे विद्यार्थी रौब में आ जाएं और परिणाम-स्वरूप उनका प्रवेश और ज़्यादा बड़े घरों में हो सके।

हमारे मास्टर साहब ने प्लूटार्क की प्रसिद्ध जीवनियां पढ़ी थीं, कार्लाइल के ‘हिरोज़’ का अध्ययन भी किया था, अब्राहम लिंकन से लेकर जवाहरलाल नेहरू तक के जीवन की एक-एक घटना उन्हें मालूम थी, जोन ऑफ आर्क से लेकर महारानी लक्ष्मीबाई तक की कोई बात उनके लिए अपरिचित न थी। वे हर रोज़ कहा करते, “अब्राहम लिंकन अपने सारे दिन के कार्यक्रम का नक्शा बनाया करता था। उसका सोना-जागना, उठना-बैठना सब, कार्यक्रम के अनुसार हुआ करता था, तुम्हें भी अपने जीवन को इसी प्रकार नियमित बनाना चाहिये।” इसी तरह हर रोज़ किसी-न-किसी बड़े आदमी की किसी आदत की बात करते और मुझे उसका अनुकरण करने को कहते।

एक दिन मुझे शरारत सूझी। मैंने बड़ा गम्भीर चेहरा बनाकर उन्हीं की नकल करते हुए कहा, "दूसरे युद्ध के वीर सेनानी, अंग्रेजों के सबसे बड़े सेनापति लॉर्ड मांटगुमरी ने युद्ध-समाप्ति पर कहा था, 'मैं कभी सिगरेट नहीं पीता, शराब को हाथ नहीं लगाता, हमेशा सादा जीवन बिताता हूँ और देखो सत्तर वर्ष का होकर भी कितना स्वस्थ हूँ।' मैं ज़रा रुकी। बात मास्टर जी के मन की थी। वे खुश हो गये लेकिन उनकी खुशी ज़्यादा देर न टिक पायी। मैंने अपनी बात बढ़ायी और कहा, "उसी सभा में अपने समय के सबसे बड़े महापुरुष चर्चिल बैठे थे। उन्होंने हंसते हुए कहा, 'मैं सारे समय सिगार धुनकता हूँ। बचपन से ही शराब का आदी हूँ और कभी सात्त्विक बनने की कोशिश नहीं करता, फिर भी मांटगुमरी से अवस्था में बड़ा होते हुए उनसे ज़्यादा स्वस्थ हूँ।"

मुझे मालूम न था कि मेरी इस बात का ऐसा आघात पहुंचेगा उन्हें। उन्होंने निश्चय कर लिया कि मेरे लिए उनकी शिक्षा बेकार गयी और दूसरे दिन से उनका आना बन्द हो गया। मुझे उनकी अनुपस्थिति काफ़ी सालती रही पर साथ ही मुझे यह भी लगा कि मैं कुछ स्वाधीन-सी हो गयी हूँ, कि उनके बनाये कठघरे में से निकल आयी हूँ और खुली सांस ले सकती हूँ।

यथासम्भव अच्छे-से-अच्छे स्नेही अध्यापकों का पूरा सहयोग पाकर भी मुझे यही लगता रहा कि मैंने सीखा कुछ नहीं। मैं किसी को दोष न दूंगी, सबने अपनी ओर से पूरा-पूरा प्रयास किया था लेकिन मैंने सीखा क्या? कुछ भी नहीं। कुछ भाषाओं के शब्द सीख लेना और उनका जैसे-तैसे उपयोग कर डालना, यह जान लेना कि हिन्दुस्तान में कितनी रुई पैदा होती है और कितना बाजरा चूहे खा जाते हैं, कुरुक्षेत्र में काम करने वाले लोगों के लिए भले उपयोगी हो पर उसे विद्या या ज्ञान तो नहीं कहा जा सकता।

मैं जानना चाहती हूँ कि सत्य क्या है, उसके साथ कैसे नाता जोड़ा जा सकता है, मेरे जन्म लेने का उद्देश्य क्या है, वहां तक पहुंचने का रास्ता कौन-सा है? इनमें से किसी सवाल का जवाब नहीं दे पाती मेरी शिक्षा। माता-पिता से पूछा, अध्यापकों से पूछा, विद्वान् कहाने-वालों से पूछा। किसी ने मज़ाक में टाल दिया, किसी ने कहा, "अभी से दिमाग खराब न करो," किसी ने कहा, "तुम अभी बहुत छोटी हो।" अब मुझे विश्वास हो गया है कि इनमें से किसी को जवाब मालूम हो तभी तो कुछ कहें! खाना-पीना, मौज करना, रोना-धोना, और अपनी निशानी पीछे छोड़कर मर जाना, यही इनके लिए सब कुछ मालूम होता है। मुझे इनमें से कोई चीज़ अपनी ओर नहीं खींचती।

यूँ मैं आज भी कई भाषाएं सीखती हूँ, गणित और भौतिक विज्ञान का भी अध्ययन करती हूँ पर इन सबके द्वारा मैं किसी और ही लक्ष्य तक पहुंचना चाहती हूँ। मुझे लग रहा है कि सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान भिन्न-भिन्न रास्तों से एक ही लक्ष्य की ओर लिये जा रहे हैं—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखाः द्रवन्ति।

लेकिन ये नदियां अन्त तक ले उन्हीं को जाती हैं जो सागर तक पहुंचना चाहें, बाकी सब तो तलछट बनकर इधर-उधर फैल जाते हैं, लुट जाते हैं और नष्ट होते दीख पड़ते हैं।

मैं बढ़ती जाऊंगी।

—रवीन्द्र

अपने-आपको भयमुक्त करने के कुछ तरीके

जब हमें डर लगे तो क्या करना चाहिये?

... अपने-आपको भयमुक्त करने के कई तरीके हैं।

अगर तुम्हारा अपनी चैत्य सत्ता के साथ कुछ सम्बन्ध है तो तुम्हें उसे तुरन्त बुलाना चाहिये और चैत्य प्रकाश में चीज़ों को फिर से व्यवस्था में रख देना चाहिये, यह सबसे अधिक समर्थ उपाय है।

जब तुम्हारे अन्दर यह चैत्य सम्पर्क न हो फिर भी वह बुद्धिप्रधान सत्ता हो, यानी जब तुम्हारे अन्दर तर्क-संगत मन की स्वतन्त्र गति होती हो तो तुम अपने-आपसे बोलने और तर्क करने के लिए उसका उपयोग कर सकते हो, जैसे कोई बच्चे के साथ बोलता है। उसे समझा सकते हो कि भय अपने-आपमें बुरी चीज़ है और अगर संकट है भी तो संकट का भय के साथ सामना करना बहुत बड़ी मूर्खता है। अगर सचमुच कोई संकट है तो साहस की शक्ति से ही उससे पार पाने की आशा की जा सकती है। अगर तुम्हारे अन्दर ज़रा-सा भी भय है तो बस बंटाढार। तो इस तरह की तर्कणा से, तुम्हारा जो भाग डरता है उसे विश्वास दिलाओ कि उसे डरना बन्द कर देना चाहिये।

अगर तुम्हारे अन्दर श्रद्धा है और तुम भगवान् को समर्पित हो तो बहुत ही सरल तरीका है, यह कहना : “वर दे कि तेरी इच्छा पूर्ण हो। मुझे कोई चीज़ भयभीत नहीं कर सकती क्योंकि ‘तू’ ही मेरे जीवन का मार्गदर्शन कर रहा है। मैं ‘तेरा’ हूँ और ‘तू’ ही मेरे जीवन का मार्गदर्शन कर रहा है।” इसकी क्रिया तुरन्त होती है। सभी तरीकों से यह सबसे अधिक प्रभावकारी है : वस्तुतः यही है। यानी तुम्हें वास्तव में भगवान् के प्रति अर्पित होना चाहिये। अगर तुम्हारे अन्दर यह है तो इसकी क्रिया तुरन्त होती है; समस्त भय किसी सपने की तरह तुरन्त गायब हो जाता है। और खराब प्रभाववाली सत्ता भी भय के साथ स्वप्न की तरह विलीन हो जाती है। तुम्हें उसे पूरे वेग से दुम दबाकर भागते देखना चाहिये।

ऐसे लोग होते हैं जो स्वभावतः बलवान् प्राण होने के कारण योद्धा होते हैं, जो तुरन्त अपना सिर ऊंचा उठाकर कहते हैं, “ओ, यह लो, यह रहा शत्रु, हम इसे नीचा दिखायेंगे।” लेकिन इसके लिए आदमी के अन्दर ज्ञान और बहुत अधिक प्राणिक बल होना चाहिये। तुम्हें प्राणिक दृष्टि से भीमकाय होना चाहिये। लेकिन यह हर एक के लिए सम्भव नहीं है।

तो, बहुत-से अलग-अलग रास्ते हैं। वे सभी अच्छे हैं, यदि तुम उस मार्ग का उपयोग करना जानो जो तुम्हारे अनुकूल है।

जब मैं जिम्नास्टिक्स में छलांग मारना चाहता हूँ तो मुझे डर लगता है, ऐसा क्यों होता है?

आह! मेरे बच्चे, यह निर्भर करता है...। तुम्हें दो अलग-अलग चीज़ों में फ़र्क करना चाहिये और उनके साथ बहुत भिन्न रूप से व्यवहार करना चाहिये।

अगर यह प्राणिक भय है तो तुम्हें उसके साथ तर्क-वितर्क करना चाहिये, फिर भी आगे

मई २००६

बढ़ते रहना चाहिये। लेकिन अगर यह भौतिक सहजवृत्ति है (यह सम्भव है, यह बहुधा होता है कि कोई भौतिक सहजवृत्ति होती है) उस हालत में तुम्हें उसकी बात सुननी चाहिये क्योंकि शरीर की सहजवृत्ति बहुत निश्चयात्मक होती है, यदि उसे विचार या प्राणिक इच्छा विक्षुब्ध न कर दे। अगर शरीर पर बात छोड़ दी जाये तो वह भली-भाँति जानता है कि वह क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता और केवल इतना ही नहीं बल्कि ऐसी चीज़ भी जिसे तुम कर सकते हो और बहुधा करते हो, उसके लिए अगर एक दिन तुम्हें एक तरह का प्रतिक्रिये लगे मानों तुम उससे पीछे हट रहे हो तो निश्चित रूप से तुम्हें वह न करनी चाहिये। यह एक संकेत है कि किसी-न-किसी कारण से, किसी शुद्ध भौतिक, शरीर की गड़बड़ की वजह से तुम उस समय वह करने योग्य नहीं हो। तब तुम्हें उसे न करना चाहिये। उस हालत में यह भय भी नहीं होता, यह कोई ऐसी चीज़ होती है जो कतराती, पीछे हटती है, दिमाग में कुछ नहीं है। वह इस तरह के विचार के साथ मेल नहीं खाती कि अब क्या होने वाला है। जब दिमाग काम करने लगता है और तुम कहते हो, “क्या होने वाला है?” तो तुम्हें उसे बुहार फेंकना चाहिये क्योंकि यह बिल्कुल बेकार होता है। तुम्हें उसे मार भगाने के लिए तर्क और समझदारी के सभी उपायों का उपयोग करना चाहिये। लेकिन यह शुद्ध रूप से भौतिक संवेदन है मानों कोई चीज़ सिकुड़ रही हो, एक तरह की भौतिक जुगुप्सा। अगर स्वयं शरीर इन्कार कर रहा हो तो तुम्हें उस पर ज़बर्दस्ती कभी न करनी चाहिये, कभी नहीं, क्योंकि जब तुम ज़बर्दस्ती करते हो तो दुर्घटना होती है, यह एक तरह की चेतावनी हो सकती है कि कोई दुर्घटना होनेवाली है, कि अगर तुम उस चीज़ को करोगे तो बहुत आगे न बढ़ पाओगे और इस हालत में तुम्हें यह न करना चाहिये, तुम्हें इसमें आत्म-सम्मान न लाना चाहिये। तुम्हें अनुभव करना चाहिये, “आज मैं अच्छी अवस्था में नहीं हूँ।”

लेकिन अगर यह प्राणिक भय है, उदाहरण के लिए, तुम्हारी कोई प्रतियोगिता या साम्मुख्य है और तुम्हें इस तरह का डर लगे कि “अब क्या होने वाला है?” तो तुम्हें उसे तुरन्त बुहार फेंकना चाहिये, उसका मतलब कुछ नहीं है।

*

भय को जीतने के महान् उपचारों में से एक है, जिस चीज़ का डर लगता है उसका बहादुरी से सामना करना, तुम जिस संकट से डरते हो उसके साथ तुम्हारा आमना-सामना होता है और तुम डर से छुटकारा पा जाते हो। डर गायब हो जाता है। योग की दृष्टि से, तपस्या की दृष्टि से इसी उपचार की सलाह दी जाती है। जैसा कि मैं पिछली बार तुमसे कह रही थी, पुरानी साधनाओं में, विशेषकर मिस्र में, गुह्य-विद्या का अभ्यास करने के लिए, मृत्यु के भय को पूरी तरह गायब कर देना ज़रूरी था। हां, तो उन दिनों प्रचलित एक अभ्यास यह था कि नवदीक्षित को शव-पेटी में लिटाकर कुछ दिनों के लिए छोड़ दिया जाता था मानों वह मर गया है। स्वभावतः उसे वहां मरने के लिए नहीं, भूख या श्वासरोध से मरने के लिए नहीं छोड़ा जाता था फिर भी वह उसमें मुर्दे की तरह पड़ा रहता था। कहते हैं कि इससे सारा भय भाग जाता है...!

—श्रीमां

सम्पूर्ण और निष्कपट समर्पण

अगर तुम इस रूपान्तर की इच्छा रखते हो तो अपने-आपको बिना किसी ननुनच के, बिना प्रतिरोध के माताजी और उनकी शक्तियों के हाथ में रख दो। और उन्हें अपने अन्दर बिना बाधा के कार्य करने दो। तुम्हारे अन्दर तीन चीज़ें होनी चाहियें, चेतना, नमनीयता और बिना शर्त के समर्पण। क्योंकि तुम्हें अपने मन, अन्तरात्मा, हृदय और प्राण और अपने शरीर के कोषाणुओं तक में सचेतन होना चाहिये, माताजी और उनकी शक्तियों तथा उनके कार्य के बारे में अभिज्ञ होना चाहिये। यद्यपि वे तुम्हारे अन्दर तुम्हारे अन्धकार में, तुम्हारे अचेतन भागों और क्षणों में भी काम कर सकती और करती हैं, लेकिन यह वही बात नहीं होती जैसी तब जब तुम जाग्रत और उनके साथ जीवित सम्पर्क में हो। तुम्हारी समस्त प्रकृति को उनके स्पर्श के प्रति नमनीय होना चाहिये—अभिमानि, अज्ञान-भरे मन की तरह, जो प्रदीपन और परिवर्तन का शत्रु है, प्रश्न और सन्देह तथा विवाद न करना चाहिये, अपनी ही गतिविधियों पर आग्रह न करना चाहिये जैसे मनुष्य का प्राण आग्रह करता और अपनी हठीली कामनाओं और दुर्भावनाओं से हर दिव्य प्रभाव का विरोध करता है, या तुम्हारी प्रकृति को अक्षमता, जड़ता और तमस् की खाई में घिरा हुआ और बाधक नहीं होना चाहिये जैसे मनुष्य की भौतिक चेतना बाधा देती है और अपनी तुच्छता और अपने अंधेरे में रस लेती है। हर ऐसे स्पर्श के विरुद्ध शोर मचाती है जो उसकी आत्मा-हीन चर्या और मन्द, तन्द्रालु, आलस्यपूर्ण निद्रा में बाधा दे। तुम्हारी भीतरी और बाहरी सत्ता का अबाध्य समर्पण तुम्हारी प्रकृति के सभी अंगों में यह नमनीयता ले आयेगा, परम प्रज्ञा, प्रकाश, शक्ति, सामञ्जस्य, सौन्दर्य, पूर्णता—जो ऊपर से प्रवाह रूप में आते हैं—उनकी ओर सतत खुलने से तुम्हारे अन्दर हर जगह चेतना जागेगी। शरीर भी जाग उठेगा और अन्ततः उसकी चेतना अन्तस्तलीय न रह कर अतिमानसिक अतिचेतन शक्ति के साथ जुड़ जायेगी और ऐसा अनुभव करेगी कि उसकी सभी शक्तियां ऊपर से, नीचे से, चारों ओर से उसमें प्रवेश कर रही हैं और परम प्रेम और आनन्द के प्रति रोमाञ्चित हो रही हैं।

दो शक्तियां हैं जिनके संयोग से ही वह महान् और कठिन कार्य पूरा हो सकता है जो हमारी साधना का लक्ष्य है। एक है दृढ़ और अटूट अभीप्सा जो नीचे से पुकारती है और दूसरी है भगवत्कृपा जो ऊपर से उसका उत्तर देती है।

किन्तु परम भगवत्कृपा केवल प्रकाश और सत्य की स्थितियों में ही कार्य करेगी, असत्य और अज्ञान द्वारा लादी हुई स्थितियों में नहीं। क्योंकि यदि वह असत्य की मांगों के सामने झुक जाये तो अपने उद्देश्य को ही विफल कर देगी।

प्रकाश और सत्य की स्थितियां ही एकमात्र वे स्थितियां हैं जिनमें परम शक्ति नीचे उतरेगी और केवल वह उच्चतम अतिमानसिक शक्ति ही, ऊपर से उतरकर और नीचे से खुलकर भौतिक प्रकृति पर सफलतापूर्वक काबू पा सकती और इसकी कठिनाइयों को नष्ट कर सकती है, उसे जीतकर अपने हाथों में ले सकती है। ... होना चाहिये पूरा और सच्चा समर्पण, होना चाहिये भगवान् की शक्ति की ओर उद्घाटन—अपने को अनन्य रूप से खोलना। जो सत्य ऊपर से उतर रहा है उसे हर क्षण पूरी तरह अपनाना चाहिये, पार्थिव प्रकृति पर मन, प्राण और शरीर की जिन शक्तियों और रूपों का शासन चल रहा है उनके मिथ्यात्व को हर क्षण पूरी तरह

अस्वीकार करना चाहिये।

यह समर्पण सम्पूर्ण और सत्ता के अंग-प्रत्यंग को लिये हुए होना चाहिये। इतना ही काफ़ी नहीं है कि हत्पुरुष स्वीकार कर ले, मन का उच्चतर भाग मान ले, अन्तःप्राण अधीन हो जाये और शरीर की अन्दर की चेतना उसका प्रभाव अनुभव करे, वरन् सत्ता के किसी हिस्से में, यहां तक कि बाहरी से बाहरी अंग में भी कोई ऐसी चीज़ नहीं होनी चाहिये जिसे किसी प्रकार का कोई संकोच हो, जो किसी संशय, अस्पष्टता और छल-कपट के पीछे छिपी हो, जो विद्रोह करती हो, या इन्कार करती हो।

यदि सत्ता का एक हिस्सा तो समर्पण करे लेकिन दूसरा अपने-आपको रोक ले, अपने ही रास्ते चले या अपनी ही शतें रखे, तो समझ लो कि जब-जब ऐसा होता है तब-तब तुम अपने-आप ही भगवत्कृपा को अपने पास से दूर हटा देते हो।

यदि तुम अपनी भक्ति और अपने समर्पण के पीछे अपनी इच्छाओं को, अहंकार की मांगों को और प्राण के हठों को छिपाये रहो, यदि तुम इन चीज़ों को सच्ची अभीप्सा के स्थान पर ला बिठाओ या इन्हें सच्ची अभीप्सा के साथ मिला दो और इन्हें भगवती शक्ति पर लादना चाहो तो रूपान्तर करने के लिए तुम्हारा भगवत्कृपा को पुकारना बेकार है।

यदि एक ओर से या एक भाग में तुम अपने-आपको सत्य के लिए खोलो और दूसरी ओर के दरवाज़े लगातार विरोधी शक्तियों के लिए खोलते जाओ तो यह आशा व्यर्थ है कि भगवत्कृपा तुम्हारा साथ देगी। तुम्हें मन्दिर को साफ़ रखना होगा, यदि तुम उसमें सजीव रूप से भगवान् की प्रतिष्ठा करना चाहते हो।

यदि जब-जब शक्ति आये और अपने साथ सत्य को लाये तब-तब तुम उसकी ओर से पीठ फेर लो और फिर से, निकाले हुए असत्य को बुला लो, तो तुम भागवत कृपा को सहायता न देने का दोष नहीं दे सकते। इसमें दोष है तुम्हारे अपने संकल्प के मिथ्याचार का, तुम्हारे अपने समर्पण की कमियों का।

यदि तुम सत्य के लिए पुकार करो लेकिन साथ ही तुम्हारे अन्दर कोई चीज़ असत्य, अज्ञान और अभागवत का वरण करती रहे या इन्हें पूरी तरह छोड़ना न चाहे, तो तुम्हारे ऊपर आक्रमण का मार्ग सदा खुला रहेगा और भगवत्कृपा तुमसे पीछे हट जायेगी। पहले यह पता लगाओ कि तुम्हारे अन्दर क्या मिथ्या है, क्या अन्धकारमय है, फिर दृढ़ता से उसे निकाल बाहर करो। तभी तुम रूपान्तर के लिए भगवान् की शक्ति को पुकारने के अधिकारी बनोगे।

यह कल्पना न करो कि भगवान् को निवेदित किये गये घर में सत्य और असत्य, प्रकाश और अन्धकार, समर्पण और स्वार्थ साथ-साथ रहने दिये जायेंगे। रूपान्तर सर्वांगीण होना चाहिये, अतः उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं का त्याग भी सर्वांगीण ही होना चाहिये।

यह मिथ्या धारणा त्याग दो कि तुम चाहे भगवान् की शतों का पालन न भी करो, भगवती शक्ति तुम्हारे लिए, तुम्हारी मांग के अनुसार सब कुछ कर देगी या करने के लिए बाधित है। अपने समर्पण को सच्चा और सम्पूर्ण बनाओ तभी तुम्हारे लिए बाकी सब कुछ किया जायेगा।

यह मिथ्या और आलस्य-भरी आशा भी त्याग दो कि भगवती शक्ति ही तुम्हारे लिए समर्पण भी कर देगी। भगवान् भगवती शक्ति के प्रति तुम्हारा आत्म-समर्पण मांगते हैं, उसे तुम पर लादते नहीं। तुम हर पल स्वतन्त्र हो; जब तक अटल रूपान्तर न हो जाये तब तक तुम भगवान्

को अस्वीकार करने और उनका त्याग करने, अपने आत्म-दान को वापस ले लेने के लिए स्वतन्त्र हो—शर्त यह है कि तुम उसका आध्यात्मिक फल भोगने के लिए भी तैयार रहो। तुम्हारा समर्पण अपनी इच्छा से और मुक्त भाव से होना चाहिये। वह एक जीवित सत्ता का समर्पण होना चाहिये, निर्जीव कठपुतली या पराधीन यन्त्र का नहीं।

तामसिक निष्क्रियता को ही सच्चा समर्पण मान लेने की भूल हमेशा हुआ करती है, किन्तु तामसिक निष्क्रियता से कोई सत्य और सशक्त वस्तु नहीं आ सकती। भौतिक प्रकृति अपनी तामसिक निष्क्रियता के कारण ही अन्धकारपूर्ण या अदिव्य प्रभाव का शिकार बना करती है। भगवती शक्ति की क्रिया के प्रति प्रसन्न, सशक्त और सहायक अधीनता होनी चाहिये और सत्य के ज्ञान से दीप्त अनुयायी की, अन्धकार और असत्य से लड़ने वाले आन्तर योद्धा की और भगवान् के सच्चे सेवक की आज्ञाकारिता होनी चाहिये।

यही है सच्चा भाव। और, जो इसे ग्रहण कर सकते और बनाये रख सकते हैं, केवल उन्हीं की श्रद्धा निराशाओं और कठिनाइयों के बीच अटल बनी रहेगी और वे ही अग्नि-परीक्षा में से होकर परम विजय और महान् रूपान्तर की प्राप्ति करेंगे।

—श्रीअरविन्द; 'माता' पुस्तक से

शक्ति उपस्थित है

वास्तविक कठिनाई हमारे परिवेश में नहीं, हमेशा हमारे अन्दर होती है। मनुष्य को अजेय बनाने के लिए तीन चीजें जरूरी हैं, इच्छा, अनासक्ति और श्रद्धा। हमारे अन्दर अपना उद्धार करने की इच्छा तो हो सकती है पर पर्याप्त श्रद्धा की कमी हो सकती है। हमें अपने चरम उद्धार पर श्रद्धा हो सकती है, पर आवश्यक साधनों के उपयोग के लिए इच्छा की कमी हो सकती है। और अगर इच्छा और श्रद्धा भी हों तो हम उनका उपयोग अपने काम के फल के प्रति उग्र आसक्ति के साथ घृणा के आवेशों, अन्धी उत्तेजना या जल्दबाजी में बल लगाकर कर सकते हैं जिससे बुरी प्रतिक्रियाएं आ सकती हैं। इसी कारण इतने महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए यह जरूरी है कि अभूतपूर्व बाधाओं को जीतने के लिए हम शरीर और मन से अधिक ऊंची शक्ति का आश्रय लें। साधना की इसीलिए आवश्यकता है।

भगवान् हमारे अन्दर हैं, वे सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ शक्ति हैं। हम और वे एक ही प्रकृति के हैं और अगर हम उनके साथ सम्पर्क स्थापित करें और अपने-आपको उनके हाथों में सौंप दें तो वे हमारे अन्दर अपनी शक्ति उंडेलेंगे और हम अनुभव करेंगे कि हमारे अन्दर भी देवत्व का, सर्वशक्तिमत्ता का, सर्वव्यापकता का और सर्वज्ञता का अपना भाग है। मार्ग लम्बा है, परन्तु आत्म-समर्पण उसे छोटा बना देता है, रास्ता कठिन है परन्तु पूर्ण विश्वास उसे सरल बना देता है।

इच्छा सर्वशक्तिमान् है परन्तु होनी चाहिये वह भागवत इच्छा, निस्स्वार्थ, शान्त और परिणामों के बारे में निश्चिन्त। ईसा ने कहा था, "अगर तुम्हारे अन्दर राई जितनी भी श्रद्धा हो तो तुम इस पहाड़ से कहोगे, आओ और वह तुम्हारे पास आ जायेगा।" यहां श्रद्धा शब्द का अर्थ पूर्ण

पुरोधा मई २००६

के लिए
मार रहो।
सत्ता काहै, किन्तु
ते अपनी
करती है।
और सत्य
की ओरबल उन्हीं
क्षा में से

पुस्तक से

य बनाने
करने की
पर श्रद्धा
है। और
आसक्ति
हैं जिससे
ही है कि
श्रय लें।एक ही
हाथों में
अन्दर भी
गं लम्बा
से सरलपरिणामों
तो तुम
अर्थ पूर्ण

श्रद्धा के साथ संकल्प से था। श्रद्धा तर्क नहीं करती, वह जानती है, क्योंकि उसका दृष्टि पर अधिकार होता है। वह जानती है कि भगवान् क्या चाहते हैं और वह जानती है कि भगवान् जो चाहते हैं वह होकर रहेगा। श्रद्धा—वह अन्धी नहीं होती बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि का उपयोग करती हुई सर्वज्ञ बन सकती है।

इच्छा सर्वव्यापक भी है। वह जिनके सम्पर्क में आती है उनके अन्दर अपने-आपको निक्षिप्त कर सकती है और उन्हें सामयिक या स्थायी रूप से अपनी शक्ति, अपने विचार और अपने उत्साह का एक भाग दे सकती है। निःस्वार्थ और आश्वस्त इच्छा के प्रयोग से एक अकेले आदमी का विचार एक राष्ट्र का विचार बन सकता है। एकमात्र शूर की इच्छा करोड़ों भीरुओं के हृदय में साहस फूंक सकती है।

हमें यही साधना चरितार्थ करनी है। हमारे उद्धार की यही शर्त है। हम अपूर्ण इच्छा का अपूर्ण श्रद्धा और अपूर्ण निःस्वार्थता के साथ उपयोग करते आये हैं। लेकिन हमारे आगे जो कार्य है वह पहाड़ को हिलाने से कम कठिन नहीं है।

जो शक्ति यह कर सकती है वह उपस्थित है, लेकिन वह हमारे अन्दर एक गुप्त कक्ष में छिपी है और उसकी चाबी भगवान् के हाथ में है। चलो हम उन्हें खोजें और उसकी मांग करें। —श्रीमां

राजनीति

बात सन् १९२५ की है। तब तक श्रीअरविन्द ने लोगों से मिलना-जुलना बन्द नहीं किया था। शाम के समय गिने-चुने लोग उन्हें घेरकर बैठ जाते और मनचाहे प्रश्न करते। उन्हीं दिनों किसी ने पूछ लिया कि आपके योग और राजनीति में ३६ का सम्बन्ध क्यों है? श्रीअरविन्द ने कहा, इस योग के साथ राजसिक क्रिया-कलाप का मेल नहीं बैठता। राजनीति पूरी तरह राजसिक है। हमारे योग के आधार में शान्ति और ज्ञान का होना ज़रूरी है, आदमी को किसी चीज़ के साथ बंधना नहीं चाहिये। उसके अन्दर एक गहराई होनी चाहिये जिसे कोई भी विचलित न कर सके। सच्चा मूल्यवान् काम उस गहराई में से, शान्ति, स्थिरता और ज्ञान के साथ ही हो सकता है। राजसिक क्रियाएं हमें हमेशा बाहर खींचती हैं।

कुछ अन्य क्षेत्रों की तरह राजनीति पर असुरों का पूरा-पूरा कब्ज़ा है। योग भगवान् का राज्य लाना चाहता है और यह बात असुरों को भली-भाँति मालूम है और वे अपनी पूरी शक्ति लगाकर इसके मार्ग में बाधा देते हैं। राजनीति को अपनाकर तो हम पूरी तरह असुर की मांद में जा पहुंचते हैं। आसुरी शक्तियां काम और क्रोध की ज्वालाओं को भड़काती हैं, दूसरी राजसिक वृत्तियों को जगाती हैं और उनका शिकार होकर साधक अपने साधना-पथ से भटक जाता है।

इस बात को सिद्ध करने के लिए हमें कहीं जाने की ज़रूरत नहीं है। देश का सारा वातावरण पुकार-पुकार कर इसके प्रमाण दे रहा है। श्रीअरविन्द हर देशवासी को राजनीति से दूर रहने का उपदेश नहीं देते, यह आदेश तो केवल उनके लिए है जो उनके मार्ग को, उनके

साधना-मार्ग को अपनाते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि साधक को अपने देश के लिए प्रेम नहीं होता। देश-प्रेम का ठेका केवल राजनीतिक लोगों ने ही नहीं ले रखा है। साधक एक ऐसी शक्ति को नीचे उतारने की कोशिश करता है जो केवल उसे ही नहीं, उसके देश को ही नहीं, सारे संसार को बदल सकती है।

—रवीन्द्र

‘ऋषिवर बोले’ :

कल्पना

आज हम लोग कविताएं पढ़ कर आए थे। दिमाग में कविताएं ही चक्कर काट रही थीं, इसलिए ऋषिवर के आते ही कालपुरुष ने पूछा, “आप कवियों के बारे में क्या कहते हैं? कवि तो अपनी कविताओं के साथ सदा आकाश में उड़ते रहते हैं, इन्हें ठोस पृथ्वी से क्या मतलब? अभी आपके आने से पहले हम लोग कविताएं पढ़ रहे थे। मुझे तो यह सब बकवास लगती है। मेरा बस चले तो सभी कल्पनाशील व्यक्तियों को देश निकाला दे दूं।”

कालपुरुष इतनी सारी बातें एक सांस में कह गया। अब जो देखा तो ऋषिवर उसकी ओर ताकते हुए मुस्कुरा रहे हैं। उन्होंने कहा, “क्यों, कालपुरुष, तुम्हारा भाषण समाप्त हो गया या अभी बाकी है?” उसने सिर नीचा कर लिया। जितेन्द्र उसकी सहायता के लिए आगे आया और बोला, “हां, ऋषिवर, यह कल्पना सचमुच आदमी को निष्क्रिय बना देती है। आदमी काम करने की जगह हवाई महल ही बनाता रहता है।”

ऋषिवर ने कहा, “अरे, मामला क्या है? आज तुम सब कल्पना के पीछे लट्ठ लेकर क्यों पड़ गये हो? चलो, आज हम कल्पना के बारे में ही बातचीत करेंगे। कल्पना सचमुच मन की एक शक्ति है। इसे आकार देना आता है। कल्पना कभी निराधार नहीं हुआ करती, क्योंकि हर कल्पना के पीछे मानसिक जगत् में एक-न-एक आकार अवश्य होता है। हमारी सभी कविताएं, कहानियां, उपन्यास मानसिक जगत् में अस्तित्व रखते हैं और हम में से हर एक, एक प्रकार का कहानीकार या उपन्यासकार होता है। हमारे जीवन का बहुत-सा भाग हमारी अच्छी या बुरी कल्पनाओं का मूर्त रूप होता है। इस बात का विशेष ध्यान रखो, जब कभी तुम बुरी कल्पनाएं करते हो, रोग, शोक, अनिष्ट, कलह आदि की कल्पनाएं करते हो तब तुम अपने हाथों अपने भविष्य के लिए कांटे बोते जाते है। भारतवर्ष में कोई भी काम करने से पहले मंगलाचार करने की प्रथा रही है। इसके पीछे एक विचार यह भी था कि आदमी एक शुभ मानसिक रचना तैयार कर ले जो उसे उस काम में मदद दे। इसी प्रकार एक अच्छा चिकित्सक अपने रोगी के दिमाग में यह विचार बिठा देता है कि वह अच्छा हो रहा है और रोगी सचमुच अच्छा होने लगता है। कूए नामक एक प्रसिद्ध चिकित्सक तो यही मन्त्र दिया करते थे। वे हर रोगी से यह दोहराने के लिए कहते थे कि ‘मैं हर रोज, हर तरह ज्यादा से ज्यादा अच्छा होता जा रहा हूं,’ और साथ में यही कल्पना करने को कहते थे। इस तरह से उन्होंने हज़ारों रोगियों को ठीक किया। एक स्त्री के बाल झड़ते जा रहे थे। कूए के कहने से उसने यह कल्पना करनी शुरू कर दी कि

मई २००६

पुरोधा

उसके बाल दिन-प्रतिदिन बढ़ रहे हैं और सचमुच कुछ समय बाद उसके बाल बहुत घने और लम्बे हो गये।

“किसी भी महान् कार्य के लिए कल्पना ज़रूरी होती है। मैं तो कहूँगा कि भगवान् को पाना हो तो उसमें भी कल्पना सहायक होती है। तुम यह कल्पना करो कि तुम भगवान् के यन्त्र हो और भगवान् तुम्हारे अन्दर सक्रिय रूप से काम कर रहे हैं। निराश होने और व्यर्थ के अवसाद का शिकार होने की अपेक्षा कल्पना की ऊँची उड़ाने भरना ज़्यादा उपयोगी हो सकता है।”

कमल ने पूछा, “ऋषिवर, क्या कल्पना हमेशा अच्छी ही होती है? क्या उससे हमें हानि नहीं हो सकती?”

ऋषिवर बोले, “मैं अभी इस बात पर आने ही वाला था। कल्पना तेज़ धारवाली तलवार की तरह है। यह अपने-आप में एक हथियार है। इसका अच्छा या बुरा होना उपयोग करने वाले पर निर्भर करता है। हर एक बड़ी खोज के पीछे एक ज़बर्दस्त कल्पना होती है। अणु-बम के पीछे भी एक कल्पना थी। मनुष्य चाहे तो उसका उपयोग अच्छे कामों के लिए कर सकता है।

“देखो, तुम्हारा दिमाग खाली तो बैठने से रहा, कुछ-न-कुछ करना तो उसका स्वभाव है, इसलिए ज़्यादा अच्छा है कि अच्छी कल्पनाएं करो। अपने उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न लो, भगवान् के निकट पहुंचने के स्वप्न लो, उनकी विजय के स्वप्न लो, अपने अन्दर और दुनिया-भर में उनकी विजय के स्वप्न लो।”

हम सबने देखा चौबे कुछ कहने के लिए व्याकुल हो रहा है। ऋषिवर ने इशारे से पूछा, क्या है?

बस फिर क्या था, उसने कहना शुरू किया, “मेरी नानी ने एक कहानी सुनाई थी। आप को आशा हो तो इन सबको सुना दूं।”

ऋषिवर ने कहा, “अच्छा चलो, सुनें तुम्हारी कहानी।”

चौबे बोला, “नानी कहती थीं कि एक मुसलमान बहुत गरीब था। वह हर रोज़ भगवान् से प्रार्थना करता था, ‘हे भगवान्, मेरा गडुवा सोने का कर दो।’ वह हर रोज़ यही कल्पना करता था कि उसका गडुवा धीरे-धीरे सोने का हो रहा है।

“एक दिन हार कर उसने कहा, ‘या अल्लाह, मेरा पीतल का गडुवा सोने में बदलना तेरे लिए मुश्किल न था, लेकिन तूने नहीं बदला। चल, अब मिट्टी का बना दे,’ और, और गडुवा मिट्टी का हो गया!!”

ऋषिवर हंस पड़े और बोले, “हां, सावधान! बुरी बातें मत सोचना कभी। चलो, आज के लिए काफ़ी है।”

कृतज्ञता है भगवान् से प्राप्त कृपा की प्रेमसहित स्वीकृति।

तुम्हारे लिए भगवान् ने जो कुछ किया है और कर रहे हैं उसका विनम्र स्वीकरण।

भगवान् के प्रति कृतज्ञता का सहज भाव, जो तुम्हें भगवान् तुम्हारे लिए जो कुछ कर रहे हैं उसके कम अयोग्य बनने के लिए अपना अच्छे-से-अच्छा करने के लिए प्रेरित करता है

—श्रीमां

Central Library

Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

‘नयी कॉपलें’ :

विपथगामी

भारत की पिछली कुछ शताब्दियों के इतिहास में हमारे पिछड़ते हुए संस्कार, भुलाई जाती हुई संस्कृति एवं अधिकांशतः भूली हुई संस्कृत भाषा के बारे में जानकर मन को ठेस पहुंचती है। हम इतनी आसानी से अपने देश की आध्यात्मिक उपलब्धियों के बल पर अपनी शान टिकाते हैं लेकिन क्या हमने आज तक इन उपलब्धियों का सदुपयोग किया है?

जिस राष्ट्र की संस्कृति की नींव में चार-चार वेद जड़े हों, जिसमें रहनेवालों का सत्य की ओर पथ-प्रदर्शन करने के लिए बहुमूल्य वेदान्त और उपनिषद् सदा प्रेरक रहे हों, न केवल यह बल्कि जिसके सनातन धर्म की रक्षा के लिए स्वयं श्रीहरि अवतरित हुए हों, जैसा कि गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने हमारी व्यर्थ चिन्ताओं का निवारण करते हुए हमें आश्वासन दिया है :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

वही देश अपने प्रोज्ज्वलित भूत द्वारा दिये गये सुनहरे भविष्य का दुरुपयोग करके आज ऐसा ग्रहण देख रहा है! कलियुग का प्रकोप हमारी मतिभ्रष्ट कर चुका है। हम अपने विचारों में खोखले हो गये हैं। पाश्चात्य जगत् के तरल और सतह पर रहने वाले विचार हमारे दिलोदिमाग पर छा गये हैं। हम स्वयं को भुलाते जा रहे हैं। हम अपने लक्ष्य, अपने मार्ग, अपनी गति से भटक गये हैं। जिस धर्म से हमें मुक्तचिन्तन की स्वतन्त्रता मिली उसका हमने पाश्चात्य जगत् की विचारमंदिरा में रम कर न केवल दुरुपयोग किया, बल्कि उसी सनातन धर्म को हमने इस नशे में धार्मिक विप्लव के नाम से कलुषित, दूषित और अपभ्रंशित भी किया। तरह-तरह के अमानवीय रीति-रिवाजों को इस धर्म का हिस्सा करार दिया। स्त्री जो पुरुष के जैसे किसी उच्च व दुर्लभ लक्ष्य को चुनने की समान अधिकारिणी व सक्षम है, उसे उसने निम्न कोटि का, अपवित्र व दुर्गति का प्रतीक माना। भगवान् ने हमें मनुष्य की यह योनि प्रदान की और हमने इस प्राप्ति के अहं में अन्य मनुष्यों को अपने से नीचा दर्जा देते हुए उनके साथ दुर्व्यवहार एवं दुराचार किया और यह सब हमने किया धर्म की ओट में। भगवान् ने हमें क्या नहीं दिया, लेकिन आज यही है हमारी स्थिति।

हो सकता है, हमारे आचरण को देख भगवान् सोच रहे हों, “शायद मैंने ज़रा जल्दी कर दी। मैंने इन्हें मनुष्य से भी ऊपर उठाना चाहा किन्तु ये तो अभी मनुष्य भी नहीं बने हैं।” आपका क्या विचार है?

—प्राञ्जल गर्ग

‘गैर्वाणी’

कथा स्व
लघु-कथा
अज्ञातः।

लन्द

मनोनुकु

मध्ये मध

अत्य

कृते स्थान

प्रथमम् अ

क्रीत्वा उ

नेत्राभ्यां

तथापि स

सुबह

हर तरफ अंधेरा ही अंधेरा था
जैसे किसी ने संसार का दीया
खेल-खेल में बुझा दिया।
दूर कुछ सुनायी दे रहा था
शलभ शायद अंधेरे से
टकरा रहा था।
उजाले में जाना था शायद उसे
रास्ता नहीं मिल रहा था।
निकट ही सागर की सांसें सुनायी दे रही थीं,
जैसे धरती का विशाल उर
अब लहरा रहा था।
और अचानक कोई अनजान, अनदेखा हाथ
सोते संसार पर से रात की चादर
धीरे-धीरे सरकाने लगा।

—दिव्या टी. एस.

'गैर्वाणी' :

दृष्टि:

कथा स्वदेशीया स्यात् विदेशीया वा, हृत्तन्त्रीं स्पृशेत् चेत् सार्वजनीना जायते। एतादृशी एव काचित् लघु-कथा अत्र, यस्यां वर्तते कश्चित् सरलः, प्रेममयः सन्देशः। अस्याः सत्यकथायाः लेखकः अज्ञातः।

लन्दनस्य सुखदं प्रभातम्। आकाशे न घनमेघानां कम्बलः न वा हङ्कम्पनः तीव्रवायुः। ऋतुः मनोनुकूलः। आनने आनने स्वाभाविकी प्रसन्नता दृश्यमाना। सर्वमेव मधुरम्। सार्वजनिकं सर्वयानं मध्ये मध्ये विरमत् जनानाम् आरोहावरोहसहितं गन्तव्यं प्रति धावति।

अत्याकर्षिका सुन्दरी युवती यष्टिं सावधानं निदधती सर्वयानमारूढा। जनाः अनायासं तस्याः कृते स्थानमकुर्वन्। सर्वयान-चालकः तामभ्यनन्दत्—“सुदिनम् आर्ये! सर्वं खलु कुशलम्? दक्षिणपार्श्वे प्रथमम् आसनं रिक्तं वर्तते।” शिरः-सञ्चालनेन स्वीकृतिं दर्शयित्वा सापि अभिवादनपूर्वकं सर्वयानमुद्रां क्रीत्वा अतीव शान्तभावेन उपाविशत्। यष्टिं सा पादयोः मध्ये धृत्वा वातायनात् बहिर् काभ्यां नेत्राभ्यां दृश्यमपश्यत् ईश्वरः एव जानीयात्। तस्याः भौतिकचक्षुषोः अन्धकारपटः पतितः आसीत् तथापि स्वस्य हावभावैः सा आत्मस्था, आत्मसन्तुष्टा दृश्यते स्म।

वर्षात् पूर्वमेघा एव युवती आत्मानं संसारस्य दुःखिततमां नारीम् अमन्यत यदा चिकित्सकानाम् असावधानतया त्रिंशत् वर्षीयायाः अस्याः नेत्रज्योतिः विलुप्तम्। तस्याः जीवनं पूर्णतया भग्नम्। एकस्यामेव रात्रौ ईश्वरे तस्याः आस्था नष्टा। यं प्रभुं सा दिवारात्रि अपूजयत्, हृदि सर्वदैव न्यदधात्, सः एव तां जीवनस्य सुन्दरतमं वङ्कम् आनीय निर्ममतया अन्धकूपे अपातयत् येन सा आजीवनं प्रकाशस्य कणमात्रमपि प्राप्तुं न शक्यति!!

अस्याः दुर्घटनायाः प्राक् सुज्ञान् आत्मानं संसारस्य भाग्यशालितमां युवतीम् अमन्यत। विधाता सर्वान् आह्लादान् तस्याः जीवने अवर्षत्—पत्युः असीमप्रेम, कर्मक्षेत्रे षाण्मासिकी पदोन्नतिः, यौवनस्य उत्साहोन्मादौ, सर्वोपरि च अनुपमं रूपम्। विशालाक्षी सा सर्वदा जनानां दृष्टिकेन्द्रमभूत्। निजलावण्येन गर्विता सा तस्मै ईश्वराय अपि गर्विता यः तस्याः जीवनस्य सर्वविधसाफल्यस्य कारणम्। किन्तु अद्य... ते एव द्वे नेत्रे तस्याः कृते अभिशापः जाते सः ईश्वरश्च क्रूरः।

तस्याः जीवनम् अश्रुसागरे निमग्नम्। “किमर्थं मम जीवने एतत् घटितम्?” सा दिवान्तं दुर्विधं व्यलपत् किन्तु ईश्वरः कर्णमेव नाददात्। जीवनं भयङ्करः दुःस्वप्नः जातः।

कालः न विरमति कस्यापि अर्थे। मासाः विगताः। तस्याः भग्नं जीवनं कठोरविषममार्गे दुःखेन असरत्। तस्याः एकमात्रः आश्रयः अवर्तत पतिः मार्क् यस्य स्कन्धे मस्तकं निधाय सा निज-दुःखभारम् अल्पमकरोत्। पत्न्याः जीवने अनया आकस्मिक-दुर्घटनया पत्युः जीवनेऽपि अन्धकारः व्याप्तः। सोऽपि जीवनतटं द्रष्टुं नैव अपारयत् किन्तु आसीत् सः सैनिकः तस्मात् दृढनिश्चयं कृतवान् यत् जीवनसङ्ग्रामे निरन्तरं पत्न्या सह स्थित्वा शनैः शनैः तां स्वावलम्बनं शिक्षयिष्यति एव। सेनायां स्थित्वा कतिविधानि युद्धानि कृतानि तेन किन्तु सम्प्रति जीवनस्य कठिनतमं युद्धं योद्धव्यम्। सः बद्धपरिकरः।

तस्मिन् सायङ्कालेऽपि मार्क् यथानित्यं पत्नीं बहुविधम् असान्त्वयत्, तया सह आलपत्। तदा तस्य वार्तालापस्य लक्ष्यं भिन्नमवर्तत। अतीव-सावधानं सः मुख्यचर्चाभारभूत—“सुज्ञान्, प्रतिज्ञां कुरु यत् आवां जीवने कदापि पराजयं नैव स्वीकरिष्यावः” सुज्ञान् शब्दमपि न उदचारयत्। सः तस्याः हस्तौ धृत्वा पुनरपि अयाचत—“प्रिये! इच्छाम्यहं यत् पूर्ववत् सामान्यजीवनधारां प्रविशेव आवाम्। पुनरपि निजकार्ये संलग्नौ भवेव, द्रक्ष्यसि यत्...”

प्रकुपिता सुज्ञान् तत्कालं पत्युः हस्तौ विधूय दूरं गता आक्रोशत् च—“अचिरमेव तवार्थं भारः भविष्यामि इति सम्यक् जानामि...” इतोऽधिकं शब्दाः तस्याः क्रन्दनहिवकासु सङ्ग्रथिताः।

प्रस्तुतः आसीत् मार्क् पत्न्याः एतादृश्ये उग्रप्रतिक्रियायै। सम्यग् अजानात् सः यत् अस्मिन् प्रसङ्गे उत्थितमात्रे एव विस्फोटः भविष्यति। मार्क् तां बाहुपाशे समाहरत्। जीवनसङ्ग्रामे न कदापि पराजयः स्वीकर्तव्यः इति बहुकालं बहुविधं च ताम् अबोधयत्। तयापि जीवने सम्प्रति वीरसैनिकवत् आचरणीयम् इति नानाप्रकारैः बोधयित्वा तस्याम् उत्साहमपूरयत्। परिणामतः मासेभ्यः परं पत्न्याः आनने लघुः स्मितकिरणः प्रस्फुटितः। प्रसन्नतया विह्वलः मार्क्।

आगामि-प्रभातादेव प्रकाशप्रवेशनाय बहुकालाद् अवरुद्धानि तस्य गृहस्य वातायनानि उद्घाटितानि। अमङ्गलस्य छायाः क्रमशः विलीयन्ते स्म। नूतनजीवनमार्गे तयोः एषः प्रारम्भिक-उपक्रमः इति जानन्नपि मार्क् अस्य साहसिकाभियानस्य शुभारम्भ-मात्रेण आनन्दितः। पुरातनकार्यालये सुज्ञान् कार्यं प्राप्नोत्। सहृदयः प्रबन्धकः कार्यार्थं तस्याः सहायकमपि अददात्। दुर्घटनायाः पूर्वं सुज्ञान् सार्वजनिकसर्वयानेन कार्यालयमेकला एव अगच्छत्। एतदधुना असम्भवमासीत्।

Central Library

Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.P.)

मई २००६

तस्मात् मार्क ऋणमादाय पुरातनमेकं वहित्रमक्रीणात्। प्रथमं सप्ताहं सः तया सहैव आसायं कार्यालये उपाविशत्। काले काले निकषोपले पत्युः अपि परीक्षा भवति स्म...। या सुज्ञान् न कदापि कस्यापि सहायताग्रहणाय प्रस्तुता सा एव अद्य विवशा, असहाया सर्वेषां दयापात्रं जाता इति तथ्येन विषण्णः मार्क बहुशः तूष्णीकः अक्रन्दत्।

सुज्ञान्! किमधुना अहमपि निजकार्यार्थं गच्छेयम्? त्वां कार्यालये विहाय पुनरागत्य त्वां गृहं नेष्यामि इति पत्युः प्रस्तावं कठिनतया स्वीकृतवती सा।

आगामिप्रभाते भयभीता सुज्ञान् पत्युः हस्तं धृत्वा वहित्रे उपाविशत्। कार्यालयं प्राप्य सह प्रतिगमनस्य मूकसन्देशमशृणोत् मार्क किन्तु क्रमशः तां स्वावलम्बनं शिक्षयितुं दृढनिश्चयी सः सप्रेम अगदत्—“सुज्ञान्! मा भैषीः कथमपि। अत्र सर्वे तव परिचिताः आत्मीयाः एव। सायमहं समयेन प्राप्स्यामि।”

पत्याः आर्द्रनेत्रे पतिं क्षणं व्यरामयतां किन्तु सः निज-अश्रूणि संयम्य ततो निर्गतः।

प्रत्येकं सायं सुज्ञान् पतिं दिनस्य मधुरकटुवृत्तान्तान् अश्रावयत्, कदाचिद् आत्मनि अहसदपि। मार्क च पत्याः दिनानुदिनं मन्दप्रगत्या भृशं प्रसन्नः, किन्तु अजानात् सः यदधुनापि जीवनपथे बहूनि कष्टानि सोढव्यानि। सम्प्रति धनस्य महती समस्या उद्भूता। प्रतिदिनं वहित्रेण पत्नीं कार्यालये प्रापय्य ततश्च नगरं पारयित्वा निजकार्यार्थं गमनं सायञ्च पुनरपि तथैव निवर्तनम्—एतत् सर्वम् अतिव्ययकरम् अजायत। किन्तु कथं कथयेत् मार्क तां यत् त्वं पूर्ववत् सार्वजनिकसर्वयानेन यात्रां कुरु!

ईश्वरः अत्रापि तस्य सहायकः अभूत्। सर्वयानेन कार्यालयगमनस्य प्रस्तावं सुज्ञान् एव अकरोत् किन्तु समयः आसीत् यत् पतिरपि तया सह आगमिष्यति।

आगामिदिनात् प्रतिप्रभातं मार्क भार्यां सर्वयानेन कार्यालयं प्रापय्य ततः अन्यत् सर्वयानं धृत्वा सार्धैकहोरां यात्रां सम्पाद्य निजकार्यालयं प्राप्नोत्। एतत् सर्वमपि तस्य अर्थे महार्घं श्रमसाध्यं च आसीत्। ईश्वरे च भार्यायां चापि तस्य दृढास्था आसीत् यत् अन्ततः सा अवश्यं पूर्ववत् एकला सर्वयानेन गन्तुं समर्था भविष्यति एव। दुर्घटनायाः पूर्वं या सर्वदा प्रत्येकं कृच्छ्रम् आह्वानमिव स्वीकृतवती, हस्तगतं प्रत्येकं कार्यं सम्पाद्यैव निश्चिन्तमनाः अभवत् तां पूर्ववत् साहसिनीं स्वावलम्बिनीं च कर्तुं दृढमतिः मार्क।

मासात् परं शनिवारे सायं स्वयं सुज्ञान् मन्दवाण्या पतिमकथयत्—“मार्क! आगामि-सप्ताहादहम् एकला एव सर्वयानेन गन्तुमिच्छुका। तव साह्येन दिनानुदिनम् आत्मानमहं बलवत्तरम् अनुभवामि।”

मार्क मासान् प्रतीक्षामकरोत् अस्य दिनस्य। पत्याः मस्तकं चुम्बित्वा अभणत् सः—“सुज्ञान्! अद्य त्वया मह्यं जीवनस्य सुन्दरतमः उपहारः दत्तः।

सोमवारस्य प्रभातम्। एकला सर्वयानम् आरोहन्ती सुज्ञान् पत्युः हस्तं धृत्वा अवदत्—“निश्चिन्त-मनाः कार्यार्थं गच्छ मार्क, सायं मेलिष्यावः आवाम्।” प्रथमं वारं द्वावपि भिन्नदिशां गतौ।

सोमवारः, मङ्गलवारः, बुधवारः... सप्ताहः व्यतीतः। सुज्ञान् एकला एव गमनागमनमकरोत्। अभूतपूर्वं सुखं प्राप्नोत् सा।

सप्ताहात् परं सोमवारे कार्यालयाय अवतरितुम् उद्यतायाः तस्याः हस्तं मन्दं स्पृष्ट्वा सर्वयानचालकः अवदत्—“आर्ये! सत्यमेव भृशं भाग्यशालिनी भवती।” सुज्ञान् न किमपि अबोधत्। किम् एषः चालकः मम अन्धतां प्रशंसति? आश्चर्यान्विता अपृच्छत् सा—“भ्रातः! मां किमपि अवदः त्वम्?”

“आम् आर्ये ! भवतीमेव अकथयम् । सप्ताहात् मे नियुक्तिः अस्मिन् सर्वयाने वर्तते । भवती तु न द्रष्टुं शक्नोति किन्तु अहं प्रतिदिनं पश्यामि यत् सैन्यवेशः कश्चित् सुदर्शनः युवकः अत्र मार्गं कोणे तिष्ठति यावच्च भवती सर्वयानाद् अवतीर्य निजकार्यालयं न प्रविशति सः निरन्तरं भवतीमेव अवलोकयति । भवत्यां प्रविष्टायामेव सः हस्तेन वायुना चुम्बनं सम्प्रेष्य सैन्योचितं च प्रणामं निवेद्य निजमार्गम् अनुसरति ।”

तस्याः आनन्दाश्रूणि प्रावहन् । सः सुदर्शनः युवकः मे पतिः भ्रातः, इति गदन्ती सा सर्वयानाद् अवतीर्य तूष्णीका परिसन्तुष्टा च कार्यालयं प्रति अगच्छत् ।

सायङ्काले मार्क् पत्न्याः आचरणे विशेषपरिवर्तनम् अलक्षयत् । सा सर्वथा पूर्ववत् प्रसन्ना । सत्यमेव सा प्रसन्नता तस्याः हृदयम् आप्लवयति स्म । अन्धतायाः ईषदपि दुःखं नावर्तत तस्याः सम्प्रति । पतिं भौतिकचक्षुर्भ्यां द्रष्टुं न अपारयत् किन्तु परम-सौभाग्यशालिनी आसीत् सा । दृष्टि-विहीनायै तस्यै भर्ता सत्यप्रेम्णः तादृशममूल्योपहारं प्रायच्छत् येन तस्याः घोरान्धकारमयं जीवनम् आन्तरिकप्रकाशेन प्रोद्भासितम् ।

दम्पती तूष्णीकौ प्रेमानन्दयोः अश्रूणि अमुञ्चताम् । मार्क् पत्न्याः हस्तम् उरसि निपीड्य अवदत् —“सुजान् ! निज-जीवनस्य कठिनतमपरीक्षा त्वया पूर्णतया उत्तीर्णा । आभ्यन्तरं प्रकाशं प्राप्य अधुना त्वं जीवने स्वावलम्बितायाः अर्थे भौतिकनेत्रयोः अभावेन कदापि त्रस्ता न भविष्यसि ।”

“न हि मार्क् ! नैतत् सत्यम् । जीवनपरीक्षा तु त्वया शतं प्रतिशतम् उत्तीर्णा । सततं कठोरपरिश्रमेण आन्तरप्रकाशस्य अपूर्वोपहारः तु त्वया मह्यं प्रदत्तः । वस्तुतः विजयमुकुटं तवैव मूर्ध्नि सुशोभते ।” —गद्गदहृदया सुजान् ।

अनायासं मार्क् दिविष्टं प्रभुं विलोक्य बद्धकरः न्यवेदयत्—“हे सर्वपालक ! विजयी तु वस्तुतः त्वम् । नैवम् ? कष्टापन्नाः वयं कदाचिद् विस्मरेम त्वां किन्तु त्वं तु दिवानक्तम् अस्मासु सर्वासु स्नेहाभिषिक्तं दृष्टिपातं निर्निमेषं करोषि एव ।

दृष्टि

कहानी स्वदेशी हो या विदेशी, दिल के तारों को छू जाये तो बस सबकी बन जाती है। ऐसी ही एक छोटी-सी, अपने हृदय में सुन्दर सन्देश संजोये, प्रेम से भरपूर यह कहानी हाथ आ गयी। इसके लेखक अज्ञात हैं, लेकिन कहानी सच के पायों पर खड़ी है।

लन्दन की सुहानी सुबह। न आकाश बादलों के कम्बल से ढका था न चुभनेवाली तेज़ हवा बह रही थी। मनभावन मौसम की वजह से सभी के चेहरों पर प्रफुल्लता की कूची फिर गयी थी। सब कुछ कितना मीठा-मीठा-सा लग रहा था। सार्वजनिक बस बीच-बीच में रुकती, लोगों को उतारती-चढ़ाती अपने गन्तव्य की ओर बढ़ी जा रही थी।

वह बेहद सुन्दर, आकर्षक युवती छड़ी को टटोल-टटोल कर रखती हुई, सावधानी के साथ बस की सीढ़ियों पर चढ़ी। लोगों ने अनायास रास्ता बना दिया। बस-ड्राइवर ने उसे देखते ही मुस्कुरा कर अभिवादन किया—“गुड मॉर्निंग मैम, कैसी हैं आप ? बायें हाथ की पहली सीट आपके लिए खाली है।” वह युवती भी सिर हिला कर मुस्कुराने लगी। ड्राइवर को शुक्रिया अदा

मई २००६

पुरोध

नवती तु
त्र मां
वतीमेव
निवेद्य

व्यानाद्

प्रसन्ना!

तस्याः

दृष्टि-

जीवनम्

अवदत्

अधुना

रिश्रमेण

भते।"

वस्तुतः

सर्वासु

। ऐसी

गयी।

ज हवा

र गयी

लोगों

क साथ

ब्रते ही

नी सीट

अदा

कर उसे पैसे दे अपना टिकट खरीदा और बड़ी शान्ति के साथ अपनी सीट पर आ बैठी। छड़ी उसने अपने पैरों के बीच टिका ली और खिड़की के बाहर मुंह करके पता नहीं किन आंखों से बाहर का नज़ारा देखने लगी क्योंकि उसकी भौतिक आंखों पर तो अन्धकार का पर्दा पड़ा हुआ था। उसके हाव-भाव से लग रहा था कि वह अपने-आपमें खुश है।

लेकिन... क्या साल भर पहले वह अपने-आपको संसार की सबसे दुखियारी युवती न मान बैठी थी जब चिकित्सकों की असावधानी की वजह से ३० साल की सुज़ान अपनी दोनों आंखों की रौशनी गंवा बैठी थी। और तब सुज़ान की ज़िन्दगी चकनाचूर होकर पूरी तरह से बिखर गयी थी। रातों रात भगवान् पर से उसका विश्वास उठ गया था। जिस प्रभु की सुबह-शाम पूजा में वह कभी नागा नहीं करती थी, जिन्हें अपने हृदय में हमेशा थामे रखती थी उसी ईश्वर ने उसको ज़िन्दगी के सबसे सुन्दर मोड़ पर लाकर इतनी निर्ममता से सीधा अन्धे कुएं में धकेल दिया जहां ज़िन्दगी भर वह रौशनी का एक क़तरा तक न पा सकेगी!

इस हादसे के पहले सुज़ान अपने-आपको दुनिया की सबसे भाग्यशाली युवती समझती थी। हर खुशी समेटकर उसकी झोली में विधाता ने डाल दी थी—पति का प्रेम, काम-काज में हर छह महीने में पदोन्नति, जवानी का जोश, तिस पर सुन्दरता की मूर्ति सुज़ान पर जिसकी नज़र पड़ जाती वह पलट कर उसे देखना न भूलता। और उसकी वे हिरण जैसी बड़ी-बड़ी आंखें, मानों विधाता ने मासूमियत के साथ सुन्दरता कूट-कूट कर भर दी हो। सुज़ान को घमण्ड था अपनी ज़िन्दगी पर और वह गर्व करती थी उस ईश्वर पर जिसने उसकी ज़िन्दगी को हर तरह से सफल बना दिया था। लेकिन आज... वे ही दो आंखें उसके लिए अभिशाप बन गयी थीं और वह ईश्वर क्रूर पात्र!

सुज़ान की ज़िन्दगी आंसुओं के सैलाब में डूब गयी। "यह सब मेरे साथ ही क्यों होना था?" बार-बार वह चीत्कार कर उठती, लेकिन उस ऊपरवाले ने मानों उसकी तरफ से कान ही मूंद लिये थे। उसके लिए दिन-रात में कोई फ़र्क न रह गया था, सब कुछ बस भयावह दुस्वप्न बन गया था।

महीने बीत गये। समय किसी के लिए नहीं थमता, सुज़ान की भी पछाड़ खायी हुई ज़िन्दगी धिसट रही थी। बस एक ही कन्धा था जिस पर सुबक कर अपने दिल को कुछ हल्का करने की वह कोशिश करती, वह था उसका पति मार्क। पत्नी के जीवन के साथ अचानक हुए इस हादसे के कारण मार्क की आंखों के आगे भी अंधेरा छा गया था। पहले कुछ हफ़्तों तक उसे भी दूर-दूर तक जीवन का कोई किनारा नज़र नहीं आ रहा था, लेकिन फिर सेना के उस जवान ने अपनी हिम्मत बटोरी और फैसला कर लिया कि वह अपनी पत्नी को नये सिरे से ज़िन्दगी जोना सिखा कर रहेगा। सेना में न जाने कितनी ही बार उसे कैसी-कैसी भयंकर परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था, लेकिन मार्क अच्छी तरह समझता था कि ज़िन्दगी की सबसे कठिन लड़ाई उसे अब लड़नी पड़ेगी। उसने कमर कस ली।

मार्क ने उस रोज़ भी सुज़ान के साथ बैठकर शाम को न जाने कितनी बातें कीं। लेकिन आज उसकी बातों का मक़सद कुछ और था। बहुत ही संभल कर वह असली मुद्दे पर आया, "सुज़ान, वादा करो, हम कभी ज़िन्दगी से हार नहीं मानेंगे।" सुज़ान एक शब्द न बोली। मार्क ने उसके हाथ अपने हाथों में लेते हुए कहा—मैं चाहता हूं सुज़ान कि हम अपनी ज़िन्दगी पहले

की तरह बितायें, हम दोनों पहले की तरह काम करें, देखना..."

गुस्से में भरी सुज्ञान दूर छिटक कर चीख उठी—"मुझे पता था, मैं तुम्हारे लिए भार बन चुकी हूँ..." इसके आगे के शब्द उसकी हिचकियों में इलझ गये।

मार्क पत्नी के इस बिखराव के लिए तैयार था क्योंकि वह अच्छी तरह जानता था कि पहली दफ़ा यह ज़िक्क छिड़ने पर वह ज़रूर अपना आपा खो बैठेगी। मार्क ने उसे समेटा। देर रात तक वह पत्नी को ज़िन्दगी से कभी हार न मानने का पाठ पढ़ाता रहा। यह समझा कर जोश भरता रहा कि जीवन-संग्राम में उसे भी अब वीर सेनानी की भूमिका अदा करनी है। फल यह निकला कि महीनों बाद पति ने पत्नी के होठों पर मुस्कान की एक किरण देखी। वह निहाल हो गया।

अगली ही सुबह से उस मातमी घर से मनहूसियत की छाया हटने लगी। पहले की तरह रौशनी के लिए घर की सारी खिड़कियां खुल गयीं। हालांकि मार्क जानता था कि नये जीवन की डगर पर उन दोनों का यह पहला क़दम है, लेकिन पग उठाने के उस साहसिक अभियान में वह सफल हो गया, यह खुशी उसके दिल से उफनी जा रही थी।

सुज्ञान की कम्पनी ने उसे उसके पुराने काम पर रख लिया, साथ में उसे एक सहायक दे दिया। दुर्घटना से पहले सुज्ञान सार्वजनिक बस पकड़ कर काम पर जाया करती थी, लेकिन अब उसका अकेले बस में सफ़र करना नामुमकिन था इसलिए मार्क ने उधार लेकर एक पुरानी मोटर खरीदी। पहले हफ़्ते वह पत्नी के साथ ही सुबह से शाम तक उसके दफ़्तर में ही बैठा। अब पग-पग पर मार्क की ज़िन्दगी भी कसौटी पर कसी जा रही थी। कभी किसी से कोई सहायता न लेनेवाली युवती आज कितनी असहाय हो गयी है यह देखकर दफ़्तर के सभी कर्मचारी उस पर रह-रह कर तरस खाते और मार्क को यह बर्दाश्त न होता। एक हफ़्ते बाद उसने पत्नी को मना लिया कि वह उसे दफ़्तर छोड़कर खुद भी अपने काम के लिए चला जायेगा और शाम को उसे लेता हुआ घर आ जायेगा।

अगली सुबह सहमी-सहमी सुज्ञान सारे रास्ते मार्क का हाथ पकड़े बैठी रही। दफ़्तर पहुंच कर मार्क ने साथ चलने का सुज्ञान का मूक सन्देश सुना ज़रूर, लेकिन वह पत्नी को धीरे-धीरे स्वावलम्बी होना सिखा रहा था। उसका हाथ थामकर धीरे से बोला, "चिन्ता न करो सुज्ञान, यहां सब तुम्हारे अपने हैं। मैं शाम को ठीक समय पर तुम्हें लेने आ जाऊंगा।"

सुज्ञान की भीगी पलकों ने पल भर के लिए मार्क को ठिठका दिया, लेकिन वह अपने आंसू पोंछता हुआ गाड़ी में जा बैठा।

रोज़ शाम सुज्ञान पति को अपने खट्टे-मीठे अनुभव सुनाया करती। अब वह कभी-कभी अपने ऊपर हंस भी लेती और मार्क खूब खुश होता। लेकिन उसे पता था कि रास्ते में क़दम-क़दम पर उसे पत्नी के साथ ज़िन्दगी से लोहा लेते ही रहना होगा। अब समस्या खड़ी हो गयी पैसों की। वे अमीर तो थे नहीं, रोज गाड़ी से सुज्ञान को दफ़्तर छोड़ना फिर शहर के दूसरे छोर पर अपने कार्यालय पहुंचना, शाम को फिर उसी तरह इतना रास्ता तय करके घर पहुंचना—यह सारा आना-जाना बहुत महंगा पड़ रहा था, लेकिन वह पत्नी से कहे भी तो कैसे कि वह फिर से सार्वजनिक बस में आना-जाना शुरू कर दे।

यहां ईश्वर ने मार्क की फिर मदद की। बस में दफ़्तर जाने का विचार खुद सुज्ञान ने सामने

मई २००६

रखा, लेकिन शर्त थी कि मार्क उसके साथ-साथ बस में आयेगा।

अब हर सुबह मार्क पत्नी को उसके दफ्तर के दरवाजे तक छोड़ कर दूसरी बस से डेढ़ घण्टे का सफ़र तय करके अपने कार्यालय पहुंचता। हालांकि यह भी मार्क के लिए महंगा और बहुत थकाने वाला सिलसिला था लेकिन उसे भगवान् के साथ-साथ अपनी पत्नी पर पूरा भरोसा था कि एक दिन वह पहले की तरह अकेले ही बस में जाने के काबिल जरूर हो जायेगी, क्योंकि वह इस हादसे के पहले की उस सुज़ान को अच्छी तरह जानता था जो किसी भी चुनौती से पीछे नहीं हटती थी, काम को अंजाम देकर ही रहती थी। बस मार्क धीरे-धीरे उसके दबे हुए उसी साहस और स्वावलम्बन को सामने लाने में उसकी मदद कर रहा था।

और आखिरकार महीने भर बाद शनिवार की एक शाम सुज़ान ने धीरे से कहा—“मार्क, अगले हफ्ते से मैं अकेले ही बस में दफ्तर जाना चाहूंगी। तुमने मेरे अन्दर इतनी हिम्मत जुटा दी है कि धीरे-धीरे मैं अपने-आप को ताकतवर महसूस कर रही हूं।”

महीनों से मार्क को इसी रोज़ का इन्तज़ार था। उसने पत्नी का माथा चूमते हुए कहा—“सुज़ान, आज तुमने मुझे सबसे सुन्दर उपहार दिया।”

सोमवार की सुबह! बस में सवार होने से पहले सुज़ान ने अपने पति का हाथ थामते हुए कहा—“चिन्ता बिलकुल नहीं करना मार्क। अब हम शाम को मिलेंगे।” पहली बार दोनों अलग-अलग दिशा में गये।

सोम, मंगल, बुध, हफ्ता बीत गया, सुज़ान अकेली जाने लगी और उसने इतना सुख पहले कभी नहीं पाया।

अगले हफ्ते सोमवार की सुबह जब सुज़ान दफ्तर के लिए बस से उतरने को तैयार हुई कि ड्राइवर ने हल्के से उसका हाथ छूते हुए कहा—“मैम, आप सचमुच बहुत भाग्यशाली हैं।” सुज़ान कुछ समझी नहीं। क्या यह ड्राइवर मुझ अन्धी के भाग्य की सराहना कर रहा है! वह मन ही मन बुदबुदायी। आश्चर्यचकित हो वह पूछ बैठी, “क्या तुमने मुझसे कुछ कहा भाई?”

“जी, आप ही से कहा। कितनी सौभाग्यशाली हैं आप। हफ्ते भर से मेरी इस बस में ‘छूटी’ लगी है, आप तो नहीं देख पातीं, लेकिन मैं रोज़ देखता हूं कि मिलिटरी वेशभूषा पहने एक सुन्दर युवक यहां इस कोने में खड़ा रहता है और जब तक आप बस से उतर कर अपने दफ्तर की इमारत के अन्दर नहीं चली जातीं वह एकटक आपको ही देखता रहता है। आपके अन्दर घुसते ही वह हाथ से हवा में एक चुम्बन उछाल कर, हल्का-सा ‘सैल्यूट’ मारकर अपने रास्ते हो लेता है।”

सुज़ान की खुशी आंसू बनकर बहने लगी। “वे सुदर्शन युवक मेरे पति हैं भाई।” कहकर वह बस से उतर गयी, उतर कर चुपचाप अपने दफ्तर की तरफ बढ़ गयी।

उस शाम मार्क ने देखा कि सुज़ान खूब चहक रही है मानों ठीक पहले के जैसी बन गयी!! आज सचमुच सुज़ान की खुशी उसके दिल में समाये न सम रही थी। आज उसे अपने अन्धे होने का कोई ग़म न था। वह मार्क को अपनी इन आंखों से अब देख न पाती थी, लेकिन वह कितनी भाग्यशाली थी कि उसके पति ने उसे दृष्टि से कहीं अधिक सुन्दर उपहार दिया था—प्रेम का उपहार—उस उपहार को देखने की जरूरत नहीं, उसे तो बस महसूस करना है जो वह हर पल कर रही थी—ऐसा उपहार जो अन्धकार में प्रकाश ले आया।

उस शाम चुपचाप पति-पत्नी प्रेम और खुशी के आंसू बहाते रहे। मार्क ने पत्नी का हाथ अपने हृदय पर रखते हुए कहा, “सुज्ञान, तुम कसौटी पर खरी उतरनी, अब मुझे पता है कि भौतिक आंखों के न होते हुए भी तुम पूरी तरह से स्वावलम्बी बन जाओगी क्योंकि तुमने अपने अन्दर की आंखें पा ली हैं।”

सुज्ञान ने हंस कर उसकी बात काटते हुए कहा, “बिलकुल गलत, कसौटी पर तो तुम कसे गये थे मार्क। तुम जीते। मेरे अन्दर की निधि का तोहफ़ा तो तुमने मुझे दिया।”

फिर अनायास आंखें ऊपर उठाते हुए मार्क के मुंह से निकला—हे परवरदिगार! जीत तो सचमुच तेरी हुई न? हम भले तेरी ओर नज़र उठाकर देखना भूल जायें, लेकिन तू तो हमेशा हम सबको अपनी स्नेहभरी दृष्टि से एकटक ताकता ही रहता है।

—वन्दना

सूचना

पुरोधा और अग्निशिखा के लिए शुल्क भेजते समय कृपया इन बातों का ध्यान रखिये:

१. मनीऑर्डर-फॉर्म टाइप करके न भेजें। यह फॉर्म पर छपी लकीरों के बीच ऐसा घपला जाता है कि पढ़ने में बहुत दिक्कत होती है। हाथ से लिखना ठीक है।
२. तमिलनाडु में हिन्दी पढ़नेवाले, विशेषतः डाक-विभाग में हिन्दी जाननेवाले बहुत कम हैं। अतः मनीऑर्डर-फॉर्म या पत्र का पता अंग्रेज़ी में ही लिखें।
३. मनीऑर्डर-फॉर्म के सम्पर्क-स्थान पर यह ज़रूर लिखें :
 - (क) यह धन किसलिए, किस पत्रिका के लिए और कितने समय के लिए भेजा जा रहा है।
 - (ख) अपना नाम व पूरा पता पिनकोड सहित साफ-साफ पढ़े जा सकनेवाले बड़े अक्षरों में (अंग्रेज़ी में) लिखें।
 - (ग) अपनी ग्राहक-संख्या लिखना न भूलें।
४. पता बदल जाये तो उसकी सूचना तुरन्त दें। अन्यथा पत्रिकाएं लौट-लौट आती हैं।
५. मनीऑर्डर या डी. डी. या चैक पुरोधा एवं अग्निशिखा के नाम ही भेजें, आश्रम के नाम नहीं।
६. पत्रिका के लिफाफे पर आपके पते के ऊपर आपकी ग्राहक-संख्या और शुल्क समाप्त होने की तारीख लिखी रहती है।
७. पत्रिका प्राप्त न होने की सूचना एक मास प्रतीक्षा के बाद अपने डाकखाने से जांच-पड़ताल कर हमें तुरन्त सूचित करें। देर से सूचना प्राप्त होने पर कई बार वह अंक भेजना सम्भव नहीं होता।
८. धैर्य से लिखें, अक्षर स्पष्ट हों यह ज़रूरी है।

पुरोधा हर महीने की १० तथा ११ तारीख को भेजी जाती है।

अग्निशिखा हर महीने की २५ तथा २६ तारीख को भेजी जाती है।

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर, झुंझुनूं श्रीअरविन्द दिव्य जीवन शिक्षा-केन्द्र, झुंझुनूं (राजस्थान)

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा स्थापित इस संस्था का मूल उद्देश्य श्रीअरविन्द व श्रीमां के मनुष्य जाति के लिये दिव्य जीवन के स्वप्न को साकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह केन्द्र ऐसे श्रद्धालुओं के समूह के निर्माण की अभीप्सा रखता है जिनके जीवन का केवल यही उद्देश्य हो।

यह केन्द्र पूर्ण रूप से आवासीय है जिसमें छात्र-छात्राओं की शिक्षा, आवास व भोजन पूर्णतः निःशुल्क है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। शैक्षणिक सत्र हर वर्ष १५ अगस्त से प्रारम्भ होता है तथा केवल ६ से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता है।

यह केन्द्र पूर्ण शिक्षा प्रदान करने तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिये समस्त साधन प्रदान करने की अभीप्सा रखता है। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिये सरकारी प्रमाण-पत्र, डिग्री व डिप्लोमा की आकांक्षा नहीं रखते अपितु उनकी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के अनुरूप उनके पूर्ण व सर्वांगीण विकास की अभीप्सा रखते हैं और अपने बच्चों को इस शिक्षण-संस्था में प्रवेश दिलाने के इच्छुक हैं, वे पूरी सूचना के लिये निम्नलिखित पते पर सम्पर्क करें।

जो आध्यात्मिक पिपासु इस केन्द्र के कार्य में सहयोगी होना चाहते हैं तथा अपना जीवन इस कार्य में लगाकर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे तोग अधिक जानकारी के लिये सम्पर्क करें :

पंकज बगड़िया

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर

मीरा अम्बिका भवन, खेतान मोहल्ला

पो० - झुंझुनूं - ३३३००१ (राजस्थान)

टेलीफोन - (०१५९२) २३५६१५, २३२८८७

e-mail: sadlecjnn@rediffmail.com

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

13E-Rajanigandha
25, Ballygunge Park
Kolkata-700 019

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road

Post Box No. 5713

NEW DELHI — 110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

sunderson@auromail.net

Tel : 23612728, 23612776

Fax : 011-23620632

Our Lines of Business :

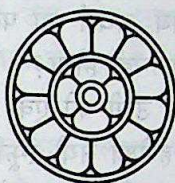
- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
Maihar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERRY.

Completed 80 years on Basant 2006

है ठिठ गाछ तै



प्रार्थना और ध्यान

२८ अगस्त १९१४

हे प्रभो, हे शाश्वत स्वामी, मेरा विचार तेरे आगे मूक और शक्तिहीन पड़ा है लेकिन मेरा हृदय तुझे पुकार रहा है; मेरी सारी सत्ता को जगा ताकि वह तेरे लिए पूरी तरह से आवश्यक यन्त्र, पूर्ण सेवक हो सके।

ओ, अनन्त रूप में तू बन जाना, सभी चीजों में तू होना, सब जगह, सर्वदा, तू ही तू, निरपेक्ष नीरवता, निरपेक्ष गति...

एकमेव के अतिरिक्त कुछ न होना, सबको समाये हुए और सबमें समाया हुआ—सभी सीमाओं से और समस्त अन्धता से मुक्त।

हे परम विजेता, हर विघ्न-बाधा पर विजय प्राप्त कर।

—श्रीमां

612776
620632

ERRY.

माँ जाग उठी है

(हर युग की वही कहानी—जब-जब अधर्म का पलड़ा भारी पड़ता है, माँ जाग उठती है और जागरण की उस वेला में क्या-क्या नहीं होता?)

श्रीअरविन्द के ये प्रभावशाली वचन उसी की एक झाँकी दिखा रहे हैं और इन वचनों को बार-बार पढ़ने के बाद भी ये हृदय में हमेशा नयी स्फूर्ति और ओज भर देते हैं।

आज संसार की शयन-वेला में क्या माँ जाग उठने की तैयारी में हैं?—सं.)

रात आधी हो चुकी है। संसार नीरवता में सोया पड़ा है। धरती अन्धकार की गोद में सोयी पड़ी है और सोया पड़ा है स्वर्ग। क्रुद्ध मरुत् दम रोके खड़े हैं। बादलों की घनी कालिमा में तारे भी टिमटिमाते नहीं दीखते। पक्षी अपने पंखों से आँखों को ढके, अपने-आपमें खोये हुए अपने-अपने नीड़ में पड़े हैं। पशु का चलना-फिरना बन्द है, किसी की ध्वनि नहीं सुनायी देती। ऐसे में दिव्य जननी जाग उठती है, जननी एक भयंकर निनाद के साथ जाग उठती है, जननी जाग उठती है और सूर्य जैसे दो भयावह नेत्र खोलती है।

माँ जाग पड़ी है। एक पत्ता भी नहीं हिल रहा। कमरे के अन्दर दीपक की अकम्पित ज्वाला गुल होने की तैयारी में है। नगर के सूने पथों पर, खेतों, जंगलों और पहाड़ियों में जीवन मात्र निद्रा में डुबकी लगाये हुए है। सागर के जलों की लहरें तट पर खिलखिलाती हुई नहीं आती। एकदम नीरव, निश्चल सागर मौन और निःशब्द है। तब माँ क्यों जाग उठी है? कौन कह सकता है कि उसने ऐसा क्या सुना जिसने उसे जगा दिया है। किसकी मौन पुकार ने जननी को इस घोर निशा में भी जगा दिया और वह भयंकर निनाद करती हुई जाग उठी है।

माँ की शयन-वेला में किसने सोचा था कि वह इस अन्धी काली रात में इस तरह जाग उठेगी। रात्रि के अन्धकार में डूबा हुआ, आशा से वञ्चित, सदा-सर्वदा के लिए भग्न-हृदय, अपनी निद्रा में भी गिरते हुए पत्ते की आवाज़ से चौंक पड़ता है। महान् असुर की राजसी नियति ने, गौरवपूर्ण, कुटिल, सर्वविजयी नियति ने धरती को घेर लिया है। और अचानक भयंकर निनाद सुनायी देता है, अचानक माँ की आवाज़ में सैकड़ों समुद्रों का गर्जन भर जाता है, अपने नींद के माते बालकों को जगाने के लिए माँ इन्द्र-वज्र का-सा गर्जन कर रही है।

इस अंधेरी अर्ध-रात्रि में क्या कोई भी ऐसा नहीं है जो दुःखभरे, उछलते हृदय के साथ माँ के लिए जाग रहा हो। कुछ इने-गिने काषायवस्त्रधारी, प्रचण्ड माँ के भक्त, हाथ में नंगा खड्ग लिए, माँ के चरणों का अपने लोहित रक्त से अभिषेक करने के लिए अपलक बैठे रात की घड़ियां गिन रहे हैं। महान् तृष्णा के साथ, क्रुद्ध गर्जन करती हुई माँ जाग उठी है और समस्त विश्व को अपने सिंहगर्जन से आप्लावित करते हुए जगत् को जगा रही है।

उसके मुख से एक कर्कश अट्टहास्य निकल रहा है, उसकी आँखों में से बिजलियां चमक रही हैं, उसके क्रोध का रक्त जपा कुसुम बड़ा ही भयानक है। कोप में भरी हुई जननी अपने हाथों में दो दानवों के मुण्ड लिए झुला रही है। माँ उठती है और एक विकराल आह्वान करती है।

अर्ध रात्रि में दो दानव मुण्डों को अपने हाथों में झुलाती हुई तुम कौन हो? तुम सारी धरती पर रक्त की बौछार कर रही हो। तुम्हारी दो आँखें आग की दो भट्ठियों के समान हैं। भयानक माँ धरती को कंपाती हुई इधर-उधर घूम रही है। उठो, उठो की भयंकर दहाड़ के साथ माँ सभी

जून २००६

देवों, दानवों और मनुष्यों को पुकार रही है। वह समस्त आलस्य और अकर्मण्यता को खदेड़ रही है, इस ओर भयंकर निनाद और उस ओर उल्लासभरा गर्जन—यह मेरी माँ है, उसके मस्तक पर मृत्यु का जलता नेत्र दिखायी दे रहा है। मेरी माँ आ रही है, उसके गले में पड़ी मुण्डमाल ताल के साथ नाच रही है।

भयंकर झंझा और युद्ध के बीच तलवार तलवार से टकराती है और शरीर शरीर के साथ बज उठता है। युद्ध में आग बरस रही है और इधर-उधर चक्कर लगा रही है, आकाश बधिर हो गया है, इस समस्त कोलाहल के बीच कान फटे जाते हैं और धरती डोल रही है, रक्त मुक्त रूप से नदी-नालों की तरह बह रहा है। तो कब, हां कब, हम माँ को जान पायेंगे।

जब उसका समुद्र-घोष अपने एक श्वास में दानवों के राज्य को मटियामेट कर देगा और उग्र देवी मुस्कुराती हुई आयेगी, तब माँ को जान पायेंगे। जब माँ शोणित की नदियों में स्नान करती हुई नाच उठेगी तब हम जानेंगे कि आखिर माँ जाग उठी है।

—श्रीअरविन्द

दैनन्दिनी

जून

- जब तक तुम निजी विचारों, मतों, पसन्दों से ऊपर नहीं उठ सकते तबतक तुम अच्छे कार्यकर्ता नहीं बन सकते। जबतक तुम्हारे अन्दर निजी पसन्दें हैं तबतक तुम ठीक वह चीज़ न कर पाओगे जिसकी ज़रूरत है।
- थके बिना काम करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि चाहे जो भी काम हो उसे भगवान् के अर्पण कर दो और तुम्हें जिस सहारे की ज़रूरत है उसे भगवान् में ही पाओ क्योंकि भगवान् की शक्ति अपार है और 'उन्हें' जो कुछ भी सचाई के साथ अर्पित किया जाये 'वे' हमेशा उसका उत्तर देते हैं।
- अगर तुम अगली चीज़ के बारे में सोचते रहो तो तुम्हारा काम कभी अच्छा नहीं हो सकता। काम के लिए वर्तमान सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण है। भूत को तुम्हें पीछे न घसीटना चाहिये और न ही भविष्य को आगे खींचना चाहिये, तुम्हें वर्तमान पर पूरी तरह एकाग्र होना चाहिये, उस चीज़ पर जो तुम कर रहे हो। तुम जो कर रहे हो उस पर तुम्हें इतना अधिक एकाग्र होना चाहिये मानों सारे जगत् का निस्तार केवल तुम्हारे काम पर निर्भर है।
- तुमने जो काम हाथ में लिया है उसमें सच्चे रहो तो भागवत कृपा हमेशा तुम्हारी सहायता के लिए मौजूद रहेगी। जबतक तुम कड़ी मेहनत न करो, तुम शक्ति नहीं पाते क्योंकि उस हालत में तुम्हें उसकी ज़रूरत नहीं होती और तुम उसके अधिकारी नहीं होते। तुम्हें शक्ति तभी मिलती है जब तुम उसका उपयोग करो।
- अन्तरात्मा शाश्वत और सार्वभौम है, और उसके लिए इन सब अक्षमताओं और असम्भावनाओं में कोई सत्य नहीं है।

- जब तुम किसी की अन्तरात्मा से बात करते हो, तो तुम हमेशा उसी एक अन्तरात्मा से बोलते हो चाहे शरीर, जाति और संस्कृति में कितना भी भेद क्यों न हो।
६. अपनी अन्तरात्मा का आदेश मानो, केवल उसे ही तुम्हारे जीवन पर शासन करने का अधिकार है।
 ७. काम में, कठोर सिद्धान्तों के द्वारा पैदा की गयी कठिनाइयों की अपेक्षा साधारणतः सहज और सामञ्जस्यपूर्ण कार्य अधिक अच्छा होता है, लेकिन वह भी निरपवाद नहीं है—हर अवसर पर आन्तरिक नीरवता में ऊपर का पथ-प्रदर्शन ग्रहण करना आदर्श अवस्था है। निरन्तर अभ्यास और सद्भावना से, यह सम्भव होता है।
 ८. वह चैत्य सत्ता नहीं होती जो निजी कारणों के लिए कष्ट पाती है, वह होती है मन, प्राण और अज्ञानी मनुष्य की साधारण चेतना। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि बाहरी चेतना और चैत्य चेतना के बीच का सम्पर्क अच्छी तरह से स्थापित नहीं होता है। वह, जिसमें यह सम्पर्क भली-भांति स्थापित हो चुका हो, हमेशा प्रसन्न रहता है।
 ९. अपने-आपमें बाहरी सत्ता बहुत उत्तरदायी नहीं होती, वह अधिकतर 'प्रकृति' की शक्तियों का खिलौना होती है। लेकिन आन्तरिक या उच्चतर सत्ता, गभीरतर चेतना हमारे लक्ष्य की स्वामी और हमारी नियति को बनानेवाली होती है, इसीलिए इस परम चेतना को खोजना और इसके साथ एक होना इतना महत्वपूर्ण है जिससे जीवन की सभी असंगतियों और 'प्रकृति' के सभी संघर्षों का अन्त हो जाये।
 १०. चैत्य को पाने के लिए तुम्हें प्राण की कामनाओं पर विजय पानी होगी और मन को शान्त, निश्चल-नीरव करना होगा, उसके बाद भगवान् के प्रति निष्कपट निवेदन करना होगा। चैत्य मनुष्य में उन्हीं का यन्त्र है।
 ११. चैत्य हमेशा उपस्थित है, और मजबूत है। कमज़ोर तो ग्रहणशीलता है।
 १२. अप्रिय विचार अप्रिय भावनाएं लाता है—अप्रिय भावनाएं तुम्हें भगवान् से दूर ले जाती हैं और तुम्हें उस शैतान के हाथों में निःशस्त्र फेंक देती हैं जो तुम्हें केवल हड़प लेना चाहता है—और यही अनन्त दुःख और कष्ट का मूल है।
 १३. भौतिक मन का एक प्रमुख कार्य है सन्देह करना। अगर तुम उस पर कान दो तो वह सन्देह के हजारों कारण ढूंढ़ निकालेगा। लेकिन तुम्हें यह जानना चाहिये कि भौतिक मन अज्ञान में काम करता है और पूरी तरह मिथ्यात्व से भरा है।
 १४. केवल प्रेम ही 'भागवत कर्म' के मर्म तक पहुंच सकता है। मन, विशेष रूप से भौतिक मन उचित रूप से देखने में असमर्थ होता है और फिर भी वह हमेशा निर्णय करना चाहता है। मन में सच्ची निष्कपट नम्रता ही, जो सत्ता पर चैत्य को शासन करने देती है, मनुष्यों को अज्ञान और अन्धकार से बचा सकती है।
 १५. एकदम मौन की अपेक्षा तुम जो कहते हो उस पर संयम ज़्यादा महत्वपूर्ण है। सबसे अच्छा है जो उपयोगी हो उसे यथार्थ और यथासम्भव सच्चे ढंग से कहना सीखना।
 १६. आत्म-संयम सबसे पहली चीज़ है। अचञ्चल रहो और केवल कार्य करने के लिए ही नहीं, मुख्यतः 'रूपान्तर' साधित करने के लिए बल और शक्ति जुटाओ।

जून २००६

- शेखी, शेखी, प्रगति के लिए सबसे बड़ी बाधाओं में से एक। अगर तुम सच्ची प्रगति की अभीप्सा करते हो तो तुम्हें बड़ी सावधानी के साथ इस मूर्खता से बचना चाहिये।
- व्यर्थ में बोला गया प्रत्येक शब्द भयानक गपबाज़ी है।
- हर दुर्भावनापूर्ण शब्द, हर मिथ्यापवाद चेतना की अधोगति है।
- और जब यह मिथ्यापवाद भद्दी भाषा और गंवारू शब्दों में प्रकट किया जाता है तो यह आत्मघात के समान होता है—अपनी अन्तरात्मा के आत्मघात के समान।
- अगर तुम आक्रमणों के बारे में कम सोचो तो वे इतने अधिक न होंगे।
- जिनमें श्रद्धा है वे पार हो जायेंगे।
- हां, श्रद्धा और विजय के संकल्प को रखना अनिवार्य है।
- यह सोचना बेकार है कि तुम बहुत सच्चे हो, यह सोचना बेकार है कि तुम सच्चे नहीं हो। उपयोगी है सच्चा होना।
- वीरता की परिभाषा है : सब परिस्थितियों में सत्य का आग्रह रखना, आवश्यकता हो तो कठिन-से-कठिन विरोध के होते हुए भी उसकी घोषणा करना और उसके लिए भरसक, सब कुछ करने के लिए तैयार रहना।
- डरो मत, भरोसा रखो, ये सब तकलीफें तुम्हें छोड़ जायेंगी।
- चिन्ता न करो, अपनी अभीप्सा में धीरज रखो और अडिग बने रहो।
- अगर तुम बाहरी दृष्टि से अपने ध्यान में सफल नहीं हो रहे तो भी अपनी निम्न प्रकृति के विरुद्ध अड़े रहना और उसके विरोध से अधिक ज़िद्दी होना ज़्यादा अच्छा है।
- तुम्हें एक बात याद रखनी चाहिये। अन्धकार की अवधियां अनिवार्य हैं, जब तुम्हारा चैत्य पुरुष क्रियाशील है तो तुम किसी प्रकट कारण के बिना ही आनन्द का अनुभव करते हो। कुछ समय तक वह बना रहता है और फिर वही मानसिक या प्राणिक प्रतिक्रियाएं होती हैं और तुम अन्धकार में लौट जाते हो। यह क्रम चलता रहेगा। प्रसन्नता के दिन ज़्यादा देर तक रहेंगे और अन्धकार का समय ज़्यादा लम्बे अन्तरालों के बाद और कम समय के लिए आयेगा और अन्त में अदृश्य हो जायेगा। तबतक तुम्हें यह जानना चाहिये कि इन बादलों के पीछे सूर्य है और तुम्हें चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं। तुम्हारे अन्दर बालक का विश्वास होना चाहिये—यह विश्वास कि कोई है जो तुम्हारी देखभाल कर रहा है और तुम उसपर पूरी तरह निर्भर रह सकते हो।
- सामान्य जीवन का उद्देश्य है कर्तव्य-पालन : आध्यात्मिक जीवन का लक्ष्य है भगवत्प्राप्ति।
- सारा जीवन ही एक साधना है। उसे टुकड़ों में काटना और कहना कि यह साधना है और वह नहीं, एक ग़लती है। तुम्हारे खान-पान और निद्रा को भी साधना का अंग होना चाहिये।
- आवेश में आकर काम करने की सम्भावना को रोकने के लिए शान्त रहो, अपने-आपको तटस्थ रखकर साक्षी की तरह निरीक्षण करो।
- प्रत्येक वस्तु संक्रामक है। प्रत्येक अच्छी या बुरी चीज़ के अपने स्पन्दन होते हैं। अगर तुम उन स्पन्दनों को ग्रहण करो तो वह चीज़ तुम्हारे पास आती है। सच्चा योगी उन स्पन्दनों को जानता है और उनका उपयोग कर सकता है; इसी तरह वह तुम्हें शान्ति वगैरह दे सकता है। जो दुर्घटनाएं कहलाती हैं वे भी संक्रामक होती हैं। तुम दूसरे के

- दुःख को पकड़ लेते हो और उसी की तरह दुःखी होते हो।
३०. अगर तुम अपनी ज़िम्मेदारी महसूस नहीं करते और अगर तुम हमेशा सतर्क नहीं रहते और परिश्रम नहीं करते, तो प्रकृति तुम्हारे साथ शरारत करेगी। अगर तुम प्रकृति की शरारत को रोकना चाहते हो, तो तुम्हें अपना काम चौकसी और ज़िम्मेदारी की भावना के साथ करना होगा। तुम्हें किसी चीज़ को अधूरा नहीं छोड़ना चाहिये। तुम्हें हमेशा सावधान और सतर्क रहना चाहिये और तुम सुरक्षित रहोगे।

कली खिल उठी

कली कब से खिलने का इन्तज़ार कर रही थी। वह अपने अन्दर कैसे-कैसे सपने संजोये बैठी थी। उसका ख्याल था कि फूल बनते ही दुनिया-भर के भौरे उस पर मंडराने लगेंगे। उसके पास मधु, मकरन्द, पराग और न जाने किस-किस चीज़ के भण्डार होंगे जिन्हें वह मुक्त हस्त से बांटती चलेगी। कोई उसका सौन्दर्य निहारने आयेगा, कोई मधुपान करने। कोई उसके रंग पर न्योछावर होगा तो कोई उसके रूप पर अपने-आपको लुटा देगा।

वह हसरतभरी आंखों से अपने आस-पास के फूलों को देखती और मन-ही-मन कहती : "आज तुम इतरा लो जितना चाहो, पर याद रखो कल तो मेरा है।" वह इठलाते हुए, हवा के झोंकों पर तैरते हुए फूलों को देखती और कलेजा मसोसकर रह जाती। आखिर हार कर उसके मुंह से निकला :

कब कौ टेरत दीन रट, होत न स्याम सहाइ।

तुमहूं लागी जगत-गुरु, जग-नाइक, जग-बाइ।।

कली की टेर श्याम न सही, श्याम के एक सखा भौरे के कान में पड़ी और वह उसकी ओर चल पड़ा। उसे कली के चारों ओर मंडराते देख कुछ फूलों में ईर्ष्या जागी और एक बोल उठा :
नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।

अली कली ही सौं बंध्यौ, आगे कौन हवाल।।

वह एकमात्र भौरा जो उसकी ओर मुड़ा था वह भी सिर झुकाकर लजाता हुआ किसी और फूल की टोह में निकल गया। आह! इससे तो वह न आया होता तो ज़्यादा अच्छा रहता।

लेकिन अभी कली ने आशा न छोड़ी थी। उसने दो पाये मनुष्यों को बड़े प्रेम के साथ वाटिका की सेवा करते देखा था। उसने फूलों की प्रदर्शनियों और फूलों की सैर की कहानियां सुनी थीं। उसने सुना था :

हुआ चमन में हुजूम बुलबुल किया जो गुल ने जमाल पैदा।

कमी नहीं क्रद्रदां की अकबर करे तो कोई कमाल पैदा।।

उसे विश्वास था कि उसके अन्दर अनुपम सौन्दर्य छिपा है और उसके खिलते ही मनुष्य बौरा जाएंगे। लेकिन बेचारी कली क्या जानती थी कि मनुष्य जो करता है व्यापार की दृष्टि से करता है। सौन्दर्य के लिए सौन्दर्य को अपनाना उसने सीखा ही नहीं।

माली सींचता है, पौधों की टहल करता है तो बदले में कुछ पाने के लिए। सुन्दरियां फूलों

जून २००६

पर नज़र रखती हैं तो अपने सौन्दर्य को निखारने के लिए, बड़े बाबू उनपर लट्टू होते हैं तो प्रदर्शनी में पहला इनाम पाने के लिए। लेकिन जहां सौन्दर्य पर ज़रा धब्बा आया, जहां उसकी मसृण त्वचा पर ज़रा-सी शिकन आयी कि बस उसका स्थान घूरे पर। जबतक फूल औरों की शोभा बढ़ाता रहे तबतक उसके चाहने वालों की कमी नहीं, लेकिन उनका मन अघाते देर नहीं लगती और तब उसको पूछने वाला भी कोई नहीं रहता।

कली का दिल भर आया। इस सब जानकारी के लिए वह अभी बहुत छोटी थी। वह सोचने लगी, तब फिर इस स्वार्थ-भरे संसार में खिलने से लाभ ही क्या? मैं क्यों अपने अन्दर हसरतें जगाकर उनका खून करूं! मेरा असली स्थान अगर घूरे पर है तो अभी से ही क्यों न उस ओर मुंह कर लूं? बहुतेरे झंझटों से बच जाऊंगी। कली मुरझाने लगी।

उधर से कोई छोटा-सा बालक गुज़र रहा था। शायद उसने अभी-अभी फूलों को पहचानना, उनकी क्रूर करना सीखा था। उसके मुंह से निकला :

फूल तो कुछ दिन बहार अपनी दिखाकर चल दिये।

हसरत उन गुंचों पे है जो बिन खिले मुरझा गये।।

उसकी आवाज़ ने मानों कली में जीवन की नयी इच्छा जगा दी। बालक ने आकर कली को सहलाया। दोनों में अन्दर-ही-अन्दर न जाने क्या बातचीत हुई। लड़के ने धीरे-से, वाणी में रस घोलते हुए कहा : “कली, सौभाग्य है तुम्हारा, तुम लोगों के विलास की सामग्री भले न बन पाओ, पर भगवान् के चरणों में तुम्हारे लिए स्थान अवश्य होगा। तुम्हारा रूप-रस भले मोहक न हो, तुम्हारा हृदय सरल है, अपने-आपको निःशेष रूप में देना जानता है। निराश न होओ, अपने-आपको उन चरणों में अर्पित कर दो। तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर सुधर जायेंगे।”

और कली खिल उठी। आज उसके लिए नव प्रभात था।

—रवीन्द्र

अहसास

एक खालीपन

का अहसास

सुख और सम्पन्नता

में भी

निरन्तर अवसाद

कैसी विडम्बना

कैसा विरोधाभास

मानों अपने ही घर में

बनवास।

—विश्वनाथ

‘अन्तरा’ से साभार

एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र

ज्ञान

१९३३

साधारणतः अनुभूति के लिए प्रतीक्षा करना और फिर पूछना ज्यादा अच्छा है क्योंकि पहले से मानसिक धारणाएं बनाने से कोई लाभ नहीं होता बल्कि वह सच्ची चीज़ पाने में बाधक होता है। या तो तुम केवल विचार में लगे रहते हो या उस विचार में सीमित रह जाते हो जो तुमने बनाया है, शक्ति की पूरी क्रिया और पूरी क्षमता को नहीं पाते।

तुम्हारे लिखने का उद्देश्य उत्तर पाना नहीं होना चाहिये बल्कि उद्देश्य होना चाहिये तुम्हारे अन्दर जो हो रहा है उसे माताजी के सामने रखना और उनसे केवल मानसिक नहीं बल्कि चैतन्य और आध्यात्मिक सहायता पाना।

आपने कहा है, “पूरी समझ तब तक नहीं आ सकती जब तक तुम अव्यक्त मन के साथ एकात्म न हो जाओ।” यह कौन-सा मन है और उसके साथ एकता कैसे पायी जाये?

मुझे प्रसंग नहीं मालूम, परन्तु इसका यही मतलब हो सकता है कि मन का केवल एक भाग अपने-आपको व्यक्त करता है और बाकी पीछे अव्यक्त रहता है। तुम्हें उस अव्यक्त भाग के साथ एकत्व में आना चाहिये।

हमारे मानसिक क्रिया-कलाप सत्य से कैसे अलग होते हैं और कैसे दिव्य ज्ञान की विकृति होते हैं?

वे भगवान् के लिए नहीं, स्वयं अपने लिए कार्य करते हैं और वे अपने ही अज्ञानी प्रकाश का अनुसरण करते हैं और दिव्य ज्ञान की ओर खुलने की जगह उसी के साथ चिपके रहते हैं।

निम्न प्राण और भौतिक में उच्चतर चेतना की क्या शर्तें हैं ताकि वह अपनी क्रिया आरम्भ कर सके?

शुद्धि के लिए संकल्प होना चाहिये, साधना के लिए संकल्प होना चाहिये, कुछ आत्म-विश्लेषण और अनुभूति की क्षमता होनी चाहिये।

१९३४

शुरू से ही मेरी बुद्धि की शक्ति बहुत कमज़ोर रही है। साधारणतः मैं केवल भौतिक मन में रहता हूँ। क्या हमारे योग में बुद्धि का विकास ज़रूरी नहीं है?

जून २००६

अगर तुम्हारी साधना का विकास हो तो उसके साथ ही ज्ञान आयेगा और उससे आवश्यक विकास होगा।

मेरे अन्दर माताजी के कार्य के बारे में सचेतन होने के सिलसिले में आपने लिखा था :
“हां, लेकिन शायद वह ललाट के चक्र पर दबाव डालेगा जिसके बारे में तुम शिकायत करते हो।” ज्ञान-प्राप्ति और ललाट-चक्र पर दबाव का क्या सम्बन्ध है?

मेरा ख्याल है कि तुमने पूछा था कि क्या आता है। तुम जिस ज्ञान की बात कर रहे हो वह सबसे ज्यादा आसानी से तब आता है जब आन्तरिक मन का केन्द्र खुला हो।

आप चाहते हैं कि मैं अपने स्वभाव की गतियां और अपने अन्दर माताजी के कार्य को देखूं और समझूं। परन्तु मैं नहीं जानता कि इसे यथार्थ रूप से और ठीक-ठीक कैसे किया जाये। उदाहरण के लिए, जब कोई नया अवतरण होता है तो मुझे बस इतना ही लगता है कि मेरे अन्दर कोई नयी चीज़ आ रही है, लेकिन मैं उसके विशेष पक्ष को नहीं पहचान सकता। क्या आप मुझे यह बतलाने की कृपा करेंगे कि यह करने की कला कैसे सीखी जाये?

तुम्हें सचेतन ज्ञान के लिए अभीप्सा करनी चाहिये—मानसिक ज्ञान के लिए नहीं बल्कि स्वयं अनुभूति से आनेवाले ज्ञान के लिए। इसमें किसी विस्तार की ज़रूरत नहीं है, लेकिन जब कोई चीज़ चैत्य से आये तो तुम्हें पता होना चाहिये कि यह चैत्य से है, जब कोई चीज़ ऊपर से आये तो तुम्हें पता होना चाहिये कि वह क्या है, उसी तरह जैसे तुम्हें शान्ति के बारे में पता चलता है।

मेरे मित्र नायक ने मुझसे कल आपके लिखे इस वाक्य का स्पष्ट अर्थ पूछा है, “...किसी विस्तार की ज़रूरत नहीं है।”

मेरा मतलब यह है कि तुम्हारे अन्दर जो गतिविधियां होती हैं उनकी प्रकृति के बारे में सचेतन होने की ज़रूरत है। तुम्हें इन सब चीज़ों के बारे में विस्तार से जानने के लिए अपने मन को सक्रिय करने की ज़रूरत नहीं है। जब चेतना होगी तो ज्ञान अपने-आप आयेगा।

अब भी (मैंने प्रायः दो महीने पहले आपसे इस विषय में पूछा था) मेरे अन्दर अनुभूति और अवतरण के बारे में कोई प्रारम्भिक विचार भी नहीं हैं। वे बहुत बार मेरे अन्दर से आते और अपना उचित मूल्य पाये बिना गुज़र जाते हैं। कृपया उनके बारे में सामान्य दृष्टि से मुझे कुछ बतलाइये।

तुम्हें अनुभव से सीखना होगा। मानसिक जानकारी (अनुभव के बिना वह हमेशा ग़लत तरीके से समझी जाती है) सहायता देने की जगह बाधक हो सकती है। वास्तव में इन चीज़ों के लिए कोई निश्चित मानसिक ज्ञान नहीं है, इन चीज़ों में अनन्त भेद होते हैं। तुम्हें मानसिक जानकारी

के लिए लालायित होने के परे जाना चाहिये और ज्ञान के सच्चे मार्ग की ओर खुलना चाहिये।

आपने एक दिन लिखा था : "...एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें सब कुछ अपने-आप आ जाता है और विकास के लिए केवल एक विशेष ज्ञान और सहमति की ज़रूरत होती है।" वह ज्ञान क्या है?

तुम अभी तक नहीं पकड़ पाये। यह ऐसा ज्ञान है जो ऊपर से आता है।

उच्चतर ज्ञान मुझे प्रदीप्त करे उससे पहले मैं नये अनुभवों को कैसे समझ पाऊंगा?

तुम्हें देखना और समझना चाहिये कि वे कैसे विकसित होते हैं। अधिकतर वे अपना अर्थ अपने साथ लिये रहते हैं और अगर तुम मौन और जागरूक मन के साथ उनका अवलोकन करते रहो तो तुम उन्हें उनके बारे में विचारों के सतत शोरगुल में रहने की अपेक्षा ज़्यादा अच्छी तरह समझ पाओगे।

अब मैं सोच रहा हूँ कि आपसे कठिनाइयों या अनुभूतियों के बारे में और प्रश्न न पूछा करूँ। मैं आपको तथा माताजी को केवल लिख कर अपने-आपको अर्पित करता रहूँ।

हां, यह सबसे अच्छी बात है। तुम अपनी अवलोकन-शक्ति को बढ़ाओ और अपने मन को अन्दर से ज्ञान के लिए तैयार करो।

मेरी समझ में नहीं आता कि वर्तमान आध्यात्मिक विचारों को कैसे हल करूँ। वे प्रायः सभी दिव्य जननी और उनकी नूतन सृष्टि के बारे में हैं। वे सक्रिय मनवाले लेखकों के लिए बहुत अच्छे और सहायक हो सकते हैं क्योंकि उनमें कुछ उच्चतर सत्य होते हैं, लेकिन मेरे अन्दर वे एक साथ बड़ी संख्या में आ जाते हैं और मेरे आन्तरिक मन पर कब्ज़ा कर लेते हैं। यदि उन्हें रोकने के लिए उनपर एक बलवान् इच्छा-शक्ति न लगा दी जाये तो वे बढ़ते और यह और वह गढ़ते चले जाते हैं। और कभी-कभी वे इस सत्य को प्रकट करने के लिए बिम्ब पर बिम्ब बनाते चले जाते हैं, मानों मैं कविता^१ लिख रहा हूँ।

^१ इस मनोवृत्ति ने मुझे कविता की कुछ पंक्तियां लिखने के लिए प्रेरित किया। मैं उन्हें श्रीअरविन्द के पास भेजने के लिए तैयार था (जैसा कि उन दिनों आश्रम का हर उगता कवि किया करता था।) मैं उन पर श्रीअरविन्द की राय जानना चाहता था। फिर विचार आया कि अगर उन्होंने लिखना जारी रखने और कवि बनने के लिए कहा तो! इसमें मुझे बहुत-सा समय और ऊर्जा लगानी होगी और आन्तरिक साधना का समय कम हो जायेगा। इसलिए मैंने कविताएं फाड़ फेंकीं और श्रीअरविन्द को कुछ न बताया। लेकिन विधि के अक्षर कौन मिटा सकता है? १९५५ में मेरे अंग्रेज़ी के अध्यापक ने अपने सभी विद्यार्थियों को गृहकार्य के रूप में अंग्रेज़ी-कविता लिखने के लिये बाधित किया।

चाहिये।

मे-आप

होती

गा?

अपने

ते रहो

तरह

पूछा

रहूँ।

न को

प्रायः

कों के

ते हैं,

न पर

गा दी

य को

हूँ।

न्द के

में उन

और

साधना

लेकिन

ओं को

वे सब कहां से आते हैं?

मेरा मतलब है कि अगर वे ऊपर से आते हैं तो हो सकता है कि वे ऊपर से आते हुए ज्ञान का अंश हों।

एक दिन आपने मुझे लिखा था : “मन के मौन और शान्ति में बाधा दिये बिना ज्ञान आ सकता है।” वास्तव में यही होने लगा है। जब आन्तरिक या उच्चतर विचार आते हैं तो मन केवल एक वाहक होता है। कभी-कभी केवल रिक्तता होती है, ऐसा लगता है कि मन है ही नहीं।

ऐसे विचारों को ग्रहण करने का यही ठीक तरीका है।

बहरहाल, मुझे लगता है कि मन होना ही चाहिये, सक्रिय न हो तो निष्क्रिय ही सही। यह न हो तो ज्ञान कैसे रूप लेगा?

वह मन (मन तो है ही) के पदार्थ का उपयोग तो करता है, लेकिन मन निष्क्रिय ही रहता है और अपने लिए विचार बनाने और उनका आरम्भ करने की कोशिश नहीं करता।

जब मनुष्य निर्विकार ब्रह्म में डूबा हो तो क्या वह उच्चतर ज्ञान से भी अप्रभावित हुए बिना अपने-आपको बिलकुल चुपचाप नहीं रखना चाहता?

ज़रूरी नहीं है। अक्षर ब्रह्म उस परात्पर क्रिया का केवल आधार होता है जो शान्ति और नीरवता के साथ आती है और उसे शक्ति, आनन्द और ज्ञान के प्रकाश से भर देती है।

अगर मेरा मन ठीक है तो माताजी ने मुझे किसी उच्चतर स्तर की ओर खोल दिया है। इसी कारण मेरी आन्तरिक सत्ता हमेशा उच्चतर जगत् के साथ सम्पर्क में रहती है।

हों। —नगीन दोशी

यह केवल अपनी चिन्ता और अपूर्णता का राग अलापने की आदत तुम्हें शान्त रहने से रोकती है अगर तुम इन्हें निकाल फेंको तो शान्त रहना आसान हो जायेगा। नम्रता आवश्यक है, परन्तु सतत आत्म-निन्दा से कोई सहायता नहीं मिलती। बहुत अधिक आत्म-सम्मान और आत्म-निन्दा दोनों ही ग़लत प्रवृत्तियाँ हैं। कुछ भूलों को बढ़ाये-चढ़ाये बिना पहचानना उपयोगी है, लेकिन एक बार पहचानने के बाद उन्हीं का ढोल पीटना अच्छा नहीं है। तुम्हें विश्वास होना चाहिये कि भगवान् की शक्ति हर चीज को बदल सकती है और तुम्हें उस शक्ति को काम करने देना चाहिये।

—श्रीअरविन्द

श्रीमाँ के साथ पत्र-व्यवहार

'क' ने मुझसे पूछा "वह क्या है?" मैंने जवाब दिया, "माताजी ने मेरे जन्मदिन के लिए कुछ लिखकर दिया है।" "क्या मैं देख सकती हूँ?" उसने कहा, मैंने उसे पढ़ने के लिए दे दिया। मेरा ख्याल है मैंने ठीक नहीं किया।

निश्चय ही, जब मैं ऐसे किसी अवसर के लिए प्रार्थना देती हूँ तो मैं उसमें अमुक शक्ति को एकाग्र करती हूँ। प्रार्थना दूसरों को दिखाकर तुम इस शक्ति के प्रभाव के बहुत बड़े हिस्से को नष्ट कर देते हो।

२२ मई १९३४

मेरे ख्याल से आपके पत्रों में भी कुछ शक्ति होती है, इसलिये ज्यादा अच्छा है कि उन्हें किसी को न दिखाया जाये।

हां, और सिद्धान्त रूप में मैं दूसरों के बारे में प्रश्नों के उत्तर देना पसन्द नहीं करती। योग में हर एक को स्वयं अपनी प्रगति करनी चाहिये—दूसरों की प्रगति से उसका कोई वास्ता नहीं।

२३ मई १९३४

क्या यह ज्यादा अच्छा नहीं है कि दूसरे के बारे में हमारे जो विचार हैं उन्हें आपसे कह दिया जाये ताकि आप उन्हें ठीक कर सकें? क्योंकि अगर वे विचार ग़लत हैं तो बहुत खतरनाक होते हैं।

निश्चय ही, और यथार्थ रूप से सबसे अच्छी चीज़ है लोगों के बारे में सभी विचारों से दूर रहना। इस तरीके से ग़लत विचारों के होने का कोई खतरा ही नहीं रहता।

निश्चय ही, सबसे अच्छी चीज़ है दूसरों के बारे में कोई विचार न होना, लेकिन मेरे ख्याल से यह तबतक सम्भव नहीं है जबतक मन शुद्ध न हो जाये।

हां, यह बिल्कुल सम्भव है अगर मन किसी ज्यादा उपयोगी चीज़ में रस ले और उसमें तल्लीन रहे।

२३ मई १९३४

तब दूसरों के बारे में मेरे जो विचार हैं उन्हें त्याग देना और उनके बारे में मानसिक रचनाएं बनाना बन्द करना ज्यादा अच्छा है?

हां, यह ज्यादा अच्छा है।

मेरे लिए 'ब' से मिलना अच्छा है क्या?

यह इस पर निर्भर है कि उसके साथ मिलने से तुम्हारा क्या मतलब है—अगर यह कुछ शब्दों के आदान-प्रदान, कभी-कदास कोई सामान्य काम के लिए मिलना हो तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन लम्बी बातचीत से बचना चाहिये।

२४ मई १९३४

दूसरों की हंसी उड़ाने में आदमी को क्या मज़ा आता है?

सचमुच, मेरी समझ में नहीं आता कि दूसरों के भावों को चोट पहुंचाकर मनुष्य को क्या मज़ा आता है? यह ठीक चीज़ नहीं है और यह कितनी मिथ्याभिमान की मूर्खता दिखलाती है।

२४ मई १९३४

मधुर माँ! प्राण भगवान् के लिए कब उत्कण्ठित होगा? वर दे कि उसका आवेग चैत्य प्रेम में बदल जाये, उसका क्रोध

समचित्तता में

उसकी ईर्ष्या

विश्वास में

उसका दम्भ

बिनम्रता में

उसकी स्वार्थपरता

आत्मोत्सर्ग में।

२६ मई १९३४

‘ब’ दोपहर के खाने के बाद मेरे साथ घर जाया करता था, लेकिन कल वह मेरे बिना चला गया। उसने मुझसे कहा कि इसका कोई कारण न था। क्या यह सच है?

यह बहुत सम्भव है कि वह बिना किसी कारण ही चला गया। आदमी कितनी चीज़ें बिना किसी सचेतन अभिप्राय के करता है।

२६ मई १९३४

आपने लिखा है कि आदमी कितनी चीज़ें बिना किसी सचेतन अभिप्राय के करता है। लेकिन यह चीज़ सचमुच वाञ्छनीय है क्या? मेरे ख्याल से किसी भी चीज़ को भली-भाँति सोचे बिना करना ठीक नहीं है।

निश्चित रूप से यह अधिक वाञ्छनीय है।

२८ मई १९३४

एक सपना : रात का समय था, मैं एक कविता लिख रहा था। अचानक 'क' आयी, उसने मेज़ पर रखे मिट्टी के तेल के लैम्प को बुझा दिया। कुछ देर बाद उसने बत्ती भी बुझा दी। इस सपने का कोई अर्थ है क्या?

अगर इस सपने का कोई अर्थ है (जो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता) तो इसका मतलब यह होगा कि किसी विरोधी शक्ति ने तुम्हारी चेतना में 'क' के जैसा रूप ले लिया। बत्ती का बुझना हमेशा चेतना के अचेतना में उतरने का प्रतीक होता है।

मधुर माँ, मैं जानना चाहूंगा कि मेरी चेतना बाहर की ओर क्यों जा रही है और यह भी कि मेरी अभीप्सा कम क्यों हो गयी है?

सम्भवतः तुम्हारी प्रकृति का अभी तक अपरिवर्तित कोई भाग ऊपर सतह पर उठ आया है और वही इस समय सक्रिय है।

२९ मई १९३४

अतः जब कोई अपरिवर्तित भाग ऊपर उठ आये तो मुझे क्या करना चाहिये?

धीरज के साथ तब तक उस पर प्रकाश और ज्ञान डालो जब तक वह परिवर्तित न हो जाये।

२९ मई १९३४

माताजी, आपने लिखा कि मुझे अपरिवर्तित भाग पर तब तक प्रकाश और ज्ञान डालना चाहिये जब तक वह परिवर्तित न हो जाये। मेरे ख्याल से आप ही इसे कर सकती हैं।

मेरे कहने का मतलब ठीक यही है; तुम्हें केवल श्रीअरविन्द या मुझे पुकारना चाहिये और यह कहना चाहिये कि यह अंधेरा हिस्सा प्रकाशित और परिवर्तित हो जाये।

३० मई १९३४

आज सुबह अच्छी अभीप्सा थी। लेकिन प्रणाम के बाद मुझे कुछ बेचैनी-सी लगी। इस समय कभी मैं स्वयं को खुश तो कभी दुःखी अनुभव कर रहा हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि मुझे क्या हो रहा है।

इसमें कोई असाधारण बात नहीं है। ऐसे बहुत-से लोग हैं।

३१ मई १९३४

‘त्र’ बहुत बार मुझ से व्याकरण के प्रश्न पूछता है। मैं फ्रेंच अच्छी तरह नहीं जानता। इसलिए अगर वह प्रश्न न पूछे तो ज्यादा अच्छा होगा।

तुम थोड़ा-बहुत जो भी जानते हो, वह दूसरों को बता सकते हो, लेकिन इस बात का ध्यान रखो कि उन्हें सचेत कर दो कि तुम्हें फ्रेंच बहुत नहीं आती और तुम अपने उत्तरों की शुद्धता के बारे में निश्चित नहीं हो।

३१ मई १९३४

कल रात मैं नौ से दस तक पढ़ता रहा। मैं और भी पढ़ना चाहता था, लेकिन मैंने सोचा कि आप इसे पसन्द नहीं करेंगी।

हां, तुम ठीक हो। तुम्हें बहुत रात तक काम नहीं करना चाहिये।

१ जून १९३४

शान्ति दोशी

धन-शक्ति

धन एक वैश्व शक्ति का प्रत्यक्ष चिह्न है। यह शक्ति धरती पर प्रकट होकर प्राण और जड़ के स्तरों पर कार्य करती है और बाहरी जीवन की पूर्णता के लिए इसका होना अनिवार्य है। अपने मूल और वास्तविक कर्म की दृष्टि से यह भगवान् की शक्ति है। परन्तु भगवान् की अन्य शक्तियों की भांति यह शक्ति भी यहां औरों को सौंप दी गयी है और निम्नतर प्रकृति के अज्ञान में इसका अपहरण अहंकार के उपयोग के लिए हो सकता है या आसुरी प्रभावों की पकड़ में आकर उनके उद्देश्यों के लिए विकृत की जा सकती है। वास्तव में यह उन तीन शक्तियों—सत्ता, धन, कामवासना—में से एक है जिनके लिए मानव-अहंकार और असुरों को सबसे अधिक आकर्षण होता है और जिन लोगों के पास ये हैं वे अधिकतर इनके अनधिकारी हैं और इनका दुरुपयोग ही करते हैं। धन को खोजने वाले या रखने वाले अधिकतर उसके स्वामी नहीं दास ही होते हैं। बहुत कम ही लोग उस विकृतिकारक प्रभाव से पूरी तरह बच पाते हैं जिसकी छाप लम्बे समय से असुरों के हाथों में रहने और उनके द्वारा इसका दुरुपयोग होने से इस पर लग गयी है। इसी कारण अधिकतर आध्यात्मिक साधनमार्ग पूर्ण आत्म-संयम और अनासक्ति पर तथा धन के सारे बन्धनों और उसे पाने की सारी व्यक्तिगत और अहंकारयुक्त अभिलाषा के त्याग पर बल देते हैं। यहां तक कि कुछ तो धन और वैभव पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं और जीवन की दरिद्रता तथा रिक्तता को ही एकमात्र आध्यात्मिक अवस्था घोषित करते हैं। किन्तु यह एक भूल है जो उस शक्ति को विरोधी सत्ताओं के हाथों में छोड़ देती है। यह भगवान् की है और इसे भगवान् के लिए पुनः जीतना और भागवत जीवन के लिए भागवत भाव से इसका उपयोग करना है—यही साधक के लिए अतिमानसिक मार्ग है।

तुम्हें धनशक्ति और उससे प्राप्त होने वाले साधनों और पदार्थों की ओर से वैरागियों की तरह न तो मुड़ना चाहिये, न ही इनके प्रति राजसिक आसक्ति रखनी चाहिये और न ही इनके सुखों को भोगने की वृत्ति का दास होना चाहिये। धन को बस एक शक्ति मानो जिसे माँ के लिए फिर जीतना है और माँ की सेवा में अर्पण करना है।

सारा धन भगवान् का है। वह जिन लोगों के हाथ में है वे उसके मालिक नहीं, न्यासी या 'ट्रस्टी' हैं। आज वह उन लोगों के पास है, कल कहीं और हो सकता है। सब कुछ इसपर निर्भर करता है कि जबतक धन उनके पास है, वे अपनी धरोहर को किस प्रकार रखते हैं, उसका किस भाव से, किस चेतना से, किस उद्देश्य के लिए उपयोग करते हैं।

धन का अपने लिए उपयोग करते हुए, जो कुछ तुम्हारे पास है, तुम्हें मिलता है या तुम लाते हो उसे माँ का मानो। कोई माँग न करो, वरन् जो कुछ वे दें उसे स्वीकार करो और वह जिस काम के लिए दिया गया हो उसी काम में लगाओ। पूरी तरह निःस्वार्थ, पूरे ईमानदार और सच्चे बनो, ब्योरे की एक-एक बात का ध्यान रखने वाले एक अच्छे 'ट्रस्टी' बनो। सदा ध्यान रखो कि तुम जिस धन का उपयोग कर रहे हो वह माँ का है, तुम्हारा नहीं। दूसरी ओर, माँ के लिए जो कुछ तुम्हें मिले उसे धार्मिक भाव से उनके सामने रखो, कुछ भी अपने या और किसी के काम में न लगाओ।

किसी को उसके धन के कारण ऊँचा न समझो, और न उसके आडम्बर, शक्ति या प्रभाव का अपने ऊपर असर होने दो। माँ के लिए जब किसी से माँगो तो यह अनुभव करो कि तुम्हारे द्वारा माँ ही उस वस्तु का एक छोटा-सा अंशमात्र माँग रही हैं जो उनकी है, और तुम जिस व्यक्ति से माँगते हो उसकी जाँच उसके उत्तर से होगी।

यदि तुम धन के दोष से मुक्त हो—लेकिन बिना वैरागियों की-सी विरक्ति के—तो तुम्हें भगवान् के काम के लिए धन पर अधिकार करने की अधिक क्षमता प्राप्त होगी। मन की समता, माँग का अभाव और जो कुछ तुम्हारे पास है और तुम्हें मिलता है, जो कुछ तुम्हारी उपार्जन-शक्ति है उस सबका भगवती शक्ति के चरणों में और उसी के कार्य में पूरा अर्पण—ये इस मुक्ति के लक्षण हैं। धन के सम्बन्ध में या उसके उपयोग में किसी प्रकार की मन की चञ्चलता, अधिकार की भावना या दुर्भाव का होना किसी-न-किसी अपूर्णता या बन्धन का निश्चित चिह्न है।

इस विषय में उत्तम साधक वह है जिसे यदि दरिद्रता में रहना पड़े तो दरिद्र बनकर रह सके, और अभाव की कोई भावना उसे न खटके, न उसके अन्दर भागवत चेतना की अबाध क्रीड़ा में कोई बाधा पड़े। और यदि उसे समृद्धि में रहना पड़े तो यह भी कर सके, और एक क्षण के लिए भी इच्छाओं-वासनाओं के गर्त में न गिरे, धन या अपने व्यवहार की चीजों पर आसक्ति न हो, विलास-प्रियता का वह दास न हो, या धन रहने पर जो आदतें पड़ जाया करती हैं उनके बन्धन में बेबस न हो जाये। भगवान् की इच्छा और भागवत आनन्द ही उसके लिए सब कुछ हैं।

अतिमानसिक सृष्टि में धन-शक्ति को पुनः भगवती शक्ति के हाथों में ला देना होगा और उसका उपयोग उस तरह करना होगा जैसे माँ भगवती अपनी सर्जनात्मक दृष्टि से एक नवीन, दिव्य प्राणिक और भौतिक अस्तित्व के सत्य, सौन्दर्य और सुसामञ्जस्यमय संगठन और व्यवस्थापन के लिए निर्धारित करें। किन्तु पहली आवश्यकता है धन-शक्ति को जीतकर भगवती माँ के लिए

वापस लाने की। और इस विजय-प्राप्ति के लिए सबसे अधिक सबल वे होंगे जो अपनी प्रकृति के इस भाग में सबल, उदार और अहंकारमुक्त हैं तथा बिना किसी प्रत्याशा के निःशेष और निःसंकोच रूप से समर्पित हैं, और परमा-शक्ति के लिए विशुद्ध और शक्तिशाली माध्यम हैं।

—श्रीअरविन्द

‘माता’ पुस्तक से

अपना निरीक्षण अच्छी तरह करो

माताजी, क्या “अपनी चेतना को ऊंचा रखने” का मतलब है उच्चतर विचार पाने की कोशिश करना?

यह तथ्य नहीं परिणाम होता है। जब तुम्हारी चेतना उच्चतर स्तर पर रहती है, तो स्वभावतः वह विचारों के लिए छलनी का काम करती है और केवल उच्चतर प्रकृति के विचारों को ही आने देती है। लेकिन यह तथ्य की अपेक्षा परिणाम है। अपनी चेतना को उच्चतर स्तर पर रखने का मतलब है, उसे सत्ता के निचले स्तरों से ऊपर उठाना, इसका मतलब है उसे प्रकाश में, शान्ति में, उच्चतर ज्ञान और सामञ्जस्य में बनाये रखना, यानी, अपनी चेतना को अपनी सत्ता में अधिक-से-अधिक ऊंचा रखना, ऐसे स्तर पर रखना जहां व्यक्ति सभी निम्न गतिविधियों से मुक्त हो। तब स्वभावतः, अगर चेतना वहां हो तो उसमें जो विचार आते हैं वे उच्चतर कोटि के होते हैं। और विचार चेतना की गति का एक आकार मात्र है, वह चेतना का द्रव्य नहीं है। एक विचारहीन चेतना होती है, चेतना की एक बहुत ऊंची अवस्था है जिसमें कोई विचार नहीं होते। यह वह चेतना है जिसमें चीजों का पूर्ण ज्ञान हो सकता है, लेकिन वह विचारों में या शब्दों में व्यक्त नहीं होता। विचार क्रियावली का एक रूपमात्र है।

“नीरवता...ऊपर से होनेवाले अवतरण के द्वारा ज्यादा आसानी से प्रतिष्ठित हो सकती है।” “ऊपर से” का क्या मतलब है, मधुर माँ?

चेतना के उच्चतर स्तरों से। अगर तुम चेतना के उच्चतर स्तरों की ओर खुलो और ऊपर से शक्ति का अवतरण हो, तो बिलकुल स्वाभाविक ढंग से, वह निचले क्षेत्रों में नीरवता स्थापित कर देती है, क्योंकि नीचे उतरने वाली यह उच्चतर शक्ति उन क्षेत्रों पर नियन्त्रण रखती है। यह शक्ति मन के उच्चतर क्षेत्रों से या उनके भी परे से, या अतिमन तक से आती है। तो जब यह शक्ति और चेतना नीचे आकर निचले क्षेत्र की चेतना में प्रवेश करती हैं, तो स्वभावतः, यह चेतना शान्त-स्थिर हो जाती है, क्योंकि ऐसा लगता है मानों, इस पर आक्रमण हुआ है, इसका रूपान्तर करने वाली उच्चतर ज्योति की बाढ़ आ गयी है।

वास्तव में, अपने मन में निरन्तर नीरवता स्थापित करने का यही एकमात्र उपाय है। उपाय यह है : अपने-आपको उच्चतर क्षेत्रों की ओर खोलो, और इस उच्चतर चेतना, शक्ति और

प्रकाश को निरन्तर अपने अन्दर, निम्न मानस में उतरने दो और उस पर अधिकार कर लेने दो। जब ऐसा होता है, तो निम्न मानस हमेशा स्थिर-शान्त और नीरव रह सकता है, क्योंकि यही क्रियाशील रहता है और सारी सत्ता को भरे रहता है। मन के सक्रिय हुए बिना तुम काम कर सकते हो, लिख और बोल सकते हो। मन अपने-आपमें एक निष्क्रिय यन्त्र बन जाता है और ऊपर से आने वाली यह शक्ति उसमें प्रवेश करती और उसका उपयोग करती है। और वास्तव में, नीरवता स्थापित करने का यही एकमात्र तरीका है; क्योंकि एक बार यह स्थापित हो जाये, नीरवता स्थापित हो जाये तो मन फिर हिलता-डुलता नहीं, जब यह शक्ति उसमें अभिव्यक्त होती है, तो वह इसी की प्रेरणा से चलता है। वह एक बहुत स्थिर, बिल्कुल नीरव क्षेत्र के जैसा हो जाता है, और जब शक्ति नीचे आती है तो तत्त्वों को गतिशील बनाती है और उनका उपयोग करती है। वह मन के आलोड़ित हुए बिना उसके द्वारा अभिव्यक्ति पाती है। मन बिल्कुल स्थिर रहता है।

मधुर माँ, हम चेतना को मिश्रित चीज़ों से कैसे खाली कर सकते हैं?^१

अभीप्सा के द्वारा, निचली गतियों के त्याग द्वारा और उच्चतर शक्ति को पुकार कर। अगर तुम अमुक गतियों को स्वीकार न करो, तो स्वभावतः जब उन्हें पता लगेगा कि वे अभिव्यक्त नहीं हो सकतीं, तो धीरे-धीरे उनका बल घटता जायेगा और वे आना बन्द कर देंगी। अगर तुम हर निम्न प्रकार की चीज़ को अभिव्यक्त करने से इन्कार कर दो, तो ज़रा-ज़रा करके वह चीज़ गायब हो जाती है, और तुम्हारी चेतना निम्नतर चीज़ों से खाली हो जाती है। यह अभिव्यक्त करना अस्वीकार करने से हो सकता है—मेरा मतलब है केवल क्रिया में ही नहीं, विचारों और भावनाओं में भी। जब आवेश, विचार, भाव आयें, तो अगर तुम उन्हें अभिव्यक्त करने से इन्कार कर दो, अगर तुम उन्हें एक ओर धकेल दो और आन्तरिक अभीप्सा और अचञ्चलता की स्थिति में रहो, तो आहिस्ता-आहिस्ता उनका बल घटता जाता है और वे आना बन्द कर देते हैं। तो इस तरह चेतना निचली गतियों से खाली हो जाती है।

लेकिन उदाहरण के लिए, जब अवाञ्छनीय विचार आयें, तो यदि तुम उन्हें देखो, उनका अवलोकन करो और अगर तुम उनकी गतिविधि का अनुसरण करने में सुख अनुभव करो तो वे कभी आना बन्द न करेंगे। जब अवाञ्छनीय भावनाएं या संवेदन आयें तो भी यही बात होती है: अगर तुम उनकी ओर ध्यान दो, उनपर एकाग्रचित होओ या उन्हें कुछ शौक से देखो, तो वे कभी बन्द न होंगे। लेकिन अगर उन्हें ग्रहण करने से या व्यक्त करने से एकदम इन्कार कर दो, तो कुछ समय बाद उनका आना बन्द हो जायेगा। तुम्हें धैर्यशील और बहुत आग्रही होना चाहिये।

^१ “निश्चलता बनाये रखो और अगर कुछ समय के लिए वह खाली निश्चलता हो तो परवाह न करो; चेतना प्रायः उस पात्र की तरह होती है जिसे उसकी घुली-मिली या अवाञ्छनीय चीज़ों से खाली करना पड़ता है; उसे कुछ समय के लिए, तबतक खाली रखना पड़ता है जबतक वह नयी और सच्ची, ऋजु और पवित्र वस्तुओं से भरी न जा सके।”

लेने
गोंकै
काम
गा है
और
न हो
व्यक्त
नैसा
योग
स्थिर

किसी बड़ी अभीप्सा में, यदि तुम अपने-आपको किसी उच्चतर चीज़ के सम्पर्क में रख सको, अपने चैत्य पुरुष के प्रभाव में या किसी उच्चतर प्रकाश के साथ, और अगर तुम उसे इन नीची गतिविधियों के स्पर्श में ला सको, तो स्वभावतः वे ज़्यादा जल्दी बन्द हो जायेंगी। लेकिन अभीप्सा के द्वारा इन चीज़ों को खींच सकने से पहले ही, तुम सतत आग्रह और धैर्यशील अस्वीकृति के द्वारा अपने अन्दर इन चीज़ों के प्रकट होने को रोक सकते हो। जब ऐसे विचार आते हों जो तुम्हें पसन्द नहीं हैं तो तुम उन्हें बस, एक ओर झटक दो, और उनकी ओर ज़रा भी ध्यान न दो, तो कुछ समय बाद वे आना बन्द कर देंगे, लेकिन तुम्हें यह चीज़ नियमित रूप से और आग्रह के साथ करनी चाहिये।

आपने कहा है कि हमें यह जानना चाहिये कि भागवत 'कृपा' के बिना हम कुछ भी नहीं हैं। यह जानने के लिए कि हम कुछ भी नहीं हैं, इतना सारा प्रयास क्यों किया जाये?

तुम
नहीं
हर
वीज़
यक्त
और
से
नता
देते

इतना प्रयास क्यों किया जाये? किस अर्थ में? तुम यह प्रयास किसी व्यक्तिगत कारण से करना चाहते हो? क्या तुम निजी सन्तोष के लिए यह प्रयास करना चाहते हो? यह उन लोगों की तरह है जो कहते हैं : "अगर मैं काम नहीं कर रहा, और यह मेरा काम नहीं है, तो मैं काम ही कैसे कर सकता हूँ?" यह वही बात है, और फिर भी बात ऐसी ही है। अगर तुम्हें ऐसा लगता है तो इसका अर्थ है कि अभी तुम्हें अपने अहं की आवश्यकता है, बहुत अधिक आवश्यकता है, और अगर अचानक तुमसे अहं को छीन लिया जाये, तो तुम कुछ भी न कर सकोगे। अगर तुम्हें कुछ करने के लिए किसी निजी हेतु की ज़रूरत है, तो इसका मतलब यह है कि अभी तक तुम पूरी तरह अपने अहं में ही हो, समझे। जब तक यह ज़रूरी है, तब तक तुम्हें उसमें रहना होगा। लेकिन तब तुम्हें यह न सोचना चाहिये कि तुम तेज़ी से बढ़ सकते हो। इसमें बहुत लम्बा समय लगता है, कभी-कभी कई जीवन, और कई बार बहुत-से जीवन। अगर तुम्हें कुछ करने के लिए निजी कारणों की ज़रूरत है, तो तुम्हें तब तक प्रतीक्षा करनी होगी जब तक तुम प्रगति करके उसमें से बाहर न निकल आओ, और यह समझ सको कि तुम्हें निजी कारणों से कोई चीज़ नहीं करनी चाहिये।

वका
तो
तेती
तो
कर
नेना

उदाहरण के लिए, किसी निजी हेतु से तुम्हें पूर्णता की चाह न करनी चाहिये, किसी निजी हेतु से तुम्हें भगवान् के साथ ऐक्य न चाहना चाहिये, किसी निजी हेतु से तुम्हें अतिमानसिक रूपान्तर की चाह न करनी चाहिये। अगर यह तुम्हारे अपने भले के लिए और निजी कारणों से है, तो अपनी राह चलते रहो; मैं कहती हूँ तुम वहां पहुंच जाओगे—कई जीवनो के बाद। देखो, एक ऐसी अवस्था होती है जब आदमी यह समझ भी नहीं सकता कि वह व्यक्तिगत हेतु छोड़कर ज़िन्दा भी रह सकता है। जबतक ऐसा है...। अगर अचानक तुम्हारी निजी चेतना और प्रयोजन से "मैं" को अलग कर दिया जाये, तो तुम्हारा अस्तित्व ही न रहेगा। इसलिये तुम्हें चुपचाप तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब तक तुम अपने अन्दर यह अनुभव न कर लो कि यह वस्तुओं का सच्चा प्रयोजन नहीं है।

रो:
रना
और

क्या प्रतीक्षा करने के सिवाय और कुछ नहीं किया जा सकता?

क्या? प्रतीक्षा करने के सिवाय कुछ नहीं? मेरे लिए!... मैं तुम्हारे तैयार होने के लिए घड़ियां गिना करती हूं! (माताजी हंसती हैं।)

यह बहुत नाज़ुक मामला है, अगर कोई बहुत लम्बे समय तक अनुभव नहीं करता, अपने-आपको पूर्ण करने की जगह यह निजी अभीप्सा नहीं करता, भगवान् के साथ नाता जोड़ने की निजी अभीप्सा नहीं करता, अतिमानस चेतना को उपलब्ध करने की निजी अभीप्सा नहीं करता तो वह कहता है, जैसे तुम अभी कह रहे थे : "कुछ करने का लाभ ही क्या है? बस चुपचाप रहना ही ठीक है।" हां, तो जबतक स्थिति ऐसी है, जब तक तुमने अपने अन्दर इतनी चेतना विकसित नहीं कर ली कि चीज़ और तरह से हो, तब तक कहने या करने के लिए कुछ नहीं है। मुझे बस, प्रतीक्षा ही करनी होगी।

"प्रतीक्षा" का मतलब कुछ जन्मों तक?

हां।

कुछ लोगों के लिए चीज़ ज़्यादा तेज़ चल सकती है; अगर अचानक कोई चीज़ अन्दर से पलट जाये और उन्हें कोई अनुभूति हो जाये—चाहे वह चैत्य के साथ तादात्म्य का अनुभव ही क्यों न हो—तो वे अचानक समझ सकते हैं। चैत्य पुरुष के साथ तादात्म्य का अर्थ है भगवान् की चेतना के साथ तादात्म्य। तो जैसे ही वे समझ पाते हैं, तो समझ लेते हैं और इससे उन्हें हंसी भी आती है। उन्हें लगता है कि हम कैसे बेवकूफ़ थे! (माताजी हंसती हैं।)

अपने व्यक्तित्व की यह भावना एक प्रकार का पिंजरा बन जाती है, यह एक जेल है जो तुम्हें बन्द रखता है, जो तुम्हें सच्चा होने से, सचाई के साथ जानने से, सचाई के साथ कार्य करने से, सचाई के साथ समझने से रोकता है। यह ऐसा है मानों किसी ने तुम्हें एक बहुत कठोर खोल के अन्दर बन्द कर दिया है, और तुम उसमें रहने के लिए बाधित हो।

तुम्हें सबसे पहले यही संवेदन मिलता है। इसके बाद तुम उस खोल को तोड़ने के लिए उस पर टक़ोरे करते हो। कभी-कभी वह बड़े लम्बे समय तक प्रतिरोध करता है। फिर भी, जब तुम यह अनुभव करना शुरू कर दो कि तुम जिसे अपना स्व समझते थे, वह व्यक्ति समझते थे जो चीज़ें करता है और जिसके लिए वे की जाती हैं, जिस व्यक्ति का अस्तित्व है और जो तुम्हें वह बनाता है जो तुम हो, हां तो, जब तुम इसमें से होकर उस चेतना में जाते हो कि यह सब एक जेल है जो तुम्हें अपना सच्चा स्व होने से रोकता है, तो तुम बड़ी प्रगति कर लेते हो और तब आशा है। तुम्हें ऐसा लगने लगता है कि तुम घुट रहे हो, कुचले जा रहे हो, बिना हवा के, बिना प्रकाश के, बिना किसी छेद के जेल में पूरी तरह बन्द हो, तब तुम अन्दर से धक्का देना शुरू करते हो, धक्का देते हो, धक्का देते हो और धक्का देते हो ताकि वह टूट जाये।

और जिस दिन वह दरवाज़ा टूटता है, जिस दिन वह खुलता है, तुम अचानक, चैत्य चेतना में प्रवेश करते हो। और तब तुम समझते हो। और तब, सचमुच यदि तुम्हारे अन्दर हास्य-रस है, तो तुम हंसते हो; अपनी मूढ़ता का अनुभव करते हो।

माताजी, आपने एक दिन कहा था कि भगवान् के साथ तादात्म्य पाने से पहले, तुम्हें व्यक्ति बनना चाहिये।

प्रडियां
अपने-
ने की
करता
पचाप
चेतेना
नहीं

हां, ठीक है, बात ठीक ऐसी ही है। तुम अभी व्यक्ति बनने के काल में हो। और जबतक तुम व्यक्ति बनने के इस काल में हो, तुम्हें इसके गुजर जाने की राह देखनी होगी, यानी, उस समय की राह देखनी होगी जबतक तुम एक सचेतन व्यक्ति न बन जाओ, पूरी तरह सचेतन। यही बात है। २२ सितम्बर १९५४

—‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड ६; पृ. ३२१-३२७

केवल संकट के समय नहीं

जब गर्मी बढ़ने लगती है तो दिमाग का पारा भी चढ़ने लगता है। मगर आजकल गर्मी का सामना कर सकने के लिए नाना तरह के यन्त्र बाजार में उपलब्ध हैं। पहले तो बस पंखा ही गर्मी से लड़ने का एकमात्र शस्त्र था। “सीलिंग फैन” तो थे ही, मगर कुछ कम दाम में चाहिये हो तो फ्रश पर रखे जाने वाले पंखे भी मिल जाते थे। नाटे चाहिये तो नाटे और लम्बे चाहिये तो लम्बे। ‘भों’-सी आवाज़ करते हुए खूब तेज़ी से चलते थे वे! उनको चाहें तो घुमाया भी जा सकता था। यह उनकी एक खूबी थी। १८० डिग्री घूमते हुए वे हर एक तरफ कुछ क्षणों के लिए रुकते थे, मगर उन कुछ ही क्षणों में सबके बाल उथल-पुथल हो जाते थे, मानों एक तूफ़ान उन पर से गुज़र गया हो! मगर तपती, काटती, चुंधियाती गर्मी से बचने का उन दिनों पंखा ही एक रास्ता था। परंतु अब समय बदल चुका है। मनुष्य ने बहुत प्रगति कर ली है। पंखों के अलावा आजकल “एअर कूलर” उपलब्ध हैं, “एअर कण्डीशनर” हैं और वे भी अनगिनत विविधता में, अलग-अलग कम्पनियों द्वारा निर्मित अलग-अलग दामों में, छोटे में, बड़े में... और गर्मियों के दिन आते ही टेलिविज़न में हर दूसरा इश्तहार ‘एअर कण्डीशनर’ का ही होता है। इतना ही नहीं, अखबार खोलते ही हम वहां भी वे ही इश्तहार पाते हैं! “दाम ज़्यादा लग रहे हैं? तो कोई बात नहीं! उसका भी हल है हमारे पास! किस्तों में पैसे भरिये और हो जाइये गर्मी से मुक्त!” और तस्वीर होती थी एक महिला की जो पलंग पर “मोनालीसा” की मुस्कान लिये चैन की नींद सो रही है...।

उसे देखकर एक दिन मेरा मन ललचा गया। हफ्ते भर से चैन से सो नहीं पा रही थी! न दोपहर को, न ही रात को। हमेशा से पंखे की आदी मैं, बस उसी से काम चला लेती थी, गर्मी चाहे कितनी भी क्यों न हो। लेकिन अचानक हफ्ते-भर पहले मेरा पंखा आधी रात को मुझे पसीने की नदी में डुबोकर जवाब दे गया! सुन्दर सपनों की दुनिया में से उसने मुझे घसीटकर हकीकत में ला पटका, और हकीकत थी घनघोर अंधेरा और असहनीय गर्मी! सुन्दर सपने चकनाचूर होकर मेरे बदन पर पसीने के रूप में बहने लगे। पहले-पहल तो मुझे लगा कि शायद बिजली चली गयी है और कुछ ही क्षणों में आ जायेगी। लेकिन काफी समय बीत गया और फिर भी पंखा बन्द पड़ा रहा। गला सूखा जा रहा था, सो उठकर अंधेरे में टटोलते हुए मैं मेज़ की तरफ बढ़ने लगी, जिस पर पानी की बोतल रखी थी। तभी टटोलती मेरी उंगलियां दीवार पर बत्ती के बटन को छू गयीं तो यह क्या? सारा कमरा सुनहरी रोशनी से चमक उठा। मैं तो खुशी के मारे फूली न समायी। चलो, अब कम-से-कम ४-५ घण्टे तो आराम से सो पाऊंगी, बिजली जो आ गयी थी। मगर यह क्या? बत्ती तो जल रही थी लेकिन पंखा तो अब भी बन्द

था। दो-चार बार बटन 'ऑन-ऑफ़' किया मगर अफ़सोस, पंखा मानों हड़ताल पर था। अगले दिन 'इलेक्ट्रिशियन' को बुलाया तो पता चला कि पंखा मरम्मत के लायक भी नहीं रहा था। उस नौजवान ने मुझे साफ़-साफ़ कह दिया, "दीदी, अब तो यह पंखा काम से गया। आपको नया लेना पड़ेगा। लेकिन पंखे की बजाय आप 'ए.सी.' क्यों नहीं लगवा लेती? मेरे रिश्तेदार की दूकान है, किस्ती में पैसे भर देना। तिसपर, आपको कुछ 'डिस्काउण्ट' भी दिलवा दूंगा।"

'ए.सी.' के इश्तहारों ने मन में उसकी इच्छा के बीज तो बो दिये थे और 'इलेक्ट्रिशियन' के शब्दों ने उन्हें सींच भी दिया। मैंने हां कर दी और अगले ही दिन मेरे कमरे में 'ए.सी.' लग भी गया। शनिवार की शाम थी। काम से थकी-माँदी मैं घर यूँ लौटकर आयी मानों मेरे पैरों में पंख लगे हों। जी हां, 'ए.सी.' का आराम जो लेना था! अगले दिन, यानी कि इतवार को, मैंने कमरे से न निकलने की ठान ली। पूरे २४ घण्टों तक मैं अपने ठण्डे-ठण्डे कमरे का आनन्द लेने वाली थी। इतना ही नहीं, अपने पूरे २४ हजार रुपयों का पूरा-पूरा फायदा जो उठाना था! (अभी पूरे पैसे भरे नहीं थे, वह बात अलग थी।) लेकिन हुआ कुछ और। २४ घण्टे क्या, शायद २४ मिनटों में ही मुझे अपने कमरे में से भागकर बच निकलना पड़ा। हुआ यह कि मुंह-हाथ धोकर भर-पेट खाकर मैं आराम से सो तो गयी, लेकिन कुछ ही समय में मुझे बेचैनी होने लगी, कुछ जलने की बदबू आने लगी। गहरी नींद से हड़बड़ा कर उठी तो अंधेरे में कुछ दिख नहीं रहा था, मगर धुएं से आंखें जलने लगी थीं और दम घुट रहा था, खांसी आ रही थी मगर खांस नहीं पा रही थी। फिर अचानक 'ठप्प-ठप्प' की आवाज़ के साथ आतिशबाज़ी की तरह दो-चार चिनगारियां अंधेरेपन में कौंध गयीं। तब जाकर मेरा माथा ठनका—हे भगवान्, यह तो बिजली का "शॉट-सर्किट" है। बिस्तर से लपककर पलभर में मैं कमरे से बाहर आ गयी। पूरे घर का "मेन" बुझा दिया। बाद में पता चला कि अगर कुछ और क्षण मैं अन्दर रहती तो आग लग जाती! अगले दिन इतवार था तो 'ए.सी.' की दूकान भी बन्द और बिजली-विभाग भी! शायद मेरे ही एक कमरे में बिजली नहीं थी, मगर 'मेन' फिर से चलाकर देखने की मेरी हिम्मत नहीं थी। इसलिए पूरा इतवार 'ए.सी.' के ठण्डे आराम में तो दूर, असह्य गर्मी और रात को घुप्प अंधेरे में कटा। स्वभावतः मैं 'ए.सी.' के दूकानदार को कोसती रही। आखिर जब सोमवार आया (एक अरसे के बाद!) तो दूकान पहुंची अपनी शिकायत लेकर। उन्होंने कहा कि वे ज़रूर 'मेकैनिक' को मेरे घर भेजेंगे। फिर वहां से बिजली-विभाग भागी। वहां भी वही जवाब मिला। लेकिन शाम के चार बजे तक न 'मेकैनिक' आया न ही 'एलेक्ट्रिशियन'। मैं फ़ोन करती तो कहते कि उनका आदमी बाहर गया हुआ है किसी और काम से और उसके आते ही वे उसे भेज देंगे। मेरा पारा तो चढ़ता गया; न सिर्फ गर्मी की वजह से बल्कि गुस्से की वजह से भी। आखिर साढ़े चार बजे जब निराश होकर मैंने हार मान ली, तब अचानक दोनों एक ही साथ आ गये। जांच-पड़ताल करके 'ए.सी.' मेकैनिक ने कहा कि यन्त्र की कोई ग़लती नहीं थी बल्कि बिजली की लाइन में ग़लती थी। और इलेक्ट्रिशियन का कहना था कि 'ए.सी.' की वजह से ही "शॉट सर्किट" हुआ था। और इस बात को लेकर उनमें वहीं बहस छिड़ गयी। दिन-भर अपना सारा काम-काज छोड़कर इस गर्मी में बिजली के बिना क्या मैं इसी बहस को सुनने के लिए बैठी थी? 'ए.सी.' जाये भाड़ में, बस घर में बिजली लौट आये, यह काफ़ी था मेरे लिए। पहले से ही अगर चुपचाप मैं एक नया पंखा ही खरीद लेती तो यह रामायण नहीं घटती। आखिर नया

अगले
। उस
। नया
र की
!"
शयन'
' लग
रों में
, मैंने
मानन्द
था!
क्या,
मुंह-
होने
दिख
मगर
तरह
ह तो
। पूरे
आग
भी!
म्मत
घुप्
नवार
नरूर
वला।
तो
उसे
भी।
साथ
ल्कि
ने ही
पपना
लिए
पहले
नया

पंखा तो खरीदना ही पड़ा! 'ए.सी.' को तो मरम्मत के लिए ले गये हैं, न जाने कब लौटायेंगे। पहले से ही पंखा खरीदती तो २४ हजार की बजाय १,२०० में काम निपट जाता। खैर, किये पर रोने से अब क्या फायदा। मैंने 'ए.सी.' के निर्माताओं से शिकायत की है कि पहले ही दिन वह खराब हो गया और मेरी ज़िन्दगी खतरे में थी। या तो पैसे मिल जायें या फिर वही 'ए.सी.' ठीक होकर आ जाये। लेकिन सच पूछो तो अब मुझे 'ए.सी.' का कोई शौक नहीं। बेहतर होगा कि मुझे अपने खून-पसीने की कमाई के पैसे वापस मिल जायें। पूरी दुनिया में हजारों सैकड़ों लोग 'ए.सी.' का आनन्द पाते हैं, यह दुर्घटना मेरे ही साथ क्यों होनी थी?

कहते हैं कि सब कुछ भगवान् की लीला है। हां, मेरे साथ यह दुर्घटना हुई तो थी लेकिन आग लगने से पहले उन्होंने मुझे बचा भी तो लिया था। हम अपनी साधारण नैतिक ज़िन्दगी में इतने मग्न होते हैं कि ऐसे झटके पाकर, धक्के खाकर ही हम भगवान् के प्रति जाग उठते हैं और कहते हैं, "हे प्रभो, अपरम्पार है तेरी कृपा।" मगर हमें यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि भगवान् की कृपा हमेशा हमारे साथ होती है, केवल संकट के समय नहीं!

—कनिष्ठा

'गेर्वाणी':

तत् पत्रम्

कथ्यते यत् राष्ट्रपते: लिङ्कन-महोदयस्य दाढिकाधारणे अवर्तत एकं रहस्यम्। नैषः बहुविदितः वृत्तान्तः। अथ श्रूयताम्—

यद्यपि लिङ्कन-महोदयः केवलं चतुर्वर्षाणि एव दाढिकामधारयत् किन्तु अद्य तस्य दाढिकाविहीनाननस्य कल्पना एव दुष्करी। ग्रेस् बेडेल् इति नामधेयायाः लघु-बालिकायाः उल्लेखः न कस्मिन्नपि इतिहासपुस्तके, न च बहवः एतेन तथ्येन परिचिताः यत् सा एव राष्ट्रपतेः दाढिकावर्धनाय उत्तरदायिनी अवर्तत। स्वयं राष्ट्रपतिः महोदयः एव बहुशः तस्याः चर्चामकरोत् अकथयच्च— "कदाचित् लघु-लघु-प्रसङ्गाः कथं जीवनगतिमेव परिवर्तयन्ति!"

न्यूयॉर्क-नगरस्य वेस्टफील्ड इति स्थाने दश-वर्षीया ग्रेस् बेडेल् पित्रा सद्यः दत्तं तत् चित्रमपश्यत् यस्य विषये तेन कथितम्—"वत्से! गृहाण एतत् चित्रम्। एषः भद्रः पुरुषः अस्ति अब्राहम् लिङ्कन्। यदि एषः प्राप्नुयात् निजपक्षे पर्याप्तमतानि तर्हि भविष्यति एषः एव नः राष्ट्रपतिः।"

सायङ्कालः, दीपालोके निर्निमेषमपश्यत् सा भावि-राष्ट्रपतेः तत् रेखाचित्रम्। तस्मिन् निरता सा अवालीकयत् प्रत्येकं केशम्, वस्त्रस्य प्रत्येकं वलिञ्च। हठात् चित्रं सजीवमिवाभूत्। दीपप्रकाशे चित्रगते गभीरनेत्रे उज्ज्वलतरे अभवताम्। पूर्णतया गभीरवदने स्मितिः उद्भूता इव। अहो! एतौ चिपटौ कपोलौ न कथमपि शोभेते इति स्वगतं वदन्ती सा अङ्कनीम् आदाय तस्मिन् चित्रे निज-कौशलम् आरब्धवती। अर्धहोरायाः परं तु तद् रेखाचित्रं रूपान्तरितम्! दशवर्षीया बालिका अब्राहम् लिङ्कन्-महोदयस्य आननं दाढिकया तथा व्यभूषयत् यत् स्वस्य कृतिम् एकला एव पर्याप्तकालं प्राशंसत्।—केनापि एषः महाशयः कथनीयः एव इति स्वगतम् उक्त्वा सा तत्कालम् इदं पत्रमलिखत्—

माननीयः महाशयः ए. बी. लिङ्कन्

वेस्टफील्ड्
न्यूयॉर्क्

१५ अक्तूबरः १८६०

प्रिय-महोदय !

अहमस्मि दशवर्षीया बालिका। नाम वर्तते ग्रेस् बेडेल्। मम पिता अधुनैव मह्यं भवतः एकं चित्रं दत्तवान् यस्मिन् चिपटकपोलः भवान् विचित्रः दृश्यते। मया तस्मिन् चित्रे दाढिका अङ्किता। पश्यतु, भवान् कियान् सुन्दरः भिन्नश्च दृश्यते। पत्रेण सह चित्रं प्रेषयामि। भवान् स्वयमेव बोधिष्यति।

मम समवयस्काः पुत्र्यः सन्ति किं भवतः? यदि स्युः तर्हि प्रचुरं स्नेहं प्रेषयामि तासामपि अर्थे। पिता कथयति स्म यदस्मिन् काले तु भवान् अतिव्यस्तः भविष्यति। समयस्य अभावे कृपया कामपि पुत्रीं मम पत्रोत्तराय कथयतु। मम चत्वारः ज्यायांसः भ्रातरः सन्ति। तेषु द्वौ पूर्वतः एव भवतः पक्षे मतदानं करिष्यतः इति निश्चितवन्तौ, अन्यौ अधुनापि अस्थिरचित्तौ प्रतीयते। दाढिकासम्बद्धे मे प्रस्तावे स्वीकृते पूर्णतया चेष्टिष्ये यत् अन्यौ अस्थिरमानसौ अपि भवतः एव पक्षे भवेताम्। दर्पणे निजाननं पश्यतु तावत्! कियत् कृशं दृश्यते। दाढिकया तु सत्यं शोभनः द्रक्ष्यते भवान्। भवन्तं प्रत्याययामि च यत् भवतः सुदर्शनेन वदनेन आकृष्टाः जनाः अवश्यमेव भवतः पक्षे मतदानं करिष्यन्ति येन भवान् सुखेन राष्ट्रपतिपदं प्राप्स्यति।

गभीरतया विचारयतु तावत्। भवतः लाभस्य एव चर्चा कृता मया।

अन्यत् सर्वं कुशलम्। इति

भवतः पुत्री-सदृशी
ग्रेस् बेडेल्

राष्ट्रपतिपदाय प्रचारप्रसारयोः अर्थे तेषु व्यस्तदिनेषु लिङ्कन्-महोदयस्य मुख्यालये प्रतिदिनम् न्यूनात् न्यूनं ५० पत्राणि आगच्छन्ति स्म। तेषां पत्राणां चयनार्थम् आस्तां रॉबर्ट् जॉन् च नामधेयौ द्वौ कुशलौ युवानौ सचिवौ। व्यक्तिगतानि महत्त्वपूर्णानि च पत्राणि एव लिङ्कन्-महोदयस्य सकाशे गच्छन्ति स्म, अन्येषां सामान्यपत्राणाम् उत्तराणि तु तौ एव अदत्ताम्।

जॉन् अन्येदकं पत्रचयम् उन्मोचितवान्। ततः प्रथममेव पत्रं पठित्वा उच्चैः अहसत्—“अहो! सम्प्रति लघु-लघु-बालिकाः नः मुख्यं राष्ट्रपतेः पदप्रापणस्य उपायान् दर्शयन्ति।”

“अयि, वर्तन्ते अद्य शतादधिक-पत्राणि। एतादृशेषु पत्रेषु समयं नं नाशयित्वा शीघ्रातिशीघ्रं हस्तं चालय।” किञ्चित् कठोरस्वरेण उक्तवान् रॉबर्ट्।

किन्तु जॉन्-कर्णयोः न पतितः मित्रस्य स्वरः। सः तु पूर्ववत् सोल्लासं पुनरपि अगदत्—“अयि, शृणु तावत्! अस्याः लघु-बालायाः मतानुसारेण नः नायकः यदि दाढिकां धारयेत् तर्हि सर्वे तस्यैव पक्षे मतदानं करिष्यन्ति!! अहो! सत्यमेव सर्वथा मौलिकः विचारः। रॉबर्ट्! एतत् पत्रं तु अधुनैव गत्वा लिङ्कन्-महोदयाय दातव्यम्।”

जॉन्! न वर्तते एषा परिहासवेला। मतदानसमयः सन्निकटः। एतादृशानि बालोचितानि पत्राणि गृहीत्वा उपवेशनाय नास्ति अयं कालः, बोधसि सम्यक्? तत् पत्रम् अञ्जसा क्षेप्यभाण्डारे क्षिप्त्वा उद्घाटय एतत्। अति-महत्त्वपूर्णं प्रतीयते पेनिसिलवेनिया-देशस्य राज्यपालस्य एतत् पत्रम् इति दृढं कथयन् कुपितः रॉबर्ट् मित्रस्य सम्मुखे एकं पत्रमकरोत्।

फील्ड
यूयॉर्क
८६०

तूष्णीकः जॉन् तत् बालानुरूपं पत्रं सावधानतया गोहे निधाय यथानित्यं कार्यं प्राचालयत् किन्तु अद्य अन्यानि सर्वाणि तथाकथित-महत्त्वपूर्णानि पत्राणि तं नीरसानि, अति-सामान्यानि प्रतीयन्ते स्म। तस्य हृदयङ्गतं तु तस्याः लघुबालिकायाः सुखदम् असामान्यं तत् पत्रं यत् तस्य मित्रस्य अर्थे व्यर्थप्रायम्!!

एकं
कृता।
यति।
मपि
पया
एव
म्बद्धे
ताम्।

तस्य दिनस्य पत्राणां कार्यं रात्रौ चिरं प्राचलत्। कार्ये सम्पन्ने दीर्घं निःश्वस्य रॉबर्ट अवदत्—“दृष्टं जॉन्! अद्यतन-कार्यसम्पादने कियान् विलम्बः जातः! भाग्येन न नाशितः बहु-समयः तस्मिन् बालोचितपत्रे। सत्वरम् एहि। लिङ्कन्-महोदयः प्रतीक्षारतः स्यात्।”

दानं

तेषां महत्त्वपूर्णपत्राणां भारं गृहीत्वा प्रविष्टौ तौ लिङ्कन्-महोदयस्य कक्षम्। रॉबर्ट पत्राणि पटले स्थापयित्वा सहासमगदत्—“महोदय! यथा यथा मतदानसमयः आसीदति तथा तथा भवतः पत्रसम्भारोऽपि वर्धते।”

“अद्य च, महाशय, दशवर्षीयायाः कस्याश्चित् लघु-बालिकायाः अपि पत्रं भवतः नाम्ना आगतम्।”—जॉन् झटिति अकथयत्।

—किन्तु महोदय! मम मतानुसारेण देशदेशान्तराणां प्रधानमन्त्रिणाम्, राज्यपालानाम् उत्तराणि भवता शीघ्रातिशीघ्रं दातव्यानि इत्युक्त्वा रॉबर्ट कुपितनेत्राभ्यां मित्रमपश्यत्।

लिङ्कन्-महोदयः सोत्साहं जॉन्-प्रति हस्तं प्रसार्य सोल्लासम् उक्तवान्—“किं कथितं त्वया? कस्याः अपि लघु-बालिकायाः पत्रम्? अस्तु, रॉबर्ट! ते सर्वे वयस्काः, सुखेन प्रतीक्षितुं शक्नुवन्ति किन्तु बालिकायाः पत्रोत्तरदानं सर्वथा अनिवार्यम्।”

दृशी
डेल्

अचिरमेव बालिकया लब्धं निम्नाङ्कितं पत्रम्—

दनम्
धेयो
काशे

कुमारी ग्रेस बेडेल्
वेस्टफील्ड, न्यूयॉर्क

इलिनुआ
सिंगफील्ड
व्यक्तिगत-पत्रम्
१९ अक्तूबरः १८६०

हो!

प्रिये मे लघु-ग्रेस,

शीघ्रं

१५ दिनाङ्कस्य ते अतीव प्रियं पत्रं प्रान्वमहम्। एतत् ज्ञात्वा कदाचिद् दुःखिनी स्याः यत् न वर्तते मम कापि पुत्री। (सत्यामपि तव पत्रस्य उत्तरं तु मया स्वयमेव दत्तं स्यात्)। मे त्रयः पुत्राः। ज्येष्ठः सप्तदशवर्षीयः, द्वितीयः नववर्षीयः कनिष्ठश्च सप्तवर्षीयः। अस्माकं परिवारे साकल्येन पञ्चसदस्याः—अहम्, मम पत्नी त्रयश्च पुत्राः। तेषां सर्वेषां पक्षादपि अहं तुभ्यं सुमधुरं स्नेहं प्रेषयामि।

नू—
तर्हि
तत्

पुत्रि! दाढिकाविषये यत् त्वया लिखितम्... किन्तु न मन्यसे किं यत् दाढिकामयं मे आननं ननु विचित्रमेव द्रक्ष्यते? अभ्यासोऽपि तु न वर्तते। किन्तु निस्सन्देहं तव कथनं गभीरतया विचारयिष्यामि। अनेकशः धन्यवादाश्च एतादृशाय अमूल्यप्रस्तावाय।

णि
त्वा
इति

गृहसदस्यान्—पितरौ भ्रातृन् च अस्माकम् अभिवादनं ज्ञापय। तुभ्यं च विशेषस्नेहेन सह

पितृसदृशः तव शुभचिन्तकः
ए. लिङ्कन्

वार्तानां पक्षौ भवतः। नैवम्? सम्पूर्णं वेस्टफील्ड्-प्रान्ते दश-वर्षीयायाः बालिकायाः पत्रं चर्चाविषयः जातः।

प्रायः मासात् परं सम्पूर्णं न्यूयॉर्क-नगरे एषः समाचारः प्रसृतः यत् 'व्हाइट हाउस्' तः नवनिर्वाचितः राष्ट्रपतिः अब्राहम्-लिङ्कन् फरवरीमासस्य षोडशे दिनाङ्के वेस्टफील्ड्-प्रान्तं संयानेन आगमिष्यति। स्थेशने एव तत्रत्यान् जनान् सम्बोध्य ततः एव अग्रिमयात्रायाः अर्थे प्रस्थानं करिष्यति। वेस्टफील्ड्-प्रान्तस्य प्रत्येकं निवासी हर्षोन्मत्तः जातः। सम्पूर्णः बेडेल्-परिवारस्तु राष्ट्रपतेः दर्शनाय व्याकुलो दिनानि अगणयत्।

जनाकीर्णं संयानस्थेशने न दृश्यते स्म तिलमात्रमपि रिक्तस्थानम्। सर्वत्र च राष्ट्रपतेः स्वागतार्थम् अमेरिकादेशस्य शतशः पताकाः दोधूयन्ते स्म।

अन्ततः आगतः सः चिरप्रतीक्षितः क्षणः। अन्ये बालाः इव पितुः स्कन्धयोः आसीना ग्रेस् दूरादेव छुकछुकायमानम्, धूम्रमुद्गिरन्तम्, अतिशयं चाकचिक्यमानं संयानमपश्यत्। “अहो! अस्माकं राष्ट्रपतिः प्राप्तः!” ग्रेस् स्वगतम् अवदत्।

संयानं मन्दं मन्दं स्थेशने विरतम्। करतलवादाने अवसितेऽपि तस्य गुञ्जनं बहुकालं प्रावर्तत। ग्रेस् कालं शिरस्त्राणं धृतवन्तं दाढिकामयम् अतीव प्रांशु-पुरुषं संयानादवतरन्तम् अपश्यत्!! “अमरः स्यात् अस्माकं राष्ट्रपतिः।” “अमरः स्यात्...” इति सततध्वनिः सर्वतः मुखरितः। राष्ट्रपतिः पुनः पुनरपि सर्वेषाम् अभिवादनं स्वीकृतवान्। अन्ततो जयजयकारे मन्दीभूते “भाषणम्” “भाषणम्” इति नादः उत्थितः। राष्ट्रपतिः लिङ्कन् बाहू उत्तोल्य शान्तिनिवेदनमकरोत्। तत्कालं तूष्णीकाः जाताः जनाः।

लिङ्कन्-महोदयस्य गभीरवाणी कर्णगता—“भो मित्राणि! न वर्तते मम सकाशे भाषणस्य सामग्री यतो हि धन्यवादज्ञापनाय भाषणानि न दीयन्ते...। मम हस्ते समयोऽपि अत्यल्पः वर्तते। वस्तुतः अहमागतः अत्र विशेषकार्यार्थम्...”। पितुः स्कन्धयोः ग्रेस् श्वासं रुद्ध्वा उपाविशत्। समन्तात् सर्वे तामेव अपश्यन्। बालिकायाः पितरौ, भ्रातरः सर्वे परस्परं हस्तेन हस्तं धृत्वा अतिष्ठन्। किं तेषां हृदयम् अधिकाधिकं जवेन न स्पन्दते स्म?

राष्ट्रपतिः अग्रे अवदत्—“भवतां प्रान्ते वस्तुतः मम एकः लघु-पत्राचारः जातः। दश-वर्षीया बालिका अतर्कयत् यत् मे कृशे मुखे दाढिका-वर्धनेन अति-प्रभाविताः जनाः सुनिश्चितं मम पक्षे मतदानं कृत्वा मामेव राष्ट्रपतिपदे विभूषयिष्यन्ति। दृश्यताम्, एषः अहमद्य भवतां सम्मुखे राष्ट्रपति-रूपेण तिष्ठामि।” निज-दाढिकां संवाहयन् राष्ट्रपतिः मन्दं मन्दम् अस्मयत। “यदि सा अत्र उपस्थिता स्यात् तर्हि अवश्यं मेलितुमिच्छामि ताम्। सा खलु ग्रेस् बेडेल्।” राष्ट्रपतिः उच्चैः अघोषयत्।

‘ग्रेस्’ ‘ग्रेस्’ ‘ग्रेस्’ नाम्नः पुनरावृत्तिः आरब्धा। पिता पुत्री स्कन्धाभ्याम् अवतारयन् अचुम्बत्। माता, भ्रातरश्च तां सुदृढम् आलिङ्गन्। पितुः हस्तं धृत्वा बालिका अग्रे असरत्। यत्र लेशमात्रमपि स्थानं नावर्तत तत्रैव बेडेल्-परिवारस्य गमनार्थम् अनायासं मार्गः उन्मोचितः। सर्वेषां दृष्टिकेन्द्रमभूत् सा बाला।

अमेरिकादेशस्य राष्ट्रपतेः अब्राहम्-लिङ्कन्-महोदयस्य सर्वथा सम्मुखे अतिष्ठत् दश-वर्षीया ग्रेस् बेडेल्। दृष्टिम् उन्नम्य यथैव अपश्यत् सा राष्ट्रपतिं सः बलिष्ठ-बाहुभ्यां ताम् उद्धृत्य क्रोडे अकरोत्। तस्याः कपोलौ चुम्बित्वा राष्ट्रपतिः अवदत्—“पुत्रि! त्वया एव लिखितं यत् मे चिपटे आनने दाढिका सुशोभिष्यते नैवम्? कथय, कथं दृश्येऽहमधुना?”

विषयः

चित्तः

व्यति।

नील्ड-

कुलो

तार्थम्

ग्रेस्

स्माकं

तर्तत।

तत्!!

पतिः

णम्"

रीकाः

णस्य

तर्तत।

शत्।

छन्।

र्षीया

पक्षे

पति-

थता

त्।

बत्।

मपि

भूत

र्षीया

कोडे

पपटे

सहस्रशः नेत्राणि तस्य अपूर्वदृश्यस्य रसपानमकुर्वन्। किन्तु स्वयं लघुबालिकायाः कृते तु अन्यत् सर्वम् अस्तित्वहीनं जातम्। अस्तित्वमवर्तत केवलं तस्य आननस्य यस्य सुन्दरतायाः उत्तरदायिनी आसीत् स्वयं सा!

राष्ट्रपतिः पुनरपि तस्याः कपोलौ स्पृष्ट्वा तत्र च मन्दं स्व-दाढिकां घृष्ट्वा अहसत्—“साधु अस्ति, नैवम्?”

सम्पूर्णं स्थेशनम् अट्टहासैः अनुगुञ्जितम्। राष्ट्रपतिं सुदृढम् आलिङ्ग्य लज्जया सा निज-आननं तस्य स्कन्धे अगोपयत्।

तानि चिरकाङ्क्षितानि इन्द्रजालमयानि पलानि व्यतीयन्ते स्म। लिङ्कन्-महोदयः भूयोऽपि बालिकायाः मस्तकं चुम्बित्वा अवदत्—“प्रिये मे लघु-बन्धो... अवसरे प्राप्ते सम्भवतः आवयोः पुनरपि मेलनं भवेत्। अद्य तु तुभ्यं धन्यवादप्रदानाय विशेषेण आगतः अहमत्र।”

करतलनादैः, सीत्काररवैः, हासस्रोतोभिः, नानाविधैः हर्षघोषैः पूरितं स्थेशनम्। किन्तु अस्य उल्लासस्य दात्र्याः कर्णयोः नैव प्रविष्टाः ते हर्षनिनादाः। तस्याः हृदये तु निरन्तरम् अगुञ्जन् केवलं ते एव चत्वारः शब्दाः—“प्रिये मे लघु-बन्धो...”।

संयानं राष्ट्रपतिना सह मन्दं मन्दं गन्तव्यं प्रति असरत् यावच्च सा बाला दृगोचरीभूता तावत् राष्ट्रपतिः निर्निमेषं बालिकां पश्यन् हस्तमधुनोत्। ग्रेस् अपि उच्छलन्ती ‘धन्यवादाः’ ‘धन्यवादाः’ इति निरन्तरम् व्याहरत्।

कथ्यते यदद्यापि लिङ्कन्-महोदयस्य गृहस्य सज्जा-भूषा पूर्ववत् वर्तते। तत्र च एकस्मिन् प्रमुखे कक्षे सुशोभनाधारे लम्बमानं तत् बालपत्रं वर्तते यत् पर्यटकानां विशेषाकर्षणकेन्द्रम्—“प्रिय महोदय, अहमस्मि दशवर्षीया बालिका। नाम वर्तते ग्रेस् बेडेल्...”। एतदपि श्रूयते यत् राष्ट्रपतेः उत्तरं बेडेल्-परिवारस्य सकाशे बहुकालम् अतिष्ठत्। १९६६ तमे वर्षे ग्रेस्-पौत्राः तत् पत्रं चत्वारिंशत्-सहस्राधिकं लक्षरूप्यकैः अमेरिका-दूरदर्शनस्य एतादृशस्य निर्देशकस्य हस्ते व्यक्रीणन् यः अब्राहम्-लिङ्कन्-महोदयस्य न केवलम् अनसूयु-प्रशंसकः अपि तु अनन्यः भक्तश्चाप्यासीत्।

वह चिड़ी

कहते हैं कि अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के दाढ़ी रखने के पीछे एक राज था, एक छोटी कहानी थी। यह बात हममें से कई नहीं जानते न...? तो आइये, सुनें आज वही कहानी।

लिंकन ने सिर्फ चार साल दाढ़ी रखी थी, लेकिन आज हमारे लिए दाढ़ी के बिना उनके चित्रों की कल्पना करना मुश्किल होता है। खुद लिंकन उस छोटी लड़की के बारे में बताया करते थे जो उनकी दाढ़ी की ज़िम्मेवार थी। कम ही लोग उसका नाम जानते हैं और न ही इतिहास की किसी किताब में ग्रेस बेडेल के नाम का ज़िक्र है, लेकिन खुद राष्ट्रपति उस वाक्य को बहुत मज़ा लेकर सुनाते थे और हमेशा कहा करते थे, “छोटे-छोटे किस्से कैसे कभी-कभी हमारी ज़िन्दगी के पहलुओं को ही बदल देते हैं!”

वेस्टफील्ड, न्यूयॉर्क में दस साल की नन्हीं ग्रेस बेडेल अपने कमरे में बैठी एक चित्र को

निहार रही थी जिसे उसके पापा ने उसके हाथ में थमाते हुए कहा था—“बेटी, देखो, ये हैं अब्राहम लिंकन, अगर इन्हें काफ़ी वोट मिलें तो ये हो सकते हैं हमारे अगले राष्ट्रपति।”

शाम के धुंधलके में लैम्प की रौशनी में बैठी वह भावी राष्ट्रपति के उस खाके रूपी चित्र को देखती चली जा रही थी। उनके सिर का हर एक बाल, कपड़ों की एक-एक शिकन उसे दिखायी दे रही थी, वह मानों सजीव-सा हो उठा था, लैम्प की रौशनी में वे दो आंखें और भी चमकने लगी थीं, एकदम से गम्भीर चेहरे पर शायद उसे आती हुई मुस्कान की एक हल्की-सी झलक दिखायी देने लगी थी। और वे धंसे हुए गाल—“नहीं, नहीं, ये गाल बड़े पिचके हुए-से हैं”, ग्रेस बुदबुदायी। उसने अपनी पेंसिल उठायी और उस चित्र पर अपनी कारीगरी शुरू कर दी।

आधे घण्टे में तो चित्र का हुलिया ही बदल गया। दस साल की बच्ची ने अब्राहम लिंकन के चित्र को दाढ़ी से ऐसा सजा दिया कि वह अपनी कृति पर फूली नहीं समायी।

“किसी को इनसे यह बात कहनी ही चाहिये” ग्रेस ने मन ही मन कहा और तुरन्त कागज़-कलम उठाकर लिखना शुरू कर दिया—

माननीय ए. बी. लिंकन

वेस्टफील्ड
न्यूयॉर्क

१५ अक्तूबर १८६०

प्रिय महोदय,

मैं दस साल की बच्ची हूँ, नाम है ग्रेस बेडेल। मेरे पापा ने अभी-अभी मुझे आपका एक चित्र दिया जिसमें आपके गाल बहुत पिचके हुए लग रहे हैं। मैंने आपके उस चित्र पर सुन्दर दाढ़ी बना दी, और अब देखिये आप कितने अलग और सुन्दर लग रहे हैं। चित्र मैं चिढ़ी के साथ रख रही हूँ, आप खुद ही समझ जायेंगे।

क्या मेरी उमर की आपकी बेटियाँ हैं? अगर हैं तो उन्हें मेरा प्यार दीजियेगा और मेरे पापा बता रहे थे कि आप तो इस समय बहुत व्यस्त होंगे और अगर आपके पास समय न हो तो अपनी किसी बेटी से मेरी चिढ़ी का जवाब देने के लिए कह दीजियेगा। मेरे चार बड़े भाई हैं और उनमें से दो तो पहले से ही आपके पक्ष में वोट देने की बात कर रहे हैं; दो ज़रा डांवांडोल से लगते हैं तो अगर आप मेरी बात मानकर दाढ़ी बढ़ा लें तो मैं उन दोनों को भी आपके पक्ष में करने की पूरी कोशिश करूंगी। आप शीशे के सामने खड़े होकर देखिये, चेहरा कितना पतला लगता है। दाढ़ी बढ़ा लेंगे तो कितने ज़्यादा सुन्दर लगेंगे, और मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि तब आपके आकर्षक चेहरे को देखकर ज़्यादातर लोग आपको ही वोट देंगे और इस तरह आप आसानी से राष्ट्रपति बन जायेंगे।

ज़रा ग़ौर कीजियेगा मेरी बात पर। आपके फ़ायदे की ही है।

शेष शुभ
आपकी बेटी जैसी
ग्रेस बेडेल

राष्ट्रपति के चुनाव के प्रचार-प्रसार के उन व्यस्त दिनों में लिंकन के मुख्य दफ्तर में रोज़ कम-से-कम ५० चिट्ठियां तो आया ही करती थीं। रॉबर्ट और जॉन नामक दो युवा सेक्रेटरी उन चिट्ठियों की छंटाई किया करते थे। लिंकन के मित्रों और बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की चिट्ठियां लिंकन महोदय तक पहुंचती थीं, बाकी सामान्य पत्रों का जवाब तो वे दोनों ही दे दिया करते थे।

जॉन ने चिट्ठियों का एक और पुलिन्दा उठाया और पहली चिट्ठी पढ़कर हंस पड़ा—“वाह! अब छोटी-छोटी बच्चियां हमारे ‘चीफ़’ को राष्ट्रपति बनने के नुस्खे सिखा रही हैं।”

“अरे, आज सौ से ज्यादा चिट्ठियां हैं, ज़रा जल्दी करो जॉन, ऐसी चिट्ठियों पर समय बरबाद न करके सीधा एक तरफ़ कर दो। चलो, अब आगे बढ़ो।” रॉबर्ट ने ज़रा सख्ती से कहा।

लेकिन जॉन के कानों में वह आवाज़ कहां पड़ी! वह तो चिट्ठी पढ़ने में मशगूल था। “अरे सुनो तो सही रॉबर्ट। इस छोटी बच्ची के हिसाब से हमारे ‘चीफ़’ अगर दाढ़ी बढ़ा लें तो सारे वोट उन्हीं की झोली में आ जायेंगे! वाह! क्या मौलिक विचार है। रॉबर्ट, यह चिट्ठी तो हमें अभी ‘चीफ़’ को देनी चाहिये।”

रॉबर्ट खीज उठा—“जॉन, यह मज़ाक का नहीं काम का वक्त है। चुनाव सिर पर सवार है, अगर तुम ऐसी-ऐसी बचकानी चिट्ठियां लेकर बैठ जाओगे तो हम कहीं के न रहेंगे। सारा काम धरा का धरा रह जायेगा। उसे रद्दी की टोकरी के हवाले करो और इसे खोलो, बहुत ही महत्त्वपूर्ण पत्र लग रहा है, पेनिसिलवेनिया के गवर्नर का है।” कहते हुए रॉबर्ट ने जॉन के सामने वह पत्र सरका दिया।

जॉन ने वह बचकानी चिट्ठी चुपचाप अपनी जेब के हवाले कर दी और बाकी चिट्ठियों को रोज़ की तरह छांटने लगा जो सब की सब आज उसे कितनी नीरस, कितनी साधारण-सी लग रही थीं!! उसके हृदय में तो आज समा गयी थी बस वही प्यारी-सी चिट्ठी जो उसके मित्र के लिए कोई मायने न रखती थी!!!

उस रोज़ का काम देर रात तक चलता रहा। काम पूरा कर रॉबर्ट ने लम्बी सांस लेते हुए कहा—“देखा जॉन, अगर हम दाढ़ी के क्रिस्से वाली उस बच्ची की चिट्ठी पर अटक जाते तो आज सचमुच बण्टाढार हो जाता। जल्दी चलो, ‘चीफ़’ हमारा इन्तज़ार कर रहे होंगे।”

ज़रूरी चिट्ठियां लिये वे दोनों लिंकन महोदय के कमरे में घुसे। रॉबर्ट ने पत्रों का पुलिन्दा उनकी मेज़ पर रखते हुए कहा—“सर! जैसे-जैसे चुनाव नज़दीक आते जा रहे हैं आपकी डाक का भार भी बढ़ता चला जा रहा है।”

“और सर, आज १० साल की एक बच्ची की यह चिट्ठी भी आपके नाम आयी है।” जॉन बोला।

“लेकिन मेरे ख्याल से सर! गवर्नर और प्रधानमन्त्रियों के पत्रों के जवाब आपको पहले दे देने चाहियें।” रॉबर्ट ने जॉन की ओर आंखें तरेरीं।

लिंकन खुश हो उठे। जॉन की तरफ हाथ बढ़ाकर बोले—“क्या, किसी बच्ची की चिट्ठी!” फिर रॉबर्ट की ओर देखकर बोले, “अरे भाई, वे सब बड़े हैं, इन्तज़ार कर सकते हैं, छोटी बच्ची को पहले जवाब देना बहुत ज़रूरी है।

और ग्रेस के नाम यह चिट्ठी आयी—

कुमारी ग्रेस बेडेल इलिनोआ
वेस्टफील्ड, न्यूयॉर्क स्प्रिंगफील्ड
१९ अक्टूबर १८६०
व्यक्तिगत पत्र

मेरी प्यारी छोटी-सी ग्रेस,

१५ तारीख की तुम्हारी बहुत ही प्यारी चिट्ठी मुझे मिली। यह जानकर तुम्हें शायद थोड़ा दुःख हो कि मेरी कोई बेटा नहीं है (वैसे होती भी तो तुम्हारी चिट्ठी का जवाब तो मैं खुद ही देता)। मेरे तीन बेटे हैं—बड़ा सत्रह साल का, दूसरा नौ का और सबसे छोटा सात साल का है। यानी हमारे परिवार के कुल सदस्य पांच हैं—मैं, मेरी पत्नी और तीन बेटे। मैं उन सबकी तरफ से भी तुम्हें प्यार भेज रहा हूँ।

बेटा, रही बात दाढ़ी रखने की, तो क्या तुम्हें ऐसा नहीं लगता कि दाढ़ी के साथ मैं कुछ अजीब ही लगूंगा, आदत भी तो नहीं है। लेकिन तुम्हारी बात पर गौर जरूर करूंगा। तुम्हारे इतने प्यारे सुझाव के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद। घर में अपने चारों भाइयों और माता-पिता को हमारा अभिवादन देना।

तुम्हारे पिता समान

तुम्हारा शुभचिन्तक

ए. लिंकन

ऐसी चिट्ठी पाकर किसके पंख न लग जाते? ग्रेस के तो पैर ही धरती पर नहीं पड़ रहे थे। सारा घर उसकी अनमोल खुशी में पूरी तरह शरीक था। चारों भाइयों ने तो उसी समय ऐलान कर दिया कि लिंकन दाढ़ी रखें न रखें, वे सभी उन्हें ही वोट देंगे।

यही नहीं, बातों के तो पंख होते हैं न, सारे वेस्टफील्ड में दस साल की ग्रेस की वह चिट्ठी चर्चा का विषय बन गयी।

कुछ दिनों के बाद सारे शहर में यह खबर फैल गयी कि 'व्हाइट हाउस' से नव-निर्वाचित राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन १६ फरवरी को न्यूयॉर्क के वेस्टफील्ड स्टेशन पर उतरेंगे, वहां के लोगों से धन्यवाद के दो शब्द कहकर अपनी आगे की यात्रा जारी रखेंगे। वेस्टफील्ड के हर एक वासी का दिल बल्लियों उछलने लगा। ग्रेस बेडेल का परिवार तो अपने राष्ट्रपति की एक झलक पाने के लिए बेताब हो उठा।

सारा स्टेशन लोगों से खचाखच भरा था। तिस पर हवा में अमरीका की अनगिनत ध्वजाएं और राष्ट्रपति के स्वागत के सैकड़ों झण्डे लहरा रहे थे।

आखिर वह घड़ी आ ही गयी। दूसरे बच्चों की तरह ग्रेस भी अपने पापा के कन्धों पर बैठी थी। उसने दूर से ही छूक् छूक् करती, धुआं उड़ाती, चमचमाती रेलगाड़ी देख ली। "वाह! हमारे राष्ट्रपति की रेलगाड़ी पर भी अमरीका के कितने झण्डे फहरा रहे हैं..." ग्रेस बुदबुदायी। रेलगाड़ी धीमे-धीमे 'प्लेटफॉर्म' पर रुकी। तालियों की गड़गड़ाहट थम जाने पर भी सबके कानों में बड़ी देर तक गूंजती रही।

ग्रेस ने देखा—काला हैट पहने, एक बहुत ही लम्बे दाढ़ीदार पुरुष रेल से उतरे। "राष्ट्रपति

अमर रहें” “अमर रहें” के नारों की आवाज़ें थमने का नाम ही न ले रही थीं। राष्ट्रपति ने झुक-झुक कर न जाने कितनी बार जनता का अभिवादन किया...। आखिरकार जब जयजयकार थोड़ा थमा तो ‘भाषण’ ‘भाषण’ की गुहार शुरू हो गयी। राष्ट्रपति लिंकन ने अपने दोनों हाथ उठाकर लोगों से थमने का इशारा किया नहीं कि अचानक खामोशी छा गयी।

लिंकन महोदय की वाणी गूँज उठी—“दोस्तो, आज यहां मेरे पास भाषण की कोई सामग्री नहीं है, क्योंकि धन्यवाद देने के लिए भाषण नहीं दिये जाते...। साथ ही वक्त का तक्राज़ा भी है। मैं सचमुच यहां एक खास काम के लिए आया हूं...।” ग्रेस सांस रोके अपने पिता के कन्धों पर बैठी रही। आस-पास की सभी नज़रें ग्रेस पर जड़ गयीं। ग्रेस बेडेल के माता-पिता, भाई सब एक-दूसरे के हाथ में हाथ डाले खड़े थे। उनके हृदय की धड़कनें तेज़ होती जा रही थीं।

राष्ट्रपति ने बोलना जारी रखा—“दरअसल आपके शहर में मेरा एक छोटा-सा पत्र-व्यवहार हुआ था। दस साल की उस बच्ची ने मुझे यह सुझाव भेजा था कि अगर मैं अपने पतले चेहरे पर दाढ़ी बढ़ा लूं तो उससे प्रभावित होकर जनता मुझे ही वोट देकर राष्ट्रपति के पद पर ला बिठायेगी। लीजिये, आज मैं राष्ट्रपति के रूप में आपके सामने खड़ा हूं।” अपनी दाढ़ी पर हाथ फिराते हुए लिंकन मुस्कराये। “अगर वह यहां मौजूद है तो मैं उससे मिलना चाहूंगा। उसका नाम है ग्रेस बेडेल।

‘ग्रेस, ग्रेस, ग्रेस’ की पुकार गूँजती चली गयी। पिता ने बेटी को कन्धे से उतारते हुए चूमा, मां, भाइयों ने उसे कस कर गले लगाया और पिता का हाथ थामे ग्रेस बेडेल आगे बढ़ी। जहां तिल रखने के लिए भी जगह नहीं थी वहीं बेडेल परिवार के लिए अनायास रास्ता खुल गया और सभी नज़रें ग्रेस पर टिक गयीं।

अमरीका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के ठीक सामने खड़ी थी दस साल की ग्रेस बेडेल। ग्रेस ने अपनी नज़रें ऊपर उठायी नहीं कि राष्ट्रपति की बलिष्ठ भुजाओं ने उसे गोदी में उठा लिया। उसके गालों को चूमते हुए वे बोले—“बेटी, तुम्हीं ने लिखा था न कि मैं दाढ़ी में खूब जंचूंगा। देखो, सज रहा हूं न?”

हज़ारों आंखें उस सुन्दर दृश्य पर टिकी हुई थीं लेकिन ग्रेस तो मानों सबको भूल गयी थी। वह एकटक उस चेहरे को निहार रही थी जिसकी सुन्दरता को उसने संवारा था।

राष्ट्रपति ने फिर उसके गालों को पकड़ अपनी दाढ़ी चुभाते हुए कहा—“अच्छी है?”

सारा स्टेशन ठहाकों की गूँज से हिल उठा। छोटी बच्ची ने राष्ट्रपति के गले में बाहें डालकर अपना चेहरा उनके कन्धे में छिपा लिया।

वे जादुई पल समाप्त हो रहे थे। लिंकन ने ग्रेस का माथा चूमते हुए कहा—“मेरी नन्हीं दोस्त... कभी मौक़ा मिला तो शायद फिर हमारी मुलाकात हो। आज तो तुम्हारा शुक्रिया अदा करने मैं खास यहां आया था।”

(शेष आवरण पृ. ३ पर)

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

13E-Rajanigandha
25, Ballygunge Park
Kolkata-700 019

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road

Post Box No. 5713

NEW DELHI-110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

Tel : 23612728, 23612776

Fax : 011-23620632

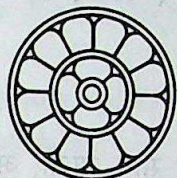
Our Lines of Business : **Central Library**
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
Maihar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERY.

Completed 80 years on Basant 2006



प्रार्थना और ध्यान

१९ अगस्त १९१४

मनुष्य का उपयोग ही क्या होगा यदि वह 'तत्' के जो शाश्वत किन्तु अनभिव्यक्त है और उसके जो अभिव्यक्त है, सभी परात्परताओं और दिव्य जीवन की दीप्तियों और जड़ जगत् के समस्त अन्धकारमय और दुःखमय अज्ञान के बीच सेतु बनाने के लिए न पैदा किया गया होता? जो होना चाहिये और जो है उसके बीच मनुष्य एक कड़ी है, वह खाई पर डाला गया पैदल-पुल है, वह क्रूस के आकार का एक बड़ा 'एक्स' (X) है, चौमुखी जोड़ने वाली लड़ी है। उसका सच्चा निवास-स्थान, उसकी चेतना का प्रभावकारी आसन मध्यवर्ती जगत् में क्रूस की चार भुजाओं के मिलन-बिन्दु पर, ठीक जहां अचिन्त्य की सारी अनन्तता एक यथार्थ रूप लेने आती है, होना चाहिये, जहां से वह अनगिनत अभिव्यक्ति में प्रक्षिप्त हो सके...

वह केन्द्र परम प्रेम का, पूर्ण चेतना का, शुद्ध और पूर्ण ज्ञान का स्थान है। हे प्रभो, वहां उन्हें प्रतिष्ठित कर जो सचाई के साथ तेरी सेवा कर सकते हैं, जिन्हें सेवा करनी चाहिये और जो सचमुच तेरी सेवा करना चाहते हैं, ताकि तेरा कार्य सिद्ध हो, सेतु निश्चित रूप से स्थापित हो जाये और तेरी शक्तियां संसार पर निरन्तर प्रवाहित हों।

—श्रीमां

दैनन्दिनी

जुलाई

१. अपने-आपको देने की अभीप्सा के साथ आओ, अपनी सम्पूर्ण सत्ता को निःशेष भाव से भागवत कृपा के अर्पण करने के भाव से, और तुम उस आनन्द का अनुभव करोगे जिसके लिए तुम अभीप्सा कर रहे हो।
२. कामना को सन्तुष्ट करने का प्रयास करना बेकार है क्योंकि कामना अतिलोभी है और कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती।
३. अपनी अभीप्सा में लगे रहो तो तुम्हारा स्वप्न चरितार्थ होगा।
४. हर व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करता है और अगर वह साहस के साथ, सचाई से उस स्वभाव के अनुसार कार्य करे तो वह सत्य के अनुसार कार्य होगा। अतः दूसरों को जांचना या उनके लिए निर्णय करना असम्भव है। तुम केवल अपने लिए जान सकते हो और इसके लिए भी तुम्हें बहुत ज्यादा **सच्चा और निष्कपट** होना चाहिये ताकि तुम अपने-आपको धोखा न दो।
५. हमारी आराधना केवल परम प्रभु की ओर जानी चाहिये जो सभी चीजों और सभी सत्ताओं में एक हैं।
६. ...हीनता-ग्रन्थि के पीछे होता है अहंकार और उसका दम्भ जो अपना अच्छा रूप दिखाना चाहता है और औरों से प्रशंसा चाहता है; लेकिन अगर तुम्हारा समस्त क्रिया-कलाप भगवान् के प्रति उत्सर्ग हो तो तुम औरों की प्रशंसा की ज़रा भी परवाह न करोगे।
७. सभी मनोवैज्ञानिक गुणों को मांसपेशियों की तरह प्रशिक्षित किया जा सकता है—नियमित, दैनिक व्यायाम द्वारा। और सबसे बढ़कर, सच्ची-निष्कपट अभीप्सा के साथ भागवत शक्ति की ओर मुड़ो और उससे प्रार्थना करो कि वह तुम्हें तुम्हारी सीमाओं से छुटकारा दिलवाये।
८. अगर तुम अपनी प्रगति करने की इच्छा में सच्चे हो तो तुम निश्चय ही आगे बढ़ोगे।
९. जो कार्य को सम्पादित करते हैं उनमें शेखी बघारने की आदत नहीं होती। वे काम पूरा करने के लिए अपनी ऊर्जा को बनाये रखते हैं और परिणाम का यश शाश्वत प्रभु के लिए छोड़ देते हैं।
१०. तुम्हें हिम्मत और सचाई के साथ डटे रहना चाहिये। तुम्हें एक दिन निश्चित रूप से सफलता मिलेगी।
११. हर एक की अपनी रुचि होती है, अपनी मनोवृत्ति होती है। **अनुशासन** के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता—सारा जीवन ही एक अनुशासन है।
१२. ज़रा-सा सच्चा-निष्कपट और नियमित अभ्यास, बहुत-से अल्पजीवी प्रणों से कहीं अधिक मूल्यवान् है।
१३. प्रार्थना करना काफ़ी नहीं है; तुम्हें अध्यवसाय के साथ प्रयास भी करना चाहिये।
१४. प्रेम करने के तथ्य में ही तुम अपना सुख और आनन्द पाओ, इससे तुम्हारी आन्तरिक प्रगति में सहायता मिलेगी; क्योंकि अगर तुम **सच्चे** हो तो एक दिन तुम अनुभव करोगे

कि तुम उसके अन्दर भगवान् से ही प्रेम करते हो और बाहरी व्यक्ति केवल एक बहाना है।

१५. वहीं बैठकर ध्यान करो जहां तुम ज़्यादा अच्छी तरह ध्यान कर सको—यानी, जहां कहीं तुम ज़्यादा शान्त और चुपचाप रह सको।
१६. तुम जो नहीं हो वह होने का ढोंग न करो। पाखण्डी होने की अपेक्षा सच्चा, स्पष्टवादी होना ज़्यादा अच्छा है।
१७. तुम जो कुछ करो, अपना 'अच्छे-से-अच्छा' करो, और परिणाम परम प्रभु के हाथ में छोड़ दो; तब तुम्हारा हृदय शान्त रहेगा।
१८. औरों की आलोचना करने से पहले ज्यादा अच्छा है कि यह निश्चित रूप से जान लो कि स्वयं तुम पूरी तरह सच्चे हो।
१९. सृष्टि एक समग्र है जो अपनी समग्रता में एकमात्र लक्ष्य—भगवान्—की ओर बढ़ रही है—एक सामूहिक विकास के द्वारा, जो सतत और अन्तहीन है।
२०. तुम अपनी कठिनाइयों के बारे में उसी हद तक अभिज्ञ होते हो जहां तक तुम उन्हें बदल सकते हो और उसी क्षण अभिज्ञ होते हो जब तुम उन्हें बदल सकते हो।
२१. सद्भावना का अर्थ है हमेशा अच्छा करने की चाह। एकमात्र सच्चा "शुभ" है परम प्रभु की इच्छा।
२२. जब कोई गड़बड़ होती है तो तुम्हें हमेशा अपने अन्दर ही उसके कारण को ढूँढ़ना चाहिये, छिछले रूप में नहीं, अपने अन्दर गहराई में और व्यर्थ में अपने दोषों पर रोने-धोने के लिए नहीं बल्कि भगवान् की सर्वसमर्थ शक्ति को अपनी सहायता के लिए बुला कर दोष का उपचार करने के लिए।
२३. सच्चा सुख जीवन की बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं रहता। तुम अपनी चैत्य सत्ता को खोज कर और उसके साथ एक होकर ही सच्चा सुख पा सकते और उसे सतत बनाये रख सकते हो।
२४. श्रीअरविन्द ने बहुत बार लिखा है कि मनुष्य अपने दुःख से, अपनी तुच्छता से, अपनी दुर्बलता से, अपने अज्ञान और अपनी सीमाओं से चिपका रहता है—इसी कारण वह बदल नहीं पाता।
२५. जिस क्षण तुमने किसी चीज़ को स्वीकार करने का निश्चय कर लिया है तभी से उसे भरसक अच्छी-से-अच्छी तरह करना चाहिये।
२६. तुम हर चीज़ में चेतना और आत्म-प्रभुत्व में प्रगति करने का अवसर पा सकते हो और प्रगति के लिए यह प्रयास उस चीज़ को—वह कुछ भी क्यों न हो—तुरन्त रुचिकर बना देता है।
२७. अपने सारे जीवन को अनुशासित करने की कोशिश करने से पहले कम-से-कम एक क्रिया को अनुशासित करने की कोशिश करनी चाहिये और उसमें सफलता पाने तक लगे रहना चाहिये।
२८. ऐसी कोई आदत नहीं जिसे बदला न जा सके।
२९. भगवान् के लिए जीने का अर्थ है कि तुम जो भी करो भगवान् को अर्पित करते चलो

और जो करो उससे व्यक्तिगत फल की कामना न करो। निश्चय ही शुरू में, जब भगवान् केवल एक शब्द या अधिक-से-अधिक एक भाव होते हैं—अनुभूति नहीं, सारी चीज़ शुद्ध रूप से मानसिक रहती है। लेकिन अगर तुम सच्चा प्रयास बारम्बार करो तो एक दिन आता है और तुम अनुभव करते हो कि उत्सर्ग किसी वास्तविक चीज़ को दिया गया है जो अनुभवगम्य, ठोस और उपकारी है। तुम जितने अधिक सच्चे और अध्यवसायी होओगे उतनी ही जल्दी अनुभूति आयेगी और उतने ही अधिक समय तक रहेगी।

३०. आनन्द परम प्रभु की चीज़ है।

उल्लास पूर्ण योगी की चीज़ है।

हर्ष निष्काम मनुष्य की चीज़ है।

सुख हर जीवित प्राणी की पहुंच में है, लेकिन उसके साथ ही उसका अनिवार्य साथी दुःख होता है।

३१. मार्ग का अन्त तक अनुसरण करने के लिए तुम्हें बहुत धैर्यपूर्ण सहिष्णुता से सुसज्जित होना चाहिये।

‘श्रीमातृवाणी’ से

परिचित या अपरिचित

सैकड़ों परिचित हैं मेरे

फिर भी मैं अपरिचित हूं

वे मेरा नाम-धाम जानते हैं

मेरा काम जानते हैं

पर मुझे नहीं जानते

मैं भी उन्हें पहचानता हूं

मिलना-जुलना है

पर, मैं भी शायद उन्हें नहीं जानता

हम सब एक दूसरे से परिचित हैं

फिर भी, अपरिचित।

—विश्वनाथ

‘अन्तरा’ से साभार

उच्चतर जीवन की ओर पहला कदम

एक मित्र लिखते हैं कि वे योग-साधना करना चाहते हैं, क्यों चाहते हैं यह स्वयं उन्हें नहीं मालूम, लेकिन इतना कह सकते हैं कि बार-बार उनके अन्दर से मानों यही आवाज़ आती है : "तुम जिस रास्ते पर चल रहे हो वह तुम्हारा रास्ता नहीं है, यह तुम्हें कहीं नहीं पहुंचायेगा; तुम्हें योग-मार्ग अपनाना चाहिये।" उन्होंने आजकल के प्रचलित अर्थों में योग शुरू भी किया, अर्थात्, कुछ आसन सीखे, परन्तु इससे शान्ति नहीं मिली, योग की भूख कुछ और भी बढ़ गयी। उन्होंने इधर-उधर से कुछ पुस्तकें जुटायीं और उनमें गुरु तथा समर्पण की बातें पढ़कर बिदक गये। हमारे मित्र बहुत अधिक व्यक्तिवादी हैं, किसी मनुष्य के आगे झुकना, फिर वह कैसा भी बड़ा क्यों न हो, उन्हें स्वीकार नहीं है। वे आत्म-विश्वास के कायल हैं, दूसरों के कन्धे पर चढ़कर स्वर्ग जाना भी उन्हें स्वीकार नहीं है। वे पूछते हैं : क्या ऐसे लोगों के लिए श्रीअरविन्द-योग में कोई स्थान है ?

श्रीअरविन्द का योग आत्मा का सहज स्वाभाविक विकास है। यहां कोई नियम या कोई व्यवस्था ऊपर से लादी नहीं जाती। श्रीअरविन्द का योग आर्य-परम्परा का पुष्प है जिसमें भगवान् हर एक को उसके स्तर पर आकर मिलते हैं। भगवान् किसी से यह नहीं कहते कि तुम पहले इतने दण्ड पेलो उसके बाद देखा जायेगा कि तुम मेरे मार्ग पर चलने-योग्य हो या नहीं। जो भगवान् के मार्ग पर जाना चाहता है, भगवान् वहीं आकर उससे मिलते हैं और उसकी प्रगति के सामान जुटा देते हैं। श्रीअरविन्द के अनुसार हर व्यक्ति का भगवान् से अपना सम्बन्ध है और हर व्यक्ति का—चाहे वह भगवान् को मानता हो या न मानता हो—उनके साथ एक निराला सम्बन्ध है। आपके अन्दर योग-मार्ग पर चलने की इच्छा है, भगवान् के साथ सम्बन्ध बनाने की इच्छा है यही अपने-आपमें पहला कदम है। इससे आपको इस मार्ग पर चलने का अधिकार मिल जाता है।

अच्छा, मार्ग तो चुन लिया; अब क्या किया जाये? सबसे पहली आवश्यकता है शान्त मन की। चञ्चल मन में कोई चीज़ स्थायी रूप नहीं ले सकती। लेकिन यहां शान्त मन से हमारा मतलब ऐसे मन से नहीं है जिसमें कोई विचार न हो, कोई मानसिक गति न हो। हमारा मतलब ऐसे मन से है जो व्याकुलता, हलचल और उत्तेजना से यथासम्भव मुक्त हो, जो खलबली मचाने वाले विचारों, गलत भावना और तरह-तरह की उथल-पुथल से दूर रहे, जो एक प्रकार के बुखार में न फंसा रहा करे। उसके अन्दर विचार आते तो हैं, परन्तु नीरव आकाश में उड़कर आते हुए पक्षियों के झुण्ड की तरह बिना कोई गड़बड़ किये आते हैं और चले जाते हैं। मन इस शान्त अवस्था में रहते हुए भी तरह-तरह की योजनाएं बना सकता है, क्रियाएं कर सकता है और फिर भी उत्तेजित या विचलित नहीं होता।

इस प्रकार की शान्ति लाने के साथ-साथ यह भावना बनी रहनी चाहिये कि भगवान् की कृपा हमें ठीक पथ पर ले चले। लेकिन अगर आप भगवान् को नहीं मानना चाहते तो न मानिये। उससे कोई विशेष फ़र्क नहीं पड़ेगा। आप यही कहिये कि संसार में जो सत्य है वह आपको अपना स्वरूप दिखा दे और आप सत्य-मार्ग पर चलने के योग्य हो सकें। भगवान् को इस बात का बिलकुल आग्रह नहीं है कि आप उन्हें मानें, ऊपरी तौर से उनके अस्तित्व से भी

इन्कार करने वाले कई बार बहुत-से आस्तिकों की अपेक्षा, उनके ज़्यादा नज़दीक हो सकते हैं। हम तो यही मानते हैं कि यदि कोई सच्चाई के साथ सत्य, सौन्दर्य, ज्ञान—किसी भी एक तत्त्व को पकड़ ले तो उसे पूर्ण सत्य, पूर्ण सुन्दर, पूर्ण ज्ञान के रूपों में उसी के दर्शन होंगे जिसके अन्दर सब पूर्णताएं अपनी पूर्णता प्राप्त करती हैं। हम साधारण भाषा में जिसे मन की शान्ति कहते हैं उसके सचमुच मोटे तौर पर चार स्वरूप होते हैं—अचञ्चलता, निश्चल-नीरवता, स्थिरता और शान्ति। इनकी व्याख्या करना मुश्किल है, परन्तु यूँ समझने के लिए हम कह सकते हैं कि अचञ्चलता वह अवस्था है जिसमें कोई चञ्चलता नहीं होती, कोई उथल-पुथल नहीं होती; स्थिरता ऐसी अवस्था है जिसमें कोई उथल-पुथल नहीं हो सकती, यह अचञ्चलता की अपेक्षा कम अभावात्मक है; शान्ति पहली दोनों की अपेक्षा अधिक भावात्मक है, उसमें स्थायी समस्वरता का भाव रहता है और निश्चल-नीरवता मन की ऐसी अवस्था है जिसमें या तो मन और प्राण की कोई गति होती ही नहीं या वहां पर इतनी अधिक शान्ति होती है जिसे कोई बाह्य गति हिला तक नहीं सकती।

मन की स्थिरता प्राप्त करना कोई आसान काम नहीं है। इसके लिए सच्चे दिल से प्रयास करने की ज़रूरत पड़ती है और इसमें काफ़ी समय लगता है, परन्तु यह और सब चीज़ों के लिए आधार का काम देती है। इसके बिना कोई उच्चतर चीज़ हमारे अन्दर स्थायी रूप से नहीं रह सकती।

आरम्भ में यह स्थिरता या शान्ति सिर्फ़ उस समय आती है जब मनुष्य उसके लिए विशेष रूप से चुपचाप होकर बैठता है, काम करते हुए, और विशेषकर मानसिक काम करते हुए मन फिर से उद्वेलित हो उठता है। पर इसमें चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है, आरम्भ में हर एक की यही अवस्था होती है। धीरे-धीरे इस शान्ति का विस्तार होता है, हम अपने अन्दर और अपने बाहर, सब जगह उसका अनुभव करते हैं, हम देखते हैं कि शान्ति हमारे अन्दर है और हम शान्ति के अन्दर। हमारी गतिविधि, हमारे समस्त कार्य-कलाप शान्ति में ही होते हैं। जैसे-जैसे इस चेतना का विस्तार होता जायेगा, वैसे-वैसे ऊपर से शक्ति का अवतरण होगा, ज्योति का अवतरण होगा जो हमारी दुर्बल और अन्धकारपूर्ण सत्ता को सबल और ज्योतिर्मय बना सकेगी, शरीर के अन्दर से आलस्य, प्रमाद, अक्षमता आदि का डेरा हट जायेगा। लेकिन इन चीज़ों को प्राप्त करने के लिए भी आतुरता नहीं होनी चाहिये। मन के अन्दर यह विश्वास होना चाहिये कि अन्तिम परिणाम अच्छा ही होगा, कठिनाइयां क्षणिक हैं, आती हैं और चली जाती हैं; लेकिन जो शक्ति हमारे अन्दर काम कर रही है वह अपराजेय है, उसकी विजय निश्चित है। श्रीअरविन्द-आश्रम में काम को जो महत्त्व दिया जाता है, जीवन के हर क्षेत्र को विकसित होने का जो अवसर दिया जाता है, वह हमारे सामने उदाहरण-स्वरूप रह सकता है। यह योग-मार्ग पर पहला कदम होगा।

—रवीन्द्र

('अग्निशिखा' फरवरी ८० से)

एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र

प्राणिक सत्ता

(१)

कहा जाता है कि हमें अपनी प्राणिक सत्ता में भी शान्त, जागरूक और सचेतन होना चाहिये। इसका मतलब क्या हुआ?

इसका मतलब यह हुआ कि सभी प्राणिक गतियों का अवलोकन करो, वे तुम्हें पकड़ न पायें और तुम्हें क्रिया करने के लिए बाधित न करें, लापरवाह न बनो, तुम्हारा प्राण उत्तेजित या उदासीन न हो, हमेशा शान्त रहो।

कृपया यह बतलाइये कि क्या यह सम्भव है कि प्राण के शुद्ध होने से पहले मैं माताजी के प्रति अपना पूर्ण समर्पण कर सकूँ?

उसे पहले पूर्ण करना सम्भव नहीं है, लेकिन अगर तुम शुरू ही न करो तो प्राण शुद्ध ही कैसे होगा? तुम्हारे लिए यह कौन करेगा?

“प्राण की शुद्धि” का मतलब क्या है?

सीधा, सच्चा, मिथ्यात्व के बिना और अपवित्र कामनाओं से रहित होना।

जब आदमी उच्चतर चेतना में रहना शुरू करे तो क्या निम्न गतियां अपने-आप झड़ न जायेंगी?

शुरू में नहीं, परन्तु तब जब उच्चतर चेतना प्राण और शरीर में बस जाये। लेकिन अगर इस बीच उच्चतर प्रकाश का प्रभाव हो तो ये गतियां बाहर निकाली जा सकती हैं और उनका महत्वपूर्ण स्थान नहीं रहता।

अभी उस दिन मैं ज़रा ज़्यादा सचेतन हो गया। मुझे लगा कि मैंने हर चीज़ पर विजय पा ली और मैंने सीधे भागवत चेतना के लिए मांग की! अगर भागवत चेतना की एक लहर मुझे इतना घमण्डी बना देती है तो सारी चीज़ के अवतरण का क्या परिणाम होगा? मैं यह जानना चाहूंगा कि एक मामूली-सी लहर ने मेरे विचारों को इतना कैसे रंग दिया, ताकि अगली बार मैं अपने-आपको इतना बेतुका न बनाऊँ।

यह फिर से प्राणिक मन है जिसे माप या अनुपात का कोई ख्याल नहीं रहता। वह एकदम कोई बड़ी चीज़ प्राप्त करने या बड़ा बनने के लिए उत्सुक होता है।

एक विचार है कि आदमी को अपने आवेग को दबाने की जगह खुल खेलने देना चाहिये। यही उससे पिण्ड छुड़ाने का सबसे अच्छा तरीका है।

अगर तुम ऐसा करो तो आवेग इतना फैल सकता है कि तुम्हारे ऊपर अधिकार पा ले या तुम्हारा स्वामी बन जाये। अगर कोई ग़लत आवेग आये तो पता लगते ही उसे निकाल फेंकना चाहिये।

हम अपनी आवश्यकताओं और कामनाओं में कैसे फ़र्क करें? प्राण आसानी से मन को ठग सकता है और उसे बता सकता है कि कामनाएं आवश्यकताएं हैं।

तुम्हें विवेक पैदा करना चाहिये ताकि प्राण के लिए धोखा देना असम्भव हो जाये।

आध्यात्मिक जीवन में अच्छी कामनाओं के लिए भी क्यों स्थान नहीं होता?

अगर अच्छी कामनाएं हैं तो बुरी कामनाएं भी आयेंगी। संकल्प और अभीप्सा के लिए स्थान होता है, कामनाओं के लिए नहीं। अगर कामना होगी तो, आसक्ति, मांग, लालसा, समता का अभाव, चीजें न मिलने का दुःख भी होगा—यह सभी अयौगिक है।

अगर हमें कामनाओं का बहिष्कार करना है तो कभी-कभी माताजी उन्हें सन्तुष्ट क्यों करती हैं?

यह तो तुम्हें उनसे पिण्ड छुड़ाना होगा। अगर माताजी उन्हें बिल्कुल सन्तुष्ट न करें और अगर साधक उन्हें रखे रहे तो वे बाहर से आने वाले सुझावों के द्वारा ज़्यादा मजबूत होती जायेंगी। हर एक को उनके साथ अन्दर से व्यवहार करना चाहिये।

क्या कामना सन्तुष्ट होने के बाद भी फिर से आ सकती है?

वह किसी और रूप में लौट सकती है, भोग के द्वारा कामना का तत्त्व सत्ता में बना रहता है। इससे बचने का एक ही उपाय है—कामना से निर्लिप्ति।

मुझे कामनाओं और आवेशों से बचने के लिए यह तरीका बताया गया है : “पहले यह जान लो कि प्राण ने यह विचार, यह आवेश भेजा है, फिर अपने-आपको विचार और आवेग से अलग कर लो, मानों सचमुच तुम्हारा उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और अन्त में उसे उठा फेंको”। क्या यह ठीक तरीका है?

हां, यह कामना को अपने अन्दर से निकाल बाहर करने का माना हुआ तरीका है।

“प्राणिक उत्सर्ग” का क्या अर्थ है?

हिये।

इसका मतलब है माताजी को समर्पित करना और शुद्ध करना ताकि सारी प्राणिक प्रकृति निम्न प्रकृति की न रह कर माताजी की हो जाये।

मुहारा

हिये।

रूपान्तरित प्राण का स्वभाव कैसा होगा?

न को

शान्त, बलवान्, विस्तृत, केवल माताजी की इच्छा के प्रति आज्ञाकारी। प्राण व्यक्ति या अवसर के अनुसार दुर्बल या बलवान् होता है—परन्तु उसका बल राजसिक होता है, वह दिव्य नहीं संकीर्ण, अज्ञानी और अपूर्ण होता है। विस्तीर्ण का अर्थ संकीर्ण, संकुचित, छोटी-सी चेतना में सीमित होना नहीं है, जैसे कि सारी मानसिक, प्राणिक और भौतिक मानव चेतना हमेशा होती है।

स्थान

ता का

कल मुझे 'क्ष' जूलियस सीज़र के शव के बारे में दिया गया ऐंटनी का भाषण समझा रहा था। मेरे अन्दर ऐंटनी के लिए इतनी अधिक सहानुभूति और सीज़र के लिए इतनी दया पैदा हो गयी कि मेरी आंखों से आंसू बहने लगे। यह आवेश कैसे पैदा हो गया जब कि पृथक्कारी चेतना इसे मूर्खता मानती थी?

क्यों

यह प्राण का भावनामय भाग है जो अपने-आपको काल्पनिक दुःख के साथ एक मान लेता है। वह स्वभावतः सुख-दुःख में रस लेता है।

अगर

येंगी।

जो लोग सुख-दुःख में रस नहीं लेते, मेरे ख्याल से उनकी भावनाएं सूख जाती हैं।

यह सुख-दुःख या किसी और भावना के अनुभव का प्रश्न नहीं है। हर वह व्यक्ति इसका अनुभव करता है जिसने सामान्य स्वभाव पर विजय नहीं पायी है। यह चीज़ भावावेगी नहीं बल्कि संवेगात्मक है। भावुकता तब आती है जब तुम भावना को तृप्त करने या उसे दर्शाने में, या जब तुम उसे बिना किसी कारण या पर्याप्त कारण के बनाये रखने में आनन्द लेते हो।

ता है।

जब आदमी गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करता या उसे जान-बूझ कर तोड़ता है तो वह अवसाद का अनुभव करता है। क्या यह उचित प्रतिक्रिया नहीं है?

ने यह

और

और

अवसाद नहीं, अधिक मज़बूत अभीप्सा होनी चाहिये।

प्राणिक अवसाद को इतना बुरा-भला क्यों कहा जाता है? उसका क्या असर होता है?

सारा अवसाद बुरा होता है क्योंकि वह चेतना को नीचा करता है, ऊर्जा का अपव्यय करता और विरोधी शक्तियों के लिए रास्ता खोल देता है।

क्या यह विचार ठीक हो सकता है कि मेरा प्राण भी माताजी की इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं करना चाहता?

अगर ऐसी बात हो तब तो रूपान्तर सरल हो जायेगा। तब तो तुम्हारे अन्दर कोई चीज़ अपने रास्ते चलना न चाहेगी, यानी माताजी की इच्छा के अनुमोदन के बिना तुम्हारे अन्दर कोई चीज़ न होगी। तुम कहना चाहते हो कि प्राण का सचेतन भाग माताजी की इच्छा के विरोध में कुछ नहीं करना चाहता—लेकिन यह तो एक और ही बात है।

हमारे शरीर को कार्य करने के लिए प्राण की सहायता पर निर्भर करना पड़ता है। क्या उसे हमेशा ऐसा ही करना पड़ेगा? अपनी सच्ची प्रकृति में भी?

हां, यदि स्वयं आत्मा को जड़ में प्रकट होना हो तो उसे भी प्राण की सहायता लेनी होगी। चीज़ों की व्यवस्था ऐसी ही है।

एक बार जब मैंने आपसे पूछा था कि क्या मेरे अन्दर एक पुरानी कामना फिर से जाग रही है क्योंकि पहले उसे भली-भांति दबा नहीं दिया गया था, तो आपने कहा था कि वह भौतिक प्राण में रह गयी थी। “भौतिक प्राण” का मतलब क्या होता है?

शायद मैंने कहा था कि वह भौतिक प्राण के अवचेतन भाग में रह गयी थी। जैसे भौतिक मन होता है, उसी तरह भौतिक प्राण होता है—एक ऐसा प्राण जो पूरी तरह भौतिक चीज़ों की ओर प्रवृत्त हो, जो कामनाओं, लोभ और लालच से भरा हो और भौतिक स्तर पर केवल खुशी की खोज में लगा हो।

क्या प्राण का काम-वासना के साथ कोई सम्बन्ध होता है?

निश्चय ही। प्राण ही चेतना को बनाये रखने में अपनी तीव्रता और शक्ति देता है।

अभी उस रात मैं तीन बजे तक सो न पाया और सवेरे शरीर में दर्द हो रहा था। मैं बीमार जैसा दीख रहा था यद्यपि कोई बीमारी न थी। क्या इसका कोई आन्तरिक कारण था?

बल्कि यह बाहरी प्रभाव है। तुम जिन लोगों से मिलते हो उनके साथ इतना अधिक न खुलो।

कोई “बाहरी प्रभाव” मेरे शरीर पर कैसे प्रभाव डालता है और मुझे आवश्यक नींद से कैसे वञ्चित रख सकता है?

वह ऐसा क्यों न करे? उसे ऐसा करने से कौन रोक सकता है? बाहरी प्रभाव अवसाद, गड़बड़, सन्देह आदि सभी तरह की चीज़ें ला सकता है। वह स्वास्थ्य, निद्रा आदि सभी चीज़ों पर प्रभाव डाल सकता है।

ऐसे लोग हैं जिनसे तुम मिलते हो उनमें सन्देह, सुझाव, अवसाद, ईर्ष्या, माताजी के कार्य से असन्तोष आदि चीज़ें हैं। वे आसानी से इच्छा किये बिना भी ये चीज़ें तुम्हारे ऊपर फेंक

सकते हैं। इस प्रकार के प्रभाव चारों ओर वातावरण में हैं। इसके लिए इस या उस व्यक्ति से दूर रहना काफ़ी नहीं है। तुम्हें सावधान और संयमी होना चाहिये।

निम्न प्राण और उसकी क्रियाएं क्या हैं? वह केन्द्रीय प्राण से किस तरह भिन्न है?

छोटा प्राण छोटे लोभ-लालच, कामनाएं, ईर्ष्या, क्रोध इत्यादि लाता है।

दूसरे में महत्वाकांक्षा, बल, शक्तियों के खेल, काम को सम्पन्न करने की विशालतर गति होती है।

सन्देह और संकोच क्या हैं? वे बिन-बुलाये मेहमान बन कर कहां से आ टपकते हैं और उन पर कैसे विजय पायी जाये? ऐसी चीज़ें मेरे अन्दर प्रायः उठा करती हैं। मैं नहीं चाहता कि वे मेरे ऊपर राज करें।

मेरे ख्याल से तुम्हारे अन्दर कुछ श्रद्धा भी है और कुछ सन्देह भी। अपने मन को सन्देहों पर जोर देने से रोको और हमेशा श्रद्धा के बारे में सोचो।

सन्देह भौतिक प्रकृति से आते हैं, तुम्हें उन्हें रद्द करना और उनकी जगह श्रद्धा को लाना चाहिये।
—नगीन दोशी

श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार

मन्दिर में जाना अच्छा है क्या? यह विचार मेरे अन्दर इसलिए आया कि अगर कोई निराकार भगवान् में विश्वास रखता है तो उसे साकार भगवान् में—मेरा मतलब है मानव सत्ता के रूप में—विश्वास न होगा।

तुम्हारा मतलब है कि अगर किसी को किसी धर्म के भगवान् पर श्रद्धा है तो उसे किसी देहधारी भगवान् पर कैसे श्रद्धा होगी? यह बात एकदम ठीक है।

१ जून १९३४

मैं भूगोल की पुस्तकें घर ले जा सकता हूं क्या? मैं इन्हें अपने कमरे से बाहर नहीं जाने दूंगा।

हां, तुम भूगोल की पुस्तकों को ले जा सकते हो, लेकिन तुम्हें उन्हें बहुत सम्भालकर रखना होगा ताकि वे फट न जायें, उन पर कोई धब्बे न लगें या कीड़े उन्हें न खा जायें।

२ जून १९३४

मेरी समझ में नहीं आता कि 'ज' को स्नेह के कारण क्यों और कैसे कठिनाई होती है?

मुझे नहीं हुई। शायद इसलिए कि मैं उन कठिनाइयों के बारे में सचेतन नहीं हूँ।
इसलिए क्योंकि उसमें स्नेह एक आसक्ति पैदा करता है, और समस्त आसक्ति योग के विपरीत है।

मेरे मन में आपको रविवार को भी लिखने का विचार आया। लेकिन मैंने अपने-आपसे कहा, "हर्गिज़ नहीं। मैं माताजी से नहीं पूछूंगा।" क्या यह कोई प्राणिक आवेग था, और क्या मन ने जवाब दिया?

मन के एक अधिक प्रदीप्त भाग ने दूसरे हिस्से को जवाब दिया जो अभी तक प्राण की कामनाओं का समर्थन करता है।

४ जून १९३४

मेरे अन्दर स्नेह आसक्ति पैदा करता है क्या?

स्नेह हमेशा आसक्ति पैदा करता है, जब तक कि तुम योगी न होओ।

ऐसा लगता है कि प्राण-लोक में बिलकुल बिजली नहीं है—सपने हमेशा अंधेरे होते हैं।

तुम्हें यह विचित्र कहानी किसने सुनायी?

निश्चित रूप से वहां वह रोशनी नहीं है जिसका मनुष्य भौतिक जगत् में उपयोग करते हैं। लेकिन वहां तुम जितने प्रकाशों की इच्छा कर सकते हो उतने प्रकाश हैं—यहां तक कि सबसे सुन्दर, चमकदार प्रकाश हैं। अगर तुम्हें पहले से सचेत न कर दिया जाये तो तुम अपने-आपको बहुत ऊंचे स्तर पर मान सकते हो।

४ जून १९३४

आपने कहा कि प्राण-जगत् में उतने प्रकाश हैं जितने की मनुष्य इच्छा कर सकता है—लेकिन क्या वे सच्चे प्रकाश हैं, या वे प्राणिक सत्ताओं द्वारा रचे गये हैं?

प्राण-जगत् के प्रकाश निश्चय ही प्राणिक प्रकाश हैं।

सपने में मैं यहां की तरह दिन का प्रकाश नहीं देखता। मैं सब कुछ बहुत धुंधला देखता हूँ।

यह इसलिए कि उस जगत् में तुम्हारी दृष्टि पूरी तरह विकसित नहीं है या फिर इसलिए कि तुम वहां के अंधेरे स्थानों में जाते हो। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि सारा प्राण-जगत् अन्धकारमय है!

५ जून १९३४

मैं अपने मन के सबसे प्रबुद्ध भाग को हमेशा ऊपर कैसे रख सकता हूँ?

इच्छा करो, और जब-जब अन्धकारमय, अज्ञानी और अहंकारी भाग तुम्हारी सत्ता पर अधिकार करने की कोशिश करे तब-तब प्रबुद्ध भाग को हस्तक्षेप करने के लिए पुकारो।

कुछ दिनों से मुझे ऐसा लग रहा है कि कोई पर्दा फट गया है—शायद सन्देह और ईर्ष्या का पर्दा, लेकिन मैं निश्चित नहीं हूँ।

चीजों को ज़्यादा स्पष्ट होने के लिए तुम्हें कुछ अधिक प्रतीक्षा करनी होगी।

६ जून १९३४

पिछले दो दिनों से मैं ईर्ष्या के बारे में दुःखी रहता हूँ।

दुःखी होने का कोई फ़ायदा नहीं। तुम जितनी शक्ति दुःख के अनुभव में नष्ट करते हो उसका ज़्यादा अच्छा उपयोग गलत गतिविधि को रूपान्तरित करने में होगा।

लेकिन आज सुबह प्रणाम के बाद मैंने बहुत खुशी महसूस की। क्या साधारण मन के लिए तीव्र अभीप्सा के बावजूद भगवान् की तरफ़ आसानी से मुड़ना असम्भव है!

तत्काल परिवर्तन के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है; मुश्किल है उसे बनाये रखना।

९ जून १९३४

बहुधा जब कुछ करना होता है तो दो उत्तर आते हैं। एक भाग कहता है, मत करो, दूसरा कहता है, इसमें कोई हर्ज नहीं। इसका कौन निश्चय करता है कि कौन-सा भाग ग़लत है और कौन-सा सही।

अगर चैत्य चेतना पूरी तरह जागी हो तो वही निश्चय करेगी। लेकिन इस मामले में मन का एक हिस्सा दूसरे हिस्से के साथ तर्क करता है, और सबसे अच्छा होगा कि मनोमय पुरुष हस्तक्षेप करके निर्णय ले।

११ जून १९३४

मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि आपका इससे क्या मतलब है, “तत्काल परिवर्तन के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है; मुश्किल है उसे बनाये रखना।” वह क्षण भर के लिए बदल जाता है और फिर से उसी पुरानी अवस्था में जा गिरता है।

हां, अचानक मन स्पष्ट रूप से देखता है और बदल जाता है, लेकिन फिर अन्धकार उस पर आक्रमण करता है और वह अपनी पुरानी आदतों में जा गिरता है।

साधारण मन के परिवर्तन को किस तरह बनाये रखा जा सकता है?

जब तक परिवर्तन स्थायी न हो जाये तब तक साधारण मन को प्रकाश के सम्पर्क में लाने का आग्रह करो।

कुछ हफ्तों से मैं देख रहा हूँ कि सब कुछ मन के विषय में हो रहा है, प्राण को क्या हो रहा है? क्या वह अब भी अपनी अशुद्ध और अन्धकारमयी अवस्था में है?

सम्भवतः, लेकिन जैसे-जैसे मन बदलता है प्राण भी उसके प्रभावों को अनुभव करता है।

११ जून १९३४

ऐसा लगता है कि स्त्रियों में एक ऐसी आकर्षण शक्ति होती है जिसे वे पुरुषों पर फेंकती हैं—यह सामान्य गतिविधि है—और पुरुष जाल में फंसी मछली की तरह फंस जाता है और बहुत बार बाहर नहीं निकल पाता। क्या यह सच है? इस शक्ति के स्पर्श से पूरी तरह बचने का क्या तरीका है, या हमें इससे बचने के लिए क्या करना चाहिये?

मेरे ख्याल से यह पारस्परिक प्रभाव है—उधर स्त्रियों की यह शिकायत होती है कि पुरुष उनके साथ ठीक यही करते हैं। चेतना को केवल भगवान् की तरफ़ मोड़ना ही इसका सच्चा इलाज है।

११ जून १९३४

मधुर मां, पिछले दो दिन मैंने सपना देखा कि मुझे जेल में बन्द कर दिया गया। इसका क्या अर्थ है?

इसका अर्थ है कि निम्नतर चेतना तुम्हारी चैत्य सत्ता को बन्दी बनाना चाहती है।

१२ जून १९३४

'क्ष' ने मुझसे कहा कि गला खराब होने पर चाय या कॉफी लेना बहुत अच्छा है और वह दिन में दो या तीन बार पीता है।

हर एक का अपना उपचार और अपनी आदतें होती हैं जो उसके लिए अच्छी हो सकती हैं, लेकिन उन्हें व्यापक बनाना और दूसरों पर लागू करने की कोशिश करना बहुत बड़ी गलती होगी।

२६ जून १९३४

मैंने तीन-चौथाई रात जागकर बितायी। मेरे ख्याल से अन्तर्दर्शन मुझे सोने से रोक रहे हैं।

बहरहाल यह अशान्त और अस्थिर प्राण है।

२८ जून १९३४

आज दोपहर मैं १२.३० से ३.३० तक सोया; मेरे ख्याल से ज़रूरत से ज्यादा सोया।

नहीं, यह ठीक है क्योंकि तुम बहुत बुरी तरह सो रहे हो।

२८ जून १९३४

ज्यादा अच्छी तरह सोने के लिए मैं प्राण को कैसे शान्त कर सकता हूँ? अभीप्सा द्वारा?

और एकाग्रता द्वारा, अशान्ति को त्यागने की इच्छा द्वारा।

—शान्ति दोशी

स्वयं को दे दो

यदि तुम भगवान् के कार्यों के सच्चे कर्ता बनना चाहते हो तो तुम्हारा पहला लक्ष्य यही होना चाहिये कि तुम सारी कामनाओं से और अपने-आपको सर्वस्व मानने वाले अहंकार से सर्वथा मुक्त हो जाओ। तुम्हारा सारा जीवन भगवान् के प्रति निवेदन और यज्ञ-रूप होना चाहिये। कर्म में तुम्हारा एकमात्र लक्ष्य हो भगवती शक्ति की सेवा करना, उन्हें ग्रहण और चरितार्थ करना, और उनके कार्यों में उन्हें प्रकट करने वाला यन्त्र बनना। तुम्हें भागवत चेतना में तब तक विकसित होते जाना होगा जब तक तुम्हारी इच्छा और उनकी इच्छा में कोई भेद न रह जाये, तुम्हारे अन्दर उनकी प्रेरणा के अतिरिक्त कोई और प्रेरक हेतु न रहे, कोई कर्म ऐसा न हो जो तुम्हारे अन्दर और तुम्हारे द्वारा होने वाला उन्हीं का सचेतन कर्म न हो।

जब तक तुम इस सम्पूर्ण सक्रिय एकत्व के योग्य नहीं हो जाते तब तक तुम्हें यही मानना चाहिये कि तुम्हारी देह और आत्मा मां की सेवा के लिए ही बनी हैं, जो सब कुछ उन्हीं के लिए करती हैं। यदि तुम्हारे अन्दर यह बोध प्रबल हो कि तुम एक अलग कर्ता हो और तुम यह अनुभव करो कि तुम ही कर्म कर रहे हो तब भी कर्म मां के लिए ही किया जाना चाहिये। अहंकारमय पसन्द के सारे दबाव, वैयक्तिक लाभ की सारी लालसा और स्वार्थ-भरी कामनाओं की सारी मांगों को प्रकृति में से मिटा देना होगा। फल की कोई मांग या पुरस्कार की कोई चाहना शेष न रहे। तुम्हारे लिए एकमात्र फल है भगवती मां की प्रसन्नता और उनके कार्य की पूर्ति। तुम्हारा एकमात्र पुरस्कार होगा भागवत चेतना, शान्ति, बल और आनन्द में उत्तरोत्तर वृद्धि। सेवा का आनन्द और कर्मों के द्वारा आन्तरिक विकास का आनन्द ही निःस्वार्थ कार्यकर्ता के लिए यथेष्ट पुरस्कार है।

पर एक समय आयेगा जब तुम अधिकाधिक यह अनुभव करोगे कि तुम यन्त्र हो, कर्ता नहीं। क्योंकि पहले तो अपने भक्ति-बल द्वारा भगवती मां के साथ तुम्हारा सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो जायेगा कि सारे समय उनका उपस्थित पथ-प्रदर्शन, उनका सीधा आदेश या प्रेरणा पाने के लिए तुम्हें केवल एकाग्र होकर सब कुछ उनके हाथों में सौंपना होगा। इस बात का निश्चित संकेत पाने के लिए कि क्या करना है, कैसे करना है और उसका क्या फल होगा। बाद में तुम यह अनुभव करोगे कि भगवती शक्ति तुम्हें केवल प्रेरणा ही नहीं देती, मार्ग ही नहीं दिखाती बल्कि तुम्हारे कर्मों को शुरू भी करती हैं और पूरा भी, तुम्हारी सारी गतियां उन्हीं से निकलती हैं, तुम्हारी सारी शक्तियां उन्हीं की हैं, तुम्हारे मन, प्राण, शरीर उन्हीं के कर्म के सचेतन और

आनन्दमय यन्त्र हैं, उनकी लीला के साधन हैं, स्थूल जगत् में उनकी अभिव्यक्ति के सांचे हैं। इस एकता और निर्भरता से अधिक सुखद स्थिति और कोई नहीं हो सकती, क्योंकि यह पग तुम्हें अज्ञान के संघर्ष और भारमय जीवन के प्रदेश की सीमा के पार ले जाता है, तुम फिर अपनी अध्यात्मसत्ता के सत्य में, उसकी गभीर शान्ति में, उसके तीव्र आनन्द में जा पहुँचते हो।

जब यह रूपान्तर हो रहा हो तो यह पहले से कहीं अधिक आवश्यक हो जाता है कि तुम अपने-आपको अहंकार की समस्त विकृतियों के दोष से मुक्त रखो। किसी भी मांग या हठ को लुक-छिपकर अपने अन्दर घुसने और आत्मदान और बलिदान को कलंकित न करने दो। कर्म में या फल में कोई आसक्ति न हो, अपनी कोई शर्त न रखी जाये, तुम्हें जिस शक्ति के अधीन रहना है, उस पर अपने अधिकार का कोई दावा न हो। भगवती के यन्त्र होने का कोई अभिमान, कोई घमण्ड या दम्भ न हो। मन में या प्राण और देह के किसी भाग में कोई ऐसी चीज़ न रहनी चाहिये जो तुम्हारे द्वारा काम करती हुई महती शक्ति की महत्ता को अपने निजी काम में लगाकर विकृत कर दे या उनका अपनी व्यक्तिगत और पृथक् तृप्ति के लिए प्रयोग करे। तुम्हारी श्रद्धा, तुम्हारी सचाई और तुम्हारी अभीप्सा की विशुद्धता सम्पूर्ण हो और सत्ता के सब क्षेत्रों और स्तरों में व्याप जाये। तब, विघ्न उत्पन्न करने वाला प्रत्येक तत्त्व, विकृत करने वाला प्रत्येक प्रभाव उत्तरोत्तर तुम्हारी प्रकृति से झड़ जायेगा।

इस परिपूर्णता की अन्तिम अवस्था तब आयेगी जब भगवती मां के साथ तुम्हारा पूरा तादात्म्य होगा, जब तुम यह अनुभव करोगे कि तुम कोई पृथक् भिन्न सत्ता, यन्त्र, सेवक या कर्ता नहीं हो, वरन् वास्तव में भगवती मां की सन्तान, उनकी चेतना और शक्ति के सनातन अंश हो। वे सदा तुम्हारे अन्दर रहेंगी और तुम उनके अन्दर, तुम्हें यह सतत, सहज और स्वाभाविक अनुभव होगा कि तुम्हारा सब सोचना, देखना, सुनना और कर्म करना, तुम्हारा श्वास-प्रश्वास और हिलना-डुलना भी उन्हीं से आता है, उन्हीं का है। तुम जानोगे, देखोगे और अनुभव करोगे कि उन्होंने ही तुम्हें अपने-आपमें से एक व्यक्ति और शक्ति के रूप में निर्मित किया है, अपने अन्दर से लीला के हेतु प्रकट किया है, और फिर भी तुम सदा उन्हीं के अन्दर सुरक्षित हो, उन्हीं की सत्ता के सत्, उन्हीं की चेतना की चेतना, उन्हीं की शक्ति की शक्ति और उन्हीं के आनन्द के आनन्द हो। जब यह स्थिति पूर्ण होगी और अतिमानसिक शक्तियां तुम्हें बिना रोक के परिचालित कर सकेंगी, तभी तुम उनके दिव्य कर्मों में पूर्णता प्राप्त करोगे; तब ज्ञान, संकल्प और कर्म निश्चित, सरल, ज्योतिर्मय, अबाध, निर्दोष, परमेश्वर से निःसृत एक प्रवाह, शाश्वत की एक दिव्य गतिधारा होंगे।

(‘माता’ पुस्तक से)

—श्रीअरविन्द

फूल ले लो, फूल

(कनिष्ठा जी ने यह कहानी कई साल पहले तब लिखी थी जब वे श्रीअरविन्द आश्रम के विद्यालय की छात्रा थीं। एक अरसा पहले यह पुरोधा में छपी थी। आइये, आज हम उनकी इस सुन्दर कहानी को फिर से सराहें। —सं.)

“फूल ले लो, फूल! दो आने की माला! सुन्दर सफेद फूल!”

। इस
तुम्हें
अपनी

। तुम
उ को
कर्म

मधीन
मान,
रहनी

गाकर
श्रद्धा,
स्तरों

भाव
रात्म्य
हों, तो,
सदा
होगा

लना
तुम्हें
हेतु
उन्हीं

यह
तुम
मय,
वेन्द

के
इस

मैं बिस्तर से उछली और वातायन का परदा हटाकर सींखचों में से झांका। गोधूलि की वेला थी। भास्कर भले ही विलुप्त हो चुके हों लेकिन उनकी अन्तिम रश्मियां रह-रहकर धरा को सुनहरे और हल्के अबीर में रंग रही थीं। शायद उन्होंने अपने वक्षःस्थल में यह आशा संजो रखी थी कि वे वसुन्धरा को दुल्हन की तरह सजा-धजाकर जायें तो जब रजनी अपने सितारों से जटित वस्त्र पहनकर आयेगी तो उसके कदम अपने-आप ही रुक जायेंगे। इतने लावण्य, इतनी कोमल सुन्दरता देख वह अपने काले रूप को प्रकट करने का साहस न करेगी और चुपचाप चली जायेगी।

न जाने क्यों, आज सड़क सुनसान थी। कल इसी समय कितना शोर मच रहा था। मोटरें, साइकिलें, रंग-बिरंगे वस्त्र पहने लोग बतियाते हुए समुद्र के किनारे टहलने जा रहे थे।... तभी सन्नाटे में वही पतली मीठी आवाज़, “फूल ले लो, फूल!” अभी वह आंखों से ओझल थी लेकिन आवाज़ निकट आ रही थी। अब किसी भी क्षण वह दिखायी देगी। एक मिनट बीता, दो मिनट बीते, लेकिन उसका नामोनिशान भी नहीं। मैंने एक आह भरी और चौखट पर कुहनियां टेककर बैठ गयी। शायद पड़ोसिन के घर बेच रही होगी। यह सोचने की देर थी कि अचानक वह सामने नज़र आयी।

पहले-पहल केवल एक काली-सी आकृति दिखायी दी। लेकिन जैसे-जैसे वह निकट आती गयी, मैंने देखा कि वह एक छोटी-सी लड़की थी।

वह करीब दस साल की होगी। मटमैले कपड़े और बिवाईयों-भरे नंगे पैर। कष्ट के चिह्न ऐसे कि मिटाए न मिटें। कमर पर एक बड़ी टोकरी थी जिसमें से सफेद फूलों की झलक मिल रही थी।

मैंने “ओ फूलवाली!” चिल्लाने के लिए अभी मुंह खोला ही था कि उसने मुझे देख लिया और टोकरी सम्भालती हुई मेरी ओर बढ़ी।

फुटपाथ पर टोकरी रखकर उसने एक आह भरी और अपनी फटी-पुरानी कमीज़ से पसीना पोंछते हुए पूछा :

“अम्मा, कितने हाथ माला लेंगी?”

“दो।”

“बस दो ही? तीन ले लीजिये ना, लम्बे बालों में लम्बी माला सुन्दर लगेगी।”

मैं मुस्कुराई और बोली, “अच्छा, तीन ही सही।”

तीन हाथ नापकर उसने टोकरी में ब्लेड की खोज में हाथ डाला, लेकिन असफल होने के कारण झट दांत से काम ले लिया।

मैंने कहा, “पगली, फूल पर दांत मारती है?”

“नहीं, अम्मा, मैंने सूते पर ही मारा। ब्लेड नहीं मिल रहा।” यह कहकर फुटपाथ पर कूदी और मेरी ओर हाथ बढ़ाया।

ढलती शाम में भी उसने मेरे चेहरे पर मसूरिका के दाने देख लिये और उसका हाथ रास्ते में ही अटक गया। मैंने मन-ही-मन सोचा, “बाप रे! लोग भूत-प्रेत से भी इतना नहीं डरते जितना मसूरिका से।”

लेकिन अगले ही क्षण उसका प्रश्न सुनकर मैंने अपनी विकृत बुद्धि की सराहना की!

“अम्मा को क्या हो गया है?”

“मसूरिका!”

“क्या कहा अम्मा ने?”

मैंने दोहराया। लेकिन उसके चेहरे से स्पष्ट था कि बात उसकी समझ में नहीं आयी। मैंने कहा, “मैं बीमार हूँ।” यह बात उसके दस वर्षीय ज्ञान की पहुंच के बाहर न थी। वह बोली, “अम्मा बीमार है? बहुत दिनों से?”

“हां, आज दस दिन हुए हैं,” मैंने उसके हाथ से फूल लेते हुए कहा।

वह चुप रही। लेकिन उसकी नाचती, चमकती, कजरारी आंखों में एक गम्भीर भाव उतर आया।

मैंने अपना बटुआ निकाला और टूटे पैसे गिनने लगी। मैंने सोचा, “बेचारी! कितनी छोटी है और दिन-भर चिलचिलाती धूप में उसे नंगे पांव घूमना पड़ता है। दस साल के बच्चे तो पढ़ते हैं, हंस्टे हैं, खेलते हैं। लेकिन यह बेचारी रोटी कमाने के लिए, सड़क पर चिल्लाते-चिल्लाते दो आने के फूल बेचती फिरती है।”

अनायास मेरी दृष्टि उसकी टोकरी की ओर गयी। वह लगभग भरी थी। अब सूरज अस्त हो चुका था। उन रश्मियों के प्रकाश के बावजूद कुछ ही देर में निशा शनैः-शनैः धरती पर छा जायेगी। यह बच्ची सूर्योदय से फूल बेचने के लिए निकल पड़ी होगी। अब सूर्यास्त हो चुका है। वह घर लौट रही है और टोकरी जैसी-की-वैसी भरी पड़ी है।

इसका मतलब यह कि आज उस नन्हीं-सी लड़की की कमाई न के बराबर हुई होगी। किस मुंह से घर लौटेगी वह?

अगर मैं उसे यूं ही अठन्नी पकड़ा दूं तो मुझे मालूम है उसे बुरा लगेगा। हां, वह दरिद्र भले हो, भिखारिन नहीं है। अपना पेट भरने के लिए वह काम करती है। सबसे अच्छा उपाय होगा मैं और दो हाथ फूल खरीद लूं...।

तभी उसकी आवाज़ ने मेरे विचार-प्रवाह को काट दिया, “अम्मा, मुझे पैसे नहीं चाहियें।” “हैं?” मैं चौंक उठी।

“हां, आपने ठीक ही सुना। ये फूल जो मैंने दिये हैं, उनको अपने पास रखना। उनकी सुगन्ध से आप जल्दी ही ठीक हो जायेंगी।”

यह कहकर वह मुस्कुरायी और मैं कुछ कह सकूं उससे पहले टोकरी उठा अन्धकार में अदृश्य हो गयी।

कुछ देर बाद, अन्धकार के सन्नाटे में वही सुरीली आवाज़ भर गयी, “फूल ले लो, फूल। सुन्दर, सफेद फूल!”

उस आवाज़ ने मेरे हृदय को छू लिया और मेरे नयनों से आंसुओं की दो झिलमिलाती बूंदें गाल पर लुढ़क कर नीचे, मेरी गोद में रखे नन्हें सफेद फूलों पर जा टपकीं।

पानी का शीतल स्पर्श पाकर उनकी मुरझाती हुई पंखुड़ियां एकाएक खिल उठीं और मुझे लगा मानों वे मेरी ओर से अपनी मालकिन को धन्यवाद दे रही थीं।

—कनिष्ठा

अध्ययन का सुख

माताजी, क्या व्यक्ति भगवान् के लिए अध्ययन नहीं कर सकता?

इसका अर्थ?

क्या व्यक्ति अपने लिए अध्ययन न करके भगवान् के लिए अध्ययन कर सकता है, भागवत कार्य के लिए अपने-आपको तैयार कर सकता है?

हां, यदि तुम इस भावना के साथ अध्ययन करो कि तुम्हें उनका यन्त्र बनने के लिए अपना विकास करना है। सचमुच, यह एक बिलकुल ही अलग भावना से किया जाता है, है न?— बिलकुल अलग भावना से। तब सबसे पहले तो ऐसे विषय ही न रहेंगे जिन्हें तुम पसन्द करते हो, न ही वे जिन्हें तुम पसन्द नहीं करते, ऐसी कक्षाएं भी नहीं होंगी जो तुम्हें उबा देती हैं या नहीं उबातीं, न ही ऐसी वस्तुएं जो तुम्हें कठिन लगती हैं या कठिन नहीं लगतीं, ऐसे अध्यापक भी नहीं, जो तुम्हें प्रीतिकर लगते हैं या नहीं लगते—यह सब तत्काल समाप्त हो जाता है। तब व्यक्ति एक ऐसी अवस्था में प्रवेश करता है जिसमें जो भी हो उसे वह भगवान् के कार्य के लिए अपने-आपको तैयार करने के अवसर के रूप में लेता है, और तब सब कुछ रोचक हो जाता है। स्वभावतया यदि, कोई ऐसा कर रहा है तो यह बिलकुल ठीक है।

आपने जो 'बुलेटिन' में "मन को शिक्षा" देने की बात कही है, उसका अर्थ यह है कि व्यक्ति इसीलिए अपने-आपको शिक्षित करता है, भगवान् के लिए ही वह जीवन धारण करता है, और अध्ययन भी करता है। तो क्या यह भगवान् के लिए किया गया कार्य नहीं है?

हां, हां, हां। यदि इस उद्देश्य से किया जाये तो यह बहुत अच्छा है। किन्तु उसका उद्देश्य यही होना चाहिये। उदाहरणार्थ, जब व्यक्ति जीवन के गहन नियमों को समझना चाहता है, भगवान् द्वारा भेजे गये किसी भी सन्देश को ग्रहण करने की सामर्थ्य प्राप्त करना चाहता है, यदि वह 'अभिव्यक्ति' के गुप्त रहस्यों में प्रवेश पाना चाहता है तो इस सब के लिए एक विकसित मन की आवश्यकता होती है; अतएव, व्यक्ति इसी संकल्प के साथ अध्ययन करता है। किन्तु तब उसे अध्ययन के लिए चुनाव करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि तब कोई भी वस्तु, जीवन की एक छोटी-सी परिस्थिति भी शिक्षक बन जाती है, वह तुम्हें कुछ-न-कुछ सिखा सकती है, वह सोचना और कार्य करना भी सिखाती है। बल्कि (मैंने शायद ठीक यही कहा भी था), एक अज्ञानी बालक के विचार भी तुम्हें एक ऐसी वस्तु को समझने में सहायता दे सकते हैं जिसे तुम पहले नहीं समझे थे। तुम्हारी वृत्ति तब इतनी भिन्न होती है कि वह सदा किसी खोज की, प्रगति के अवसर की, किसी गलत चेष्टा के शोधन की, एक पग आगे बढ़ने की प्रतीक्षा में रहती है। वह एक तरह से ऐसे चुम्बक का कार्य करती है जो चारों ओर से प्रगति के अवसर को अपनी ओर खींच लेता है। छोटी-से-छोटी वस्तु भी तुम्हें प्रगति के मार्ग पर चला सकती है। चूंकि तुम्हारे अन्दर प्रगति करने की चेतना और संकल्प होते हैं, प्रत्येक वस्तु तुम्हारे लिए विकास

करने का साधन बन जाती है, और फिर तुम विकास करने की इस चेतना और संकल्प को सब वस्तुओं पर प्रक्षिप्त कर सकते हो।

और यह तुम्हारे लिए ही नहीं, उन सब लोगों के लिए भी लाभकारी है जो तुम्हारे इर्द-गिर्द हैं और तुमसे सम्पर्क रखते हैं।

अब हम सिर्फ तुम्हारी कक्षा के बारे में, स्कूल की कक्षा का प्रश्न लेते हैं। जैसे केवल एक अनुशासनहीन, आज्ञा न मानने वाला और दुर्भावना रखने वाला बच्चा सारी कक्षा को अस्त-व्यस्त कर सकता है (और इसलिए कभी-कभी उसे कक्षा से बाहर निकालना पड़ता है, क्योंकि कक्षा में उसकी उपस्थिति ही कक्षा को पूरी तरह अव्यवस्थित करने के लिए काफी होती है), इसी प्रकार यदि किसी विद्यार्थी की वृत्ति बिलकुल ठीक हो, उसमें सब कुछ सीखने की संकल्प-शक्ति हो, जिसके लिए बोला हुआ एक-एक शब्द, किया गया हर संकेत कुछ सीखने का अवसर बन जाता है—कक्षा में ऐसे बालक की उपस्थिति उससे उल्टा प्रभाव उत्पन्न कर सकती है, और पूरी कक्षा को शिक्षा के क्षेत्र में ऊंचा उठा सकती है। यदि वह सचेतन रूप से सीखने और ठीक रास्ते पर चलने की तीव्र अभीप्सा रखता है तो उसका प्रभाव दूसरों पर भी पड़ सकता है...। यह सच है कि आजकल जो वस्तुस्थिति है उसमें बुरा उदाहरण अच्छे उदाहरण से अधिक संक्रामक होता है! बुरे उदाहरण का अनुसरण व्यक्ति सरलता से कर लेता है, अच्छे का उतना नहीं, किन्तु अच्छा उदाहरण भी उपयोगी तो होता ही है। जब कक्षा में एक सच्चा विद्यार्थी केवल इसीलिए हो कि वह कुछ सीखना चाहता है, और इसके लिए वह प्रयत्न भी करता है, सीखने के प्रत्येक अवसर में गहन रुचि लेता है—तो यह बात एक ठोस वायुमण्डल पैदा कर देती है।

तुम सहायता कर सकते हो।

—‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड ६, पृ. १५२-५४

विरल सौभाग्य

(श्री टी. वी. कपाली शास्त्री की पुस्तक ‘फ़्लेमिंग ऑफ़ व्हाइट लाइट’ में माधव पण्डित जी द्वारा लिखित प्रस्तावना का एक अंश)

श्री टी. वी. कपाली शास्त्री बचपन से ही विभिन्न योग-प्रणालियों का अनुसरण किया करते थे और कई बार मुझे उनके बारे में बतलाया करते थे। मन्त्र, उपासना, पूजा, आराधना इत्यादि जटिल तथा श्रमसाध्य पद्धतियों का उन्होंने कई-कई वर्षों तक नियमित रूप से अभ्यास किया। एक बार मैंने उनसे पूछा था, “आपके जीवन में इतनी सारी पूजा-आराधना इत्यादि का परिणाम क्या हुआ?” एक झटके से वे उठ बैठे, बोले : “फल यह निकला—यह सब मुझे श्रीअरविन्द तथा श्रीमां के चरणों में ले आया।” मानों वे मुझसे प्रश्न पूछ रहे थे, “इससे बढ़ कर और कोई फल प्राप्त हो सकता है भला?” उनका यह उत्तर मेरे हृदय में गहरा संस्कार छोड़ गया। और जब-जब मैं चीजों को, घटनाओं को सामान्य रूप में लेने लगता हूँ, जब-जब इस तथ्य को भूलने लगता हूँ कि हम कितने अविस्मरणीय मुहूर्त में जी रहे हैं, तब-तब शास्त्री जी की बात हृदय के किसी कोने से उझक पड़ती है, “इससे बढ़कर और कोई फल प्राप्त हो सकता है भला?”...

वे हर क्षण इस बात से सचेतन रहते थे कि हमें कितना विरल सौभाग्य प्राप्त है कि हम धरती के इतिहास के ऐसे क्षण में उपस्थित हैं जिसका संयोग पता नहीं कितने हज़ारों साल बाद पृथ्वी पर होता है। क्योंकि उन्हें यह अनुभूति हो गयी थी और वे यह जानते थे कि श्रीमां न केवल कोई आध्यात्मिक व्यक्ति या सन्त हैं, न ही आध्यात्मिक उपलब्धि के शिखरों पर पहुँची हुई योगी हैं, न ही वे पारम्परिक धारणा के अनुसार मात्र कोई अवतार हैं यानी मानव शरीर में अवतरित भगवान् की कोई शक्ति या उनका कोई भाग। उन्होंने देखा और यह उपलब्धि पा ली थी कि श्रीमां दिव्य समग्रता का सचेतन मूर्त-रूप हैं जिनमें उन आद्या शक्ति के चारों व्यक्तित्व उपस्थित हैं जिनके बारे में श्रीअरविन्द ने कहा है कि वे पृथ्वी के क्रम-विकास में आदि काल से प्रतिष्ठित रही हैं। श्री कपाली शास्त्री ने उन दिव्य मां के अन्दर महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती—चारों का आह्वान किया और हमेशा उनका उत्तर पाया। दिव्य मां के अन्दर उन्होंने अपनी सम्पूर्ण साधना समर्पित कर दी थी...।

श्रीअरविन्द कहते हैं, यही है भागवत मुहूर्त। पार्थिव इतिहास के दीर्घ काल में इस तरह के मोड़ आये हैं, लेकिन उनमें एक बड़ा अन्तर था। वे भी ऐसे क्रान्तिक मुहूर्त थे जब एक स्तर से दूसरे स्तर पर चढ़ने के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए भगवान् की विशेष अभिव्यक्तियां पृथ्वी पर उतरी थीं, लेकिन पार्थिव क्रम-विकास में वर्तमान मुहूर्त सबसे अधिक भाग्यशाली लेकिन साथ-साथ सबसे अधिक संकटपूर्ण काल भी है। क्रम-विकास एक ऐसे स्तर पर आ पहुँचा है जहाँ मानव को—युगों से श्रम में लगी प्रकृति के मुकुट को—या तो अपने देवत्व में विकसित होकर प्रगति के नये आयाम में खुलना होगा या फिर वह अपनी सभी सम्भावनाओं के साथ, खड़े हुए पानी की तरह सड़ कर नष्ट हो जायेगा। अज्ञान और मिथ्यात्व की सभी सुस्थापित शक्तियां इस संक्रमण के एकदम विरुद्ध हैं क्योंकि इसमें तो उन्हें अपनी मृत्यु का घण्टानाद सुनायी देता है। दिव्य चित्-शक्ति की सबसे अधिक पूर्ण और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति ही इस स्थिति का सामना कर सकती है, और यह सब कुछ एक ऐसे स्तर पर होगा जो अब तक अज्ञात है। और यथार्थ रूप से यही हैं दिव्य मां। जिस महानतम चुनौती के सम्मुख पृथ्वी इस समय खड़ी है उसमें परम दिव्यता को उसने टेर लगायी और प्रत्युत्तर में दिव्य जननी पृथ्वी पर अवतरित हो गयीं। अब तक सृष्टि के इतिहास में आविर्भूत भागवत कृपा का सबसे अधिक पूर्ण मूर्त रूप मां हैं। वे समस्त आध्यात्मिक तथा गुह्यशक्ति तथा ज्ञान के साथ, शासन करने वाले समस्त बल तथा विजयशील प्रेम के साथ आयी हैं। केवल ये ही चीज़ें प्रकृति को ऊपर उठा सकती और मनुष्य के लिए भगवान् की घोषणा कर सकती हैं। कई दशकों तक श्रीमां ने अखूट धैर्य और अतिसावधान परिश्रम के साथ इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास किया। और हम जानते हैं कि वे पृथ्वी पर सर्जनशील देवत्व की एकदम से नयी ऊर्जा और गति तथा सबका उद्धार करने वाली अतिमानस की शक्ति को लाने में सफल हुई हैं और उन्होंने इस 'सत्य-शक्ति' को पार्थिव चेतना में सुप्रतिष्ठित करके हर एक स्त्री और पुरुष के लिए इस सम्भावना के लिए दरवाज़े खोल दिये कि वह अपने मानव जीवन को दिव्य जीवन में रूपान्तरित कर सके। क्रम-विकास में मानव से भागवत स्थिति में जाने का संक्रमण कार्यान्वित होना शुरू हो गया है। उनका ध्येय भव्य रूप से सम्पन्न हो रहा है जैसी कि श्रीमां ने २४ अप्रैल १९५६ के अपने ऐतिहासिक वक्तव्य में घोषणा की थी :

“धरती पर अतिमानस का अवतरण अब एक प्रतिज्ञा भर नहीं है बल्कि एक ठोस तथ्य,

यथार्थता बन चुका है।

वह यहां काम में लगा है और एक दिन आयेगा जब एकदम से अन्धा, एकदम से अचेतन, यहां तक कि एकदम से अनिच्छुक व्यक्ति भी उसे पहचानने को बाधित होगा।”

चेतना में हम जितना अधिक गहरे उतरते हैं उतना अधिक हम “मनुष्य को दिये गये ‘उनके’ अपूर्व उपहार” के प्रति आश्चर्यजनक रूप में सचेतन होते जाते हैं। और तब एक विराट् शक्ति परमा शान्ति और अवर्णनीय आनन्द की लहरों पर हमें आगे ही आगे की ओर बढ़ाती रहती है। जिस क्षण हम श्रीमां के बारे में सोचते हैं, जिस क्षण हम उनके प्रिय नाम का स्मरण करते हैं उसी क्षण आनन्द की भारी वर्षा में सराबोर हो उठते हैं। सचमुच, किस भव्य युग में जी रहे हैं हम लोग!

—माधव पण्डित

अन्तिम प्रणाम*

‘बढ़ते कदम’ की लेखिका, आश्रम की साधिका, सादगी, सौजन्य और नम्रता की प्रतिकृति ज्ञान बहन ने ४ जून को हम सबसे हमेशा के लिए विदा ले ली। मन उनका बहुत कुछ करना चाहता था, लेकिन शरीर कई बार साथ न दे पाता था, फिर भी वे जीवन के आखिरी दिनों तक अपनी साधना निरन्तर करती चली गयीं। उनकी डायरी का यह पन्ना उनके अन्तरमन की बात कह रहा है जिसमें शरीर के भयंकर कष्ट को सहते हुए भी आशा और निजी उपलब्धि का पुट हर पंक्ति से झांक रहा है।

अपने देहावसान के हफ्ता-दस दिन पहले उन्होंने हिन्दी लिपि में बंगला भाषा में (ज्ञान बहन की बंगला भाषा पर भी अच्छी पकड़ थी) मां को प्रणामी दी थी। पुरोधा-मण्डल उन्हें भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहा है। —सं.

२४.५.०६ दोपहर

मां जार आनन्दमयी
शे कि निरानन्दे थाके !
मां जार शक्तिरूपा
शे कि ऐतो अशहाय दुर्बल थाके !
ऐशो मां, आमार तन-मन-प्राण के भरे दाओ
निज शक्ति, चेतना, प्रकाश ओ प्रेम दिए
आमि जे ओई शोनार मेये तोमार
जाके एक दिन तुमि डाक दिये छिले
बांशी शुर शुने आर थाकते पारी नी

* शीर्षक सम्पादक का दिया हुआ है।

धेतन,

गये

एक

ओर

म का

भव्य

ण्डित

कृति

रना

तक

बात

पुट

बहन

भीनी

छूटे चले एशेछि तोमार चरणे।
मां, मां, एशेछि तोमार शरणे
ठाई दाओ मां तव चरणे।

हिन्दी रूपान्तर—

मां हो जिसकी आनन्दमयी
वह क्या निरानन्द में रह सकता है!
मां हो जिसकी शक्तिरूपा
वह क्या इतना असहाय औ' दुर्बल हो सकता है!
आओ मां, भर दो मेरे तन-मन-प्राण को
अपनी शक्ति, चेतना, प्रकाश औ' प्रेम से
मैं हूँ वही तुम्हारी लाइली बालिका
जिसे तुमने एक दिन पुकारा था
बंसी की धुन सुन और रह नहीं पायी
दौड़ी चली आयी तुम्हारे चरणों में
मां, मां, आ पहुँची हूँ तुम्हारी शरण में
आश्रय दो मां अपने चरणों में।

२६.५.०६ शाम चार बजे

मां आमार मंगलमयी!
देखते जा भालो लागछे ना
मां आर सह्य होच्छेना
एतेओ तोमार मंगल विधान
एई शरल श्रद्धा दाओ मां
मां आमार मंगलमयी।

हिन्दी रूपान्तर—

मां मेरी मंगलमयी!
जो देखने में शुभ नहीं लग रहा
मां जो और सहा नहीं जा रहा
इस सबके पीछे भी है
तुम्हारा मंगल विधान
यही सरल श्रद्धा दो मां मुझे
मां मेरी मंगलमयी।

—ज्ञानवती गुप्ता

‘नेर्वाणी’ :

शिशवः—सरलहृदयाः

शिशुकालः निश्छलतायाः पर्यायः। केनापि सत्यमेव उक्तं यद् बालः ईश्वरस्य लघुरूपम्। तस्य ऋजुता कं न मन्त्रमुग्धं करोति? अवसन्नतमः जनोऽपि शिशु-परिवेशे सर्वाणि दुःखानि विस्मरति। वयस्कानां मुखात् कतिवारम् अस्य वाक्यस्य पुनरावृत्तिः भवति—“अहो! कुत्र गतानि बाल्यकालस्य तानि सरलानि दिनानि?” यदि वयं निजजीवने तथाकथित-प्रौढबुद्धिमत्तायाः यवनिकाम् ईषदपसार्य पश्येम तर्हि प्राप्स्यामः तत्र अद्यापि स्वस्य सरलशिशुरूपम्। एकेन आह्वानेन च तदाकृष्य हृदयङ्गमं कर्तुं पारयामः। यदा यदा च एवं कुर्मः तदा तदा सः निष्कपटशिशुः भवामः यं जीवनमार्गे कतिवारम् अन्वेषयामः।

अस्तु, एतया भूमिकया सह कानिचित् पलानि शिशुभिः सह यापयित्वा प्रसन्नाः भवेम वयमपि।

कदाचित् कापि अध्यापिका लघु-बालान् ईश्वरं पत्रलेखनाय अवदत्। वर्तन्ते एतानि कानिचिद् उदाहरणानि—

प्रिय-ईश्वर,

किं बालकाः बालिकाभ्यः वरतराः? जानामि यत् त्वं बालकः तदापि सत्यं वद। तव उत्तरं ज्ञात्वा अहं स्वमतिमपि प्रकाशयिष्यामि। किन्तु मा चिन्तय यद् बालिका अस्मि तस्माद् निष्पक्षा भवितुं न अर्हामि। कृपया सत्वरं देहि उत्तरम्, वर्गे केनापि बालकेन सह अस्मिन् विषये जातः मे विवादः तस्मात् सत्यं ज्ञातुं मया गुप्तरूपेण अविलम्बं तुभ्यं पत्रं लिखितम्।

सायं पर्यन्तम् उत्तरप्रापणस्य आशया—

सिल्विया

प्रिय-ईश्वर,

भृशं रोचयामि अहं वैज्ञानिककथाः। त्वया अपि विज्ञानस्य अतीव-विचित्राणि रोचकानि च अन्वेषणानि कृतानि। कथं प्राप्नोषि तथा नूतनान् विचारान् सर्वदा? अहमपि त्वादृशः वैज्ञानिकः एव भवितुमिच्छामि जीवने। साहाय्यं करिष्यसि मे, नैवम्?

तव जिम्मी

प्रिय-ईश्वर,

किं त्वं स्वस्य लघु-लघूनि कार्याणि स्वयं न कृत्वा निज-देवदूतैः कारयसि? माता कथयति यत् पृथिव्यां वयं बालिकाः तव लघु-देवदूताः अतः गृहस्य क्षुद्राणि कार्याणि अस्माभिः एव कर्तव्यानि।

सप्रेम

तव मारिया

प्रिय-ईश्वर,

रविवारे गिरिजागृहगमने एवं तु न कापि समस्या, रोचयामि एव, किन्तु त्वं तत्र साधुतरस्य सङ्गीतस्य प्रबन्धं कर्तुं न शक्नोषि किम्? नीरसं प्रतीयते तद् माम्। आशासे त्वं मे कथनं मनसि न करिष्यसि।

किं त्वं नूतनसङ्गीतानि रचयितुं न पारयसि? यदि स्युः तव अनेकानि गृहकार्याणि तर्हि

अन्यस्य कस्यापि साहाय्यं ग्रहीतुं शक्नोषि। नैवम्? वस्तुतः केभ्यश्चित् वर्षेभ्यः परं भ्रातुः वयः प्राप्य अहमपि सुखेन तव साहाय्यं कर्तुं शक्यामि, किन्तु सावधानम्! मा गच्छ भ्रातुः सकाशे साहाय्यार्थम्। माता कथयति यद् दिवानक्तं तस्य मनः नानाविध-खेलेषु, चापलेषु एव रमते अतः त्वया दत्ते कार्ये असम्पादिते तव साक्षात्कारभयेन निस्सन्देहं सः रविवारे गिरिजागमनकाले न गमनाय शतशः व्याजान् अन्वेषयिष्यति।

तव कार्यस्य भारः अल्पीभवेत् त्वं च नूतनसङ्गीतस्य प्रबन्धं शीघ्रातिशीघ्रं कर्तुं समर्थः स्याः इत्याशया सह—

तव मित्रं हैरी प्रिय-ईश्वर,

त्वया मह्यं अतीव प्रियौ पितरौ दत्तौ तस्य कृते तुभ्यम् अनेकान् धन्यवादान् अर्पयामि। तव अनेकशः धन्यवादाः यत् त्वया कुक्कुराः, बिडालाः मत्स्याश्च दत्ताः, एषः संसारोऽपि अस्माकं कृते रचितः यस्मिन् वयं बहु-सुखेन वसामः। अस्य सर्वस्य दर्शनाय दृष्टिः प्रदत्ता, अस्मभ्यं भोजनं दत्तम् अद्भुतं च मस्तिष्कं दत्तम्—अस्य सर्वस्य अर्थे कृपया मे धन्यवादान् स्वीकुरु।

भूयोऽपि कथयामि यत् त्वया यत् यत् दत्तं भविष्ये च यत् यत् सर्वदा दास्यसि तस्य सर्वस्य अर्थे धन्यवादाः, कोटिशः धन्यवादाः।

तव मैक्सिम्

प्रिय-ईश्वर,

विद्यालये अस्माभिः सः पाठः पठितः यत्र समुद्रपारगमनाय उद्यतानां यहूदीजनानाम् अर्थे समुद्रः प्रशास्तं स्थलमार्गम् अददात्, सर्वे च सुखेन पारं गताः। एतादृशानि साधुकार्याणि त्वं निरन्तरं कुरु। अहमपि यहूदीबालः।

पाउला प्रिय-ईश्वर-महोदय,

ये जनाः त्वयि न विश्वसन्ति तेषां सम्बन्धे त्वं किं चिन्तयसि? वस्तुतः नाहम्, अन्यः कोऽपि ज्ञातुमिच्छति एतत्।

यदि त्वं मां पृच्छेः तर्हि यदि कोऽपि मम कथनं न शृणुयात् तर्हि सर्वप्रथमं तं बोधयितुं चेष्टे, पुनः पुनरपि तस्य प्रतिकूलाचरणेन अन्ततः खिन्नोऽहं कुपितः भवामि। किन्तु त्वं तु न कदापि कस्मै अपि जनाय रुष्टः भवितुं शक्नोषि यतो हि त्वम् असि ईश्वरः।

तव शुभचिन्तकः

नील् प्रिय-ईश्वर,

‘बाइबल्’-ग्रन्थस्य लेखनसमये तु त्वं स्वयमेव शब्दान् अरचयः यथाकामं च अलिखः, नैवम्? अतीव-साधु-कार्यं कृतं त्वया। कदाचिदहमपि एवमेव शब्दान् रचयित्वा लिखामि किन्तु त्वादृशी सुन्दरकृतिं कर्तुं न पारयामि।

रॉन् प्रिय-ईश्वर,

यदा कोऽपि देहं त्यक्त्वा तव सकाशे गच्छति तदा किं भवति? एषा मे दीर्घकालीना पृच्छा

किन्तु न कोऽपि माम् अस्मिन् विषये किमपि कथयति। त्वं तु जानासि एव। अहं केवलं ज्ञातुमिच्छामि न तु मर्तुम्।

तव मित्रं माइक् प्रिय-ईश्वर,

शुक्रवारे वयं द्विसप्ताहयोः अर्थे अवकाशे भ्रमणाय गच्छामः। आशासे यदस्माकं प्रत्यागमनपर्यन्तं त्वं गिरिजागृहे एव स्थास्यसि। कदा भवन्ति तव अवकाशाः? यदि मया सहैव तर्हि उत्तमम्। वयं गच्छामः स्विट्जरलैण्ड-पर्वतेषु भ्रमणाय। तवापि समाने कार्यक्रमे सति अत्युत्तमं भवेत्। गिरिजागृहं तु तत्र स्यादेव। द्वौ रविवारौ अपि आगमिष्यतः। जानासि कथं ज्ञास्यामि तत्र तवागमनम्? अतीव सरलः उपायः—तत्रत्य-गिरिजागृहे प्रचलितसङ्गीतेनैव सरलतया बोधिष्यामि यत् त्वमपि प्राप्तः यतो हि स्वेन सह त्वम् अत्रत्य-सङ्गीतमेव नेष्यसि, नैवम्? अस्तु, सम्भवतः तत्र गिरिजागृहे एव मेलनं भवेत्... त्वमपि पूर्णानन्देन अवकाशान् यापय।

तवैव जैकी

एतदस्ति तत् विख्यात-पत्रं यत् १८९७ तमे वर्षे वर्जीनिया-नामिका बालिका 'न्यूयॉर्क-सन्'-पत्रस्य सम्पादकम् अलिखत्। सा ज्ञातुमैच्छत् यत् सुजातपितुः अस्तित्वं वर्तते न वा?

प्रिय-सम्पादक-महोदय,

अष्टवर्षीयाहम्। मम गृहस्य वसत्याः च बहवः प्रौढाः कथयन्ति यत् न वर्तते सुजातपिता। सः खलु काल्पनिकः। किन्तु अहम्, मम अनुजः कानिचित् विशेषमित्राणि च सर्वथा अन्यथा चिन्तयन्ति। अस्माकं मतं पूर्णतया पित्रा समं वर्तते। सः सर्वदा कथयति—“आम्, आम्, निस्सन्देहम्, सुनिश्चितं वर्तते सुजातपिता।” सः तु माम् एतदपि कथयति यत् यदि अहं द्रष्टुमिच्छामि तर्हि सुखेन द्रष्टुं शक्नोमि तं सूर्ये, चन्द्रे, तारासु, जले, पर्वते—सर्वत्रैव।” किन्तु सत्यं तु एतत् यदद्यपर्यन्तं मया आकाशस्थः सुजातपिता नैव दृष्टः, अर्थात् सुजाते मम पिता तु सुजातपितुः रक्तवर्णं परिधानं धारयित्वा, श्वेतदाढिकया सह अस्मान् सर्वान् प्रचुरम् आमोदयति किन्तु न सः वास्तविकः सुजातपिता। नैवम्? कथ्यते यत् मध्य-रात्रौ गृहे गृहे दिविष्ठः सुजातपिता धूम्रमार्गाद् अवतीर्य मनोवाञ्छितान् उपहारान् स्थापयति। प्रतिवर्षं भ्रात्रा सह रात्रिजागरणस्य सर्वाः सुविशाल-योजनाः निष्फलाः भवन्ति यतो हि कदा निद्रादेवी आवां निजक्रोडे करोति नैव बोधावः। सम्प्रति भवान् एव मे सहायकः—किं सुजातपिता वस्तुतः वर्तते? भवान् तु देशदेशान्तराणां समाचारान् प्रसारयति। अस्मिन् विषयेऽपि गभीरगवेषणां करोतु, यदि सम्भवं तर्हि सत्वरमेव प्रकाशयतु इमं विषयं यतो हि सुजातात् पूर्वमेव ज्ञातुमिच्छाम्यहं सत्यम्। नवम्बरः तु आगतः एव। कष्टदानाय क्षमाप्रार्थिनी किन्तु विषयेऽस्मिन् सकृत् प्रमाणिते आबालवृद्धाः सर्वे एव तस्य अस्तित्व-अनस्तित्वयोः दुविधायाः सर्वथा मुक्ताः भविष्यन्ति।

भवतः पत्रोत्तराय आतुरतया प्रतीक्षारता, भवतः पत्रिकायाः चित्राणां महती प्रशंसिका—

वर्जीनिया ओ-हैनलॉन्

यथाशीघ्रं प्राप्नोत् वर्जीनिया सम्पादकमहोदयस्य उत्तरम्।

प्रिये वर्जीनिये!

ये तव परिचिताः अपरिचिताः वा कथयन्ति यत् सुजातपिता खलु कल्पना ते सर्वे पूर्णतया

च्छामि

माइक्

पर्यन्तं

। वयं

जागृहं

अतीव

प्राप्तः

हे एव

जैकी

सन्-

पिता।

न्यथा

देहम्,

तर्हि

पर्यन्तं

रेधानं

पिता।

छतान्

वन्ति

कः-

प्रेऽपि

व्रमेव

स्मिन्

मुक्ताः

लान्

तया

अज्ञानिनः भ्रान्ताश्च। तेषां सर्वेषां प्रौढानां मनांसि संशयसन्देहजालाबद्धानि तस्मात् सङ्कुचितानि। त्वं कदापि सन्देहहरोगेण आक्रान्ता मा भव। प्रौढानां विषये किमधिकं कथयेयम्? त्वमपि जानासि अहमपि यत् ते केवलं तस्मिन् एव विश्वसन्ति यत् तेषां दृष्टिगोचरं स्यात्, यस्य सम्मुखे स्थित्वा ते वार्तालापं कर्तुं शक्नुयुः। तेषां तु एतदेव मतं यत् यद् न दृश्यते तद् न वर्तते। किन्तु वर्जीनिये! ते अबोधाः। अनेकानि भुवनानि रचितानि ईश्वरेण, तेषु लघु-पृथिवी अपि वर्तते। तत्र कीटसदृशाः मनुष्याः अपि सन्ति ये निज-अल्पज्ञानेन गर्विताः आत्मानं तथा महान्तं मन्यन्ते यत् सुजातपितुः अस्तित्वे प्रश्नं कुर्वन्ति? आश्चर्यम्!!

वर्जीनिये! तव पितुः कथनं सर्वथा समीचीनं सत्यञ्च। सुजातपिता अस्ति, आसीत् सर्वदैव च स्थास्यति। त्वं बहु-बुद्धिमती प्रतीयसे, गूढवार्ताः अपि बोधसि। यथा जगति प्रेम, औदार्यम्, भक्तिः इत्यादि-गुणाः वर्तन्ते यैः अस्माकं जीवने निरन्तरं सौन्दर्यानन्दयोः अदृश्याः निर्झराः प्रवहन्ति तथैव आनन्ददायकः सुजातपिता अदृश्योऽपि सम्पूर्णजगति विराजते। वत्से! पृच्छ तावत् तान् सर्वान् सन्देहाकुलान् जनान् यत् बालकस्य अट्टहासं खगस्य कलरवं वा श्रुत्वा, प्रार्थनायां निमीलितनेत्रे बद्धकरौ च दृष्ट्वा किं तेषाम् आश्चर्यम् अविश्वासः वा भवति! तर्हि बालानां प्रियस्य सुजातपितुः अस्तित्वे कुतः विस्फारितनेत्राः ते अविश्वासं प्रकटयन्ति? अयि! यदि 'सैण्टा' न स्यात् तर्हि एषः संसारः कियान् नीरसः अनाकर्षकः च भवेत्। सुजातपर्वणः सः अपूर्वोल्लासः, प्रकाशस्य सा अद्वितीया कान्तिः, चतुर्दिक्षु अलौकिकसज्जायाः सः महोत्सवः—किमपि न भविष्यति, सुजातपितुः गृहाद् उपहारप्राप्तेः सुखदप्रतीक्षायाः किं भविष्यति!! संसारे सुजातपितुः अनुपस्थितिः तु तथैव यथा जगति वर्जीनियसदृशीनां बालिकानाम् अभावः!! पुष्पसौरभम्, पवनसीत्कारः, जलगाम्भीर्यम्, पर्वततुङ्गता—सर्वमेव कालकवलितं स्यात्—संक्षेपेण, सम्पूर्णं जगत् घोरान्धकारमयं भवेत्!

जानासि वर्जीनिये, ते बुद्धिमन्तः (!) प्रौढाः तु देवदूतेष्वपि न विश्वसन्ति। सुजातस्य पूर्वरात्र्याम् उपविशेयुः ते ज्ञानिनः कियन्तमपि कालं निज-गृहस्य धूम्रमार्गस्य पार्श्वे किन्तु किं कदापि धर्तुं अपारयन् ते बालानां प्रियतमं सुजातपितरम्? शिशवः तु तमवतरन्तं सुस्पष्टं पश्यन्ति किन्तु अति-चातुर्येण प्रौढानां दृष्टिपथं नागच्छति सः। तर्हि किम् एतत् प्रमाणयति यत् नास्ति सुजातपिता? प्रलापः खलु एतत् सर्वम्! त्वं निस्सन्देहम् उद्यानपुष्पेषु देवदूतान् पश्यसि, मातुलेन चन्द्रेण सह प्रायशः आलपसि एव, निज-पुत्तलिकाः विद्यालयस्य पाठान् पाठयसि एव? एतत् किं तुभ्यम् अवास्तवं प्रतीयते? प्रौढान् कथय एतत् कर्तुं ते मुखं परावर्त्य निजनीरसकार्येषु मग्नाः भविष्यन्ति। किं किं न हारितम् एतैः वयस्कैः!! किन्तु वर्जीनिये, त्वं कदापि इदं बालसुलभं सत्यं मा त्यज। आजीवनं काले काले निश्छलतायाः तस्मिन् जीवने दृष्टिपातं कुरु यत्र सुजातपित्रा सह बाल्यकालस्य सर्वाणि सत्यानि स्पष्टं दृष्टिगोचरं भवन्ति यानि द्रष्टुं प्रौढाः न इच्छन्ति न च स्वीकुर्वन्ति। ईश्वरस्य महावरदानं वर्जीनिये यत् सुजातपिता विद्यते। यावच्च स्थास्यति चन्द्रः तावत् बालकानामर्थे असङ्ख्योपहारान् आदाय निजमृगरथे उपविश्य सः पृथिव्याः प्रत्येकं गृहं गमिष्यति एव।

अत्यधिक-प्रेम्णा सह

सम्पादकः

सम्प्रति किं वयं वयस्काः साहसेन वक्तुं शक्नुमः यत् सुजातपिता नैव वर्तते?!

बच्चे—मन के सच्चे

बच्चे मन के खूब सच्चे होते हैं। किसी ने सोलहों आने सच कहा है कि बच्चे भगवान् का छोटा रूप हैं। उनका भोलापन किस का मन नहीं मोह लेता? बच्चों के संग बैठकर दुखी से दुखी इन्सान अपने सारे ग़म भूल जाता है। सभी बड़े अपनी ज़िन्दगी में कई बार दोहराते हैं—“आह, कहां गये बचपन के वे मासूम दिवस?” लेकिन अगर हम अपनी तथाकथित बुद्धिमानी के पर्दे को ज़रा सरका कर देखें तो हमारा वही नन्हा-मुन्ना, भोला-भाला रूप हमें दुबका हुआ नज़र आयेगा, हल्की-सी टकोर से हम उसे जगा कर अपने करीब खींच सकते हैं, और जब-जब हम बड़े ऐसा करते हैं तो वही बच्चे बन जाते हैं जिसकी तलाश हम ज़िन्दगी में आये दिन किया करते हैं।

तो आइये, इस भूमिका के साथ हम भी कुछ पल बच्चों के साथ बिता कर ताज़ादम हो लें। किसी अध्यापिका ने एक बार अपने छोटे विद्यार्थियों को ईश्वर के नाम पत्र लिखने को कहा। कुछ विद्यार्थियों की चिट्ठियां देखें—

प्रिय ईश्वर,

क्या लड़के लड़कियों से ज़्यादा अच्छे होते हैं? मैं जानती हूँ कि तुम लड़के हो, फिर भी ठीक-ठीक बताना। तुम्हारा जवाब पाने पर ही मैं अपनी राय तुम्हें दूंगी, पर कहीं यह मत समझ लेना कि मैं लड़की हूँ इसलिए निष्पक्ष नहीं हो पाऊंगी। और ज़रा जल्दी करना, कल कक्षा में किसी लड़के से मेरी बहस हो गयी थी इसलिए ठीक जवाब जानने के लिए मैंने तुम्हें जल्दी से चुपचाप चिट्ठी लिख दी।

शाम तक चिट्ठी पाने की आशा में—

सिल्विया

प्रिय ईश्वर,

मुझे वैज्ञानिक कहानियां बहुत अच्छी लगती हैं। तुमने तो विज्ञान की बड़ी अजीब-अजीब चीज़ें बनायी हैं। वे सब तुम्हें कहां से सूझीं? मैं भी बड़ा होकर तुम्हारी ही तरह वैज्ञानिक बनना चाहता हूँ, मदद करोगे न?

तुम्हारा जिम्मी

प्रिय ईश्वर,

क्या तुम स्वर्ग में अपने सारे छोटे-मोटे काम अपने फ़रिश्तों से करवाते हो? मेरी मां कहती है कि धरती पर हम भाई-बहन तुम्हारे छोटे-छोटे फ़रिश्ते हैं इसलिए हमें ही घर के सारे छोटे-छोटे, ऊपरी काम करने चाहियें।

प्यार के साथ,
तुम्हारी मारिया

प्रिय ईश्वर,

गिरजे जाना वैसे तो ठीक है पर क्या तुम वहां ज़्यादा अच्छे संगीत का प्रबन्ध नहीं कर सकते? मुझे उबाऊ लगता है वह। आशा है तुम इस बात का बुरा न मानोगे।

क्या तुम कुछ नये संगीत नहीं लिख सकते? तुम्हारे पास बहुत गृहकार्य हो तो किसी और

से ही लिखवा लो न? वैसे कुछ समय बाद, अपने भाई के जितना बड़ा हो जाने पर मैं भी तुम्हारी कुछ सहायता कर पाऊंगा, लेकिन कहीं मेरे भैया से मदद मत मांग लेना, क्योंकि मां कहती है कि उसका मन सारे दिन शैतानियों में लगा रहता है और तुम्हारी मदद न कर पाने पर वह तुमसे आंखें चुरायेगा और इतवार को गिरजे न जाने के ज़रूर बहाने बनायेगा।

तुम्हारे काम का बोझ कुछ हल्का हो और तुम नये संगीत का इन्तज़ाम जल्दी ही कर सको... इस आशा के साथ—

तुम्हारा दोस्त हैरी

प्रिय ईश्वर,

तुमने मुझे इतने बढ़िया माता-पिता दिये हैं, उसके लिए मैं तुम्हारा धन्यवाद करती हूं। इसलिए भी तुम्हें धन्यवाद देती हूं कि तुमने कुत्ते, बिल्लियां और मछलियां दी हैं और यह दुनिया दी है जिसमें हम रहते हैं। और तुमने यह सब देखने के लिए आंखें दी हैं। और जो हम खाते हैं और जो हमें दिमाग दिया है, उसके लिए भी धन्यवाद।

हर उस चीज़ के लिए धन्यवाद जो तुमने हमें दी है और जो तुम हमें दोगे।

तुम्हारा मैक्सिम

मेरे ईश्वर,

हमने वह पाठ पढ़ा है जिसमें यहूदी लोग समुद्र में आगे बढ़े तो पानी एक तरफ हट गया और वे उसे पार कर गये। इसी तरह अच्छे काम करते रहना। मैं भी यहूदी हूं।

पाउला

प्रिय ईश्वर महोदय,

जो लोग आपको मानते नहीं हैं, उनके बारे में आप क्या सोचते हैं? मैं तो नहीं, कोई और यह जानना चाहता है।

वैसे जहां तक मेरी बात है, अगर कोई मेरी बात नहीं मानता तो पहले मैं उसे समझाने की कोशिश करता हूं, अगर बार-बार नहीं मानता तो मैं उससे नाराज़ हो जाता हूं। लेकिन आप तो किसी से खफ़ा हो ही नहीं सकते क्योंकि आप तो ईश्वर हैं।

आपका नील

प्रिय ईश्वर,

जब तुमने बाइबल लिखी तो तुमने खुद ही शब्द बनाये और उन्हें जैसे चाहा लिखा। यह बहुत अच्छी बात है। मैं भी कई बार ऐसे ही लिखता हूं, पर मैं उतना अच्छा नहीं लिख पाता।

रॉन

प्रिय ईश्वर,

जब कोई मर जाता है तो क्या होता है? मुझे कोई भी बताता नहीं है। आपको तो पता होगा। मैं बस जानना चाहता हूं, पर मैं मरना नहीं चाहता।

आपका दोस्त—माइक

प्रिय ईश्वर,

हम शुक्रवार को दो हफ़्तों के लिए छुट्टियों पर जा रहे हैं। सो हम गिरजे नहीं आ सकेंगे। मैं आशा करती हूं कि हमारे लौटने पर तुम वहीं होगे। तुम्हारी छुट्टियां कब होती हैं? अगर मेरे

साथ ही पड़ रही हैं तो बहुत अच्छा, हम स्विट्जरलैण्ड की पहाड़ियों पर जा रहे हैं, अगर तुम्हारा भी वहीं का कार्यक्रम बन जाये तो बहुत बढ़िया रहेगा। वहां गिरजाघर तो होंगे ही और दो-दो इतवार भी पड़ेंगे। अगर तुम भी वहां आये तो मैं गिरजा में चल रहे संगीत से ही समझ जाऊंगी, क्योंकि तुम अपने साथ यहीं का संगीत तो ले चलोगे न? अच्छा, तो शायद वहां भी हम मिलें...। छुट्टियों का तुम भी भरपूर आनन्द उठाना।

तुम्हारी जैकी

और यह रही वह प्रसिद्ध चिट्ठी जो १८९७ में वर्जीनिया नामक एक बच्ची ने 'न्यूयॉर्क सन' नामक पत्र के सम्पादक को लिखी थी। बच्ची यह जानना चाहती थी कि सैण्टा का सचमुच अस्तित्व है न?

प्रिय सम्पादक...

मेरी उम्र आठ साल की है। मेरे घर, मोहल्ले के कई बड़े कहते हैं कि 'क्रिसमस फ़ादर' तो हैं ही नहीं, उनकी तो बस कल्पना है। लेकिन मैं, मेरा भाई और मेरी कुछ खास सहेलियां मेरे पापा के साथ सहमत हैं जो कहते हैं कि "सैण्टा हैं, सचमुच हैं।" पापा तो कहते हैं कि मैं उन्हें सूरज में, चन्दा में, तारों में, पानी में, पहाड़ों पर, यानी सब जगह देख सकती हूं अगर मैं अपनी आंखें खुली रखूं और अगर मैं सचमुच उन्हें देखना चाहूं। वैसे सच्ची बात तो यह है कि अभी तक मैंने भगवान् के सैण्टा को नहीं देखा, मतलब यह कि क्रिसमस के रोज़ पापा तो सैण्टा के लाल कपड़े पहन, सफेद दाढ़ी लगा कर हम सबको खूब भाते हैं, लेकिन वे सचमुच के सैण्टा तो नहीं हैं न? वैसे कहते हैं कि रात को चिमनी के रास्ते से ऊपर वाले सैण्टा घर-घर उतर कर बच्चों के उपहार रख जाते हैं, लेकिन मैं और मेरा भाई हर साल बड़ी-बड़ी योजनाएं बनाकर भी आज तक उतनी रात तक जगे नहीं रह पाये। अब आप ही बतलाइये, क्या सचमुच सैण्टा हैं? आप तो देश-विदेश की खबरें ला-ला कर छापते हैं। हो सके तो जल्दी ही इस बात का पता लगा लीजिये, क्रिसमस के पहले मैं यह जान लेना चाहती हूं, नवम्बर तो आ ही गया है। कष्ट के लिए क्षमा। लेकिन एक बार यह बात साफ़ हो जाये तो हम सब बच्चों के लिए उनके होने, न होने की दुविधा हमेशा के लिए दूर हो जायेगी। आपकी चिट्ठी की आतुरता से प्रतीक्षा करती हुई, आपके पत्र के चित्रों की बहुत बड़ी प्रशंसक—

वर्जीनिया ओ' हैनलॉन

लौटती डाक से सम्पादक ने जवाब भेजा—

प्यारी वर्जीनिया,

वे सभी बड़े-बूढ़े जो कहते हैं कि सैण्टा बस कल्पना ही कल्पना हैं, पूरी तरह से गलत हैं क्योंकि वे सभी बड़े तो शक और सन्देह के जाल में फंस चुके हैं। तुम कभी उस जाल में न फंसना क्योंकि बड़े बस उसी पर विश्वास करते हैं जिसे वे अपनी आंखों से देख सकते हैं, जिसके साथ वे आमने-सामने खड़े होकर बातें कर सकते हैं। वे तो यही समझते हैं कि जो चीज़ उनकी समझ में न आये वह चीज़ है ही नहीं। वर्जीनिया, जानती हो, ये सभी बड़े-बूढ़े बड़े सीमित मन वाले होते हैं। (चुपके से तुम्हें यह बता दूं कि बड़ों से कहीं ज़्यादा बच्चों के मन खुले हुए और विशाल होते हैं।) जानती हो न, कितनी सारी दुनियाएं बनायी हैं भगवान् ने, कितनी सारी समझ

और बुद्धिमाननी फैला दी है उन्होंने चारों तरफ़, उसमें हम मनुष्यों के हिस्से भी थोड़ी-सी समझ आयी ज़रूर है, लेकिन हम उस ज़रा-सी अक्ल को पाकर इतना उछलते-कूदते, शोर मचाते रहते हैं, अपने-आपको इतना बड़ा समझने लगे हैं कि सैण्टा के होने, न होने के बारे में सवाल पूछते हैं!!

वर्जीनिया, तुम्हारे पापा एकदम सही हैं। सैण्टा हैं, थे और हमेशा रहेंगे। तुम बहुत समझदार हो इसलिए मैं तुमसे इस दुनिया की बड़ी-बड़ी बातें कर रहा हूँ। जैसे दुनिया में प्रेम, उदारता, भक्ति मौजूद हैं और इनसे हमारे जीवन में निरन्तर सौन्दर्य और आनन्द के झरने फूटते रहते हैं उसी तरह सैण्टा भी सारी दुनिया पर छाये हुए हैं। ज़रा उन बड़े-बूढ़ों से पूछना कि क्या उन्हें बच्चों के खिलखिलाने, कलियों के फूटने, चिड़ियों के चहचहाने, या प्रार्थना में मुंदी आंखों और जुड़े हाथों को देख आश्चर्य होता है? नहीं न! तो फिर बच्चों के चहेते सैण्टा के होने पर वे अविश्वास क्यों करते हैं भला? अरे! सैण्टा न होंगे तो यह दुनिया कितनी नीरस, भद्दी हो जायेगी क्योंकि क्रिसमस के आगे-पीछे रौशनी और सजावट का सैलाब कहां उमड़ेगा? खुद सैण्टा के यहां से मनचाहा उपहार पाने के महीनों पहले के उस सुखद इन्तज़ार का क्या होगा? दुनिया से सैण्टा को उठाने की बात तो ठीक वैसी होगी जैसे कोई कहे कि वर्जीनिया जैसे बच्चों को ही दुनिया से निकाल दो!! और फूलों की खुशबू, हवा की सनसनाहट, पानी की गहराई, पहाड़ों की ऊंचाई—सब कुछ को अस्तित्व से मिटा दो। तब तो बच्चों के जिस सरल शाश्वत विश्वास से यह दुनिया जगमगा रही है वह रौशनी एक झटके में गुल हो जायेगी...

सैण्टा में विश्वास न करना—यह तो परियों पर विश्वास न करने जैसी बात हुई। हो सकता है कई बड़े-बड़े ज्ञानी क्रिसमस की पूर्व-सन्ध्या को अपने-अपने घर की चिमनियों के पास सैण्टा को धर पकड़ने के लिए घण्टों बैठे रहे हों, लेकिन क्या वे बड़े-बूढ़े कभी उन्हें पकड़ पाये? चिमनी से उतरते हुए सैण्टा मासूम बच्चों को तो खूब अच्छी तरह दिख जाते हैं, लेकिन उन बुद्धिमान् बड़ों की निगाह से बड़ी चतुराई से बच निकलते हैं; तो क्या इससे यह साबित हो गया कि सैण्टा हैं ही नहीं? बकवास!! जानती हो वर्जीनिया, दुनिया की सबसे सच्ची चीज़ें वे ही होती हैं जिन्हें बड़े नहीं देख पाते। तुमने तो कभी-कभी परियों को अपने बगीचे के फूलों पर नाचते देखा होगा? चन्दा मामा के साथ भी तुम आये दिन बतियाती होगी, अपने गुड्डे-गुड़ियों को सामने बिठा कर क्या तुम उन्हें सबक नहीं सिखाती? क्या यह सब तुम्हें नकली लगता है? बड़ों से तो यह सब करने को कहो, मुंह बिचका कर, अपने किसी नीरस काम में लग जायेंगे। कितना कुछ खो चुके हैं ये बड़े! लेकिन तुम बड़ी होकर भी अपने बचपन की सच्चाई का हाथ कसकर पकड़े रखना। मासूमियत के उस पर्दे से झांक कर इस दुनिया पर बीच-बीच में निगाह डालती रहा करना जहां सैण्टा के साथ-साथ बचपन की वे सभी सच्चाइयां साफ नज़र आती हैं जिन्हें बड़े होकर हम देखने से मना कर देते हैं।

भगवान् का शुक्र है वर्जीनिया कि सैण्टा हैं और जबतक चन्दा अपनी चांदनी बिखेरता रहेगा तबतक अपने बारहसिंगों के रथ पर सवार वे बच्चों के लिए ढेर सारे उपहार लिये, हर साल क्रिसमस पर घर-घर दस्तक देते रहेंगे।

तुम्हें बहुत-बहुत प्यार

सम्पादक

अब हम बड़े क्या यह कहने की हिम्मत जुटा सकते हैं कि सैण्टा हैं ही नहीं?!

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

13E-Rajanigandha
25, Ballygunge Park
Kolkata-700 019

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road
Post Box No. 5713
NEW DELHI — 110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

Tel : 23612728, 23612776
Fax : 011-23620632

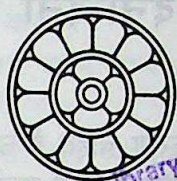
Our Lines of Business :

- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
Maihar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERY.

Completed 80 years on Basant 2006



Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar-249404 (U.A.)

प्रार्थना और ध्यान

३१ अगस्त १९१४

इस विकट अव्यवस्था और भयंकर विनाश में एक महान् कार्य देखा जा सकता है, एक आवश्यक परिश्रम जो पृथ्वी को एक नयी बुवाई के लिए तैयार कर रहा है, जो अन्न की अद्भुत बालियों में विकसित होगी और जगत् को एक नयी जाति की उत्कृष्ट पैदावार प्रदान करेगी...। प्रत्यक्ष दर्शन स्पष्ट और यथार्थ है, तेरे दिव्य विधान की योजना इतने स्पष्ट रूप से अंकित है कि शान्ति वापिस आ गयी है और उसने अपने-आपको कार्यकर्ताओं के हृदयों में प्रतिष्ठित कर लिया है। अब कोई सन्देह, हिचकिचाहटें नहीं हैं और न ही कोई सन्ताप या अधीरता बची है। कर्म की महान् सीधी रेखा है जो शाश्वत काल से सबके बावजूद, सबके विरुद्ध, सभी विरोधी आभासों और काल्पनिक चक्करों के बावजूद अपने-आपको सम्पादित करती जाती है। ये भौतिक व्यक्तित्व, अनन्त सम्भवन में ये अग्राह्य क्षण जानते हैं कि वे मानवजाति को अचूक रूप से, अनिवार्य परिणामों की चिन्ता किये बिना, चाहे आभासी निष्कर्ष कैसे भी हों, एक कदम आगे बढ़ा देंगे। वे अपने-आपको तेरे साथ युक्त कर देते हैं, हे शाश्वत स्वामी, वे अपने-आपको तेरे साथ युक्त कर देते हैं, हे विश्व जननी, और इस दोहरे तादात्म्य में, एक उस तत् के साथ जो परे है और दूसरा उसके साथ जो समस्त अभिव्यक्ति है, वे पूर्ण निश्चिति के अनन्त आनन्द का रस लेते हैं।

शान्ति, सारे जगत् में शान्ति...।

युद्ध एक आभास है,

विक्षोभ एक भ्रम है,

शान्ति उपस्थित है, निर्विकार शान्ति।

जननी, मधुर मां जो मैं ही हूं, तू एक साथ विनाशक और स्रष्ट्री है।

सारा विश्व अपने असंख्य जीवन के साथ तेरे वक्ष में निवास करता है और तू अपनी विशालता में उसके छोटे-से-छोटे परमाणु में निवास करती है।

और तेरी अनन्तता की अभीप्सा उसकी ओर मुड़ती है जो अभिव्यक्त नहीं है और उससे अधिकाधिक पूर्णता और अधिकाधिक समग्रता की अभिव्यक्ति के लिए पुकार करती है।

सब कुछ एक तिहरी, सूक्ष्म दृष्टिवाली समग्र चेतना में एक ही है, व्यष्टि, वैश्व और अनन्त।

—श्रीमां

दैनन्दिनी

अगस्त

१. जो लोग पूर्णयोग का अनुसरण करना चाहते हैं उन्हें श्रीअरविन्द ने सलाह दी है कि वे अपनी निजी साधना-पद्धति की खोज करें जो प्राचीन ज्ञान पर आधारित होते हुए प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं और परिस्थिति के अनुकूल हो।
२. हर चीज़ के पीछे भागवत कृपा को देख सकने के लिए तुम्हें भागवत ऐक्य की चेतना में निवास करना चाहिये।
३. तुम्हें भीतर से अपनी निम्न प्रकृति का स्वामी बनना चाहिये—अपनी चेतना को दृढ़ता के साथ ऐसे क्षेत्र में स्थापित करके जहां वह समस्त कामना और आसक्तियों से मुक्त हो क्योंकि वहां वह दिव्य ज्योति और शक्ति के प्रभाव तले होती है। यह एक लम्बा और अत्यधिक मांग करने वाला परिश्रम है जिसे अचूक निष्कपटता और अथक अध्यवसाय के साथ हाथ में लेना चाहिये।
४. तुम जितने पूर्ण हो उससे अधिक पूर्ण होने का दिखावा कभी न करो और झूठे आभासों से तो बिलकुल ही सन्तुष्ट न होओ।
५. नियमित रूप से तथा उत्तरोत्तर बढ़ते चलने के लिए तुम्हें हमेशा अपनी अभीप्सा की ज्वाला को जीवन्त रखना चाहिये।
६. भूल करने का तथ्य ही इस बात को प्रमाणित करता है कि तुम सत्ता के किसी भाग में सच्चे और निष्कपट नहीं हो।
७. चैत्य सत्ता जानती है और कभी भूल नहीं करती; परन्तु बहुधा हम उसकी बात पर कान नहीं देते क्योंकि वह उग्रता या तीव्रता के बिना बोलती है, वह हमारे हृदय की गहराई में एक मर्मर होती है जिसे अनसुना कर देना बहुत आसान है।
८. ... सभी परिस्थितियों में जड़ता सबसे बुरी है।
अभीप्सा एकमात्र उपचार है—एक ऐसी अभीप्सा जो शुद्ध ज्वाला की तरह सदा ऊपर उठती है और सत्ता की सभी अशुद्धियों को जला डालती है।
९. वैश्व शक्तियों की लय के कारण यह माना जाता है कि व्यक्ति में हर वर्ष जन्मदिन पर एक विशेष ग्रहणशीलता होती है।
अतः इस दिन व्यक्ति अपने पूर्ण विकास के मार्ग पर शुभ निश्चय और नयी प्रगति करके इस ग्रहणशीलता का लाभ उठा सकता है।
१०. ... आध्यात्मिक प्रगति जिसकी रचना करती है वह है आन्तरिक सत्ता में आन्तरिक निकटता और घनिष्ठता, माताजी के प्रेम और उनकी उपस्थिति का बोध आदि।
११. यह सच है कि मनुष्य तत्त्वतः दिव्य है, लेकिन वर्तमान अवस्था में कुछ विरल अपवादों को छोड़ कर मनुष्य उस भगवान् के बारे में एकदम निश्चेतन होता है, जिसे वह अपने अन्दर लिये रहता है; और यही निश्चेतना जड़-जगत् के मिथ्यात्व का निर्माण करती है।
१२. हमारी कृतज्ञता भगवान् के प्रति होनी चाहिये, रही बात मनुष्यों की, तो वहां जिसकी ज़रूरत है वह है सद्भावना, समझ और परस्पर सहायता की वृत्ति।
१३. सुखी और शान्त होने का सबसे अच्छा उपाय है, भगवान् के प्रति गहराई में, तीव्रता के

साथ सतत कृतज्ञता का अनुभव करना।

और भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का सबसे अच्छा तरीका है उनके साथ तदात्म हो जाना।

१४. सवेरे उठकर, दिन आरम्भ करने से पहले, भगवान् के प्रति दिन का उत्सर्ग करना अच्छा है, तुम जो कुछ सोचते हो, तुम जो कुछ हो, तुम जो कुछ करोगे उस सबका उत्सर्ग; और रात को सोने से पहले, ज़्यादा अच्छा है कि सारे दिन पर नज़र डाल लो, उन अवसरों की ओर ध्यान दो जब तुम अपना और अपनी समस्त क्रियाओं का भगवान् के प्रति उत्सर्ग करना भूल गये या उसकी अवहेलना की, और यह अभीप्सा करो कि ये भूलें फिर से न होने पायें।

यह कम-से-कम है, बहुत ही छोटा-सा आरम्भ—और इसे तुम्हारे समर्पण की वृद्धि के साथ बढ़ना चाहिये।

१५. जब तक भगवान् के साथ ऐक्य ही वह एकमात्र चीज़ नहीं होती जिसके लिए तुम जीवित हो तबतक तुम मार्ग पर नहीं हो।

१६. मनुष्य हमेशा शिकायत करते हैं कि उन्हें सहायता नहीं मिलती, लेकिन सच्ची बात तो यह है कि वे उस सहायता को अस्वीकार कर देते हैं जो हमेशा उनके साथ होती है।

१७. व्यक्ति एक सचेतन सत्ता है जो दिव्य केन्द्र के चारों ओर संगठित होता है। मूलतः सभी भागवत केन्द्र एक हैं परन्तु अभिव्यक्ति में वे अलग-अलग सत्ताओं के रूप में व्यवहार करते हैं।

१८. शब्दों का बहुत महत्त्व नहीं है, मूल्य है अनुभूति और अनुभूति की सच्चाई का।

१९. यदि सातत्य और निष्कपट सचाई के साथ अनुसरण किया जाये तो सभी मार्ग लक्ष्य तक ले जाते हैं।

२०. हर एक के लिए यही अच्छा है कि वह अपना मार्ग खोजे, लेकिन इसके लिए अभीप्सा उत्साहपूर्ण, संकल्प निष्कम्प और धैर्य अचूक होने चाहियें।

२१. जगत् में हर चीज़ सन्तुलन और असन्तुलन, सामञ्जस्य और अव्यवस्था का प्रश्न होती है। सामञ्जस्य के स्पन्दन सामञ्जस्यपूर्ण घटनाओं को निमन्त्रण देते और प्रोत्साहित करते हैं; असन्तुलन के स्पन्दन परिस्थितियों में असन्तुलन (रोग, दुर्घटना आदि) पैदा करते हैं। यह व्यक्तिगत भी हो सकता है और सामुदायिक भी, लेकिन सिद्धान्त एक ही है और उपचार भी एक : अपने अन्दर भागवत इच्छा के प्रति अबाध रूप में समर्पण द्वारा व्यवस्था, शान्ति और सन्तुलन में बढ़ते चलो।

२२. जगत् में, जैसा कि वह अभी है, हर चीज़ मिली-जुली है और हर एक वही देखता और अनुभव करता है जो उसकी प्रकृति के साथ मेल खाता है।

२३. प्रश्न : मधुर मां,

हम जानते हैं कि हमें अमुक चीज़ें नहीं करनी चाहियें और सचमुच हम उन्हें करना भी नहीं चाहते, फिर भी हम उन्हें करते हैं। ऐसा क्यों होता है और हम इससे कैसे बच सकते हैं?

उत्तर : ऐसा तब होता है जब तुम्हारे अन्दर इच्छा-शक्ति और चेतना की शक्ति की कमी हो।

अगर तुम अपनी अभीप्सा में सच्चे हो तो ये दोनों चीज़ें प्राप्त हो सकती हैं।

२४. जो शुद्ध हैं, अर्थात् ऐकान्तिक रूप से भागवत प्रभाव में हैं—उनमें डर नहीं होता।

२५. प्रश्न : मधुर मां,

हम अपनी ग्रहणशीलता कैसे बढ़ा सकते हैं?

उत्तर : ग्रहणशीलता आत्म-दान के अनुपात में होती है।

२६. श्रीअरविन्द ने घोषित किया है, 'समस्त जीवन योग है' और उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि तुम्हें जीवन में ही योग करना चाहिये।

२७. संकट और जोखिम हर अग्रगामी गति के भाग होते हैं। उनके बिना कभी कोई चीज़ हिलेगी भी नहीं; और साथ ही जो लोग प्रगति करना चाहते हैं उनके चरित्र को ढालने के लिए ये चीज़ें अनिवार्य हैं।

२८. क्रोध है प्राण पर लगे किसी अप्रिय आघात के प्रति प्राण की उग्र प्रतिक्रिया; और जब उसमें शब्दों और विचारों का भी समावेश हो जाता है तो मन प्राण के प्रभाव को प्रत्युत्तर देता और उग्रता के साथ प्रतिक्रिया करता है। क्रोध की कोई भी अभिव्यक्ति आत्म-संयम के अभाव का चिह्न है।

२९. भागवत कृपा अनन्त है।

३०. विश्वास करने का मतलब यह है कि तुम्हें यह श्रद्धा हो कि भगवान् के बिना जगत् हो ही नहीं सकता, कि जगत् का अस्तित्व ही यह प्रमाणित करता है कि भगवान् का अस्तित्व है।

३१. तुम बस यह कल्पना करो कि तुम जो करना चाहते हो वह न हो सकेगा और अगर इस कल्पना से ज़रा भी बेचैनी पैदा होती है तो तुम कामना की उपस्थिति के बारे में निश्चित हो सकते हो।

'श्रीमातृवाणी' से

जितना बड़ा अहम्

फूला नहीं समाता

फूल

अपने रूप-रंग पर

अपनी सुगन्ध पर

मकरन्द पर

फूला नहीं समाता

व्यक्ति भी

अपने नाम-धाम पर

अपनी प्रतिष्ठा पर

अपनी सफलताओं पर

जितना बड़ा अहम्

उतना बड़ा वहम।

('अन्तरा' से साभार)

—विश्वनाथ

देश की मांग क्या है

स्वतन्त्र भारत काठ या पत्थर का कोई टुकड़ा नहीं है जिसे खोदकर एक राष्ट्र के रूप में गढ़ दिया जाये, वह उन लोगों के हृदयों में निवास करता है जो उसे चाहते हैं, और उन्हीं के भीतर से उसे तैयार करना होगा...। तब हम भला स्वराज्य को अपने जीवन में कैसे उतार सकते हैं? स्व-भावना का त्याग करके और उसके स्थान पर राष्ट्र-भावना को स्थापित करके। जैसे चैतन्य निमाई पण्डित होना बन्द करके कृष्ण बन गये, राधा बन गये, बलराम बन गये, वैसे ही हम लोगों में से प्रत्येक व्यक्ति को अपने अलग जीवन का पोषण करना बन्द कर देना होगा और राष्ट्र के अन्दर जीना होगा। राष्ट्र को फिर से ऊंचा उठाने की आशा हमारे मनों में बस जानी चाहिये जिस तरह कि मुक्ति की भावना मुमुक्षुओं के मनों में बस जाती है। हमारा त्याग उतना ही पूर्ण होना चाहिये जितना सब कुछ छोड़ने वाले संन्यासी का होता है। अपनी स्वाधीन और महिमामयी देशमाता का मुखमण्डल देखने की हमारी तीव्र इच्छा, श्रीकृष्ण को देखने की चैतन्य की तीव्रकांक्षा की तरह हमें पूरी तरह अपने में समा लेने वाली होनी चाहिये। देश के लिए हमारा त्याग उतना ही उत्साह से भरा और पूर्ण होना चाहिये जितना कि जगाई और मधवाई का त्याग था जिन्होंने गौरांग के संकीर्तन में भाग लेने के लिए राज्य का शासन छोड़ दिया। देशमाता की वेदी पर हमारी पूजा उतनी ही प्रचण्ड रूप से मुक्तहस्त और कठोर रूप में पूर्ण होनी चाहिये जैसी कि कार्यजीनियन माता-पिताओं की होती थी जो अपने बच्चों को आग के भीतर से चलाकर अपने देवता—मौलो तक ले जाते थे। अब भी अपने और देश के बीच हमारे अन्दर द्विधा है; हम देशमाता की सेवा में एक आना देना चाहते हैं और पन्द्रह आना अपने लिए, अपनी स्त्री, अपने बच्चों, अपनी सम्पत्ति, अपनी ख्याति और मान-मर्यादा, अपनी सुरक्षा और अपनी सुख-शान्ति के लिए रखना चाहते हैं। मां सब कुछ मांगती हैं और उसके बाद ही वे स्वयं अपने-आपको देंगी।

जिन योजनाओं के द्वारा हम राष्ट्र को तैयार करना चाहते हैं—औद्योगिक पुनरुत्थान की योजना, शैक्षणिक पुनरुत्थान की योजना, स्वावलम्बन के द्वारा राजनीतिक पुनरुत्थान की योजना आदि—वे उस अधिक महान् पुनरुत्थान के गौण रूप हैं जिसमें से देश को गुजरना होगा और उसके बाद ही वह स्वतन्त्र हो सकता है। मां हमसे कोई योजना, कोई युक्ति, कोई पद्धति नहीं मांगती। हम जो कोई योजना, युक्ति, और पद्धति सोच सकते हैं उससे कहीं अधिक अच्छी योजना आदि वे स्वयं ही देंगी। वे हमसे हमारा हृदय, हमारा जीवन मांगती हैं, न इससे कुछ कम और न कुछ ज्यादा।

पुनरुत्थान सचमुच नवजन्म है और नवजन्म न तो बुद्धि के द्वारा होता है, न थैली के भरने से, न राजनीति के द्वारा होता है और न शासनतन्त्र के बदलने से, बल्कि जो कुछ भी था उसे यज्ञ की अग्नि में होमकर एक नया हृदय प्राप्त करने से और मां के अन्दर पुनः उत्पन्न होने से होता है। हमसे आत्मोत्सर्ग की मांग की जा रही है। मां हमसे पूछ रही हैं, “कितने लोग मेरे लिए जीयेंगे? कितने लोग मेरे लिए मरेगें?” और हमारे उत्तर की प्रतीक्षा कर रही हैं।

—श्रीअरविन्द

एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र

प्राणिक सत्ता

(२)

जब हम किसी उपन्यास के पत्रों पर पत्र पढ़ते जाते हैं तो थकान नहीं आती, लेकिन घण्टे भर के लिए भी पाठ पढ़ने से थकान आ जाती है। ऐसा क्यों होता है?

क्योंकि एक मनोरञ्जन है और दूसरा कर्म। आलसी भौतिक को कार्य तब तक पसन्द नहीं आता जब तक उसे प्राण से सहारा न मिले और निम्न प्राण कार्य की अपेक्षा मनोरञ्जन में ज्यादा मज़ा लेता है।

यह कैसी बात है कि चेतना की अच्छी स्थिति प्रायः गुम हो जाती है?

प्रारम्भिक दशा में कोई स्थिरता नहीं होती, स्थितियाँ आती-जाती रहती हैं। जब तक दृढ़ आधार न बन जाये तब तक तुम्हें दृढ़ रहना पड़ता है।

मैं हर शाम को देखता हूँ कि कोई सत्ता मेरे ऊपर यह कह कर ग़लत प्रकार के सुझाव फेंकती रहती है कि "भगवान् तुम्हें पसन्द नहीं करते"। पिछले दिनों इन चीज़ों का ज़ोर बढ़ गया है। मैं उन्हें रद्द करने के लिए पूरा ज़ोर लगाता हूँ लेकिन कोई सफलता नहीं मिलती। माताजी कृपा करके ऐसी सत्ता को मेरे पास फटकने से रोकें। यह सत्ता कौन है? क्या यह प्राणमय जगत् से आती है?

हां, यह प्राण-जगत् से आयी हुई मिथ्यात्व की वह सत्ता है जो इस कोशिश में लगी रहती है कि व्यक्ति उसके ग़लत सुझावों को सत्य मान बैठे, वह चेतना में बाधा डालती है, व्यक्ति को सीधे रास्ते को छोड़ने पर मजबूर करती है और स्वयं या तो निराश हो जाती है या फिर माताजी के विरुद्ध हो जाती है। अगर तुम उसे अस्वीकार कर दो और उस पर कान देना या उस पर विश्वास करना हमेशा के लिए बन्द कर दो तो वह गायब हो जायेगी।

क्या प्राणमय लोक की सत्ताओं के मनुष्यों की तरह आकार-प्रकार (निस्सन्देह, सूक्ष्म आकार-प्रकार) होते हैं?

हां, पर वे अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें बदल सकते हैं।

क्या हर व्यक्ति अमुक संख्या की प्राणिक सत्ताओं से घिरा होता है अथवा प्रत्येक आक्रमण के समय अलग-अलग प्राणिक सत्ताएं होती हैं?

कोई विशेष संख्या नहीं होती, परन्तु कभी-कभी कुछ विशेष प्राणिक सत्ताएं किसी मनुष्य के साथ—अगर वह उन्हें स्वीकार कर ले—अपने-आपको जोड़ लेती हैं।

क्या प्राणमय जगत् के देवता पृथ्वी पर राज करने की दृष्टि से अपनी शक्ति में रस नहीं लेते? क्या वे व्यष्टि-रूप नहीं धारण कर लेते?

कुछ कर लेते हैं, परन्तु प्रायः शक्तियां अपना ही खेल खेलती हैं। मेरा ख्याल है कि यहां देवों से तुम्हारा मतलब प्राणिक सत्ताओं से है। वे देवता नहीं होते, वे असुर, राक्षस या अन्य अदैवी शक्तियां हैं।

फिर से मुझे अवसाद हो रहा है, मेरी समझ में नहीं आता क्यों?

प्रायः व्यापक प्रकृति से अवसाद की लहरें आती हैं। जहां कोई कारण न हो वहां भी मन आन्तरिक या बाह्य कारण निकाल लेता है। शायद इसीलिए कारण स्पष्ट नहीं होते। और यह भी हो सकता है कि सत्ता का कोई भाग हिम्मत हार बैठता है, थक जाता है या कर्म या साधना की गति के अनुसार चलने से इन्कार कर देता है। अगर यह प्राणमय सत्ता में है तो वह अपने-आपको छिपा सकता है ताकि वह प्रकट या स्पष्ट न हो जाये। अगर वह शुद्ध रूप से जड़ भौतिक का अंग हो तो वह गुंगा और अस्पष्ट हो जाता है, अपने-आपको व्यक्त करने में अयोग्य पाता है। और अन्त में वह अवचेतना से बाहर आ सकता है और ये अलग-अलग स्थितियां हैं जिनमें बिना कारण का अवसाद मालूम होता है। यह तुम्हें अपने-आप देखना होगा कि सचमुच है क्या।

जब मैं लम्बे अवसाद की अवस्था में होऊं तो माताजी के साथ आन्तरिक सम्पर्क कैसे रख सकता हूँ?

यदि तुम हमेशा माताजी के साथ सम्पर्क रखना चाहते हो तो तुम्हें अवसाद और मानसिक कल्पनाओं से पिण्ड छुड़ा लेना चाहिये जो उसे लाती हैं, इससे ज़्यादा बाधक और कोई चीज़ नहीं होती।

हमारी प्राणमय सत्ता माताजी से आनन्द, प्रकाश और शक्ति की जगह बाहरी और छिछली चीज़ों की मांग क्यों करती है?

छोटा भौतिक प्राण इनके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहता है जैसा वह बाहरी कामनाओं के साथ करता है। उसके लिए अदृश्य चीज़ों की ओर खुलना आसान नहीं होता—यह उच्चतर प्राण के लिए ज़्यादा आसान होता है।

उच्चतर प्राण का स्वभाव कैसा होता है?

आवेग, उच्चतर कामनाएं, सृजनात्मक या कार्यकारी जीवन-शक्तियां।

ऊपर मन का दिव्य समानार्थक होता है अतिमानस। प्राण का समानार्थक क्या होता है?

मन—अतिमानस।

मनोवेगात्मक सत्ता (हृदय)—आनन्द।

प्राण—तपस्।

जड़—सत्।

ये समानताएं हैं, परन्तु प्राण को दिव्य बनाने के लिए अतिमानस पर्याप्त यन्त्र है।

लेकिन मैं तपस् का अर्थ नहीं समझता।

चित्तपस्—यह दिव्य चेतना का दूसरा स्तर है।

मेरे प्राण पर अच्छी-बुरी सभी प्रकार की चीजों का बहुत असर होता है।

यह प्राण की अतिसंवेदनशीलता है जो कभी-कभी चेतना के खुलने से आती है। इसे अस्वीकार करना चाहिये। चेतना ठीक चीजों की ओर खुलनी चाहिये गलत चीजों की ओर नहीं।

मैं समझ नहीं पाया कि ठीक चीजों और गलत चीजों से आपका क्या मतलब है। उदाहरण के लिए, मैंने जो गलती नहीं की है उसके लिए कोई मेरा अपमान करता है तो क्या इसमें अपमान का अनुभव करना गलत है?

अगर अपमान का अनुभव करना ठीक माना जाये तो योग करना बेकार होगा। योग समता पर आधारित होता है, सामान्य प्राणिक प्रतिक्रियाओं पर नहीं।

एक बार आपने दो प्रकार के कारणों के बारे में कहा था, एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा तर्क-संगत। क्या आप मुझे कृपा करके यह बतलाएं कि पहले कारण से कब और दूसरे से कब अवसाद आता है?

अगर तुम कल्पना करो कि माताजी तुमसे इसलिए नाराज़ है क्योंकि वे वह नहीं करतीं जो तुम चाहते हो और इस कारण तुम्हें अवसाद या दुःख हो तो यह मनोवैज्ञानिक कारण प्राणमय अहंकारभरी मांग है जो तुम्हें दुःखी बना देती है और अगर तुम सिगरेट पीते हो और माताजी तुमसे सचमुच नाराज़ हैं तो यह तर्क-संगत कारण है।

हमारा प्राण अपनी कामनाओं के सन्तुष्ट हो जाने पर भी कभी-कभी दुःखी होना क्यों पसन्द करता है?

यह उसका स्वभाव है—दुःख और अवसाद में पड़ना। उसके अन्दर कोई चीज़ इस खेल में मज़ा लेती है, जैसे कोई नाटक में मज़ा लेता है।

हैं?

जब प्राण अभीप्सा करता है तो अभीप्सा इतनी तीव्र हो जाती है कि मुझे लगता है कि इससे सत्ता टूट जायेगी। क्या यह सच्चे प्राण के कार्य-कलाप का असर है?

अगर सच्चा प्राण हो तो सत्ता में टूटने का भाव नहीं होता। यह राजसिक मिश्रण है।

सच्ची प्राणमय-सत्ता का आविर्भाव

एक बार मुझे यह भय था कि अगर मेरे प्राण ने अभीप्सा की तो उसकी सशक्त तीव्रता से मेरा शरीर टूट जायेगा। अब मुझे लगता है कि यह काल्पनिक भय था। उसकी अभीप्सा की तीव्रता ऐसी होती है कि वह अपनी गति में मेरे तामसिक शरीर को भी बहा ले जाती है! परिणाम-स्वरूप मेरा श्वास तेज़ हो उठता है और मेरा शरीर अपनी हर गतिविधि में अतिरिक्त ऊर्जा का अनुभव करता है।

कार

ऊर्जा का होना अच्छा है—प्राणिक अभीप्सा हमेशा ऊर्जा लाती है। लेकिन तेज श्वास ज़रूरी नहीं है, यद्यपि कभी-कभी आती तो है ही।

हरण

रसमें

जब मैं प्राणमय अभीप्सा का अनुभव करता हूँ तो क्या चैत्य सत्ता प्राण के अन्दर प्रकट होती है या वह खुद अभीप्सा करती है या फिर वह प्राण से अभीप्सा करवाती है?

पर

और यह भी हो सकता है कि स्वयं प्राण अभीप्सा करता हो।

सरा

सरे

जब प्राण सहयोग देता है तो क्या उसकी अभीप्सा हमेशा तीव्र, गहन और शक्ति-भरी होती है? हमेशा नहीं—लेकिन सामान्यतः प्राण का सहयोग अधिक बल और तीव्रता लाने में सहयोग देता है।

तुम

मय

जी

म्यों

मैंने देखा मेरा प्राण सिर की ओर उठ रहा है—मानों अभीप्सा करके ऊपर जाने को है। सचमुच क्या हो रहा था?

प्राण दो तरह से सिर की ओर उठ सकता है, एक तो मन को प्राणिक आवेशों से ढक देने के लिए, दूसरा यह कि अभीप्सा करके उच्चतर चेतना में जा मिले। अगर तुमने अभीप्सा देखी तो निश्चय ही यह दूसरी गति है।

आरोहण की गति का प्रायः अनुभव होता है। प्राण उच्चतर चेतना से मिलकर क्या करता है?

पहले वह उसके प्रभाव में आता है और फिर सच्चे प्राण में विकसित होता है जो उच्चतर चेतना का प्रसार है।

अब मैं अपने प्राण को शान्त, शुद्ध और साधारण गतियों से रिक्त पाता हूँ। यह सारा कुछ हद तक है और शायद उच्चतर चेतना के अवतरण की प्रतीक्षा में है ताकि वह प्राण को और ज़्यादा रूपान्तरित कर सके। क्या बात ऐसी है?

यह मानने का कोई कारण नहीं है कि तुम्हारा अनुभव ठीक नहीं है। उसे ऐसा ही रहना चाहिये।

यदि मेरी बात ठीक है तो क्या इसका मतलब यह है कि मेरा प्राण चैत्यभावापन्न हो गया है?

वह चैत्य के प्रभाव में है।

अभी तक मुझे केवल मन, प्राण और शरीर से ही काम पड़ता था। लेकिन आज मुझे पता लगा कि मेरे हृदय ने कुछ चीज़ों को बहुत गहराई से लिया, उसे चैत्य के वश में कैसा रखा जाये?

हृदय प्राण का भाग है। उसका भी औरों की तरह पथ-प्रदर्शन करना चाहिये, यानी गलत गतियों को रद्द करना चाहिये, सच्चे चैत्य समर्पण को स्वीकार करना चाहिये जो उच्चतर प्रकाश और ज्ञान का आह्वान करने पर सभी मांगों और कोलाहल को रोकता है।

—नगीन दोशी

श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार

भूत-प्रेतों के बारे में निश्चय करते समय मैं यह जानना चाहूंगा कि वह कौन-सा भाग है जो दूसरे भागों के तर्क पर सन्देह करता है।

ये मन के विभिन्न अंश हैं जो एक-दूसरे का विरोध और खण्डन करते हैं, और वे सब विकास के समान स्तर पर नहीं होते।

२८ जून १९३४

भगवद्विरोधी भूत-प्रेतों के बारे में सचेतन होना बहुत रुचिकर होगा।

जब तक कि यह उन्हें त्यागने या उन पर विजय पाने के लिये ही हो।

२९ जून १९३४

प्रेतना

ये भूत-प्रेत हमें रास्ते से भटकाते हैं, लेकिन क्या ऐसे भूत-प्रेत नहीं होते जो हमारी साधना में सहायता करते हों?

कुछ

को

मैं समझती थी कि 'भूत-प्रेत' शब्द से तुम्हारा मतलब प्राणिक सत्ताओं से है। निश्चय ही ये तुम्हारी साधना में सहायता देने वाली सत्ताएं नहीं हैं।

हेये।

अगर आज्ञा हो तो मैं यह जानना चाहूंगा कि इन भगवद्विरोधी भूत-प्रेतों पर विजय कैसे पायी जाये?

है?

इच्छा करके, और हमेशा इनके सुझावों पर विश्वास करने से इन्कार करके।

२९ जून १९३४

मुझे

मैं

जी हां, माताजी, ये सत्ताएं हमें मार्ग से भटका देती हैं, लेकिन क्या ऐसी सत्ताएं नहीं हैं जो हमारी सहायता कर सकती हों, हमें फिर से ठीक रास्ते पर ला सकती हों।

तेयों

और

शी

हां, वे ज़रूर हैं, लेकिन, चूंकि वे प्राण-जगत् की सत्ताएं नहीं हैं, जो भौतिक के सबसे निकट हैं, इस कारण उनके लिए मानव सत्ताओं के साथ सम्पर्क में आना ज़्यादा कठिन होता है। कभी-कभी उनकी क्रिया मन में देखी जा सकती है, और चैत्य में बहुत स्पष्ट होती है।

एक सपने में मैं अपने घर के बगीचे से फूल चुन रहा था। अचानक दरवाज़ा खुला और तीन महिलाएं अन्दर आयीं। एक ने मुझसे फूल मांगे। मैंने उत्तर दिया, "सभी सुन्दर फूल माताजी के पास भेजे जायेंगे। तुम उन फूलों को ले सकती हो जो सुन्दर नहीं हैं।" लेकिन मैं इन महिलाओं से क्षुब्ध हो गया।

सम्भवतः, यह निम्न चेतना की अमुक शक्तियों का प्रतीक है जो उस पर अधिकार करना चाहती हैं जिसे पहले से ही भगवान् को अर्पित किया जा चुका है।

३० जून १९३४

है

कल मैं बहुत अजीब अवस्था में था : पांच मिनट के लिए मैंने दुःख का अनुभव किया, पांच मिनट बाद खुशी का, यह सिलसिला तीन घण्टे चला। फिर मैं यह सारा खेल समझ गया और मैंने इसे संकल्पशक्ति और प्रार्थना द्वारा त्यागा। लेकिन मैं इस क्रिया को बिल्कुल नहीं समझ पा रहा हूं।

जस

प्राण-सत्ता के दो भाग आपस में संघर्ष कर रहे थे, हर एक अपनी बारी में दूसरे पर हावी हो रहा था।

आज मैं प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं। मैं यह जानना चाहूंगा कि यह प्रसन्नता आध्यात्मिक है या नहीं?

अपने-आपसे ऐसे प्रश्न पूछने की जगह ज्यादा अच्छा होगा कि तुम शान्त, एकाग्रचित्त और अचञ्चल रहो, ताकि प्रसन्नता बनी रह सके।

३ जुलाई १९३४

हे प्यारी मां, जब कोई मुझसे बातें करे तो मुझे अचञ्चल रहना सिखाइये, क्योंकि, बाद में मेरा मन भटकता है।

अपने-आपको बातचीत के साथ एक न कर लो। उसे ऊपर से, दूर से देखो, मानों कोई दूसरा सुन और बोल रहा है, और एकदम से अनिवार्य शब्दों के अतिरिक्त और कुछ न बोलो।

४ जुलाई १९३४

आज मैंने अपने अन्दर शक्ति को कार्य करते अनुभव किया। मुझे आश्चर्य होता है कि मैंने इतने परिश्रम का काम कैसे किया—बिल्कुल आराम किये बिना एक घण्टे तक खुदाई। लेकिन मेरी समझ में यह नहीं आता कि काम के खत्म हो जाने पर कुछ कम्पन क्यों रहा?

सम्भवतः, शरीर के लिए शक्ति कुछ अधिक थी जिसे सह सकना उसके लिए कठिन हो गया—इसलिए कम्पन हुआ।

आपने मुझे लिखा : “जितना अनिवार्य हो उसके अतिरिक्त एक शब्द भी मत बोलो”, लेकिन अगर कोई मुझसे व्यर्थ का प्रश्न पूछे तो मुझे क्या करना चाहिये?

उसे कोई महत्त्व न देते हुए, उपेक्षा-भाव के साथ दो-एक शब्दों में जवाब दे दो।

४ जुलाई १९३४

प्यारी मां, आपकी शक्ति को सहने के लिए मैं अपने शरीर को किस तरह तैयार कर सकता हूँ?

सहने की शक्ति अचञ्चलता और स्थिरता में है।

५ जुलाई १९३४

‘ग’ ने मुझसे कहा कि सन्देह पर श्रीअरविन्द के सन्देश पढ़ना बहुत अच्छा है। “सन्देह पर पढ़ना बिल्कुल आवश्यक नहीं है” मैंने उसे उत्तर दिया। उसने कहा कि मेरे ख्याल से इस स्तर पर समस्त सन्देह से मुक्त होना सम्भव नहीं है।

समस्त सन्देह से मुक्त होना न केवल पूरी तरह सम्भव है बल्कि यह एकदम से अनिवार्य शर्त है, लेकिन विश्वास के साथ यह कह सकने के लिए कि व्यक्ति सन्देह से मुक्त है उसे इस बात

और

की निश्चिति के लिए कम-से-कम कुछ महीने प्रतीक्षा करनी चाहिये।

बहरहाल, इस तरह की चर्चा एकदम से व्यर्थ है—यह सन्देह पर विजय लाने में सहायता नहीं करती।

९ जुलाई १९३४

बाद

मेरे अन्दर से समस्त दौर्बल्य निकाल दो...जैसा कि लोग सोचते हैं, हे दिव्य मां, पूरी तरह से और पूर्ण रूप से आपका बालक बनना इतना आसान नहीं है। इसे करने के लिए...

दूसरा

व्यक्ति को बहुत निष्कपट और सीधा होना चाहिये, अपने अन्दर ऐसी किसी चीज़ को सहन न करो जिसे तुम बिना भय के दिखा न सको, और ऐसा कोई काम न करो जिसे मेरे सामने करने में तुम्हें लज्जा आये।

११ जुलाई १९३४

मैंने

बुलाई।

रहा?

ऐसा लगता है कि चेतना के हर स्तर पर अहं है; उदाहरण के लिए, मानसिक अहं, प्राणिक अहं, भौतिक अहं।

या—

आध्यात्मिक अहं भी है, यहां तक कि अधिमान में रहने वाले देवों के भी अपने अहं होते हैं।

लो",

और भागवत आनन्द को पाने के लिए प्रत्येक को अपने अहं से मुक्त होना चाहिये।

केवल समर्पण काफ़ी नहीं है; अहं को विघटित करना होगा, भगवान् के अन्दर डुबा देना, उनके अन्दर विलीन करना होगा।

१२ जुलाई १९३४

कर

आपने लिखा कि केवल समर्पण काफ़ी नहीं है; अहं को विघटित करना होगा, भगवान् के अन्दर डुबा देना, उनके अन्दर विलीन करना होगा। मुझे यह नहीं मालूम कि इसे कैसे किया जाये।

फिलहाल यह प्रश्न नहीं उठता, पहले समर्पण को सर्वांगीण और पूर्ण बनाना होगा।

सन्देह

ख्याल

मेरे ख्याल से अतिमानस-देवों में अहं नहीं होता। अतः मैं सोचता हूं कि स्वयं धरती पर हमें उनकी तरह निरहंकारी बनना चाहिये और फिर भागवत निर्देशन के अनुसार क्रिया करनी चाहिये।

शर्त

बात

मेरे ख्याल से अतिमानस में क्या हो सकता है इसके बारे में अभी से अटकलबाज़ी करना व्यर्थ है।

१२ जुलाई १९३४

—शान्ति दोशी

हमारा उद्देश्य

हमारा उद्देश्य है मनुष्यजाति के कल्याण के लिए भारत के निर्माण में सहायक होना—राष्ट्रीयता की यही भावना है जिसका हम अनुसरण और प्रचार करते हैं। हम मनुष्यजाति से कहते हैं :

“अब वह समय आ गया है जब तुम्हें अपना महान् पग उठाना होगा और भौतिक सत्ता से ऊपर उठकर उच्चतर, गभीरतर और विशालतर जीवन में पहुंच जाना होगा। उसी महान् जीवन की ओर मनुष्यता अग्रसर हो रही है। जो समस्याएं मनुष्यजाति को बेचैन किये हुए हैं उनको तभी हल किया जा सकता है जब हम अपने अन्दर के राज्य को जीत लेंगे; प्रकृति की शक्तियों को अपने जूए के नीचे लाकर, अपनी सुख-सुविधा और भोग में नियुक्त करके नहीं बल्कि बुद्धि और आत्मा की शक्तियों को अधिकृत करके, मनुष्य की आन्तरिक और बाह्य स्वतन्त्रता को सुरक्षित करके तथा अपने अन्तर के बल से बाहरी प्रकृति को हमें जीतना होगा। इस कार्य के लिए एशिया का पुनर्जागरण आवश्यक है और इसलिए एशिया जग रहा है। इस कार्य के लिए भारत की स्वाधीनता और महानता अनिवार्य है और इसलिए वह अपनी दैवनिर्दिष्ट स्वाधीनता और महानता का दावा कर रहा है और यह सारी मनुष्यजाति के हित के लिए आवश्यक है कि वह अपने दावे को पूर्णतः स्थापित और संसिद्ध करे।”

हम अपने राष्ट्र से कहते हैं :—

“यह भगवान् की इच्छा है कि हम लोग ‘हम’ (सच्चे अर्थ में भारतीय) हों और ‘यूरोपीय’ न हों। हमने अपनी सत्ता के विधान से भिन्न दूसरों के जीवन-विधान का अनुसरण कर फिर अपने जीवन को प्राप्त करने का यत्न किया है। हमें उस रास्ते से वापस आकर स्वयं अपने अन्दर अपने जीवन और सामर्थ्य का स्रोत ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। हमें अपने अतीत को जानना चाहिये और अपने भविष्य की उद्देश्यसिद्धि के लिए फिर से उसे प्राप्त करना चाहिये। हम लोगों का मुख्य कार्य है सबसे पहले अपने-आपको पाना, अपने को जानना और प्रत्येक चीज़ को भारत के शाश्वत जीवन और स्वभाव के विधान के अनुकूल ढालना। इसलिये कर्मयोगी का उद्देश्य होगा अपने धर्म, समाज, दर्शन, राजनीति, साहित्य, कला, सरकारी कानून, विज्ञान, चिन्तन आदि जो कुछ हमारा था और है उस सबके मर्म को पढ़ना-समझना ताकि हम स्वयं से और अपने राष्ट्र से यह कह सकें कि ‘यही हमारा धर्म है।’ हम पूर्ण रूप से भारतीय विचार और ज्ञान के दृष्टिकोण के अनुसार यूरोपियन सभ्यता की आलोचना करेंगे और पाश्चात्य देश की छाप को, जो हमारे ऊपर छापी हुई है, दूर झाड़ फेंकेंगे। हमें पश्चिम से जो कुछ लेना है, उसे भारतीय के रूप में लेंगे। और एक बार जब अपने धर्म का पता पा जायेंगे तब केवल उसकी घोषणा ही नहीं करेंगे बल्कि उसे जीवन में भी उतारेंगे, अपने व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक जीवन और राजनीतिक प्रयासों में भी उसी को अभिव्यक्त करेंगे।”

हम प्रत्येक व्यक्ति से और विशेषकर उन युवकों से, जो भारत का कार्य, संसार का कार्य, भगवान् का कार्य करने के लिए आजकल जग रहे हैं, कहते हैं :—

“यदि तुम अपने मन पर यूरोपियन विचारों को अधिकार करने दो और भौतिक दृष्टि से जीवन को देखो तो तुम इन आदर्शों को ग्रहण नहीं कर सकते, इन्हें जीवन में संसिद्ध करने का

तो कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। भौतिक रूप में देखा जाये तो तुम कुछ भी नहीं हो, आध्यात्मिक दृष्टि से तुम सब कुछ हो। सच पूछा जाये तो भारतीय ही ऐसे हैं जो प्रत्येक बात पर विश्वास कर सकते हैं, प्रत्येक चीज़ को कर डालने का साहस कर सकते हैं, प्रत्येक चीज़ का बलिदान कर सकते हैं। अतएव, सबसे पहले भारतीय बनो। अपने पूर्वपुरुषों से प्राप्त पैतृक सम्पदा को आयत्त करो। आर्य-चिन्तनधारा, आर्य-साधना, आर्य-चरित्र और आर्य-जीवन को प्राप्त करो। वेदान्त, गीता और योग का उद्धार करो। उन्हें केवल अपनी बुद्धि और हृद्गत भावों के अन्दर ही मत प्राप्त करो बल्कि उन्हें अपने जीवन में उतारो। उनके अनुसार अपना जीवन बनाओ और तुम महान् बन जाओगे, शक्तिशाली, सामर्थ्यवान्, अजेय और निर्भय बन जाओगे। न तो जीवन, न मृत्यु ही तुम्हारे लिए किसी भी भय का कारण होगी। कठिनाई और असम्भाव्यता तुम्हारे शब्दकोष से ही विलीन हो जायेंगी। क्योंकि आत्मा के अन्दर ही शक्ति-सामर्थ्य नित्य, शाश्वत होता है और तुम्हें पहले अपना निजी राज्य, आन्तरिक स्वराज्य वापस जीतना होगा और उसके बाद ही तुम अपना बाहरी साम्राज्य जीत सकते हो। देखो, वहां मां निवास करती हैं और तुम्हारी पूजा की प्रतीक्षा कर रही हैं जिससे कि तुम्हें शक्ति दे सकें। उन पर विश्वास करो, उनकी सेवा करो, उनकी ही इच्छा में अपनी इच्छा विलीन कर दो, देश के महत्तर अहं में अपने अहं को, मनुष्यजाति की सेवा में अपनी पृथक् स्वार्थपरता को डुबा दो। अपने अन्दर विद्यमान समस्त शक्ति-सामर्थ्य के मूल स्रोत को ढूँढ़ निकालो और फिर तुम्हें बाकी सभी चीज़ें प्राप्त हो जायेंगी—सामाजिक दृढ़ता, बौद्धिक श्रेष्ठता, राजनीतिक स्वाधीनता, मानवीय चिन्तनधारा पर अधिकार, विश्व का नेतृत्व सब कुछ अपने-आप तुम्हें हस्तगत हो जायेगा।”

—श्रीअरविन्द

पीड़ा की वह रात

(स्व. ज्ञान बहन की यह मार्मिक कहानी उनकी डायरी से मिली। —सं.)

विजयेन्द्र आज भी रात्रि को सो न सका था। सवेरे के समय न जाने कब थोड़ी-सी देर को झपकी लग गयी। उसे तो आशा ही नहीं थी कि निद्रादेवी की अब उस पर कृपा हो सकेगी। यह आज की कोई नयी बात नहीं। उसे याद नहीं कि पिछले २५ वर्षों से वह किसी रात तृप्ति से एक नींद सोया हो। प्रायः पूरी-पूरी रात आंखों में ही निकल जाती है प्रतीक्षा करते-करते कि शायद अब प्रभु-कृपा से थोड़ी देर को आंख लग जाये। आंखों में रात निकल जाना और आंख लग जाना यह भी अजब पहेली है आंखों की।

हां, तो विजयेन्द्र नित्यकर्म से निबट कर अपनी मेज़ पर आ बैठा। पास में ही उसका स्टोव है, एक प्याला चाय बना कर पी। कुछ स्वस्थता महसूस करने लगा। पढ़ने के विचार से पुस्तक निकालने को शैल्फ की तरफ हाथ बढ़ाया, पर निकाल ली अपनी डायरी। पन्ने पलटने लगा। कितनी बार वह एक ही प्रार्थना घुमा-फिरा कर बार-बार लिख चुका है—प्रभो! मुझे स्वस्थ और नीरोग कर दो। मेरा मन ध्यान और साधना में कैसे लगे, सारा दिन तो यह शरीर अपनी ओर

खींचता रहता है—अब यह कष्ट है, अब यहां दुख रहा है, पढ़ नहीं सकता, आंखें साथ नहीं देतीं, अशक्तता लगती है, कुछ काम नहीं कर सकता, रातों को नींद नहीं आती, मन परेशान रहता है—मैं क्या करूं प्रभु, मेरा जीवन ऐसे ही व्यर्थ जा रहा है, मैं कुछ नहीं कर पाता। बार-बार निराशा आ घेरती है—अब कुछ नहीं होगा। मैं कहां तक संघर्ष करूं, कितना समझाऊं मन को! मन को किसी तरह विश्वास दिलाने की कोशिश करता हूं कि भगवत्कृपा के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है, एक क्षण में असम्भव सम्भव हो सकता है पर अगले ही क्षण शरीर फिर अपनी हठधर्मिता दिखाते हुए कहता है—तुम्हें इन बातों से सान्त्वना मिलती हो तो ठीक है पर यह देखो मैं तो कष्ट पा रहा हूं, तुम मेरे लिए क्या कर सकते हो! हे प्रभो! मैं क्या करूं ऐसी स्थिति में। हार मानना नहीं चाहता फिर भी हार-हार जाता हूं। शरीर के तर्क बहुत बलवान् हैं।

कितनी ही बार उसने प्रार्थना को लिपिबद्ध किया है—हे प्रभो! मेरा शरीर में जितना ध्यान पड़ा रहता है वह अपनी पूरी शक्ति के साथ अगर तुममें लग जाये तो कितना अच्छा हो। मुझे मुझ से मुक्त कर दो हे करुणासिन्धो! अब नहीं सहा जाता यह। मेरी सत्ता इस देह-चेतना में इतनी आबद्ध क्यों है? यह शरीर ही तो सब कुछ नहीं है। चेतना की ऐसी अवस्था में कभी-कभी प्रकाश के क्षण आते हैं जब उसे लगता है कि वह केवल शरीर नहीं है, वह शुद्ध-प्रबुद्ध-मुक्त आत्मा है। उसे अपनी उस आत्मा को पाना है, उसके साथ सम्बन्ध बनाकर निरन्तर उसे शासन करने देना है। उसे इस शरीर के शासन और हठधर्मिता से मुक्त होना है। यह होगा—ज़रूर होगा—यही होना है। और उसे लगता मानों सारे शरीर में नवशक्ति का सञ्चार हो गया है, उसके तन-मन उत्साह और बल से भर गये हैं, अक्षमता और असमर्थता का भाव विलुप्त हो गया है।

हर पन्ने पर चेतना की यह ऊंची-नीची अवस्था अंकित थी जिसे पढ़कर उसे लग रहा था—वर्षों से यही द्वन्द्व चला आ रहा है, कोई निश्चयात्मक प्रगति नहीं हुई! बल्कि कभी-कभी तो लगता है कि यह देह-चेतना बहुत हावी होती जा रही है, सारा ध्यान अपनी ओर ही खींचे रखने का प्रयास करती है। ऐसी ही मनःस्थिति में विजयेन्द्र ने कुछ लिखने के लिए पैन् उठाया और सोचने लगा—क्या लिखूं? वही, जो कल लिखा था, आज रात भी नींद नहीं आयी, शरीर थका हुआ है, आंखों में तनाव है, कुछ करने को मन नहीं करता! हे प्रभो! क्या करूं; ऐसे शरीर को लेकर भगवद्भजन में भी तो मन नहीं लगता। मेरी सहायता करो भगवन्! अब यह अशक्तता सहन नहीं होती। यह सब सोचते-सोचते वह अपने में डूबने लगा, तीव्र इच्छा लेकर—“प्रभो, इसका कोई समाधान दो।”

कुछ देर बाद उसे ऊपर से अपने भीतर एक शुभ्र प्रकाश उतरता लगा, उसने आकार लेते हुए कहा—तुम क्या चाहते हो विजयेन्द्र!

प्रभो! कितने वर्षों से मैं एक ही प्रार्थना करता आ रहा हूं कि मैं जो इस देह-चेतना में पूरी तरह आबद्ध व जकड़ा हुआ हूं, चाह कर भी कुछ कर नहीं पाता, कुछ सोच नहीं पाता। इस स्थिति से मुझे मुक्त करा दो, अब मेरा दम घुटने लगा है। पर आप हैं कौन भगवन्, क्या मैं आपका परिचय जान सकता हूं?

“तुमने अभी जिसे पुकारा था, जिसे तुम अपनी अन्तरात्मा, भगवान्, विश्व-जननी या अपना अनन्यतम मित्र कहते हो, मैं वही हूं।

विजयेन्द्र—(हाथ जोड़ते हुए) प्रभो! आपने आने में इतनी देरी क्यों कर दी! मैं कब से आपकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

देवपुरुष—हर चीज़ का समय होता है, विजयेन्द्र! जब तक मानव सचमुच छुटकारा नहीं पाना चाहता, किसी परिस्थिति या मनःस्थिति से पूरे और सच्चे मन से मुक्ति नहीं चाहता तब तक परिस्थितियों के दबाव को बढ़ने दिया जाता है। यह प्रभु-कृपा ही होती है विजय, कि व्यक्ति सब ओर से घिरकर परिस्थितियों से छुटकारा पाने को तड़प उठे। नहीं तो मानव का स्वभाव है कि वह धीरे-धीरे सब सहता जाता है, अति ही उसके छुटकारे का उपाय है। जब वह अत्यन्त कातर भाव से क्रन्दन कर उठता है, “प्रभु काट दो ये सब बन्धन, अब इधर करो या उधर।” उसकी यह विकल पुकार प्रभु को हस्तक्षेप के लिए बाध्य कर देती है। तब वह दुर्बलों का बल, निराश्रयों का आश्रय, साधकों का परम इष्ट स्वयं किसी-न-किसी रूप में प्रकट होकर उन्हें उबार लेता है। और साधक अनुभव करता है कि अगर यह दम घोटने वाली परिस्थिति न बनती तो उसे इससे कभी छुटकारा न मिलता। जीवन ऊपर-नीचे चलता रहता। पर आज काफ़ी हद तक लम्बा फ़ासला तय हो गया है। प्रभु प्रायः इसीलिए किसी बीमारी, कष्ट या यातना को बढ़ने देते हैं क्योंकि वही उसका भगवान् की ओर खुलने व निकलने का उपाय है। साधारणतः मानव अभी और किसी तरह से बाहर निकलना जानता नहीं। चरम सीमा पर जाकर ही चेतना में उलटाव आता है। उन भक्तवत्सल को भी कष्ट होता है भक्त को पीड़ा में देख कर, पर और कोई उपाय भी तो नहीं है। इससे पहले वह लेने की स्थिति में भी तो नहीं होता।”

विजयेन्द्र—(हाथ जोड़ते हुए) दुःख-कष्ट, पीड़ा और यातना भी तुम्हारे मंगल वरदान ही हैं प्रभु, ऐसा मनोभाव हम कब बना पायेंगे?

देवपुरुष—जब तुम मुझे अपना, अपना परम और एकमात्र हितैषी बन्धु समझ पाओगे।

विजयेन्द्र—कृपा करो देव! मेरे सब आस-भरोसे केवल तुम पर हों, तुम जिस भी परिस्थिति में रखो सदा प्रसन्न रहूँ, मुस्कराता रहूँ। तुम जो हर क्षण मेरे साथ हो, मेरी चिन्ता कर रहे हो, फिर चिन्ता किस बात की!

मगन भया मैं प्रभु भरोसे।

३० मार्च १९९२

—ज्ञानवती गुप्ता

है न बात ठीक?

मेज़ पर कोरा कागज़ है, हाथ में कलम है, वक्त बहुत कम है, और मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है कि मैं क्या लिखूँ...

यह होती है मेरी दयनीय अवस्था हर बार, हर साल। और हां, तारीख होती है ४ जून, मेरे जन्मदिन की पूर्व-सन्ध्या।

मेरे प्रिय अध्यापक रवीन्द्र जी को गुज़रे ५ साल होने को हैं मगर ५ जून की उनकी भेंट अभी भी ठीक वक्त पर उनके कमरे तक पहुंच जाती है।

न जाने क्यों, लेख का विषय चुनना मुझे हर बार इतना मुश्किल क्यों लगता है। जब मैं

पूरी कोशिश करती हूँ, अपना दिमाग लड़ाती हूँ, तो कोई सफलता हासिल नहीं होती। कागज़ के साथ-साथ मानों मन भी कोरा हो जाता है। लेकिन फिर जब शान्त होकर, कुछ देर ध्यान करके लिखना शुरू करती हूँ, तो प्रेरणा खुद-ब-खुद चली आती है। मगर आज न जाने क्यों वह मानों मुझसे रूठकर, मुंह मोड़कर चली गई थी।

तभी फ़ोन बजने लगा और फ़ोन उठाते हुए मैंने कहा, “हैलो, कौन बोल रहा है?” तो जवाब आया, “मैं प्रेरणा बोल रही हूँ...” यह सुनकर मैं मन-ही-मन हंस पड़ी। यह कैसा मज़ाक था तकदीर का! मैं यहां घण्टों बैठी लेख के लिए अन्तःप्रेरणा का इन्तज़ार कर रही थी, किसी मानवीय प्रेरणा का नहीं। मैंने कहा, “माफ़ करना मुझे, लेकिन कोई ग़लतफ़हमी है, मैं किसी प्रेरणा को नहीं जानती!” यह कह कर मैंने फ़ोन रख दिया। कलम हाथ में उठाया नहीं कि फ़ोन फिर बज उठा। फिर से वही आवाज़, और वे ही शब्द, “मैं प्रेरणा बोल रही हूँ...” मैंने तंग आकर कहा, “देखिए मैं पहले भी आपको बता चुकी हूँ कि मैं प्रेरणा नाम की किसी भी महिला को नहीं जानती। आपके फ़ोन में शायद गड़बड़ है, ग़लत नम्बर मिल रहा है।” यह कहकर मैंने फ़ोन पटक दिया। मुझे तो असली प्रेरणा की तलाश थी और यह नकली प्रेरणा बार-बार फ़ोन करके मुझे तंग कर रही थी, मेरे कोरे मन को और कोरा बना रही थी! अबकी बार अगर घण्टी बजी तो मैं उस प्रेरणा की ऐसी मरम्मत करूंगी (शब्दों में बेशक), कि उसे अपनी नानी याद आ जायेगी!

लेकिन सच पूछो तो हमारे इस आधुनिक जीवन में फ़ोन के बिना काम भी तो नहीं चलता। फ़ोन, इण्टरनेट और सेल फ़ोन की वजह से हमारी दुनिया इतनी छोटी हो गई है कि मुट्ठी में समा जाये! खासकर “सेल फ़ोन” हो तो हम दुनिया के किसी भी स्थान से या स्थान को सम्पर्क कर सकते हैं। पहले तो सात समुन्दर पार करके चिट्ठी के आने में कई हफ़्ते लग जाते थे, मगर अब कुछ ही क्षणों में “ई मेल” द्वारा सन्देश पहुंच जाते हैं। आजकल सब कुछ टेलीफ़ोन, इण्टरनेट या सेल फ़ोन पर हो जाता है। रिश्तेदारों और मित्रों से सम्पर्क के अलावा, बड़े-बड़े सौदे भी फ़ोन पर ही निपटा दिये जाते हैं, नीलामी भी फ़ोन पर ही हो जाती है। आम खरीददारी भी फ़ोन से की जा सकती है। वायुयान या गाड़ी के टिकट भी “ऑन लाइन बुकिंग” से हो जाते हैं। किसी शहर में कुछ दिन रहना चाहें तो एक बटन दबाकर होटल का इन्तज़ाम कर सकते हैं। यहां तक कि नौकरियां और शादियां भी इण्टरनेट के द्वारा पक्की हो जाती हैं! लेकिन दुर्भाग्यवश मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि इन अद्भुत अविष्कारों का दुरुपयोग भी किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, मैं अभी हाल ही में किसी पत्रिका में पढ़ रही थी कि इण्टरनेट के “चैटरूम” में घुसकर अजनबियों से दोस्ती की जा सकती है। और जो दुष्ट होते हैं वे इस मौके का फ़ायदा उठाकर घर में घुस आते हैं, और सब कुछ लूटकर, हानि भी पहुंचा जाते हैं। मैंने यह भी पढ़ा है कि बहुत ज़्यादा सेल फ़ोन का इस्तेमाल करें तो सेहत के लिए (खासकर कान के लिए), हानिकारक हो सकता है। और फिर रही बात बच्चों की। पहले तो खुली हवा में खेल कर बच्चे तन्दुरुस्त रहते थे, मगर आजकल के बच्चे स्कूल से लौटते ही टेलिविज़न के सामने बैठ जाते हैं और कार्यक्रम देखते हुए खाना खाते हैं। ध्यान खाने पर तो बिलकुल नहीं होता। मुझे याद है, श्रीमां ने कहा है कि इस तरह सचेत न होकर खाने से शरीर को नुकसान हो सकता है। इसके अलावा बच्चे “वीडियो गेम” खेलने चले जाते हैं। खुली हवा और कसरत के

अभाव के कारण बच्चों में मोटापा बढ़ने लगा है, जो चिन्ता की बात है। आखिर बच्चे ही तो हमारे जगत् का भविष्य हैं। इसलिए आधुनिक तत्त्वों का हमें सावधानी के साथ उपयोग करना चाहिये। केवल आधुनिक का ही नहीं क्योंकि हर एक चीज़ या सृष्टि का विपरीत पक्ष तो होता ही है। दिन होता है तो रात भी होती है, सत्य है तो असत्य भी है, शुभ है तो अशुभ भी खड़ा है। लेकिन जहां तक हो सके हमें सकारात्मक पक्ष में ही रहना चाहिये।....

फ़ोन की घण्टी, फिर एक बार वह मुझे अपने ख्यालों से घसीटकर हकीकत में ले आई। मुझे मालूम था कि वह प्रेरणा ही होगी। लेकिन अब तो मुझे असली प्रेरणा मिल गई थी, लेख खत्म जो हो गया था, सो मेरा पारा भी उतर आया था। मीठे स्वर में मैंने कहा, “हलो?” तो प्रत्याशित जवाब आया, “दीदी, मैं प्रेरणा बोल रही हूं, आपकी पड़ोसन विनीता जी की बहन...” अच्छा तो वह प्रेरणा थी! अचानक मेरा माथा ठनका, मैं तो बिलकुल भूल ही गई थी। मैंने सोचा, माफ़ी तो मुझे मांगनी ही पड़ेगी, बेचारी के साथ अन्याय हुआ था, दो-दो बार फ़ोन मैंने पटक जो दिया था! मैंने कहा, “हां प्रेरणा, बोल क्या कर सकती हूं तेरे लिए?” तो उसने कहा, “दीदी घर पर कोई नहीं है, क्या घर लौटते ही आप दीदी से कह देंगी कि आज रात का खाना मैं अपनी सहेली के साथ खाऊंगी?” बस इतनी-सी बात थी और मैं उस बात का बतंगड़ बनाकर, आग-बबूला होकर उस पर बरस पड़ी थी। इतने में फिर आवाज़ आई, “पता है दीदी मैं कबसे आपका फ़ोन मिलाने की कोशिश कर रही हूं, मगर हर बार ग़लत नम्बर मिल रहा था और एक बदमिज़ाज और गुस्सेवाली औरत मुझे बार-बार कोस रही थी। और यहां आप हैं खुशमिज़ाज और मीठा स्वर लिये। आपसे बात करके अच्छा लगा दीदी... नमस्ते।” यह सुनकर माफ़ी मांगना तो दूर, शर्म के मारे मेरी आवाज़ गले में ही अटकी रही। उस बेचारी को यह बताने की मेरी हिम्मत नहीं हुई कि वह बदमिज़ाज और खुशमिज़ाज, रूखे स्वरवाली और मीठे स्वरवाली दो औरतें नहीं बल्कि एक ही औरत के दो पहलू थे। यह तो वही बात हुई जो मैं अभी कुछ देर पहले कह रही थी कि हर सृष्टि के दो पहलू होते हैं, अच्छे गुण होते हैं तो बुरे भी। मगर हमें अच्छे पर ध्यान देना है। क्योंकि जगत् में अगर परिवर्तन लाना हो तो हमें सबसे पहले अपने अन्दर झांककर, अपने-आपसे परिवर्तन का काम शुरू करना है। है न बात ठीक?

—कनिष्ठा

वक्त के पहलू

(जब तक आश्रम के विद्यालय की विद्यार्थिनी थीं सुरुचि, तब तक ‘नयी कॉपलें’ स्तम्भ को सजाती थीं, अब भूतपूर्व छात्रा के रूप में उनकी यह नवीनतम कृति प्रस्तुत है।—सं.)

कुछ पल ऐसे होते हैं जिन्हें हम महसूस तो कर सकते हैं मगर केवल किसी आहट के ज़रिये। वरना, वे गुज़र गये, इसका हमें ज़रा भी होश नहीं रहता। वह इसलिए कि उस दरमियान हम कहीं खोये थे, किसी और दुनिया में, फिर चाहे वह विचारों की हो, भावनाओं की हो, या फिर एकदम अलग, इस जहां से परे की।

उलटा, कुछ पल ऐसे होते हैं जो काटे नहीं कटते। वे इतने धीरे चलते हैं कि कभी-कभी

लगता है कि वे अपने स्थान पर डटे हैं। बार-बार घड़ी की ओर देखने से भी कोई फ़ायदा नहीं। घड़ी की सुइयां तो जैसे धीमे चलने की प्रतियोगिता में भाग ले रही हों और ऐसा तब लगता है जब हमें उबाऊ कार्य करना पड़े, या फिर जब हमारा अगला कार्य कुछ ज़्यादा ही रोचक हो।

जब मैं विद्यार्थी थी तो मेरा भी इन दोनों किस्मों से ही वास्ता था। मगर, यद्यपि ये दोनों ही प्रमुख हैं, अब मेरा समय से कुछ अलग ही नाता है। जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है, उसके नूतन चेहरे उभरने लगे हैं।

लगभग तीन साल पहले की बात है जब मुझे एक डरावना चेहरा दिखाई दिया। मैं उससे भागती रहती मगर वह मेरा पीछा नहीं छोड़ता था। ऐसा मालूम होता था कि वह मुझे अपने गहरे समन्दर में डुबो देना चाहता हो, और उसकी मौजें मुझसे टकरा-टकराकर मुझे आवाहन दे रही हों, इस इन्तज़ार में कि कब मेरी सहनशक्ति टूटे और कब मैं उनके आगोश में मिट जाऊं। मैं अपने-आपको व्यस्त रखना चाहती थी मगर असमर्थ थी क्योंकि किसी चीज़ के लिए उत्साह न था, कोई तमन्ना न थी, कोई भीनी प्यास न थी, कोई लगन न थी, खुद का आभास ही मानों खोता जा रहा था। सब कुछ जैसे कहीं विलीन होता जा रहा था। रह गये थे सिर्फ़ ढेर सारे पल, और उन पलों में बसने वाले ढेर सारे महत्त्वहीन सवाल, दिल को डसने वाले ढेर सारे खोखले विचार। उन सबसे परिपूर्ण पल तो अक्सर खाली होते हैं।

फिर ज़िन्दगी ने पलटा खाया। अब वक्त मुझसे भागने लगा। व्यस्तता की चोटी पर पहुंच कर मुझे उस खालीपन से तो छुटकारा मिला, पर अब एक अधूरेपन का एहसास हुआ। उस व्यस्तता में खोकर मैं अपना अस्तित्व, अपना लक्ष्य, अपनी उम्मीदें, अपने विश्वास, सबसे दूर होती जा रही थी। मैं जो कभी समय से डरा करती थी, अब कुछ खाली पलों के लिए तरसती थी। वे सवाल, वे विचार, वहीं खड़े थे; मैं ही कुछ कदम अलग रास्ते चली गई थी।

अचानक एक और रुख अपने-आप आ मिला। इससे मैंने दोस्ती कर ली और इसके संग मेरे कदम जुड़ने लगे। अब कोई खालीपन या अधूरापन मुझे परेशान नहीं करता था। मैं इस नये मित्र के साथ अपना पूरा जीवन समर्थ बना सकती थी। उससे मिलने वाले सन्तोष, सुख, आत्मविश्वास मुझे अपने लक्ष्य की तरफ़ उठा रहे थे। गति धीमी थी मगर समय की कमी न थी—उसकी संगति थी।

परन्तु जीवन के हर उस अनोखे सच की तरह, जिसे मनुष्य का दिमाग़ लांघ नहीं पाता, वह मददगार वक्त भी बदल गया और एक अजीब-सा, बंजर भूमि की तरह वीरान, उत्साहहीन और उदासीन पहलू गुज़रा, या फिर मैं कहीं गुज़र रहा है। न कुछ भाता है, न कुछ बुरा लगता है। कोई शिकवा भी नहीं, कोई प्रशंसा भी नहीं—मन में एक शान्ति-सी है और साथ-साथ आने वाले नये पत्रे का इन्तज़ार—हर पत्रे पर एक नयी कहानी, हर कहानी की अपनी ही निशानी, अपना ही सन्देश, नये पात्र, हर पात्र की नयी तस्वीर—शायद इसी को ज़िन्दगी कहते हैं। आखिर, वक्त और ज़िन्दगी एक अटूट डोर से बंधे हैं। क्या एक के बिना दूसरे का अस्तित्व है?

अब रात और दिन में मेरे लिए ज़्यादा फ़र्क़ नहीं। नींद, जो पहले मेरी वफ़ादार सखी हुआ करती थी, और कक्षाओं में या ज़रूरी कार्य करते हुए भी मुझे बख़्शाती न थी, अब न जाने कहां गुम हो गई है। अब इन धुंधले विचारों और सवालों की शृंखलाओं से छुटकारा भी नहीं मिलता। मगर व्यस्त रहने का मन भी नहीं करता। इस बीच अचानक दर्द और बेचैनी के कुछ भयंकर

पलों की झलक भी मिल जाती है जिनका वर्णन भी कष्टदायक है। हां, मगर, जब उनको मात देकर विजय के साथ उभरना सम्भव हो जाता है तो अत्यधिक सुकून प्राप्त होता है।

वह अशकों की लड़ी थी या ख्वाबों का पिघलना?

वह सहमी-सी घड़ी थी या अरमानों का फिसलना?

वह मर्म की पीड़ा थी या हसरतों का जलना?

वह कुछ पलों की क्रीड़ा थी या मुद्दतों का बदलना?

फिर वही सवाल, जैसे कुछ ढूँढती हो निगाह, जैसे कुछ व्यक्त करना चाह रही हो रूह, जैसे कुछ कहना चाह रहे हों लब, मगर सब गुमसुम हैं। खामोशी कुछ तलाश करती है क्या?

शायद, क्योंकि अन्दर, कहीं दूर, एक विश्वास कायम है—एक गहरा विश्वास—कि चाहे जो हो जाये, मनुष्य को वक्त के हाथों दबना नहीं है बल्कि आगे ही आगे बढ़ना है, कि कोई और है जिससे मेरा गहरा रिश्ता है, जो मुझे सही और सच्ची दिशा दिखा रहा है, जो मुझे सम्भाल रहा है, जिसके लिए ही हर जीवन है, हर उद्देश्य है, हर कार्य है।

—सुरुचि वर्मा

हमारी विदुषी बोली

धूप तेज़ थी फिर भी न जाने क्यों मैं बाहर निकल पड़ी। चारों ओर सुनसान वातावरण था। उस निस्तब्धता में एक बड़ी दयनीय कराह सुनायी दी। मैंने इधर देखा, उधर देखा। कोई मनुष्य, पशु या पक्षी कहीं आस-पास न दिखायी दिया। आखिर मेरी नज़र कदम्ब के नीचे एक अधमरे-से पौधे पर जाकर टिक गयी।

मुझे लगा कि आम का यह नन्हा-सा बिरुआ प्यास के मारे दम तोड़ रहा है। मैंने निश्चय कर लिया कि इसकी जान बचाऊंगी। शायद माली ने अनजाने इसकी कमर तोड़ दी थी। मैंने बड़े जतन से उसे पानी पिलाया, स्नान कराया और उसके पास बैठी उसकी ओर देखती रही।

सूर्य भगवान् अस्ताचल के पीछे जा छिपे और नीलाकाश में चन्द्रमा विराजमान हो गया। सारी पृथ्वी पर शान्ति छायी हुई थी। लगता था सभी सो गये हैं, बस मेरी आंखों में निंदिया जाग रही थी। इसके बाद जो मैंने देखा तो अपने-आपको बगीचे में पाया। मैंने किसी चमत्कार की आशा की थी, पर यह क्या? पौधा जैसा-का-वैसा ही था। मैं कुछ-कुछ निराश हो उठी।

“तुम सोचती हो कि पौधे के लिए केवल पानी ही काफ़ी है? उसे और किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं?” कहीं से आवाज़ आयी।

सचमुच मैंने उसे खाली जल से सींचा था, प्रेम से नहीं। अगली बार पानी छिड़कते हुए मैं पौधे पर स्नेह की वर्षा करती जा रही थी। वह मुझे अपना आत्मीय लग रहा था। मैं उसके साथ कष्ट सह रही थी और वह मेरे साथ स्वस्थ हो रहा था।

मैंने बड़े भावभीने शब्दों में कहा : “पौधे, क्या तू अपने जीवन से इतनी जल्दी ऊब गया है? तेरे अन्दर और जीने की इच्छा नहीं रही? तू धरती माता के पास बीज के रूप में आया था, सूर्य ने तुझे अपनी सुनहरी रोशनी से नहलाया, शीतल मन्द पवन ने दिन-रात तुझे सहलाया,

माली ने जल से सींचा और धरती माता तुझे अपने गर्भ में छिपाये रही। क्या इन सबके प्रति तेरा कोई दायित्व नहीं है?

“तू अपने मित्रों को कुछ दिये बिना, यूँ ही मुंह मोड़ लेगा? जानता है, तेरे अन्दर कदम्ब से भी बड़ा वृक्ष बनने की क्षमता है? तू अभी नन्हा-मुन्ना ही तो है। तुझे मालूम नहीं तेरे फल फलों के राजा कहलायेंगे।

“मेरा संकल्प है कि तुझे मरने न दूंगी, लेकिन तेरी सहायता के बिना इसका कुछ भी मूल्य नहीं। तेरी जीने की दृढ़ इच्छा हो तभी मेरा संकल्प कुछ कर सकता है। देख, मुझे धोखा न देना।”

अगले दिन पौधे को देखकर मेरा दिल खुशी से नाच उठा। अचानक उसमें नयी जान आ गयी थी। उसने मेरी भाषा समझ ली थी और हम दोनों में सहयोग शुरू हो गया था। पूरी सद्भावना के साथ, सचाई से प्रयत्न किया जाये तो ऊपर से वरदान मिलते देर नहीं लगती।

प्रेम के बारे में

यह कहा जाता है कि : “भागवत प्रेम के विषय में सज्ञान होने के लिए अन्य सभी प्रेमों का त्याग कर देना पड़ता है।” अन्य प्रेमों को, जो इतने हठपूर्वक (हंसी) चिपके रहते हैं और आसानी से हमें नहीं छोड़ते, त्याग देने का सर्वोत्तम उपाय क्या है?

परीक्षण करना, आह!

परीक्षण करना, यह देखना कि उसके पीछे क्या है, बाह्य रूप पर ही ठहर न जाना, बाहरी रूप से ही सन्तुष्ट न हो जाना, उस तत्त्व की खोज करना जो इस प्रेम के पीछे विद्यमान है, और तबतक तृप्त न होना जबतक कि मनुष्य इस मनोभाव के स्वयं मूल को ही न पा जाये। फिर तो बाहरी रूप अपने-आप छिन्न-भिन्न हो जायेगा और तुम्हारा सम्पर्क भागवत प्रेम के साथ हो जायेगा जो समस्त वस्तुओं के पीछे विद्यमान है।

यही है सर्वोत्तम उपाय।

दूसरे को पाने के लिए एक से छुटकारा पाने की इच्छा करना बहुत कठिन है। यह लगभग असम्भव है। कारण, मानव-प्रकृति इतनी सीमित, विरोधों से इतनी भरी हुई है और अपनी क्रियाओं में इतनी अनन्य है कि अगर कोई प्रेम को, उसके निम्नतर रूप अर्थात् मानव-प्रेम को, जैसा कि लोग उसे अनुभव करते हैं, त्यागना चाहे, यदि उसे त्यागने का आन्तरिक प्रयत्न करे तो साधारणतः वह प्रेम को अनुभव करने की सारी क्षमता को ही छोड़ बैठता है और पथर जैसा बन जाता है। और तब कभी-कभी अपने अन्दर प्रेम को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने की क्षमता को फिर से जगाने के लिए उसे वर्षों या शताब्दियों प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

फलतः सर्वोत्तम पथ यह है कि जब प्रेम आये, चाहे जिस किसी रूप में वह आये, उसे भेदने की कोशिश की जाये और उसके बाह्य रूप के भीतर पैठकर उस दिव्य तत्त्व को खोजा जाये जो उसके पीछे है और जिसके कारण उसकी सत्ता है। स्वभावतः, यह जालों और कठिनाइयों

प्रति

दम्ब

कल

तूल्य

न

आ

पूरी

ती।

में

हैं

हरी

और

फेर

हो

भग

नी

को,

करे

थर

रने

उसे

जा

यों

से भरा हुआ है, पर यह है अधिक फलदायी। मतलब, प्रेम करना बन्द करने के स्थान पर, चूँकि मनुष्य गलत रूप में प्रेम करता है, उसे गलत रूप में प्रेम करना बन्द करना होगा और अच्छे ढंग से प्रेम करने की इच्छा करनी होगी। उदाहरणार्थ, मानव-सत्ताओं के बीच का प्रेम, अपने सभी रूपों में, अपने बच्चों के लिए माता-पिता का, माता-पिता के प्रति बच्चों का, भाइयों और बहनों का, मित्रों और प्रेमियों का प्रेम पूरी तरह अज्ञान, स्वार्थपरता और दूसरे दोषों से, जो मनुष्य की सामान्य कमियाँ हैं, दूषित होता है; अतएव पूरी तरह प्रेम करना बन्द कर देने की जगह—जो, बहुत कठिन भी है जैसा कि श्रीअरविन्द कहते हैं; जो महज हृदय को सुखा देगा और उससे कोई लाभ नहीं होगा—हमें यह सीखना होगा कि किस प्रकार अधिक अच्छे रूप में प्रेम किया जाता है : भक्ति के साथ, आत्म-दान, आत्म-त्याग के साथ प्रेम करना, और संघर्ष करना, स्वयं प्रेम के विरुद्ध नहीं, बल्कि उसके विकृत रूपों के विरुद्ध, : स्वयं अपने लिए ही झपटने के, आसक्ति, अधिकार, ईर्ष्या के सभी रूपों के विरुद्ध, और समस्त भावनाओं के विरुद्ध, जो इन मुख्य वस्तुओं के साथ लगी रहती हैं। अधिकार करने और आधिपत्य जमाने की कामना न करना; और अपनी इच्छा, अपनी सनकें और अपनी कामनाएं लादने की चाह न करना; लेने की, पाने की इच्छा नहीं, बल्कि देने की इच्छा करना : दूसरे के प्रत्युत्तर पर आग्रह न करना, वरन् अपने निजी प्रेम से ही सन्तुष्ट रहना; अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सुख की तथा अपनी व्यक्तिगत कामना की पूर्ति की चेष्टा न करना, बल्कि अपना प्रेम और स्नेह देने से ही तृप्त रहना; और प्रत्युत्तर की मांग न करना। मात्र प्रेम करने से ही प्रसन्न रहना, उससे अधिक कुछ नहीं।

यदि कोई ऐसा करे तो वह एक बहुत बड़ा कदम उठाता है और वह, इस मनोभाव के द्वारा धीरे-धीरे, स्वयं इस भावना के अन्दर ही और आगे बढ़ सकता है, और एक दिन यह अनुभव प्राप्त कर सकता है कि प्रेम कोई व्यक्तिगत वस्तु नहीं है; प्रेम एक विश्वव्यापी दिव्य भावना है जो तुम्हारे अन्दर कम या अधिक उत्तम ढंग से अभिव्यक्त होती है, पर जो अपने सार-तत्त्व में एक दिव्य वस्तु है।

पहला पग है स्वार्थी होना बन्द कर देना। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यही बात है, केवल उन लोगों के लिए ही नहीं जो योग करना चाहते हैं बल्कि उन लोगों के लिए भी जो साधारण जीवन में हैं : यदि कोई यह जानना चाहे कि कैसे प्रेम करना चाहिये तो उसे सबसे पहले अपने-आपसे प्रेम नहीं करना चाहिये, और सबसे बढ़कर स्वार्थपरता के साथ प्रेम नहीं करना चाहिये; बदले में कोई चीज ज़बर्दस्ती वसूल किये बिना अपने प्रेम-पात्र के प्रति अपने-आपको अर्पण कर देना चाहिये। यह अपने-आपसे ऊपर उठने के लिए और ऐसा जीवन यापन करने के लिए प्रारम्भिक साधना है जो पूरी तरह स्थूल नहीं है।

*

हर बार जब कोई व्यक्ति उस संकीर्ण सीमा को तोड़ता है जिसमें उसके अहं ने उसे बन्द कर रखा है, जैसे ही वह आत्म-दान के कारण खुली हवा में उठता है, वह चाहे किसी और मनुष्य के लिए हो या परिवार या देश या अपने श्रद्धा-विश्वास के लिए, उसे इस आत्म-विस्मृति के अन्दर प्रेम के अद्भुत आनन्द का पूर्ण रस प्राप्त होता है और इससे उसे ऐसा लगता है कि

वह भगवान् के सम्पर्क में आ गया है। लेकिन बहुधा यह क्षणिक सम्पर्क होता है, क्योंकि मनुष्यों में प्रेम तुरन्त अहंकारपूर्ण निम्न गतियों में मिल जाता है जो उसे बदरंग बना देती हैं और उसकी पवित्रता की सारी शक्ति को दूर कर देती हैं।

*

... ये सब अनुभूतियां उस सामान्य मनुष्य के लिए बहुत अच्छी और उपयोगी हैं जो सामान्य पथ पर भावी ऐक्य के लक्ष्य की ओर डिगते पैरों से बढ़ती गयी प्रकृति का अनुसरण करता है, लेकिन इनसे उन लोगों को सन्तोष नहीं हो सकता जो गति को तेज़ करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो ये उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं जो किसी और धारा का, अधिक सीधी और अधिक तेज़ धारा का अनुसरण करना चाहते हैं, जो उन्हें सामान्य मानव प्रकृति और उसकी अनन्त यात्रा से मुक्त कर दे, जो उन्हें आध्यात्मिक प्रगति में भाग लेने योग्य बना दे, जो उन्हें द्रुत मार्ग से उस नयी जाति की सृष्टि की ओर ले जाये जो धरती पर अतिमानसिक सत्य को अभिव्यक्त करेगी। इन विशिष्ट आत्माओं को मनुष्य-मनुष्य के बीच सारे प्रेम का त्याग करना होगा, क्योंकि वह चाहे कितना भी सुन्दर और पवित्र क्यों न हो, वह एक प्रकार से लघु परिपथ (शार्ट सर्किट) बना देता है और भगवान् के साथ सीधे सम्बन्ध को काट देता है।...

और फिर, यह जानी हुई बात है कि तुम जिससे प्रेम करते हो उसी के जैसे बनते जाते हो। अगर तुम भगवान्-जैसा बनना चाहो तो तुम्हें केवल उन्हीं से प्रेम करना चाहिये। जिसने भगवान् के सायुज्य के आनन्द का अनुभव किया है वही जान सकता है कि बाकी सारा प्रेम उसकी तुलना में कितना नीरस, मन्द और शक्तिहीन होता है।...

हम धरती पर इस अद्भुत स्थिति को चरितार्थ करना चाहते हैं। यही धरती का रूपान्तर करके उसे भागवत सत्ता के योग्य आवास बनायेगी। तब सच्चा और विशुद्ध प्रेम एक ऐसे शरीर में अवतार लेगा जो उसके लिए आवरण या छद्मरूप न रहेगा।...

... मनुष्य शुरू में धुंधले रूप में, लेकिन जैसे-जैसे वह पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ज़्यादा स्पष्ट रूप में यह जानने लगता है कि केवल प्रेम ही संसार के दुःख-कष्ट का अन्त ला सकता है; प्रेम का अनिर्वचनीय आनन्द ही, अपने सार-तत्त्व में, संसार से बिछोह की जलती हुई पीड़ा को दूर कर सकता है। क्योंकि परम ऐक्य के आनन्द में ही सृष्टि को अपने अस्तित्व का हेतु और उसकी चरितार्थता प्राप्त हो सकती है।

इसलिए कोई भी प्रयास बहुत कठिन नहीं है, कोई तपस्या बहुत कठोर नहीं है अगर वह भौतिक तत्त्व को इतना प्रकाशित, शुद्ध, पूर्ण और रूपान्तरित कर सके कि भगवान् जब उसमें रूप धारण करें तो वह उन्हें छिपा न पाये। तब वह अद्भुत प्रेम अपने-आपको इस जगत् में प्रकट कर सकेगा, इस भागवत प्रेम में ही जीवन को मधुर आनन्द के स्वर्ग में बदलने की क्षमता है।...

चूँकि हमने यह निश्चय कर लिया है कि पूर्ण वैभवमय प्रेम को भगवान् के साथ अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध के लिए सुरक्षित रखें, इसलिए औरों के साथ अपने सम्बन्ध में प्रेम की जगह एक पूर्ण अपरिवर्तनशील, स्थायी और अहंकारशून्य शुभ कामना और सद्भावना रखेंगे जो बदले में किसी पुरस्कार, कृतज्ञता या मान्यता की भी आशा न करेगी। दूसरे तुम्हारे साथ चाहे

जैसा व्यवहार करें, तुम अपने-आपको किसी मनोमालिन्य या नाराज़गी में न बहने दोगे।...

संक्षेप में, भाव की तपस्या में सब प्रकार की भाव-सम्बन्धी आसक्ति का त्याग आता है, वह चाहे किसी प्रकार का क्यों न हो, चाहे किसी व्यक्ति के लिए हो, परिवार के लिए हो, देश के लिए हो या किसी और चीज़ के लिए हो। और इस त्याग के साथ भगवान् के लिए अनन्य रूप से आसक्ति होनी चाहिये। इस एकाग्रता की पूर्णाहुति होगी सर्वांगीण तादात्म्य में, और यह धरती पर अतिमानसिक उपलब्धि के लिए यन्त्र-रूप होगी।

*

तुममें से प्रत्येक व्यक्ति को अपने निजी चैत्य पुरुष के सम्पर्क में आना चाहिये, वह कोई दुष्प्राप्य वस्तु नहीं है। तुम्हारा चैत्य पुरुष ठीक इसीलिए है कि वह तुम्हें दिव्य शक्तियों के सम्पर्क में ला दे। और, यदि तुम अपने चैत्य पुरुष के सम्पर्क में होओ तो तुम यह अनुभव करना, एक प्रकार का बोध प्राप्त करना आरम्भ कर देते हो कि दिव्य 'प्रेम' कैसा हो सकता है। जैसा कि हमने ठीक अभी कहा है : यह पर्याप्त नहीं है कि तुम एक दिन सवेरे यह कहते हुए जगो, "ओह ! मैं दिव्य 'प्रेम' के सम्पर्क में आना चाहता हूं," यह चीज़ ऐसी नहीं है। यदि, सतत प्रयास, गभीर एकाग्रता, आत्यन्तिक आत्मविस्मरण के द्वारा, तुम अपने चैत्य पुरुष के सम्पर्क में आने में सफल होओ, तुम कभी यह सोचने का स्वप्न नहीं देखोगे कि "ओह ! मैं दिव्य 'प्रेम' के सम्पर्क में आना चाहता हूं"—तब तुम एक ऐसी स्थिति में होओगे जिसमें तुम्हें ऐसा लगेगा कि प्रत्येक वस्तु ही यह दिव्य 'प्रेम' है, इसके सिवा और कुछ है ही नहीं। और फिर भी यह केवल एक आच्छादन है, पर एक ऐसा आच्छादन जिसकी बुनावट अत्यन्त सुन्दर है।

तो, चैत्य पुरुष से पृथक् करके दिव्य प्रेम को खोजने और जानने की आवश्यकता नहीं है ?

नहीं, अपने चैत्य पुरुष को प्राप्त करो और तुम समझ जाओगे कि दिव्य 'प्रेम' क्या है। सीधे दिव्य प्रेम के सम्पर्क में आने की कोशिश मत करो, क्योंकि ऐसा करने का मतलब फिर से यही होगा कि प्राणिक कामना तुम्हें परिचालित कर रही है; तुम सम्भवतः उसके विषय में सचेतन नहीं होओगे, पर वह होगी प्राणिक कामना ही।

तुम्हें अपने चैत्य पुरुष के साथ सम्पर्क स्थापित करने का, उसकी चेतना में सज्ञान और मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये, और तब, बिल्कुल स्वाभाविक रूप में, अपने-आप तुम यह जान जाओगे कि भागवत प्रेम क्या वस्तु है।

*

निष्काम, निःस्वार्थ क्रिया संसार में चैत्य चेतना के सबसे सुन्दर रूपों में से है, लेकिन व्यक्ति मानसिक क्रिया-कलाप की सीढ़ी पर जितना ही उठता जाता है, यह क्रिया उतनी ही विरल होती जाती है। क्योंकि बुद्धि के साथ ही आते हैं कौशल और चालाकियां, भ्रष्टाचार और हिसाब-किताब। उदाहरण के लिए, जब एक गुलाब खिलता है तो वह सहज रूप में खिलता है,

केवल सुन्दर होने के आनन्द के लिए, सुगन्ध देने, जीवन के आनन्द को अभिव्यक्त करने के लिए खिलता है। वह हिसाब-किताब नहीं करता, उसे इस सबसे कोई लाभ नहीं उठाना होता। वह यह सब होने के, जीने के आनन्द में करता है। मनुष्य को लो, कुछ थोड़े-से अपवादों को छोड़कर, जैसे ही उसका मन सक्रिय होता है वह अपनी सुन्दरता और चालाकी से लाभ उठाना चाहता है; वह उससे कुछ प्राप्त करना चाहता है, लोगों की प्रशंसा या इससे कहीं अधिक धिनौनी चीज़ पाना चाहता है। फलतः, चैत्य-दृष्टि से गुलाब मनुष्य से ज़्यादा अच्छा है।

हां, यदि तुम सीढ़ी पर और ऊंचे चढ़ो और गुलाब जिस चीज़ को अचेतन अवस्था में करता है, उसी को सचेतन रूप से करो, तो यह बहुत ज़्यादा सुन्दर होगा। लेकिन चीज़ वही होनी चाहिये : सौन्दर्य का निष्काम, सहज रूप में खिलना, शुद्ध रूप से सत्ता के आनन्द के लिए।... यह उनके प्रेम का रूप है, इस तरह खिलना। निश्चय ही, जब तुम किसी गुलाब को सूर्य की ओर खिलते देखते हो तो यह अपना सौन्दर्य देने की आवश्यकता के समान है।

... इस सबके द्वारा एक महान् शक्ति काम करती है—महान् विश्व-चेतना और विश्व-प्रेम की महान् शक्ति जो सभी चीज़ों को सौन्दर्य में प्रस्फुटित करती है।

—श्रीमां

‘नयी कौपलें’ :

एक अधूरी कला

बचपन में मुझे चित्रकारी में बहुत रुचि थी। पुस्तकें पढ़ने में या फिर गाने सुनने में मुझे उतना मज़ा नहीं आता था जितना मुझे चित्र बनाने में आता था। आप सोच रहे होंगे कि शायद मैं एक कलाकार हूँ, मगर यह सच नहीं है। मेरे दोस्त मेरा मज़ाक उड़ाते थे और मेरे चित्रों को देखकर खूब हंसते थे, लेकिन मुझे इस बात का बुरा नहीं लगता था। खासकर मुझे चेहरों के चित्र बनाने में बहुत मज़ा आता था। यह अलग बात है कि समाप्त करने के बाद, वह चित्र असली चेहरे से कभी नहीं मिलता था। खुद को सन्तुष्टि देने के लिए मैं कई सारी समानताएं ढूँढ़ पाती थी मगर दूसरों से यह बिलकुल उम्मीद नहीं कर सकती थी।

मैं इस कला से मुंह मोड़ना ही चाह रही थी कि मेरी बहन ने मुझे इसे न छोड़ने पर मजबूर कर दिया। वह तकरीबन आठ साल की थी और उसे मेरी हर बात पसन्द थी। अब की बात कुछ और है, लेकिन तब वह मेरी हर बात मानती थी और मेरे जैसा बनना चाहती थी। मेरी चित्रकारी कितनी भी बुरी क्यों न हो, लेकिन वह हमेशा मेरी प्रशंसा करती थी। यह स्वाभाविक है कि मेरे माता-पिता भी मेरे चित्र को देखकर मेरी तारीफ़ करते थे। आज जब मैं अपने उन चित्रों को देखती हूँ, तो मुझे बचपन के वे सुनहरे पल याद आते हैं और मैं अपनी अधूरी कला के बारे में सोचकर खूब हंסती हूँ।

—सुनयना

नीरदबरन

श्रीअरविन्द आश्रम के वरिष्ठ समर्पित साधक नीरदबरन ने १७ जुलाई २००६ को हम सबसे हमेशा के लिए विदा ले ली। इनका जन्म १७ नवम्बर १९०३ को हुआ था। अपने गुरु श्रीअरविन्द के अन्तर्दर्शन के समर्थ व्याख्याता नीरद दा १९३८ से १९५०—बारह वर्षों तक—गुरु के व्यक्तिगत परिचारक रहे। एडिनबर्ग—लन्दन से शिक्षा-प्राप्त नीरद दा ने डॉक्टरी की परीक्षा पास की थी, आश्रम के भी वे चिकित्सक रह चुके थे, साथ ही उनका जीवन गुरु को समर्पित एक जीती-जागती मिसाल था, गुरु ने ही उनके अन्दर के कवि को जगाया।

श्रीअरविन्द के साथ नीरद दा के विशेष सम्बन्ध के बारे में हम नीरद दा की ही कृति से उद्धृत कर सकते हैं: “जब हम श्रीअरविन्द के पैर की हड्डी टूटने के बाद उनकी सेवा में निरत रहते थे, एक दिन श्रीमां कमरे में आयीं और उन्होंने एक अन्तर्दर्शन देखा कि श्रीअरविन्द और मैं एक बिस्तर पर दो शिशुओं की तरह आपस में खेल रहे थे।” कितना सुन्दर अन्तर्दर्शन!

नीरदबरन की प्रमुख कृतियां—१—Correspondence with Sri Aurobindo, २—Twelve Years with Sri Aurobindo, ३—Sri Aurobindo for All Ages, ४—Memorable Contact with the Mother. ये तथा कुछ अन्य पुस्तकें योगाभ्यास करने वालों के लिए अत्युत्तम पथ-प्रदर्शक हैं जो जिज्ञासुओं को श्रीअरविन्द तथा श्रीमां के योग की गभीरता में प्रवेश कराने के साथ-साथ जीवन और साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर भी प्रकाश डालती हैं।

नीरद दा को हमारी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि!

*

नीरद दा के देहावसान पर आश्रम के वरिष्ठ साधक अमल किरण (के. डी. सेठना) ने कहा : मेरे अभिन्न मित्र ने १७.७.०६ को शाम के ७ बजकर ५० मिनट पर शरीर छोड़ दिया। वे अपने पीछे चिरकालिक मैत्री की गहरी स्मृतियां छोड़ गये हैं। मैं उनके प्रति बहुत सुखद और गभीर अनुभवों का आभारी हूं।

—अमल किरण

१८-७-०६

‘गैर्वाणी’ :

बच्चों के संग...

(खेद है कि किन्हीं अपरिहार्य कारणों की वजह से हम इस अंक में गैर्वाणी का संस्कृत-रूपान्तर नहीं दे पाये।—सं.)

बच्चो, इस महीने भी ‘गैर्वाणी’ स्तम्भ ने तुम्हारे लिए सुन्दर मनके पिरोये हैं। जहां चप्पा-चप्पा बेइंसाफी, धोखाधड़ी, लूट-मार की वारदातें देखने-सुनने में आती हैं, जहां कभी-कभी भगवान् का भी इंसान से विश्वास उठता-सा जान पड़ता है, वहां ऐसे छोटे-छोटे खूबसूरत किस्से

चिलचिलाती धूप में ठण्डी बयार और शीतल बौछार से लगते हैं।

तो आओ सुनो, सबसे पहले उस छोटे बच्चे की कहानी जो भगवान् से मिलना चाहता था। नील था तो मुश्किल से छह साल का लेकिन उसकी योजनाएं बड़ों के जैसी हुआ करती थीं; क्या तुम लोगों ने कभी भगवान् से मिलने की कोशिश की है? नील ने तो उनसे मिलने का कार्यक्रम ही बना लिया। घर, बाहर बात-बात पर लोग भगवान् की दुहाई दिया करते थे, मां ने तो उससे कई बार कहा भी था कि भगवान् को ढूंढने कोई स्वर्ग तक थोड़े ही जाना होता है, वे हमारे बहुत पास होते हैं, कहीं भी मिल सकते हैं। एक बार तो यह भी कहा था उन्होंने कि सबके अन्दर भगवान् रहते हैं, ज़रा अन्दर झांको, मिल जायेंगे। लेकिन नील को यह विचार बहुत पसन्द न आया; कहां झांके, कैसे झांके? तो एक दिन उसने उन्हें अपने मोहल्ले में ही ढूंढने की ठान ली। गर्मी की छुट्टियों का पहला दिन था। 'शुभस्य शीघ्रम्'—उसी दिन नील ने अपना छोटा सफ़री थैला उठाया, कुछ मीठी डबलरोटियां लीं, सूखा मेवा रखा और साथ-साथ कुछ फल भी डाल लिये—अगर मोहल्ले से कुछ दूर निकलना पड़े तो? सोचकर नील ने खाना-पीना संग रख लिया।

मां को उसने अपनी यात्रा की बात पहले ही बतला दी थी। जूते-मोज़े पहन, टोपी लगा, अपना थैला कन्धे पर टांग, वह मां के पास आया तो वे उसे निहारती ही रह गयीं। "मां, मैं ज़रा भगवान् से मिलकर आया। सवेरे-सवेरे तो कहीं आस-पास ही मिल जायेंगे।"

मां ने उसे गोदी में उठाकर चूमते हुए कहा, "वाह मेरे छोटे कोलम्बस! लेकिन कहीं दूर न निकल जाना, ठीक है?"

नील ने हामी भर ली, "ठीक है मां, आज नहीं मिले तो कल तुम्हारे साथ दूर जाकर ढूंढूंगा।

मां ने बेटे की बलैयां लीं और वह नन्हा अन्वेषक अपने अभियान पर निकल पड़ा।

दस मिनट की पैदल यात्रा तय कर वह अपने घर से तीन सड़क दूर पार्क के सामने आ पहुंचा। नील को भूख और प्यास सताने लगीं। "कुछ खा-पीकर आगे बढ़ूंगा।" सोचकर वह पास ही की बेंच पर सुस्ताने के लिए बैठ गया, थैला खोला, डबलरोटी निकाल कर पहला गस्सा लेने ही वाला था कि उसकी नज़र सामने की बेंच पर बैठी एक बूढ़ी गरीब स्त्री पर चली गयी। दोनों एक-दूसरे की तरफ देखकर अनायास मुस्कुरा उठे। नील अपना सामान उठा उसी के पास जाकर बैठ गया, उसे डबलरोटी दी, स्त्री ने कृतज्ञता-भरी आंखों से ले ली और ऐसी सुन्दर मुस्कान बिखेरी कि नील मुग्ध हो गया। दोनों चुपचाप खाते रहे। डबलरोटी के बाद सूखा मेवा, फल इत्यादि बारी-बारी से निकले और बालक और वृद्धा दोनों ही आत्म-सन्तोष से भरे हुए धीमे-धीमे खाते रहे। दोनों के बीच बातचीत नहीं के बराबर हुई, केवल मुस्कानों के दौर ही चलते रहे। धीरे-धीरे करके सारा खाना खतम हो गया। भरे पेट का सन्तोष दोनों के चेहरों पर खिल उठा। दोपहर का सूरज चढ़ रहा था। नील को अचानक महसूस हुआ कि मां को न देखे काफ़ी समय गुज़र गया है, उसे मां की याद सताने लगी। वह उठा, वृद्धा भी साथ-साथ उठी, दोनों ने अभिवादन किया और नील घर की ओर बढ़ चला। चार कदम चलने के बाद पलट कर उसने वृद्धा को देखा, और उसके चेहरे पर छायी उस अपूर्व मुस्कान से नील गद्गद हो उठा, दौड़ कर वृद्धा से जा लिपटा और दोनों चुपचाप कुछ क्षणों तक उसी तरह आलिंगनबद्ध रहे। न नील को कुछ कहने की ज़रूरत जान पड़ी, न वृद्धा को, बस दोनों की आंखों की चमक ही आपस में बोली थी।

खुशी से झूमता नील घर पहुंचा। सभी उसे इतना खुश देख प्रसन्न हो उठे। मां ने पूछा—
“वाह बेटे कोलम्बस, कुछ हाथ लग गया क्या? तुम्हारा खिला हुआ चेहरा तो इस बात की गवाही दे रहा है...।”

“अरे सुनो तो मां, मुझे भगवान् मिल गये। अभी-अभी मैं उन्हीं के साथ ही तो नाश्ता करके आ रहा हूं। वे एक बूढ़ी, गरीब स्त्री बनकर मुझसे मिलने, पार्क में आकर बैठ गये थे। तुम्हीं तो कहा करती हो न कि वे कोई भी रूप ले सकते हैं।” नील बोलता गया—“अब पूछोगी, कैसे पहचाना मैंने उन्हें? पहचाना उनकी मुस्कान से—मां, हम आपस में कुछ बोले तो नहीं लेकिन वे बार-बार मुझे देख मुस्कुरा रही थीं, जब-जब मुस्कुरातीं, चारों तरफ एक रौशनी फैलती जाती...। मां, भगवान् से ही मिला न मैं?” बच्चे ने मां से अपनी बात की पुष्टि करवानी चाही। मां ने उसे अपने सीने से लगा कर कहा—“बिलकुल बेटा, उन्हीं से मिल कर, उन्हीं के साथ नाश्ता करके आये हो तुम।” फिर धीरे से उसके कान में फुसफुसायीं—“बेटे, अब राज़ की यह बात गांठ बांध लो कि भगवान् अपनी इस दुनिया से इतना प्यार करते हैं कि सचमुच वे यहीं बस गये हैं और उन्हें देखने और अनुभव करने के लिए बस हमें अपनी इन आंखों को सजग रखना और अपने हृदय को पूरी तरह से खुला रखना होता है।”

उधर वह वृद्धा जब अपने घर पहुंची तो उसका बेटा उसे देख ठगा-सा खड़ा रह गया—
“मां, क्या बात है, हमेशा परेशानी और दुःख से लटका तुम्हारा चेहरा आज अपूर्व कान्ति और शान्ति से दमक कैसे रहा है? कितनी सुन्दर लग रही हो आज तुम।”

वृद्धा अपने पुत्र का हाथ थाम खुशी से चहक उठी—“पता है बेटे, आज सचमुच मैं भगवान् के साथ नाश्ता करके आ रही हूं। जीवन में ऐसी खुशी मुझे पहली बार मिली।” बेटे की फटी-फटी आंखें प्रश्नचिह्न बन गयीं। मां ने अपनी बात जारी रखी, “पार्क की बेंच पर मेरे साथ आकर बैठ गया था वह, हां, मैंने जितना सोचा था उससे कहीं ज्यादा छोटा निकला ईश्वर। कितनी सरलता से बच्चे के रूप में आया, मेरे पास बैठकर, नाश्ता कर चला गया।”

*
**

यह घटना मेरे दोस्त पॉल के साथ घटी थी। आइये उसी के शब्दों में सुनें—

क्रिसमस के त्योहार के दो दिन पहले जब मेरे हाथों में बड़े भाई ने नयी गाड़ी की चाबी थमायी तो क्या आप मेरी खुशी का अन्दाज़ा लगा सकते हैं? नहीं लगा सकते न? मेरे सामने तो खुशी का अपार सागर लहराने लगा, लगा मानों भगवान् ने गाड़ी क्या पंख लगा दिए हों मेरे कन्धों पर, जहां चाहूं, जब चाहूं उड़ने लगूं।

क्रिसमस की पूर्व-सन्ध्या अपनी गाड़ी पर सवार निकल पड़ा मैं क्रिसमस की रौनक, रेलपेल देखने, परिवारवालों के लिए सौगात खरीदने। उपहार खरीद कर एक दुकान से निकलते ही मेरी नज़र उस बच्चे पर पड़ी जो मेरी नयी, चमचमाती गाड़ी को अहोभाव से कभी इधर तो कभी उधर से निहारे ही चला जा रहा था। मैं प्रसन्न हो उठा—“बच्चा, बच्चा मेरी गाड़ी को सराह रहा है! मैं चुपचाप गाड़ी के पास जाकर खड़ा हो गया, बच्चे की नज़र मुझ पर पड़ते ही उसका उत्सुक स्वर फूट पड़ा—“जी, यह गाड़ी आपकी है?” “हां, मेरी ही है, मेरे बड़े भाई ने मुझे

क्रिसमस पर उपहार में दी।" मैंने मुस्कुरा कर कहा। पल भर के लिए वह कहीं खो गया, ज़रूर सोच रहा होगा—"मेरा भी ऐसा कोई बड़ा भाई होता!" लेकिन उसने जो कहा उससे मैं चौंक उठा—"काश! मैं भी अपने छोटे भाई को ऐसा उपहार दे पाता!" मैंने देखा, बच्चा मुश्किल से आठ साल का होगा, और अभी से अपने छोटे भाई के प्रति ज़िम्मेदारी और प्यार की ऐसी भावना! वह गरीब बच्चा मुझे बेहद प्यारा लगने लगा। मैंने पूछा, "क्या तुम मेरी गाड़ी में बैठकर छोटी-सी सैर करना चाहोगे?" "क्या सचमुच आप मुझे बिठायेंगे?" आश्चर्य की चमक से उसकी आंखें झिलमिलाने लगीं, खुशी से वह मेरा हाथ पकड़कर कूदने लगा। गाड़ी में बैठते ही वह मुझे बोला—"मेरा घर पास ही है, क्या आप घर के सामने से मुझे ले चलेंगे?" मैं मन ही मन मुस्कुराया... "ज़रूर अपने मोहल्लेवालों पर अपनी कुछ धाक जमाना चाहता है कि देखो, कितनी बड़ी, नयी, चमचमाती गाड़ी में बैठा हूं मैं!" लेकिन एक बार फिर मेरी सोच एकदम से ग़लत निकली। नुककड़ पर अपना घर दिखाते हुए वह बोला, "उन सीढ़ियों के पास ज़रा रुक सकेंगे क्या? वहीं ऊपर है मेरा घर।" "ओह, अपने परिवारवालों को बुलाकर दिखाना चाहता है यह बच्चा!" मैं मन ही मन बहुत खुश हो रहा था, अपने-आपको शाबाशी भी दे रहा था कि बच्चे का मन रखने के लिए तुम यह बहुत अच्छा काम कर रहे हो। वह चार-चार सीढ़ियां लांघता आंखों से ओझल हो गया। कुछ समय बाद दरवाज़ा खोलकर निकला, बहुत आहिस्ता-आहिस्ता ज़ीना उतरने लगा, अरे हाथ में क्या है इसके? मैं चौंका! अपने हाथ में थामे था वह एक छोटे विकलांग बच्चे को। तो यही है इसका छोटा भाई! मेरा हृदय भर आया। मैं कुछ दूर दर्शक बना खड़ा रहा। ज़ीने की अन्तिम सीढ़ी पर धीरे से बैठकर उसने अपने भाई को सीने से और भी चिपकाते हुए, उंगली के इशारे से बताया—"भाई, इसी गाड़ी की बात मैं ऊपर तुमसे कर रहा था। देखो न, किती सुन्दर है, किती चमक रही है।" फिर मेरी तरफ इशारा करते हुए बोला, "जानते हो, इनके भाई ने इन्हें दी, इनके कोई पैसे नहीं लगे। भाई, एक दिन मैं भी तुम्हें क्रिसमस पर ऐसी ही गाड़ी खरीद कर दूंगा, ताकि तुम क्रिसमस का वह सारा ताम-झाम खुद अपनी आंखों से देख कर उसका भरपूर आनन्द उठा सको जिसे मैं हर साल अपनी आंखों से तुम्हें दिखाने की कोशिश किया करता हूं...। देखना भाई, मैं जल्दी-जल्दी बड़ा होकर, खूब सारा पैसा कमाकर सबसे पहले तुम्हें जगह-जगह घुमाने के लिए गाड़ी ही खरीदूंगा।"

उस बच्चे का कहा हुआ एक-एक शब्द मेरे अन्तर को भिगोता रहा। मैं अपनी जगह पर और खड़ा न रह सका। उन दोनों के पास जाकर मैंने कहा—"क्या तुम दोनों इस नयी गाड़ी में शहर का चक्कर लगाना चाहोगे? जितनी देर तक तुम घूमना चाहो हम घूमते रहेंगे।"

दोनों बच्चे आश्चर्य और खुशी के पुतले बन गये। अपने छोटे भाई को उसी तरह गोदी में सहेजे बड़ा भाई गाड़ी तक आया, हम तीनों सामने की सीट पर एकसाथ बैठ गये। हर साल मैं क्रिसमस और नये साल की रौनक देखने जाता ज़रूर था, कभी अकेले तो कभी दोस्तों के साथ, लेकिन आज की यह सैर मेरे लिए किसी जादू से कम न थी। जिस सजावट को मैं साल-दर-साल देखने का आदी हो गया था आज वही साज-सज्जा मेरे लिए ज़िन्दगी के नये-नये पहलू उजागर कर रही थी। आज मैं उस बच्चे की नज़र से वह सारा कुछ देख रहा था जो जीता-जागता सम्मोहन बना बैठा था मेरी बगल में। बड़ा भाई छोटे भाई को बार-बार पुचकारता हुआ उसे दायें-बायें, आगे-पीछे की हर एक सजावट दिखाता हुआ लगातार समझाये जा रहा था, मैं

भी छोटा बच्चा बनकर उसके हर एक शब्द को आत्मसात् करता जा रहा था। पूरे चार घण्टों तक हम तीनों शहर में घूमते रहे...

जब वापिस लौटे तो मेरा तो उन बच्चों से विदा लेने का कतई जी नहीं कर रहा था—अपने जीवन के सबसे सुखद क्षण जो बिताये थे मैंने अपने नये दोस्तों के साथ।

छोटे भाई को गोदी में ले मैं बड़ी देर तक अपने सीने से लगाये खड़ा रहा, बड़ा मेरे अन्दर के इस उमड़ते प्रेम को देख खड़ा-खड़ा खुशी के आंसू बहाता रहा।

दोनों भाइयों ने मुझे धन्यवाद की बौछारों से सराबोर कर दिया।

अगले दिन शाम के ठीक पांच बजे मैंने अपनी नयी, चमचमाती गाड़ी के संग अपने-आपको अपने नये जिगरी दोस्तों के घर के सामने खड़ा पाया। और मैं जानता था कि मेरे लिए यह कभी न टूटने वाला सिलसिला बन गया है।

*
* *

दस साल के गरीब माइक को मां ने जन्मदिन पर आइसक्रीम खाने को पैसे दिये। कितने महीनों बाद उसे यह सुअवसर मिला था... “आज मैं अपनी प्रिय आइसक्रीम खाऊंगा” रास्ते भर माइक यही सोच-सोच कर खुश होता रहा। होटल में जाते ही परिवेषिका ने सूची लाकर दी —“वाह, मेरी मनपसन्द आइसक्रीम,” वह बोला। परिवेषिका मुस्कुरायी। दाम जानने पर उसने जेब से पैसे निकाले, कुछ हिसाब लगाया फिर बोला—“अच्छा, सामान्य आइसक्रीम कितने की है?” होटल में भीड़ बढ़ती जा रही थी। परिवेषिका ज़रा चिढ़ गयी—३५ सेण्ट, उसने ज़रा नाराज़गी के साथ कहा। बच्चे ने दुबारा अपने पैसे गिने—“जी, मैं एक सामान्य आइसक्रीम लूंगा” उसने नम्रता से कहा। परिवेषिका ने आइसक्रीम लाकर मेज़ पर पटकी, साथ में बिल भी रख दिया और दूसरों को परोसने में लग गयी। माइक ने बड़े चाव से आइसक्रीम खायी, पैसे चुकाये और गुनगुनाता हुआ, सन्तुष्ट बाहर निकल आया। परिवेषिका उस मेज़ पर लौटकर आयी तो ठगी खड़ी रह गयी। उसकी आंखों से आंसुओं की धारा बह चली—वहां आइसक्रीम की खाली तश्तरी के पास करीने से रखे हुए थे कुछ पैसे—दो निकेल और पांच पेनी।

उस गरीब बच्चे ने महंगी आइसक्रीम इसलिए नहीं खायी कि फिर उसके पास मुझे देने के लिए पैसे नहीं बचते!! यह सोच-सोच कर परिवेषिका की आंखें भीगी जा रही थीं। उसने उन पैसों को सिर आंखों से लगाया और सहेज कर रख लिया। सारे दिन वह नन्हा बालक उसके दिलोदिमाग पर छाया रहा। रह-रह कर उसके हृदय में ये ही विचार घूम रहे थे—मैंने उस मासूम के साथ कैसा बदसलूक किया, चिढ़कर तश्तरी पटक कर आ गयी थी उसके सामने और वह मेरी ही वजह से इतनी उधेड़-बुन में लगा हुआ था... क्या पता, कितने अरसे बाद उसे आइसक्रीम खाने का यह मौका मिला हो... फिर भी उसने सारे पैसे अपने ऊपर खर्च नहीं किये...! परिवेषिका हृदय में उसे नमन करती हुई मन ही मन बुदबुदायी—“मेरे नन्हें शिक्षक, तुझे सलाम!”

—वन्दना

Central Library
Gurukul Kangri University
Haridwar - 249404 (U.A.)

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

13E-Rajanigandha
25, Ballygunge Park
Kolkata-700 019

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road
Post Box No. 5713
NEW DELHI - 110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

Tel : 23612728, 23612776

Fax : 011-23620632

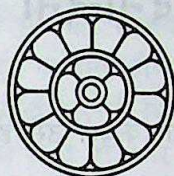
Our Lines of Business :

- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
Maihar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERRY.

Completed 80 years on Basant 2006



प्रार्थना और ध्यान

१ सितम्बर १९१४

हे दिव्य जननी, कैसे उत्साह के साथ, कैसे तीव्र प्रेम के साथ मैं तेरी गहनतम चेतना में आयी, तेरे उच्चतम प्रेम और पूर्ण सुख-शान्ति में आयी और तेरी भुजाओं में दुबक गयी और मैंने तेरे साथ इतनी तीव्रता के साथ प्रेम किया कि मैं पूरी तरह से तू बन गयी। तब हमारे मूक आनन्द की नीरवता में और भी अधिक गभीर गहराइयों में से एक आवाज़ उठी और उसने कहा, “उन लोगों की ओर मुड़ो जिन्हें तुम्हारे प्रेम की ज़रूरत है।” चेतना के सभी स्तर प्रकट हुए, सभी उत्तरोत्तर जगत् प्रकट हुए। कुछ भव्य और प्रकाशमान, सुव्यवस्थित और स्पष्ट थे; उनका ज्ञान उज्ज्वल था, अभिव्यक्ति सामञ्जस्यपूर्ण और विशाल थी, उनकी इच्छा समर्थ और अपराजेय थी। तब जगत् अधिकाधिक अस्तव्यस्तता की बहुलता में अन्धकारमय होने लगे, ‘ऊर्जा’ उग्र हो गयी और जड़-भौतिक जगत् अंधेरा और दुःखमय हो गया। और जब हमने अपने अनन्त प्रेम में दुःख और अज्ञान के जगत् के भीषण कष्ट को पूरी तरह देखा, जब हमने अपने बच्चों को निराशाजनक संघर्ष में गुंथा हुआ देखा, जिन्हें ऐसी ऊर्जाओं ने, जो अपने पथ से भ्रष्ट हो गयी थीं, एक-दूसरे पर पटक दिया था, तब हमने तीव्र इच्छा की कि भागवत प्रेम का प्रकाश, एक रूपान्तरकारी शक्ति इन उद्विग्न तत्त्वों के केन्द्र में अभिव्यक्त हो। और फिर यह कि इच्छा और भी समर्थ और प्रभावकारी हो, हे अचिन्त्य परम प्रभो, हम तेरी ओर मुड़े और हमने तेरी सहायता के लिए याचना की। और तब अज्ञात की अथाह गहराइयों में से एक उत्कृष्ट और दुर्जेय उत्तर आया और हम जान गये कि पृथ्वी “बचा ली गयी है।”

—श्रीमां

दैनन्दिनी

सितम्बर

१. अपनी अन्तरात्मा का आदेश मानो, केवल उसे ही तुम्हारे जीवन पर शासन करने का अधिकार है।
२. जब तक तुम किसी और को पीटने योग्य हो, तुम अपनी पिटाई की सम्भावना के लिए दरवाज़े खोलते हो।
३. हमें कभी विरोधी शक्तियों को प्रलोभन न देना चाहिये।
४. मन करे तो रो लो, परन्तु चिन्ता न करो, वर्षा के बाद सूर्य ज़्यादा तेज़ी से चमकता है।
५. तेरे दिव्य प्रेम की एक बूंद भर, इस समस्त पीड़ा को आनन्द के सागर में बदल सकती है।
६. हर एक में अपने दोष होते हैं और दूसरों के साथ व्यवहार करते समय उसे यह कभी नहीं भूलना चाहिये।
७. अपनी इच्छा-शक्ति की एकाग्रता और अपनी अभीप्सा की तीव्रता द्वारा हम विजय के दिन को जल्दी ला सकते हैं।
८. भगवान् के साथ प्रेम करने का अर्थ है, उनसे प्रेम पाना।
९. अगर तुम भगवान् से कोई चीज़ छिपाना चाहो तो ठप् से नाक के बल जा गिरोगे।
१०. भगवान् पर सम्पूर्ण भरोसा करने में ही आनन्द है।
११. चूँकि दूसरे लोग कमीने हैं इसलिए यह कोई कारण नहीं है कि तुम भी कमीने बनो।
१२. तुम्हें शान्त और एकाग्र रहना चाहिये, बिना ज़रूरत के एक वाक्य भी न बोलो और भगवान् की सहायता पर श्रद्धा रखो।
१३. हाँ, मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ, लेकिन तुम्हें मुझे बुलाना कभी न भूलना चाहिये, क्योंकि मुझे बुलाने से ही उपस्थिति प्रभावकारी होती है।
१४. तुम एक बार हमेशा के लिए यह भाव धो डालो कि तुम औरों से उच्च हो क्योंकि भगवान् के आगे कोई भी उच्चतर या निम्नतर नहीं है।
१५. हे प्रभु, वर दे कि हम अपना पूर्ण सहारा केवल तेरी कृपा में ही पायें।
१६. अपने-आपको उस बृहत् चेतना में विस्तारित करो ताकि प्रत्येक छाया सदा के लिए लुप्त हो जाये।
१७. तुम्हें भागवत कृपा और निश्चित विजय पर अटल श्रद्धा रखनी चाहिये।
१८. अपना अवलोकन करना अच्छा है ताकि तुम अपनी कमज़ोरियाँ देख सको और उन्हें सुधारने लायक बन सको।
१९. अपने दोषों और कठिनाइयों पर एकाग्र न होओ। तुम्हारी मुस्कान उन सबको भगा देगी।
२०. जब तुम केवल घमण्ड के कारण अपनी अन्तरात्मा की ओर पीठ कर लो तो दुःखी हुए बिना कैसे रह सकते हो भला?
२१. विद्रोह करने का अर्थ है दिव्य प्रेम को अस्वीकार कर देना; और केवल दिव्य प्रेम में ही बचाने की शक्ति है।
२२. अपनी सारी इच्छा के साथ मैं तुम्हें बचाना चाहती हूँ, लेकिन तुम्हें मुझे यह करने देना चाहिये।
२३. जब तुम किसी के लिए कष्ट उठाते हो तो वह कभी व्यर्थ नहीं जा सकता।

२४. मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ, संघर्ष में भी और विजय में भी।
२५. मुझे पकड़ने के लिए तुम्हें कहीं दूर न जाना होगा क्योंकि मैं पहले से ही तुम्हारे हृदय में मौजूद हूँ और जैसे ही तुम्हारी आँखें खुलेंगी कि तुम मुझे वहाँ देख पाओगी।
२६. बिना डरे अपने-आपको मेरी बांहों में दे दो और विश्वास रखो कि तुम्हें कोई हानि नहीं पहुँचा सकता।
२७. झूठे गर्व से बचकर रहो; वह केवल विनाश की ओर ले जाता है।
२८. भगवान् के प्रेम को छोटा न समझो क्योंकि उसके बिना ऐसी कोई चीज़ नहीं है जिसके लिए जिया जाये।
२९. मैं तुम्हें अपनी भुजाओं में लेती हूँ और अपने हृदय में झुलाती हूँ ताकि तुम सच्चा सुख और अमिश्रित शान्ति पाओ।
३०. सुनना अच्छा है, लेकिन पर्याप्त नहीं है—तुम्हें समझना चाहिये।
समझना ज़्यादा अच्छा है, लेकिन फिर भी पर्याप्त नहीं है—तुम्हें कार्य करना चाहिये।
—‘श्रीमातृवाणी’ से

लकीरें

मेरी हथेली पर
लकीरों का जंगल बिछा है
हल्की लकीरें
गहरी लकीरें
छोटी लकीरें
बड़ी लकीरें
कहीं एक दूसरे को काटती
कोई बीच में ही
रुकी हुई आगे रास्ता बन्द है

कहते हैं

लकीरें बहुत कुछ कहती हैं
क्या कहती हैं
समझ आये, तब न

लकीरों के इस

छोटे-से जंगल में
रास्ता ढूँढ़ते ही
बीत जाती है सारी आयु।

—विश्वनाथ ('अन्तरा' से साभार)

एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र

भौतिक सत्ता

१९३३

क्या मैं अपने शरीर को यह आज्ञा नहीं दे सकता कि नींद के घण्टे काट कर बस दो-तीन कर दे? मैंने सुना है कि योगी अपनी नींद को बहुत कम कर सकते हैं।

तुम अपने शरीर के ऊपर जो तुम्हारी मरजी हो उसे एकदम से लागू नहीं कर सकते। अगर शरीर से कहा जाये कि केवल दो-तीन घण्टे ही सोया करे तो अगर तुम्हारी इच्छा-शक्ति मजबूत है तो वह तुम्हारी बात मान लेगा, लेकिन हो सकता है कि बाद में वह बहुत अधिक थक जाये या आराम के अभाव में टूट ही जाये। जो योगी नींद को बहुत कम कर सकते हैं वे बहुत लम्बी तपस्या के बाद ही ऐसा कर पाते हैं जिसके द्वारा वे प्रकृति की शक्तियों पर नियन्त्रण करना सीख लेते हैं।

हम अपने सीमित भौतिक व्यक्तित्व से कैसे बाहर निकल सकते हैं?

बाहर निकलने का मतलब है चेतना का विस्तार करना ताकि मनुष्य यह न अनुभव करे कि वह शरीर के अन्दर बन्द है या शरीर के साथ एक है और उसका सामान्य व्यक्तित्व है।

शान्ति तामसिक नहीं होती, परन्तु तमस् की जड़ता शान्ति का हास है। जैसे रजस् दिव्य शक्ति का हास है। तो जब शरीर को शान्ति का निमन्त्रण मिलता है और वह स्वीकार नहीं कर सकता, तब जड़ता आ जाती है।

क्या मानसिक तमस् तब तक बना रहता है जब तक मनुष्य अतिमानस को न पा ले? नहीं। मानसिक तमस् का रहना ज़रूरी नहीं है, भौतिक जड़ता अतिमानसिक अवतरण के बाद ही पूरी तरह अदृश्य हो सकती है।

क्या अतिमानस के अवतरण से समस्त प्रकृति रूपान्तरित नहीं हो जाती?

हाँ, परन्तु एक प्रारम्भिक रूपान्तर होता है जिसमें तमस् बहुत कम हो सकता है या केवल एकदम से जड़ में रहता है, या फिर अपने स्वभाव में ही बदल सकता है।

तमस् अपने-आप शान्ति में नहीं बदल सकता। तुम्हें ऊपर से शान्ति को उतारना होगा।

रूपान्तरित यान्त्रिक मन की क्या क्रिया होगी?

तब वह यान्त्रिक न रहेगा बल्कि शारीरिक चेतना में स्थायी प्रकाश का आधार बन जायेगा।

किसी मित्र ने कहा : "आदमी को आन्तरिक स्पर्श का चला जाना इसलिए प्रतीत होता है कि शायद वह भागवत दबाव को बनाये रखने में असमर्थ होता है। शायद स्वयं भगवान् ही उसे हटा देते हैं क्योंकि हमारा भौतिक शरीर सतत कर्म करने से थक जाता है।" क्या यह ठीक है?

हाँ, साधारण भौतिक चेतना सम्पर्क बनाये रखने में असमर्थ होती है और वह थक जाती है। वह एक साथ बहुत आत्मसात् करने में भी असमर्थ है। परन्तु हमेशा भगवान् उस दबाव को उठा नहीं लेते; स्वयं निम्न चेतना उसे खो देती या छोड़ देती है।

भौतिक मन प्राणिक सुझावों और शक्तियों के प्रति इतना खुला क्यों होता है?

भौतिक पग-पग पर प्राण के ऊपर निर्भर करता है, वह प्राण की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकता; तो यह स्वाभाविक है कि वह उसके सुझाव पाता रहे।

भौतिक इतना दुर्बल क्यों है कि वह प्राण के बिना कुछ नहीं कर सकता?

भौतिक दुर्बल नहीं है, वह जड़ है क्योंकि तमस् ही उसका तत्त्व है, उसे एक उपकरण बनना है।

अगर हमारा प्राण प्राणमय लोक का प्रक्षेप है तो फिर जब वह रात को उसमें प्रवेश करता है तो उसे हर चीज़ नयी और अजीब क्यों मालूम होती है?

उसे वहाँ कोई चीज़ अजीब नहीं मालूम होती। वह तो भौतिक चेतना जब अनुभूति की प्रतिलिपि पाती है तो उसे वह अजीब मालूम होती है।

१९३४

श्रीअरविन्द : कोई भूल करना ज़रूरी नहीं है। प्राणमय और भौतिक प्रकृति का अवरोध रास्ता रोकने के लिए काफ़ी है। रुकावट के समय तुम्हें चुप रहना चाहिये और प्राण में निराशा और अवसाद को न आने देना चाहिये।

सच्ची वश्यता अकर्मण्यता की ओर नहीं ले जाती, लेकिन भूल से भौतिक, वश्यता के दबाव को अकर्मण्यता का नियन्त्रण मान सकता है।

क्या अकर्मण्यता शक्ति के दबाव के कारण होती है?

शक्ति का दबाव कभी अकर्मण्यता नहीं पैदा करता। यह भौतिक में प्रतिरोध या प्रतिक्रिया के अभाव से पैदा होता है।

“तुम” शरीर नहीं हो। यह पूरी तरह सम्भव है कि मन और प्राण के जाने या अनुभव किये बिना भी शरीर थक जाये और परिणाम बाद में पता लगे।

प्रायः भौतिक बिना कारण के नीचे चला जाता है। प्राण में यह साधना के अन्दर रस के अभाव के कारण हो सकता है क्योंकि साधना का ऐसी चीजों के साथ सम्बन्ध होता है जिन्हें प्राण न तो समझता है न उनकी खोज करता है या फिर इस कारण भी कि प्राण को लगता है कि साधना तेज़ी से या प्रभावशाली ढंग से परिणाम नहीं ला रही, इत्यादि।

शरीर को आराम की ज़रूरत होती है। यदि उसे ज़रूरी आराम मिल जाये तो उसे जल्दी ही चंगा होना सिखाया जा सकता है, और अगर उस पर ज़ोर डाला जाये तो वह तामसिक बन जाता है।

क्या प्राणिक अभीप्साएं अपनी तीव्रता से मानसिक या भौतिक तमस् को दूर नहीं कर सकतीं?

सिर्फ कुछ समय के लिए कर सकती हैं। कोई उच्चतर शक्ति ही उसे पूरी तरह से दूर कर सकती है।

जब प्राण में तीव्रता हो तो वह हमेशा बहुत-सी ऊर्जा को नीचे ले आता है। भौतिक की तीव्रता क्या देती है?

ठोसपन या स्थिरता।

आपने लिखा था : “भौतिक के तमस् से पिण्ड छुड़ाओ जो उसे कष्टदायक बनाता है।” मुझे ऐसे तमस् का पता नहीं है जो ध्यान के समय रीढ़ की हड्डी या शरीर में पीड़ा दे।

तुम्हें अनुभव नहीं होता इसका मतलब यह नहीं है कि वह नहीं है। अगर तुम तमस् के बारे में सचेतन नहीं हो तो तुम्हें अब होना चाहिये। तमस् से मेरा मतलब है शरीर की जड़ता जो शक्ति का प्रतिरोध करती है और शरीर तथा रीढ़ में पीड़ा पैदा करती है। यदि भौतिक प्रतिरोध न हो तो पीड़ाएं हों ही क्यों?

भौतिक सत्ता पर माताजी की शक्ति

वर्तमान बहिर्मुख वृत्ति में जब-जब मैं एक मौन ग्रहणशीलता पर एकाग्र होता हूं तो मेरे माथे में, विशेषकर भौहों के बीच दर्द होता है। यह क्यों?

यह आन्तरिक इच्छा-शक्ति और अन्तर्दर्शन की क्रिया के प्रति भौतिक का प्रतिरोध है।

सन्देह और प्रश्न भौतिक प्रतिरोध के भाग हैं।

भौतिक खालीपन से नहीं उकताता। हो सकता है कि वह अपनी ही प्रवृत्ति के कारण तमस्

किये
स के
जिन्हें
ता है
जल्दी
न बन

का अनुभव करे परन्तु सामान्यतया उसे रिक्तता से ऊब नहीं आती। निस्सन्देह, हो सकता है कि यह प्राणिक-भौतिक हो। तुम्हें उसे पुरानी क्रियाओं के अवशेषों की तरह बस रद्द कर देना चाहिये।

मैं यह नहीं समझ पाया—“हमारे अन्दर शान्ति होनी ही चाहिये लेकिन विध्वस्त प्रकृतिवाली या विकृत क्षमतावाली शान्ति नहीं जो इस कारण अशान्ति पाने में असमर्थ होती है क्योंकि वह तीव्रता पाने में असमर्थ है।”

कर

तामसिक शान्ति नहीं जो इसलिए आराम करती है क्योंकि वह किसी भी चीज़ के लिए अभीप्सा नहीं करती, जो दुःख और दुर्भाग्य के कारण इतनी थकी हुई होती है कि उसे किसी चीज़ की परवाह नहीं होती।

कर

माताजी के दर्शन के बाद मेरे शरीर ने नाना प्रकार के अनुभव करने शुरू किये। मुझे पता नहीं कि उन्हें कैसे अभिव्यक्त करूँ।

क की

दांत, जो शरीर का सबसे अचेतन भाग हैं, उन दांतों ने भी अनुभूति पाना शुरू कर दिया है।

हां, जब शक्ति काम करती है तो ऐसी अनुभूतियां होती हैं।

है।”

दे।

रे में

शक्ति

न हो

पर मेरी समझ में नहीं आता कि माताजी की क्रिया इतनी सीमित क्यों होती है? यह सब केवल मेरी गर्दन के भाग तक ही सीमित होता है!

यह हमेशा इसी तरह शुरू होती है।

कल आपने कहा था कि “ऐसे अनुभव तब होते हैं जब शक्ति काम कर रही हो।” हमारा मानव मन यह तर्क करेगा : यह कैसे हो सकता है कि शक्ति प्राण और भौतिक जैसे सचेतन भागों में पर्याप्त रूप से काम करने से पहले दाँतों के जैसे निश्चेतन तत्त्व पर काम करना शुरू कर देती है?

मेरे

बहुतों में ये ही अनुभूतियां पहले आती हैं।

शरीर में चारों ओर अग्नि जारी है। वह शरीर को कवच की तरह ढके रहती है। इसका शरीर पर क्या असर हो सकता है? शरीर के अणुओं और छिद्रों में एक आग्नेय तीव्रता मालूम होती है। क्या यह सच हो सकता है? मन तो इसे मानने से इन्कार करता है।

ममसू

यह भली-भांति सच्ची बात हो सकती है।

ध्यान के बाद अवमन (अवचेतन या यात्रिक मन) बहुत सक्रिय हो जाता है। मेरी समझ में नहीं आता कि यह ऐसे समय कैसे इस तरह उठ आता है। प्रायः ध्यान के बाद अधिकतर सत्ता या तो आत्मा की परम शान्ति में या स्थायी शुद्ध सत्ता में चली जाती है। इससे मन बहुत अधिक मदोन्मत्त-सा रहता है, जब तक कि मैं सो न जाऊं।

सम्भवतः भौतिक एकाग्रता को बनाये नहीं रख सकता और इसलिए अवमानसिक क्रिया शुरू कर देता है।

ऐसा लगता है कि मेरे निम्न प्राण ने चैत्य सत्ता के उन्मुक्त उद्घाटन में बाधा दी होगी और इसीलिए मैं प्रेम, भक्ति, आनन्द आदि किसी भी चैत्य गति का अपने हृदय तथा आन्तरिक प्राण में अनुभव नहीं करता।

मुझे लगता है कि यह साधना की बुरे से बुरी अवस्था है।

तमस् का ऊपर उठना और प्राण का दुराग्रह ऐसी चीजें हैं जिनके साथ सतत निराकरण द्वारा संघर्ष करना पड़ता है जब तक कि शक्ति का अवतरण न हो, जब तक कि वह शान्ति और नीरवता के साथ एक न हो जाये—ये इतनी प्रबल चीजें होती हैं कि कोई चीज़ आन्तरिक सत्ता को छू या ढक तक नहीं सकती।

—नगीन दोशी

श्रीमाँ के साथ पत्र-व्यवहार

आरूमे^१ की छत से फ्रेंच गणतन्त्र-दिवस-समारोह देखने के लिए मैं पांच बजे तैयार हो गया लेकिन यह सोचकर कि मेरा न जाना आप अधिक पसन्द करेंगी, मैं वापस आ गया।

इस या दूसरे किसी भी मामले में मेरी कोई अभिरुचि नहीं है। हर एक के लिए निश्चय उसकी अपनी आवश्यकता पर निर्भर करता है।

१४ जुलाई १९३४

मेरी समझ में नहीं आया कि इस बात से आपका क्या मतलब है “मेरी कोई अभिरुचि नहीं है...” क्या इसका यह मतलब है कि आपसे बिना पूछे हमें अपने-आप ही यह निश्चय करना चाहिये कि चीज़ करनी चाहिये या नहीं?

नहीं। मैंने वाक्य खतम नहीं किया। मेरा मतलब था कि मैं अभिरुचियों के अनुसार नहीं बल्कि

^१ आश्रम के एक मकान का नाम।

प्रत्येक की आवश्यकता के अनुसार निश्चय करती हूँ।

१६ जुलाई १९३४

मेरी समझ में नहीं आता कि आज सुबह प्रणाम के समय मैंने अपने अन्दर किसी विशेष रुचि या उत्साह का अनुभव क्यों नहीं किया?

सब ठीक है मेरे बच्चे, चिन्ता मत करो। चेतना को अपने अन्दर विकसित होने दो, इसी की आवश्यकता है—चेतना के साथ सब कुछ ठीक होगा।

१९ जुलाई १९३४

माताजी, पिछली बार मेरी बहन ने मुझसे किसी व्याख्या के बारे में नहीं पूछा था बल्कि श्रीअरविन्द के पत्रों के बारे में पूछा था। भौतिक जीवन और अपना घर छोड़ने के बारे में उसने जो लिखा था, जब मैंने वह पढ़ा तो मैं विचलित हो गया—इसीलिए मेरी अभीप्सा में बाधा आयी। मेरी प्यारी मां, मैं वही करूंगा जो आप चाहेंगी।

अगर यह चीज़ तुम्हें अशान्त करे तो वह जो कहती है उस पर कान मत दो और न श्रीअरविन्द के पत्रों की व्याख्या करो।

आज शाम मैंने विचलित हुए बिना उसे समझाया।

हां, यह स्पष्ट है कि अगर तुम उस दुर्बलता पर विजय पा लो जो तुम्हें विचलित करती है तो यह ज़्यादा अच्छा है, क्योंकि यह सच्चा उपचार है।

२३ जुलाई १९३४

मेरी प्यारी नन्हीं मां,

कल शाम, ध्यान के समय मैंने कितने प्रेम का अनुभव किया—मैंने प्रेम की लहरों, स्पन्दनों का अनुभव किया। लेकिन यह प्रेम अपने-आपको दूसरों पर उंडेलता है। पहले, जब मैं अधिक प्रेम का अनुभव करता था तो वह नीरव रहता था, मैं अधिक गम्भीर हो जाता था, मैं उसे अभिव्यक्त नहीं करता था। लेकिन इस बार, इसके विपरीत, मैंने इसे अपने-आपको अभिव्यक्त करने दिया क्योंकि मैंने इसे अवाञ्छनीय नहीं समझा। अगर आप आवश्यक समझें तो मैं इसे अन्तर्मुख कर दूंगा।

जिस प्रेम को तुम नीरवता में प्राप्त करते हो वह तुम्हारे अन्दर शुद्धि और रूपान्तर के लिए कार्य करता है। जो प्रेम तुम बहिर्मुख करते हो—अगर तुम इसे पवित्र और निःस्वार्थ तरीके से करो—वह कभी-कदास दूसरों की मदद कर सकता है। लेकिन बहुधा लोग उसे गलत तरीके से लेते हैं... इसलिए तुम्हें अपनी सहजवृत्ति के निर्देशानुसार काम करना चाहिये।

२४ जुलाई १९३४

आज मैंने २४ व्यक्तियों से बातें कीं। मेरे ख्याल से यह बहुत ज्यादा है। आज सुबह से मैं आनन्द के अभाव का अनुभव कर रहा हूँ। कोई बुरा भाव नहीं है लेकिन मैंने जिस प्रेम का अनुभव किया था वह अब नहीं है।

यह एकदम से स्वाभाविक है—तुमने उसे बेतहाशा बरबाद किया; जो कुछ भगवान् से आया था उसे भगवान् पर एकाग्रचित्त करने की बजाय तुमने उसे दूसरों पर नष्ट कर गंवा दिया।

२४ जुलाई १९३४

मधुर मां, आपका उत्तर पढ़ने के बाद मैं गम्भीर हो गया। मैंने सोचा कि मुझे चुपचाप रहना चाहिये—कम-से-कम आज के लिए। क्षण भर बाद सत्ता के एक भाग ने कहा, “यह सच्ची नीरवता नहीं है बल्कि प्राण की अतृप्ति है, क्योंकि तुम भली-भांति देख सकते हो कि इसमें बहुत सुख और उत्साह नहीं है।” मैंने सोचा कि दूसरे भाग की बात सही थी।

दोनों अंशतः सच्चे और अंशतः झूठे हैं। नीचे उतरनेवाली शक्ति को नीरवता और एकाग्रता में ग्रहण करना बुद्धिमत्ता है, लेकिन प्राण को उसकी सनकों के पीछे जाने की अनुमति न देने की वजह से उसकी कुढ़न के कारण यह नीरवता और एकाग्रता नहीं आनी चाहिये।

यह एकाग्रता और नीरवता न केवल महान् शान्ति से भरी होनी चाहिये बल्कि बहुत तीव्र सुख से भी भरपूर होनी चाहिये। तभी तुम जानते हो कि क्रिया सच्ची और अमिश्रित है।

२४ जुलाई १९३४

आज ११ बजे मैंने अपने सिर पर बहुत दबाव का अनुभव किया और मैं अपने गणित को आगे न चला सका। मुझे मालूम नहीं कि क्या करना चाहिये?

शान्त रहो, क्षुब्ध मत होओ—यह गुजर जायेगा।

२५ जुलाई १९३४

हे मां, मैं पूरी तरह से आपका आज्ञाकारी बालक बनना चाहता हूँ, आपके अभिव्यक्त करने से पहले मैं आपकी इच्छा जानना चाहता हूँ। इसे पाने के लिए मेरे अन्दर...

भागवत इच्छा को चरितार्थ करने के सिवाय किसी भी चीज़ के लिए कोई अभिरुचि नहीं होनी चाहिये।

२८ जुलाई १९३४

माताजी, क्या आप मुझे बतायेंगी कि अहंकार से छूटने के लिए क्या करना चाहिये?

आग्रह के साथ इसकी इच्छा करने से तुम इसे पा सकते हो।

३१ जुलाई १९३४

मेरी प्यारी मां, एक सपने में मैंने आपको विभिन्न रूपों में देखा। आप एकदम से किशोरी थीं, मेरी उम्र की, करीब सतरह-अठारह साल की, फिर भी मैंने आपसे वैसा ही व्यवहार किया मानों मैं आपका बालक हूं। लेकिन मुझे शंका है कि किशोरी जिसे मैंने माताजी कहा, वह एक ऐसी सत्ता से बढ़कर और कुछ न थी जिसने आपका रूप धारण कर लिया था।

यह बिलकुल असम्भव नहीं है कि मैं विभिन्न रूपों में प्रकट होऊँ, यहां तक कि किशोरी के रूप में भी।

१ अगस्त १९३४

माताजी, मेरी समझ में नहीं आता कि मैं सपने में बहुधा बिच्छू और सांप क्यों देखता हूँ?

ये बुरे विचारों और विकृत या अन्धकारमयी ऊर्जाओं के प्रतीक हैं।

१ अगस्त १९३४

माताजी, मुझे नहीं मालूम कि जब दबाव हो तो अपनी पढ़ाई के बारे में क्या किया जाये क्योंकि मेरा मन काम कर देना बन्द कर देता है।

तब तक प्रतीक्षा करो जब तक तुम्हारा मन फिर से काम करना शुरू न कर दे।

२ अगस्त १९३४

क्या मन के भागों के लिए दूसरों की क्रियाओं के कारणों के बारे में चर्चा करना वाञ्छनीय है?

मेरे ख्याल से यह एकदम उपयोगी नहीं है, लेकिन मन की यह बहुत सामान्य आदत होती है।

७ अगस्त १९३४

वर दे कि परम प्रभु^१ का जन्मदिन मेरे लिए....

पूर्ण आत्मोत्सर्ग का दिन हो।

१३ अगस्त १९३४

माताजी, दुर्भावनाओं का यह तांता क्यों?

यह बाहर के व्यक्तियों के आक्रमण का परिणाम है। बस अचञ्चल बने रहो।

^१ श्रीअरविन्द का जन्मदिन (१५ अगस्त)।

मैं योग में गहरा नहीं उतरा हूँ। मेरी चेतना अब भी इतनी छितरी हुई क्यों है?

अवलोकन ठीक है, लेकिन इस अवलोकन को तुम्हें योग में अधिक गहरे और स्थिर रूप से प्रवेश करने की इच्छा की ओर ले जाना चाहिये।

१६ अगस्त १९३४

वर दे कि मैं गहराई के साथ योग में प्रवेश करूँ, अपने समस्त...

अध्यवसाय और गतिशील उत्साह के साथ।

१६ अगस्त १९३४

मैं देखता हूँ कि आपके पास इतना काम है, इसलिए अगर आप चाहें तो कुछ दिनों तक मैं सुबह के पत्र न लिखूँ।

मन के भागों का वार्तालाप :

“चूँकि माताजी ने कुछ नहीं कहा, तुम्हें लिखना जारी रखना चाहिये।”

“नहीं, उत्तर तुम्हें स्वयं पाना चाहिये।”

“लेकिन मेरे ख्याल से मेरा न लिखना माताजी का अधिक समय न बचायेगा।”

“यह तुम्हारे ऊपर है—अगर तुम सोचते हो कि यह आवश्यक है तो तुम्हें लिखना चाहिये।”

“निश्चय ही, जब मुझे पत्र मिलता है तो बहुधा मैं कुछ अच्छा अनुभव करता हूँ।”

वस्तुतः मैंने उत्तर इसलिए नहीं दिया ताकि तुम अपने अन्दर उत्तर पा सको।

तुम्हें नमनीय होना चाहिये, केवल इस कारण इसे नियमित रूप से नहीं लिखना चाहिये कि तुमने लिखने की आदत बना ली है। तुम्हें पत्र तभी लिखना चाहिये जब सचमुच तुम उसकी आवश्यकता का अनुभव करो, या सचमुच तुम्हें कुछ कहना हो।

१७ अगस्त १९३४

—शान्ति दोशी

श्रीअरविन्द का एक पत्र

... तुम्हारा पहला प्रश्न है विवाहित जीवन के बारे में। इन बातों में उचित नियम यह है कि जब तक तुम्हारे अन्दर कर्तव्य का भान हो, जब तक कि तुम्हें उससे छुटकारा न मिल जाये, तुम्हें उसका अनुसरण करना चाहिये। तुम्हें आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करते समय कोई पाप की शंका, पछतावा, किसी प्रकार का खिंचाव या आकर्षण अपने साथ न ले जाना चाहिये। इसी तरह अगर तुम्हारे अन्दर सामान्य व्यावहारिक मानव के लिए, कमाने, उज्ज्वल भविष्य, सामान्य उद्देश्यों के लिए अपनी क्षमताओं का उपयोग करने या सामान्य मानव चेतना में चमकने का आकर्षण हो तो तुम्हें सब कुछ छोड़कर योग की ओर अग्रसर न होना चाहिये क्योंकि हो सकता

है कि तुम्हारे अन्दर सिर्फ आध्यात्मिक जीवन या योग के लिए एक मानसिक आकर्षण मात्र हो। आध्यात्मिक चेतना और आध्यात्मिक जीवन को पाना बहुत अधिक कठिन है। उसके लिए बहुत गभीर और सशक्त पुकार की ज़रूरत होती है और किसी प्रकार की सिद्धि पाने के लिए यह आवश्यक है कि तुम्हारी समस्त ऊर्जा एक लक्ष्य की ओर मुड़ी हो, जिन लोगों ने अपने सभी सम्बन्ध काट दिये हों उनके लिए भी दोहरी चेतना से बचना मुश्किल होता है। उनकी एक चेतना अन्दर की ओर मुड़ी होती है और आध्यात्मिक परिवर्तन की मांग करती है, दूसरी, जो सामान्य जीवन की गतिविधियों से बंधी रहती है और उन्हें आध्यात्मिक अनुभूतियों से नीचे, निम्न प्रकृति के अपरिवर्तनशील मार्ग की ओर बड़े हठ के साथ खींचती रहती है। अगर तुम्हें पूरी तरह से, अविभक्त पुकार नहीं हुई है तो ज़्यादा अच्छा है कि तब तक डुबकी न लगाओ जब तक तुम अत्यन्त कटु संघर्ष, बहुत अधिक कठिनाइयों, बार-बार आने वाली फिसलनों और कटी-छंटी, सन्देहास्पद प्रगति के लिए तैयार न हो जाओ। ऐसी अवस्था में ज़्यादा अच्छा तो यह है कि सामान्य मानव जीवन में, पारिवारिक जीवन बिताते हुए अपने-आपको ध्यान और एकाग्रता के द्वारा तब तक तैयार करो जब तक कि आध्यात्मिक आकर्षण इतना प्रबल न हो जाये कि वह और सब पर छा जाये और उन्हें नष्ट कर दे।

फिर तुम औरों की सेवा करने के योग्य बनने के लिए उच्चतर जीवन बिताने की बात करते हो। लेकिन “उच्चतर जीवन बिताना” एक बड़ी अस्पष्ट-सी बात है तथा “औरों की सेवा करना” योग का उद्देश्य नहीं है। योग का उद्देश्य है एक नितान्त नयी चेतना में प्रवेश, जिसमें तुम अपने मन और अहं में नहीं रहते बल्कि दिव्य चेतना में चले जाते हो और अपनी सत्ता के अन्तर्तम सत्य में विकसित होते हो। वह सत्य मन, प्राण और शरीर से ऊपर है। बहुत-सी योग-प्रणालियों का उद्देश्य है वर्तमान जीवन से एकदम अलग होकर इस महान् सत्ता के साथ एक हो जाना। लेकिन इस योग में हमारा लक्ष्य है मन, प्राण और शरीर को दिव्य सत्य की अभिव्यक्ति में रूपान्तरित करना और बाहरी और भीतरी जीवन को उसी सत्य का मूर्त रूप बनाना—और यह कहीं अधिक कठिन प्रयास है। और सब धर्मों को छोड़कर इसी महत्तर चेतना द्वारा कार्य करना, जीवन का एकमात्र नियम बन जाता है। इस जीवन का आधारभूत नियम यह है कि तुम न तो अपने अहं की और न औरों की सेवा करो, केवल दिव्य शक्ति के सेवक और उसके कार्य के यन्त्र बनो।

माता-पिताओं को सलाह

... मैं माता-पिताओं को एक सलाह देना चाहती हूँ। इनमें अधिकतर लोग विभिन्न कारणों से बच्चों की सच्ची शिक्षा के विषय में बहुत कम सोचते हैं। जब उन्होंने संसार में एक बच्चे को जन्म दे दिया, उसके भोजन का प्रबन्ध कर दिया तथा उसका स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए लगभग काफ़ी अच्छे ढंग से देखभाल करते हुए उसकी विभिन्न भौतिक आवश्यकताएँ पूरी कर दीं, तब वे समझ लेते हैं कि उन्होंने अपना कर्तव्य पूरे तौर से निभा दिया है। कुछ दिन बाद वे उसे स्कूल में प्रविष्ट करा देंगे और उसकी मानसिक शिक्षा का भार अध्यापक के हाथों में सौंप देंगे।

कुछ माता-पिता ऐसे भी हैं जो यह जानते हैं कि उनके बच्चे को शिक्षा मिलनी चाहिये और वे उसे शिक्षा देने की चेष्टा भी करते हैं। पर उनमें से बहुत थोड़े लोग—जो इस विषय में अत्यन्त तत्पर और सच्चे होते हैं, उनमें से भी बहुत थोड़े लोग—यह जानते हैं कि बच्चे को शिक्षा देने की योग्यता प्राप्त करने के लिए सबसे पहला कर्तव्य है अपने-आपको शिक्षा देना, अपने विषय में सचेतन होना और अपने ऊपर प्रभुत्व स्थापित करना, ताकि वे अपने बच्चे के सामने कोई बुरा उदाहरण न पेश करें। क्योंकि एकमात्र उदाहरण के द्वारा ही शिक्षा फलदायी बनती है। यदि हम अपने जीवन्त उदाहरण के द्वारा अपनी सिखायी बातों का सत्य उसे न दिखा दें तो केवल अच्छी बातें कहने और बुद्धिमानी का परामर्श देने का, बच्चे पर बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ता है। सच्चाई, ईमानदारी, स्पष्टवादिता, साहस, निष्काम-भाव, निःस्वार्थता, धैर्य, सहनशीलता, अध्यवसाय, शान्ति, स्थिरता, आत्म-संयम आदि सभी ऐसे गुण हैं जो सुन्दर भाषणों की अपेक्षा अनन्तगुना अधिक अच्छे रूप में अपने उदाहरण के द्वारा सिखाये जाते हैं। माता-पिताओ! एक ऊंचा आदर्श अपने सामने रखो और उसी आदर्श के अनुकूल सर्वदा कार्य करो। तुम देखोगे कि तुम्हारा बच्चा भी धीरे-धीरे उस आदर्श को अपने अन्दर ला रहा है, और जो-जो गुण तुम उसके स्वभाव में देखना चाहते हो उन्हें वह अपने-आप अभिव्यक्त कर रहा है। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि बच्चे अपने माता-पिता के प्रति आदर और भक्ति-भाव रखते हैं; अगर वे एकदम अयोग्य ही न हों तो वे अपने बच्चों को देवता जैसे प्रतीत होते हैं और बच्चे यथाशक्ति उत्तम-से-उत्तम रूप में उनका अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं।

बहुत थोड़े लोगों को छोड़कर, प्रायः सभी माता-पिता इस बात का विचार नहीं करते कि उनके दोषों, आवेगों, दुर्बलताओं और आत्म-संयम के अभाव का उनके बच्चों पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है। अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारा बच्चा तुम्हारा आदर करे तो अपने लिए आदर-भाव रखो और प्रत्येक मुहूर्त सम्मान के योग्य बनो। कभी स्वेच्छाचारी, अत्याचारी, असहिष्णु और क्रोधित मत होओ। जब तुम्हारा बच्चा तुमसे कोई प्रश्न पूछे तब तुम, यह समझकर कि वह तुम्हारी बात नहीं समझ सकता, उसे जड़ता और मूर्खता के साथ कोई उत्तर मत दो। अगर तुम थोड़ा कष्ट उठाओ तो तुम सदा ही उसे अपनी बात समझा सकोगे। इस प्रसिद्ध उक्ति के होते हुए भी कि सत्य बोलना सदा अच्छा नहीं होता, मैं दृढ़तापूर्वक कहती हूँ कि सत्य बोलना सदा अच्छा होता है। चतुराई केवल इस बात में है कि उसे इस ढंग से कहा जाये कि सुननेवाले का मस्तिष्क उसे ग्रहण कर ले। जीवन के प्रारम्भिक काल में बारह से चौदह वर्ष की अवस्था तक, बच्चों का मन सूक्ष्म भावनाओं और सामान्य विचारों तक नहीं पहुँच पाता। फिर भी, तुम ठोस उपमा, रूपक या दृष्टान्त द्वारा ये सब चीज़ें समझाने का अभ्यास उसे करा सकते हो। काफ़ी बड़ी उम्र तक और जो लोग मानसिक रूप से सदा ही छोटे बने रहते हैं उन लोगों के लिए सैद्धान्तिक विवेचन के एक ढेर की अपेक्षा, एक आख्यान, एक कथानक, यदि अच्छे ढंग से कहा जाये तो, अधिक शिक्षाप्रद होता है।

एक भूल से तुम्हें और बचना होगा : जब तक कोई निश्चित उद्देश्य न हो और एकदम अनिवार्य न हो जाये तब तक कभी अपने बच्चे को बुरा-भला मत कहो। बार-बार डांट-फटकार खाने से बच्चा उसके प्रति कुन्द हो जाता है और फिर वह शब्दों और स्वर की कठोरता को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देता। विशेषकर इस बात की सावधानी रखो कि ऐसे अपराध के लिए,

जिसे तुम स्वयं करते हो, उसे कभी मत डांटो। बच्चों की दृष्टि बड़ी पैनी और साफ़ होती है, वे बहुत जल्दी तुम्हारी दुर्बलताओं का पता लगा लेते हैं और उन्हें बिना किसी दयाभाव के नोट कर लेते हैं।

जब बच्चा कोई भूल कर बैठे तो अपनी ओर से ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दो कि वह अपने-आप सरलता और सच्चाई के साथ उसे स्वीकार कर ले। और जब वह स्वीकार कर ले तब तुम दयालुता और प्रेम के साथ उसे समझा दो कि उसके कार्य में क्या भूल थी और उसे फिर दुबारा वैसा नहीं करना चाहिये। किसी भी हालत में उसे बुरा-भला मत कहो, स्वीकार किये हुए अपराध को अवश्य क्षमा कर देना चाहिये। तुम्हें अपने और अपने बच्चे के बीच किसी प्रकार का भय नहीं घुसने देना चाहिये, भय के द्वारा शिक्षा देना बड़ा खतरनाक तरीका है, यह सदा ही छल-कपट और असत्य को उत्पन्न करता है। स्पष्टदर्शी, सुदृढ़, पर साथ ही कोमल प्रेम और पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान विश्वास का बन्धन पैदा करते हैं जो तुम्हारे बच्चे की शिक्षा को फलदायी बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। और फिर, यह कभी न भूलो कि तुम्हें अपने कर्तव्य के शिखर पर स्थित रहने तथा उसे वास्तविक रूप में निभाने के लिए सदा और निरन्तर ऊपर उठना होगा। बच्चे को जन्म देने के नाते ही तुम्हें उसके प्रति अपना कर्तव्य निभाना चाहिये।

—श्रीमां

टीस

(कनिष्ठा जी के सहेज कर रखे कागज़ात में से अचानक यह कहानी प्रकट हो गयी जिस पर तारीख अंकित है १६.७.७८।

उस ज़माने में हमारे अच्छे लेखों पर हमारे अध्यापक रवीन्द्र जी टिप्पणियां भी खूब चढ़ाया करते थे जो सोने पर सुहागे का काम करती थीं, यानी विद्यार्थी के लिखने के उत्साह को चौगुना कर देती थीं।—सं.)

हां, उसका हुलिया देख मैं कुछ सहम ही गई थी। कन्धों तक लटकते भूरे, घुंघराले और उलझे हुए केश, झुलसा हुआ-सा चेहरा जिसके अधिकतर भाग को सघन केशों ने ढांपकर रख दिया था, कुछ धुंधली आंखें जिनकी सजल हंसी कष्ट की निर्मम धूप में बहुत पहले ही सूखकर ओझल हो गई थी, शरीर पर मटमैले चिथड़े जो हवा के झकोरों में झण्डियों की भांति लहराने लग गये थे और बिवाईयों के जाल से भरे, धूल से सने नंगे पैर।

मैंने उसे एक इतवार को देखा था जब आदत के मुताबिक मैं शाम को टहलने निकली थी। अक्सर मैं आध-घण्टे की सीमा को पार नहीं करती, लेकिन उस दिन प्रकृति मानों मुझे आकर्षित करने के लिए सोलहों शृंगार करके उपस्थित हो गयी थी, और मैं उसकी नैसर्गिक सुन्दरता के मोहपाश में फंसकर चलती ही चली गयी थी।

कुछ घण्टे पहले बौछार हुई थी और उसके कारण अब हरे-भरे पेड़-पौधे सद्यःस्नात लग

रहे थे। सर्पिल पथ पर इधर-उधर पानी बचा रह गया था और हल्की बयार उस पर नाचने लगी थी। शायद इससे सतह पर पड़ी लहरियों को देखकर सूर्य की अन्तिम किरणें समझ बैठी होंगी कि ये डबरियां त्योरियां चढ़ा रही हैं, इसलिए उन्होंने अपनी लालिमा की दो-चार बूंदें छिड़क दी थीं। वृक्षों पर, दिनभर आहार की खोज में भटककर लौटे हुए पंछी अब बच्चों को खिलाकर लोरियां सुनाने लग गए थे। कुछ ही दूर कंजर स्त्रियों की कतार चली जा रही थी। सिर पर घास-पत्तों की भारी गठरी को बड़ी दक्षता से सन्तुलित रखती हुई, नियमित छन्द से डग भरती हुई वे खेतों में अपना काम खत्म करके अपने गांव को लौट रही थीं। कभी कान उनकी चूड़ियों की खनक पकड़ता तो कभी आंख रश्मियों की सुनहरी रोशनी में, झिलमिलाती हुई उनकी बालियों को।

मैं इस सुन्दरता को आंखों से पिये जा रही थी और इसी एकाग्रता के कारण मुझे कदमों की आहट सुनाई तक नहीं दी। केवल जब पीछे से किसी ने अचानक “रधिया!” कहा तो मैं चौंक कर मुड़ी और नवागन्तुक पर नज़र पड़ते ही बड़ी सहज-स्वाभाविकता के साथ दो कदम पीछे हट गई।

भिखारी से बढ़कर वह कुछ और नहीं हो सकता था। ओह! कितने घिसे-पिटे वस्त्र, कितना उपेक्षित और अस्वस्थ शरीर! मैं कुछ और दूर सरक गई और उसे रूखे स्वर में फटकारने ही वाली थी कि अचानक मुझे याद हो आया कि उसने भीख तो नहीं मांगी थी, केवल मुझे “रधिया” कहकर पुकारा था और चूंकि यह नाम मेरा नहीं था इसलिए स्पष्ट था कि वह मुझे कोई और समझ बैठा था, तभी उसने एक आह भरी और बुड़बुड़ाने लगा “नहीं नहीं... यह तो वह नहीं...तो रधिया है कहा?”

इस अन्तिम प्रश्न में टूटी हुई आशा, वेदना और पराजय का मर्मस्पर्शी मिश्रण था और अनायास ही मेरे मुंह से निकल पड़ा “किसे दूँद रहे हैं, बाबा?”

ये शब्द सुनते ही उसकी हतप्रभ आंखों में अविश्वास और आश्चर्य कुछ अनिश्चित से मंडराने लगे, मानों जीवनभर क्रूरता और तिरस्कार के अभ्यस्त होने के नाते उसका क्षत-विक्षत हृदय कष्टों, दुर्घटनाओं और कर्कश स्वरों के कुहासे में से टटोलता हुआ एकाएक उस प्रायः विस्मृत कोमलता और करुणा के सम्मुख आकर कुछ चकरा-सा गया हो। फिर वह मुस्कुराया। यद्यपि उसकी मुस्कान सघन केशों के कारण होठों पर अदृश्य ही रही, फिर भी वह उसकी आंखों में से पलभर के लिए उझककर झांक गई। वह गद्गद स्वर में, रुक-रुक कर बोलने लगा, “अरे, तू पत्थर नहीं फेंकेगी, बेटी? ...मेरे ऊपर... मेरे ऊपर तो सभी फेंकते हैं—आखिर पंगला बाबा हूं न, हां पंगला बाबा!” और एकाएक झुटपुटे के सन्नाटे में उसका अट्टहास बादलों की गड़गड़ाहट-सा गूंज उठा। पलभर के लिए मैं कुछ ठिठक-सी गयी, फिर उसके अगले अस्पष्ट-से शब्द सुन मेरा हृदय करुणा से भीग गया :

“बेटी, तू पत्थर फेंके तो भी मुझे चोट नहीं लगेगी। बहुत पहले... रधिया को खोकर जो चोट लगी उसके बाद... उसके बाद शरीर के और सब घाव बस सूई की चुभन के बराबर मालूम होते हैं... उस लड़की की खोज में मारा-मारा फिर रहा हूं... कितने साल बीत गये! लोग समझते हैं कि मैं पागल हूं... बिचारे, वे क्या जानें! खैर... भगवान् की इच्छा हो तो वह... वह मुझे ज़रूर मिल जायेगी।” उसने हाथ जोड़े और आगे चल दिया।

लेकिन मैं ज्यों की त्यों खड़ी रह गई। कौन थी वह रधिया जिसकी खोज में भटकते-भटकते इस आदमी की ऐसी दयनीय दशा हो गई थी? शायद उसकी बेटी हो या बहन। शायद ज़िन्दा हो या गुजर चुकी हो। अगर ज़िन्दा है तो देश के किस निभृत कोने में? क्या उसके हृदय में भी अपने इस स्वजन की याद रह-रह कर कसक उपजाती होगी? कैसे बिछुड़ गए होंगे दोनों?

अजनबी न जाने कहां से आया था और कहां चला गया, लेकिन अपरिचित और अज्ञात होते हुए भी उसका दुःख मेरे लिए कितना सजीव हो उठा था, मेरे हृदय में कैसी टीस छोड़ गया था!

अचानक हल्की बूदाबादी से भीगी शीतल हवा का स्पर्श पा मैं चौंकी तो देखा कि वसुन्धरा के सूर्यप्रकाशित आनन पर अब निशा की चिलमन हौले-हौले उतर आयी है।

—कनिष्ठा

रवीन्द्र जी की टिप्पणी—शाबाश! रद्दी जी। (हम अपने पाठकों को याद दिला दें कि कनिष्ठा जब-जब रवीन्द्र जी को अपना गृहकार्य पकड़ातीं, वे पूछते, कैसा लिखा है 'अक्का'? तो हमेशा वही जवाब पाते र द् दी!)

कई प्रयोग बहुत सुन्दर हैं। भाषा भी अच्छी है। इस प्रकार के अन्य प्रयासों का स्वागत होगा।

क्या तुम सचेतन हो?

मां, आपने लिखा है : “भागवत प्रेम” की तीव्रता सत्ता में कहीं भी विक्षोभ पैदा नहीं करती।”

हां।

किन्तु यदि किसी का शरीर दुर्बल हो तो क्या भागवत 'प्रेम' की तीव्रता उसमें क्षोभ पैदा नहीं कर देगी?

शरीर में? भागवत 'प्रेम' भला शरीर को क्यों विक्षुब्ध करेगा?

किन्तु यदि वह उसकी तीव्रता को सह न सके तो?

तब, सम्भवतः, वह भागवत 'प्रेम' होगा ही नहीं; मुझे तुम्हारी बात समझ में नहीं आयी। जहांतक भागवत प्रेम का सम्बन्ध है व्यक्ति स्वभावतः उतना ही पाता है जितना वह सह सकता है। भागवत 'प्रेम' तो अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ एक विराट् शक्ति के रूप में सदैव उपस्थित रहता है। किन्तु अधिकतर मनुष्य—नित्यानवे प्रतिशत—कुछ भी अनुभव नहीं करते। वे जो अनुभव करते हैं वह ठीक उसी अनुपात में होता है कि वे क्या हैं, और उनमें कितनी ग्रहणशीलता

है। उदाहरण के लिए, कल्पना करो कि तुम एक ऐसे वायुमण्डल में स्नान कर रहे हो जो भागवत 'प्रेम' से पूर्णतया स्पन्दित है—और तुम उस सबसे एकदम अनभिज्ञ हो। कभी बहुत ही कम, कुछ सेकेण्ड के लिए अचानक ही तुम्हें "किसी वस्तु" की अनुभूति होती है और तुम कहते हो : "ओह, भागवत 'प्रेम' मेरी ओर आया था!" बात हंसी की है! जब कि वास्तव में हुआ यह था कि किसी-न-किसी कारण तुम कहीं ज़रा-से खुले थे, अतएव तुम्हें उसकी अनुभूति हुई। वह तो भागवत 'चेतना' की तरह, सदा ही उपस्थित रहता है। वह भी हर समय अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ उपस्थित रहती है। पर व्यक्ति उसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता; अथवा इसी प्रकार बीच-बीच में अनुभव करता है : अचानक ही जब व्यक्ति कुछ अच्छी अवस्था में होता है तो उसे किसी वस्तु का अनुभव होता है और वह कहता है : "ओह, भागवत 'चेतना', भागवत 'प्रेम' मेरी ओर मुड़े हैं, मेरी ओर आये हैं!" पर बात ऐसी बिलकुल नहीं है। व्यक्ति कहीं ज़रा-सा खुला होता है, बहुत ज़रा-सा, कभी-कभी सुई की नोक जितना और स्वभावतया, शक्ति उसमें बड़े वेगपूर्वक प्रवेश करती है। कारण, यह सक्रिय वायुमण्डल जैसा है, जब कभी ग्रहण करने की सम्भावना हो तो इसे ग्रहण कर लिया जाता है। यह बात तो सभी भागवत वस्तुओं के साथ है। वे उपस्थित हैं, केवल व्यक्ति उन्हें ग्रहण नहीं करता, क्योंकि वह स्वयं बन्द होता है, उसके अन्दर कोई रुकावट होती है, वह अधिकतर अन्य वस्तुओं में व्यस्त रहता है। बल्कि अधिकतर तो व्यक्ति अपने में ही व्यस्त रहता है, चूंकि व्यक्ति अपने-आपसे भरा रहता है, इसलिए किसी अन्य वस्तु के लिए स्थान नहीं रहता। व्यक्ति बड़े सक्रिय रूप में (माताजी हंसती हैं) अन्य वस्तुओं में व्यस्त रहता है। वह वस्तुओं से इतना भरा रहता है कि उसमें भगवान् के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

किन्तु वे उपस्थित हैं।

यह भी उन सब चमत्कारों की न्याई है जो तुम्हारे चारों ओर फैले हैं, तुम उन्हें देखते नहीं। देखते हो क्या?... नहीं। कभी-कभी, केवल उसी समय, जब तुम ज़रा, बहुत ही ज़रा-से ग्रहणशील होते हो, अथवा निद्रा में, जब तुम अपनी छोटी-मोटी बातों में थोड़ा कम ऐकान्तिक रूप से व्यस्त होते हो, तुम्हें उस वस्तु की एक झलक मिल जाती है, तुम उसे देख लेते हो, अनुभव कर लेते हो। किन्तु साधारणतया तो ऐसा होता है कि ज्यों ही तुम जागते हो, यह सब धुल-पुंछ जाता है—जैसा कि तुम्हें पता है, इसका पहला कारण होता है वह भयावह अहं जो केवल अपने से ही भरपूर रहता है और फिर समूचा विश्व इस अहं के चारों ओर घूमता है : तुम केन्द्र में होते हो और विश्व तुम्हारे चारों ओर घूमता है। यदि तुम ध्यानपूर्वक अपनी ओर देखो तो तुम देखोगे कि यह ऐसा ही है। विश्व की तुम्हारी अनुभूति ऐसी ही होती है—तुम केन्द्र में और विश्व तुम्हारे चारों ओर। अतएव वहां किसी और वस्तु के लिए स्थान ही नहीं रहता। तुम विश्व को नहीं, विश्व में अपने-आपको देखते हो।

इसलिए, सबसे पहले, शुरू के लिए व्यक्ति को अपने अहं से बाहर निकल सकना होगा। इसके बाद इसे, समझ रहे हो, एक असत् की-सी अवस्था में होना चाहिये। तब तुम कुछ ऊपर उठकर वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में देखना आरम्भ करोगे। किन्तु यदि तुम वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में देखना चाहते हो, तो तुम्हें पूर्णतया एक दर्पण के समान होना होगा : नीरव, शान्त, अचल और निष्पक्ष, तुम्हें अपनी कोई भी अभिरुचि न रखते हुए पूर्णतया ग्रहणशील

जो
ही
तुम
में
वृत्ति
पूर्ण
पवा
में
ता',
क्ति
या,
भी
वत
न्द
है।
ता
जी
ममें
ी।
ल
से
र
छ
ने
में
म
ध
को
।।
र
को
:
ल

अवस्था में रहना होगा। यदि तुम ऐसे हो जाओ, तो यह देखने लगोगे कि ऐसी बहुत-सी वस्तुएं हैं जिनके बारे में तुम कुछ भी नहीं जानते, किन्तु जो मौजूद हैं, और जो तुम्हारे अन्दर क्रियाशील होना आरम्भ कर देंगी।

तब तुम विश्व में जो छोटे-से बिन्दु हो उसी में पूरी तरह बन्द रहने के स्थान पर इन वस्तुओं में निवास कर सकोगे।

अपने से बाहर निकलने के तरह-तरह के तरीके हैं। किन्तु यदि तुम वस्तुओं को उनके असली रूप में जानना चाहो, अपने साथ उनके सम्बन्ध की दृष्टि से नहीं, तो यह अनिवार्य है।

अहं से बाहर निकलने के लिए व्यक्ति को कौन-सी वृत्ति अपनानी चाहिये?

वृत्ति? बल्कि संकल्प, है न? तुम्हें इसके लिए संकल्प करना पड़ेगा...। क्या तुम यही पूछ रहे हो कि इसके लिए क्या करना चाहिये?

अपने-आपको भगवान् को सौंप देना ही सबसे अधिक सुनिश्चित तरीका है; भगवान् को अपनी तरफ खींचने की कोशिश न करो, वरन् अपने-आपको भगवान् को समर्पित करने का प्रयत्न करो। तब तुम कम-से-कम अपने से थोड़ा बाहर निकलने के लिए बाधित तो हो ही जाते हो। जानते हो, साधारणतया ऐसा होता है कि जब लोग भगवान् के विषय में सोचते हैं, तो पहला काम यह करते हैं कि भगवान् को अपनी ओर अधिकाधिक "खींचें"। और तब सामान्यतया वे कुछ भी नहीं पाते। वे कहते हैं : "आह! मैंने उन्हें पुकारा, उनसे प्रार्थना की, पर मुझे उत्तर नहीं मिला, कोई उत्तर नहीं मिला, कुछ भी तो नहीं मिला।" किन्तु यदि तुम उनसे पूछो : "क्या तुमने अपने-आपको उन्हें दिया था?"—"नहीं, मैंने उन्हें खींचा था।"—"ओह, तभी वे नहीं आये!" यह नहीं कि वे नहीं आये, वास्तविक बात यह है कि जब तुम खींचते हो, तो तुम अपने अहं में इतने बन्द हो जाते हो (जैसा कि मैंने अभी तुम्हें बताया था) कि तुम्हारे और जो वस्तु तुम्हें ग्रहण करनी है उसके बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। तुम अपने-आपको एक कारागृह में बन्द कर लेते हो और तब तुम्हें इस बात पर आश्चर्य होता है कि अपने कारागृह में तुम कुछ अनुभव नहीं करते!

और वह कारागृह भी कैसा, जिसकी कोई भी खिड़की सड़क पर नहीं खुलती!

अपने-आपको बाहर की ओर उंडेल दो (माताजी बाहर की ओर अपनी हथेलियां खोलती हैं), बिना कुछ छिपाये, अपने-आपको समर्पित कर दो, केवल समर्पण के आनन्द के लिए। केवल तभी यह सम्भावना रहती है कि तुम्हें कुछ अनुभव हो सके।

किन्तु यदि व्यक्ति कुछ अनुभव करने की कोशिश करे...

अनुभव करने की कोशिश करे? क्या यह भी अहंभाव नहीं है, अनुभव करने की कोशिश करना?... व्यक्ति अहंवादी रहते हुए अहं में से निकलना चाहे तो यह बहुत कठिन हो जाता है, है न? ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं।

"अनुभव करने की कोशिश करना"—किसलिए? अपनी सन्तुष्टि के लिए?

व्यक्ति का अपना अस्तित्व नहीं है, केवल भगवान् का ही अस्तित्व है, यदि इस अनुभूति को पाने के लिए व्यक्ति प्रयत्न करे, तो क्या इस तरह वह अपने अहं से बाहर निकल सकता है?

व्यक्ति का अपना अस्तित्व नहीं है? मुझे पता नहीं कि मानसिक रूप में कोशिश करके व्यक्ति किसी भी वस्तु को पा सकता है, क्योंकि यह एक प्रकार का मानसिक प्रयत्न है। इस तरह व्यक्ति मानसिक रचनाएं गढ़ता रहता है और उसे कोई खास प्राप्ति नहीं होती। नहीं, आवश्यकता ऐसी चीज़ की है जो सहज, तीव्र हो, सत्ता में जलती हुई ज्वाला, अभीप्सा की ज्वाला, एक ऐसी वस्तु... पता नहीं इसे कैसे व्यक्त किया जाये।

यदि चीज़ मस्तिष्क में ही चलती रहे, तो कुछ भी नहीं हो सकता, कुछ भी नहीं।...

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ६

पृ. १३४-१३७

‘नयी कौपलें’:

काश...

काश! हमारी दुनिया शान्तिप्रिय होती

तब हर ज़िन्दगी में खुशी ही खुशी होती।

काश! यहां हर व्यक्ति बिलकुल आज़ाद होता

और काम लगन, मेहनत से करके रात चैन से सोता।

हर चेहरे पे मुस्कान, एक नई चमक होती

एक नया उत्साह होता, एक नई सोच होती।

हर पंछी यहां पंख फैलाकर उड़ता

हर पशु इस धरती को अपना घर समझता।

हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई

मिलकर रहते, भाई-भाई।

काश! यहां हर व्यक्ति दिल से सच्चा होता

और विश्वास की नींव पर मानवता का घर होता।।

—अनुराग प्रसाद

दोस्ती

इन्सान के हर उम्र में दोस्त होते हैं। जो सच्चे दोस्त होते हैं वे ज़िन्दगी भर साथ निभाते हैं मगर दूसरे सागर की लहरों के समान आते हैं और फिर चले जाते हैं। दोस्ती महासागर की तरह होती है। इसकी गहराइयों में प्यार और उल्लास छुपा है। इसे एक बार पा लेने से कोई इसका साथ छोड़ना नहीं चाहता।

दोस्ती हमें बहुत कुछ सिखाती है। अक्सर दोस्तों के बीच झगड़े होते हैं और हर बार उनसे हमें एक सीख मिलती है। जो झगड़े दो दोस्तों के बीच दीवार बन सकते हैं, वह दोस्ती कच्ची है और सच्ची भी नहीं। दूसरी ओर, जो झगड़े दो दोस्तों को और करीब ले आते हैं, वह दोस्ती खुशकिस्मतवालों को मिलती है।

हर इन्सान को दोस्तों की ज़रूरत होती है जिनसे वह अपनी खुशी और अपने ग़म बांट सके। दोस्त वे कहलाते हैं जिन पर हम आंखें बन्द करके भी भरोसा कर सकें और जो यह भरोसा कभी न तोड़ें। जो इन्सान दोस्तों की कदर नहीं करता, दुनिया उसकी कदर नहीं करती। उसका जीवन नीरस और सूखा हो जाता है। दोस्त कोई भी बन सकता है, यहां तक कि परिवारवाले भी हमारे दोस्त बन सकते हैं। दोस्ती ऐसा बन्धन है जो किसी से भी बंध सकता है। हम बड़े-बुजुर्गों से भी दोस्ती कर सकते हैं। यह प्यारा रिश्ता हमारे मन से जुड़ा है और वक्त के साथ और मज़बूत होता जाता है।

—सुनयना मेहतानी

जब हम मानसिक गतिविधि या बौद्धिक कार्यों में लगे होते हैं तो हम कभी-कभी भगवान् के साथ सम्पर्क को क्यों भूल जाते हैं?

क्योंकि अभी तक तुम्हारी चेतना विभक्त है। भगवान् अभी तक तुम्हारे मन में आसीन नहीं हैं; तुम पूरी तरह भागवत जीवन को समर्पित नहीं हो। अन्यथा तुम ऐसी चीज़ों पर चाहे जितने केन्द्रित क्यों न हो, तुम्हारे अन्दर ऐसा भाव बना रहेगा कि भगवान् तुम्हारी सहायता कर रहे हैं और तुम्हें सहारा दे रहे हैं।

सभी बौद्धिक या अन्य अनुसन्धानों में तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये, “याद रखो और अर्पित करो।” जो कुछ तुम करो वह भगवान् के अर्पण हो। यह भी तुम्हारे लिए बहुत अच्छा अनुशासन होगा। यह तुम्हें बहुत-सी व्यर्थ और मूर्खता-भरी चीज़ों को करने से रोकेगा।

—श्रीमां

कृतज्ञता

कृतज्ञता

भगवान् से मिलनेवाली कृपा की प्रेमपूर्ण मान्यता।

भगवान् ने तुम्हारे लिए जो कुछ किया है और जो कर रहे हैं उसकी नम्र मान्यता।

भगवान् के प्रति सहज आभार का भाव जो तुमसे अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करवाता है ताकि भगवान् तुम्हारे लिए जो कुछ कर रहे हैं उसके लिए तुम कम अयोग्य बनो।

*

कृतज्ञ होने का अर्थ है परमोच्च की उस अद्भुत दिव्य कृपा को कभी न भूलना जो हर एक को उसके अपने बावजूद, उसके अज्ञान, गलतफ्रहमियों, अहंकार, उसके विरोधों तथा विद्रोहों के बावजूद, छोटे-से-छोटे रास्तों से उसके भागवत लक्ष्य की ओर ले जाती है।

हमारे हृदय में कृतज्ञता की पवित्र ऊष्मा-भरी, मधुर तथा देदीप्यमान अग्नि हमेशा प्रज्वलित रहनी चाहिये; भागवत कृपा के प्रति कृतज्ञता की अग्नि जो साधक को उसके लक्ष्य की ओर ले जाती है—जितना अधिक वह कृतज्ञ होता है, भागवत कृपा की इस क्रिया को स्वीकार करता और उसके प्रति आभारी होता है, रास्ता उतना ही छोटा हो जाता है।

*

मैं ऐसे लोगों को जानती थी जिन्हें किसी प्रकार का ज्ञान न था, यानी, किसी चीज़ का ज्ञान नहीं था, जो बहुत कम पढ़े-लिखे थे, जिनके मन एकदम से सामान्य प्रकार के थे और जिनमें उस कृतज्ञता की, उष्मा की वह क्षमता थी जो अपने-आपको देती है, समझती है और कृतज्ञ होती है।

हां, तो उनमें बहुधा अपनी चैत्य सत्ता के साथ सम्पर्क होता था, करीब-करीब निरन्तर रहता था, यहांतक कि वे इसके बारे में सक्षम थे, सचेतन थे—बहुत सचेतन नहीं बल्कि थोड़े-से—इस अर्थ में सचेतन कि उन्हें अनुभव होता था कि उन्हें ले जाया जा रहा है, सहायता दी जा रही है, अपने-आप से ऊपर उठाया जा रहा है...

हम कहते हैं : उत्साह की क्षमता ऐसी चीज़ है जो तुम्हें अपने दरिद्र, क्षुद्र, निम्न अहंकार से ऊपर उठा देती है; और उदारतापूर्ण कृतज्ञता, कृतज्ञता की उदारता जो अपने-आपको धन्यवाद-ज्ञापन में छोटे-से अहंकार में से बाहर निकालती है। अपनी चैत्य-सत्ता में भगवान् के साथ सम्पर्क पाने के ये दो सबसे अधिक शक्तिशाली उत्तोलक हैं। ये चैत्य सत्ता के साथ जोड़नेवाली कड़ी का काम देते हैं—सबसे अधिक निश्चित कड़ी का।

—श्रीमां

‘गैर्वाणी’ :

सः उपहारः

आसीत् तस्याः नाम मारिया रोजा किन्तु ग्रामवासिनामर्थे अभवत् सा केवलं मैरी। न हि, वस्तुतः प्रत्यक्षं सर्वे तामेतेनैव नाम्ना आह्वयन् अन्यथा भयङ्करी जायते स्म सा किन्तु परोक्षतः जनैः विविधाभिधानानि दत्तानि तस्यै। त्यज्यन्तां तानि दुर्नामानि किन्तु ‘कृपणा’ इति शब्देन सा विशेषेण क्रुध्यति स्म। जनानां त्रासनं तु बालकाः जन्मसिद्धाधिकारं मन्यन्ते। अतः बहुशः ग्रामे सा यष्टिं धृत्वा बालकानां पृष्ठे धावन्ती दृश्यते स्म। वृद्धं, दुर्बलं शरीरम्—कथं पारयेत् तान् चपलान् बालकान् कथमपि धर्तुम्? अन्ते शब्दान् चर्वन्ती इव निजमार्गमन्वसरत् सा। वस्तुतः आसीत् सापि आशुकोपा। ग्रामे न केनापि सह तस्याः मैत्री आसीत् न वा सा ऐच्छदेकमपि मित्रम्। चतुष्कोणं वलितमाननम्, रुक्षकेशाः, आकुङ्चितहस्तपादौ, यौ शीतेन सङ्कुचिततरौ अभवताम्, ईषत्, नतं पृष्ठम्—एतदासीत् तस्याः रूपम्। परिधानम् इति नाम्ना सम्भवतः वेषद्वयमासीत्। शिरसि सर्वदा ‘स्कार्फ’ अबध्नात् सा, पटखण्डयुक्तेन और्णवस्त्रेण कथमपि शीतकालम् अयापयत् सा—एषः अवर्तत तस्याः वेषः। सम्पत्तिः इति नाम्ना अवर्तत एका कुक्कुटी या चिरसहचरी इव अहर्निशं तया सह अतिष्ठत्, हस्तमिता च ऊषरा भूमिः यस्यां सा इतस्ततः बीजानि आनीय अक्षिपत्। दिष्ट्या तत्र कदाचित् किमपि अरोहत्। तदा सा प्रभाते शस्यं फलादिकं वा समाहरत्, तदा तस्याः आननं दीप्यते स्म। प्रायशः सा गोधूलिवेलायां निजभूमिखण्डस्य पार्श्वक्षेत्रेभ्यः हस्तलभ्यं सर्वम् अपहत्य प्रसेवं पूरयति स्म। उदरपूर्णमन्नं समाह्रियते स्म प्रतिदिनम्—एषा आसीत् तस्याः दिनचर्या। ७० वर्षीयां तां दृष्ट्वा प्रतीयते स्म यत् सा सर्वदैव जीवनेन सह सङ्ग्रामाय उद्यता। सा कदापि स्मितमुखी आसीदिति ग्रामस्य वयोवृद्धाः अपि न स्मरन्ति...

१५ वर्षेभ्यः पूर्वं लन्दनदेशस्य लघुग्रामे सर्वकारीय-चिकित्सकरूपेण गतः अहं तां सर्वप्रथममपश्यम्। आदर्शवादी युवकः अहं स्वयमेव ग्रामीणानां सेवा-सुश्रूषायाः भारमगृह्णाम्। तत् स्थानं भृशमरोचयम्। तत्रत्य-आबालवृद्धानाम् अचिरमेव प्रियः जातोऽहम्। मयि तत्र प्राप्ते एव सम्पूर्णः ग्रामसम्मर्दः उपस्थितः। तत्र प्रथमदृष्ट्याम् अलक्षमहं तां वृद्धां या सर्वेभ्यः पृथक् एकस्मिन् कोणे अनुत्सुका, निर्लिप्ता, प्रायः विषण्णा इव अतिष्ठत् यथा मया तस्याः क्षेत्रे अनधिकार-प्रवेशस्य प्रमादः कृतः स्यात्! तत्क्षणात् अहं ताम् अरोचयम्!

सम्पूर्णं दिनं गृहस्य व्यवस्थायामेव व्यतीतम्। प्राप्ताः सर्वे ग्रामवासिनः मे साहाय्यार्थम्। ‘चाय-कॉफी’-भोजनादिकस्य तथा बाहुल्यमभवत् यत् तथाकथिताः सहायकाः अपि उदरपूर्णं भुक्त्वा एव प्रत्यगच्छन्।

रात्रौ प्रायः अष्टवादने सर्वं समाप्य, एकलम् उपवेशनस्य अवसरः प्राप्तः मया। उपविष्टमात्रेणैव मया लक्षिता उद्यानात् आगच्छन्ती सा नताकृतिः...। अहो! प्रभातकालीना सा वृद्धा आयाति... ससम्भ्रमम् उत्थाय—आगच्छतु, उपविशतु—इत्यभ्यनन्दमहम्।

त्वद्वत् विश्रामस्य अवकाशः न वर्तते मम इति वदन्ती सा तत्कालम् उपधौ उपविष्टा।

“किमागत्यैव महाभोजस्य आयोजनानि आरब्धानि अत्र? आप्रभातात् खाद्यसामग्रीणां प्रवाहः एव दृश्यते। चिकित्सायै आगतोऽसि प्रमोदाय वा?”

नासमहं प्रस्तुतः एतादृशाय वचनाय आरोपाय वा, किन्तु तदापि न ईषदपि क्रोधः उत्पन्नः मनसि, प्रत्युत हासः एव प्रस्फुटितः।

अयि, यस्यार्थे आगतोऽसि तदपि कुरु तावत्, इति कथयन्ती सा पूयितम् अङ्गुष्ठं मम सम्मुखे अकरोत्।

सपदि आनीतः मया चिकित्सासम्पुटः। यावच्च व्रणोपचारे संलग्नः आसं तावत् तस्याः सम्भाषणं नैव विरतम्—“मम नाम मारिया रोज्ञा अस्ति, ७० वर्षीया अस्मि तस्मात् रोगव्याधयः सहैव तिष्ठन्ति। चिकित्सायाः कोऽपि अनुभवोऽपि वर्तते अथ वा ग्रामवासिनः मूढान् मत्वा छलितुमागतः? किं नाम तव? अयि त्यज। यत्किमपि स्यात्, न मे शिरोव्यथा। आत्मानं चिकित्सकः इति कथयसि तर्हि तेनैव नाम्ना आह्वास्यामि...।”

तस्याः अङ्गुष्ठे पट्टिका बद्धा मया। “आम्, तर्हि प्रभातात् करण्डशः यद् भोजनं तव गृहमागतं तत्सर्वं किं ग्रामवासिभिः एव उदरस्थं कृतम् अथ वा तवार्थेऽपि किमपि त्यक्तम्?”—अपृच्छत् सा। अहं तत्कालमबोधम्। अभ्यन्तरात् प्रचुरं खाद्यमानयम्।

नाहं तैः समाना या प्राप्तात्र भोजनलोभेन इति गदन्ती सा निज-प्रसेवम् उदघाटयत्। पट्टिकां सम्यगेव बध्नासि इति कथयन्ती सोपानमवतीर्य अन्धकारे विलीना सा।

स्मितवदनोऽहं किमपि चिन्तयन् पर्याप्तकालं तथैव अतिष्ठम्। तस्मादेव दिनादहं तस्याः अर्थे अभवम् “चिकित्सकः” सा च ममार्थे “रोज्ञा”।

दिनान्तरेण काले अकाले वा ‘अयि, भो चिकित्सक’ इति तस्याः आह्वानं मम द्वारे श्रूयते स्म अहञ्च तत्कालं सर्वं त्यक्त्वा तस्याः सम्मुखे उपस्थितोऽभवम्...। न तु अभिनन्दनं न वा कदापि स्मितिर्लब्धा मया तस्याः। सामान्यव्रणेन वा काल्पनिक-ज्वरेण वा उपागता सा सर्वदा मम द्वारदेशम्। पूर्णवधानेन औषधपुटिकाः रचयित्वा तस्यै आर्पयामहम् अथ च तस्याः रिक्तप्रसेवे यत्किञ्चित् भोज्यमपि सर्वदा अस्थापयम्। निजकुक्कुटीं निजकुक्षौ स्थापयित्वा नतपृष्ठा रोज्ञा प्रतिगच्छति स्म। रोज्ञायाः आगमनं न कदापि मे अप्रियमभवत्। तस्याः पक्षात् हास-धन्यवादयोः आदान-प्रदानेन विनापि सा जाता मे अभिन्नमित्रम्। तस्याः सम्बन्धे ग्रामजनेभ्यः ज्ञातं मया यत् पुरा सुन्दरी इति ख्याता रोज्ञा विवाहमपि अकरोत् किन्तु अलसः, कर्मविमुखः, दिनानुदिनं मदोन्मत्तः तस्याः पतिः नैव अजीवत् बहुकालम् पृष्ठे च अत्यजत् सुलभकोपाम्, कलहप्रियाम्, उद्धतां पत्नीम्।

तस्याः अतीते द्रष्टुकामोऽहम् अथ एकदा औषधपुटिकाबन्धनसमये यथैव अपृच्छम्—“अयि रोज्ञे, कथय तावत्...” तथैव “चिकित्सक, नागताहमत्र त्वया सह जल्पनाय, औषधग्रहणाय आगतास्मि। निजकर्म कुरु न तु अन्येषां जीवनव्यापारस्य चर्चाम्” इत्येवं कथयित्वा सा तत्कालं मम औत्सुक्यम् अदमयत्। ततः परं न मे साहसमभवत् शब्दोच्चारणस्यापि।

अथ एकस्मिन् रविवारे हठात् दृष्टा मया सा गिरिजालये। कुक्कुट्या सह निमीलितनेत्रा अतिष्ठत् सा। कटाक्षेण सम्पूर्णकालं तामेव अपश्यम्। प्रार्थनारता, स्वगतं वदन्ती कियती भद्रा दृश्यते स्म सा! गद्गदहृदयः जातोऽहम्—नास्ति रोज्ञा सर्वथा सा या अहर्निशं दृश्यते—कलहप्रिया, उद्धता वा। अस्याः अभ्यन्तरे स्पन्दते कियत् सुन्दरं हृदयम्!

प्रायः वर्षमेकमवसमहं रोज्ञायाः ग्रामे। ततः परं स्थानान्तरणं जातं मे लन्दनस्य अन्यस्मिन् प्रान्ते—रोज्ञायाः ग्रामात् बहुदूरम्।

आर्द्रहृदयेन मया गमनसज्जा आरब्धा। गमनवेलायां वहित्रं मे सम्भारादधिकम् उपहारैः तावत्

उत्पन्नः

सम्मुखे

भाषणं

सहैव

गतः?

थयसि

मागतं

पृष्ठत्

ट्टिकां

अर्थे

श्रूयते

न वा

मम

ज्वित्

स्म।

दानेन

इति

पतिः

‘अयि

हणाय

न्कालं

ते स्म

उद्धता

स्मिन्

तावत्

परिपूर्णं यत् ततः परं मुष्टिकामितः पवनोऽपि प्रवेष्टुं नाशक्नोत्! भोजनसामग्री, धान्यम्, फलानि, पुष्पाणि—किं किं नागतम्, किन्तु नागता सा यस्याः प्रतीक्षां प्रभातात् अधैर्येणाकरवम्। किं रोज्ञा मां द्रष्टुं नागमिष्यति?... न मे हृदयं स्व्यकरोत् एतत् किन्तु मेलनस्य लक्षणानि अपि न दृश्यन्ते स्म...। प्रस्थानं कियत् कठिनम् एतत् मया वस्तुतः तस्माद् ग्रामात् निर्गमनकाले तीव्रम् अनुभूतम्। पुनः पुनरपि पुनर्दर्शनाय उक्त्वा न उपवेष्टुमशक्नवं वहित्रे। इतस्ततः आलिङ्गनजालात् विमोचयितुं न अपारयं बहुकालम् आत्मानम्। अन्ततः उपाविशं वहित्रे। पर्याप्तदूरं बालाः मे वहित्रस्य पृष्ठे अधावन् अहञ्च पुनरपि आगमिष्यामि इति मुहुर्मुहुः तान् आश्वासयम्। ग्रामस्य अन्तिमं गृहं पारयित्वा वहित्रं शस्य-श्यामलक्षेत्राणां मध्यात् अधावत्। रोज्ञा मम हृदयात् नैव अपसरति स्म... तत्कालं किं पश्यामि अहम्? मार्गस्य सर्वथा मध्ये हस्तं विधुन्वाना रोज्ञा दण्डायमाना! आनन्दसीमाम् अत्यक्रामत् मे हृदयम्! वहित्रादवतीर्य तामुपगम्य बद्धकरः रोज्ञायाः सम्मुखे अतिष्ठमहम्।

तयोः नीलनेत्रयोः कियत् प्रेम समाविष्टमासीत्...! “जानासि, प्रभाते षड्वादानात् शीतेन सह युद्धं कुर्वती त्वां प्रतीक्षेऽहम्। त्वं च अधुना प्राप्तः!” सजलनयनोऽहं तस्याः हस्तौ धृतवान्। हस्तौ विमोच्य, तिष्ठ तावद् इति गदन्ती सा पार्श्वस्थप्रस्तस्य पृष्ठतः षड्-अण्डानि निरकासयत्—“चिकित्सक! एतानि सर्वाणि तवार्थे। मम सकाशे तुभ्यम् अर्पणाय केवलम् एतदेव वर्तते।” वृद्धायाः उपहारेण नितरां द्रवितं मे हृदयम्! सम्पूर्णसप्ताहस्य सम्पत्तिं सा मम सम्मुखे समर्पयत्...। तस्याः आनने प्रभासिता सा मधुरा स्मितिः यस्याः कृते मया वर्षमेकं प्रतीक्षितम्... अद्य सा स्मितिः विद्युद् इव लब्धा मया!

गृहाण चिकित्सक! कस्मात् कालात् प्रतीक्षे त्वाम्! इति कथयन्ती सा मम करयोः अण्डानि अस्थापयत्।

“किन्तु रोज्ञे, पश्य तावत्, न वर्तते मम वहित्रे तिलमात्रमपि स्थानम्...” अहं तस्याः इदम् अपूर्वं धनं ग्रहीतुं न कथमपि ऐच्छम्। अण्डानि प्रतिदातुं तत्परोऽहम्।

“आः! अन्येषां व्यर्थान् कति-उपहारान् वहसि मम च एतादृशस्य सुशोभनोपहारस्य कृते स्थानाभावस्य व्याजं ददासि! नैवम्। नाहम् एतानि अण्डानि प्रतिनयामि—रोज्ञा निज-अन्तिममतं प्राकाशयत।

करचैले सावधानं तानि अण्डानि प्रगृह्य अहं वहित्रे सुरक्षितकोणे अस्थापयम्। मिष्टिकायाः बृहत् सम्पुटं निष्कास्य अवदम्—“रोज्ञे, गृहाण कृपया एतत् नो चेत् वहित्रे अण्डानामर्थं स्थानमेव न भविष्यति।”

सजलनेत्राभ्यां सा मस्तकसञ्चालनेन अस्वीकृतिमदर्शयत् मेलनाय च हस्तं प्रासारयत्। अहं तां वक्षसा पर्यर्षजम्। तस्याः द्रुतहृत्स्पन्दनं तथा समीपतः अन्वभवमहम्!! क्रन्दन्ती अगदत् सा—“न हि पुत्र! अद्याहं न कस्यापि उपहारं प्रतिग्रहीष्यामि। सम्पूर्णं जीवनं तु मया इत्यमेव हरणापहरणं कृत्वा व्यतीतम्। जीवने प्रथमं वारं दानस्य सुखं लब्धं मया। विनिमयेन किमपि प्रदाय दानस्य तदननुभूतं सुखं मा अपहर।”

निरुत्तरः सजलनेत्रोऽहं निरन्तरमपश्यं तां वयोवृद्धां या सर्वैः आशुकोपा, कलहप्रिया इति लाञ्छिता। अभ्यन्तरे निविष्टयोः तयोः नीलनेत्रयोः अहं प्रेम्णः समुद्रमपश्यम्। जानुभ्यां तस्याः सम्मुखे उपविष्टोऽहम्। रुक्षशुष्कहस्तपुटके मम कपोलौ धृत्वा सा अवदत्—“अहं त्वयि पुत्रवत् स्निह्यामि चिकित्सक!”

प्रेमलहर्षः श्यामलक्षेत्रेषु तरङ्गिताः। धरित्री आकाशश्च मातृपुत्रयोः सुखदमेलनस्य साक्षिणौ अभवताम्।

प्रेमदाम मां तथा अबध्नात् यत् प्रत्येकं षण्मासम् अष्टमासं वा अहं निजमातरं मेलितुं ग्राममगच्छं या अधुना सम्पूर्णग्रामस्य प्रिया, मिलनशीला, स्वच्छा सौम्या च मातामही जाता। यस्याः गृहे सम्पूर्ण-वर्षं बालानां तथा आनन्दकोलाहलः भवति स्म, भोजनादिकस्य तथा बाहुल्यं वर्तते स्म यत् मारिया रोजा आत्मानं संसारस्य सुखितमां वृद्धाम् अधोषयत्।

गतवर्षं सुजातोत्सवं महानन्देन अनुष्ठाय रोजा शान्तभावेन मम क्रोडे अन्तिमं श्वासमगृह्णात्। अनाथः आसम् अहम्!

वह सौगात

नाम तो था उसका मारिया रोजा लेकिन गांववालों के लिए वह बन गयी थी सिर्फ मैरी। नहीं, नहीं, लोग उसके सामने तो उसे इसी नाम से पुकारते, नहीं तो वह ऐसा बवाल मचा देती कि तौबा, तौबा!! लेकिन पीठ पीछे, बड़े क्या और बच्चे क्या, सभी उसे न जाने किस-किस नाम से नहीं पुकारते थे!! खैर छोड़ें उन दुर्नामों को, लेकिन कंजूस-मकखीचूस शब्द से उसे खास चिढ़ थी, और बच्चे थे कि उसे चिढ़ा-चिढ़ा कर भागते, वह सोटी लिये अपने कमज़ोर पैरों से भला कहां तक उनका पीछा कर पाती, हार कर, शब्दों को चबाती हुई, हांफती-कांपती अपने रास्ते हो लेती। सचमुच मैरी थी भी बड़ी चिड़चिड़ी और बच्चे तो इसे मानों अपना धर्म और जन्मसिद्ध अधिकार मान बैठते हैं कि जो चिढ़े उसे और चिढ़ाओ। न मैरी की गांव में किसी से बनती थी न वह किसी से बनाये ही रखती थी—झुर्रियों से भरा चौकोर-सा चेहरा, रूखे-सूखे बाल, सिकुड़े-सिकुड़े से हाथ-पैर जो ठण्ड में और भी सिकुड़ जाते थे, कमर से ज़रा झुकी हुई—यह था मैरी का हुलिया। कपड़ों के नाम पर पूरे-पूरे दो जोड़ी भी नहीं थे, सिर पर हमेशा स्कार्फ बांधे रहती और सर्दियाँ पैबन्दवाले स्वेटर पहनकर बिता देती—यही था उसका पहनावा और सम्पत्ति के नाम पर थी उसके पास एक मुर्गी जिसे वह सीने से लगाये रखती थी, और थी हाथ भर ऊसर ज़मीन जिसमें मैरी न जाने कहां से बीज ला-ला कर डालती रहती, कभी कुछ उपज भी जाता तो सवेरे-सवेरे सबकी नज़रों के सामने अनाज बीन लाती, कभी बन्दगोभी निकाल लाती, तब उसकी झुर्रियों में चमक फूट पड़ती, वैसे आये दिन तो वह शाम को, झुटपुटे के वक्त सबकी नज़रों से बचती हुई, अपनी ज़मीन के टुकड़े के आस-पास के खेतों से कुछ बीन-बटोर लाती, कुछ इधर से तोड़ा, कुछ उधर हाथ मारा और अपनी झोली में पेट भरने लायक सामान भर लिया...—यह थी मैरी की दिनचर्या। ७० साल की मैरी को देखकर ऐसा लगता था मानों चौबीसों घण्टे वह जीवन के साथ लड़ने के लिए तैयार बैठी हो, गांव के बड़े-बूढ़ों को भी याद नहीं कि मैरी कभी मुस्कुराया भी करती थी...।

मैरी उससे मुलाकात करीब पन्द्रह साल पहले हुई थी जब मैं लन्दन के उस गांव में सरकारी डॉक्टर की हैसियत से गया था। मैंने खुद ही गांव में जाकर अपनी सेवाएं अर्पित करने का प्रस्ताव रखा था क्योंकि मैं जवान था, आदर्शवादी था। वह जगह मुझे बहुत रास आयी और

क्षिणौ
गच्छं
म्पूर्ण-
गरिया
गात्।

वहां के बच्चे क्या, बूढ़े और जवान क्या, सभी को मैं भा गया। मेरे गांव पहुंचते ही जो जमघट इकट्ठा हो गया था उसमें पहली ही नज़र में मैरी मुझे अलग-थलग दिखायी दे गयी थी। न उसके चेहरे पर खुशी की हल्की-सी लहर तक उभरी और न ही आंखों में उत्सुकता की कोई झलक। वह तो मुझे ऐसे घूर रही थी मानों उसके इलाके में मैं दखलंदाज़ी की भूल कर बैठा! और उसी पल से वह वृद्धा मुझे अच्छी लगने लगी।

घर ठीक-ठाक करवाने में सारा दिन लग गया, पूरा गांव मानों मेरी मदद के लिए आ जुटा, चाय-कॉफ़ी, खाने-पीने की तो ऐसी रेल-पेल मची कि मदद के नाम पर भी जो आया, खा-पीकर विदा हुआ।

रात के आठ बजे जब अकेले बैठने की फ़ुर्सत मिली तो बरामदे में कुर्सी डाल मैंने चैन की सांस ली, और तभी बगीचे से आती हुई कोई आकृति मुझे दीखी—अरे, वही वृद्धा आ रही हैं, चौंक कर मैं उठ खड़ा हुआ।

“आइये, बैठिये,” मैं सकपकाया-सा बोल उठा। “तुम्हारी तरह आराम करने की मुझे फ़ुर्सत नहीं है।” कहती हुई धम्म से वह कुर्सी पर बैठ गयी।

“क्या आते ही महाभोज का आयोजन शुरू कर दिया यहां? सवेरे से बस खाने-पीने का ही तांता लगा हुआ है। डॉक्टरी करने आये हो या मौज मनाने?”

न मैं ऐसी भाषा और न ही ऐसे इल्ज़ाम के लिए क़तई तैयार था, लेकिन पता नहीं क्यों, मुझे गुस्सा ज़रा न आया, मन में हंसी फूट पड़ी।

“चलो, अब अपना काम भी करो,” कहते हुए उसने अपने हाथ का अंगूठा सामने कर दिया जिसमें से मवाद रिस रहा था।

मैं झटपट अपना डॉक्टरी-बक्सा निकाल लाया और जब तक उसकी मरहम-पट्टी करता रहा उसकी बातचीत की गाड़ी चलती रही—मेरा नाम मारिया रोज़ा है, ७० साल की हूं, इसलिए हारी-बीमारी संग लगी ही रहती है, कुछ डॉक्टरी तजरुबा है भी या यूं ही नीम हकीमी करने चले आये हो हमारे यहां? क्या नाम है तुम्हारा? खैर छोड़ो, नाम से मुझे क्या लेना-देना? खुद को डॉक्टर बताते हो तो उसी नाम से पुकारूंगी।”

उसके अंगूठे पर पट्टी बंध चुकी थी। “हां, तो सवेरे से जो टोकरों पर टोकरे खाना तुम्हारे घर पर चला आ रहा था वह क्या सारा का सारा गांववालों के पेट में समा गया या कल अपने खाने के लिए कुछ बचा कर रख छोड़ा है?” मैं तुरन्त ताड़ गया और झटपट अन्दर जाकर काफ़ी सारा खाना ले आया।

“मैं थोड़े ही औरों की तरह खाने के लालच में आयी थी यहां,” कहते हुए उसने अपना झोला सामने कर दिया। “पट्टी अच्छी तरह बांध लेते हो वैसे।” कहती हुई वह सीढ़ियां उतरती हुई अंधेरे में गायब हो गयी।

मैं काफ़ी देर तक मन ही मन मुस्कुराता खड़ा रहा। और उसी शाम से मैं मैरी के लिए बन गया ‘अरे ओ डॉक्टर’ और मेरे लिए वह बन गयी ‘रोज़ा’।

हर दूसरे दिन ‘अरे ओ डॉक्टर’ की गुहार वक्त-बेवक्त मेरे दरवाज़े पर लगती और मैं तीर की तेज़ी से रोज़ा के सामने आ खड़ा होता...। वह न कभी कोई दुआ-सलाम करती, न मुस्कुराती, बस कभी कोई मामूली-सी खरोंच तो कभी काल्पनिक बुखार और जुकाम की शिकायत

व में
करने
और

करती हुई दरवाजे पर आ खड़ी होती। मैं बड़ी लगन से उसे पुड़िया बना कर देता और साथ ही उसके खाली झोले में खाने-पीने की चीजें भी डाल देता। अपनी मुर्गी को बगल में दबाये, झुकी कमर वाली रोज़ा अपने रास्ते हो लेती। मुझे रोज़ा का आना कभी न खलता, उसकी ओर से शुकिया या मुस्कान जैसे किसी भी लेन-देन के न होने के बावजूद मेरे लिए तो वह अभिन्न मित्र जैसी बन गयी थी। उसके बारे में गांववालों से खोज-खबर लेने पर पता लगा कि किसी ज़माने में सुन्दर कहाने वाली रोज़ा ने शादी भी की थी, लेकिन निठल्ला, निखट्टू, सातों दिन शराब में धुत् पति ज़्यादा साल जिया नहीं, लेकिन अपने पीछे एक चिड़चिड़ी, बदमिज़ाज, झगड़ालू, अक्खड़ पत्नी को छोड़ता गया।

कभी-कभी रोज़ा के लिए पुड़िया बनाते समय मैं उसके अतीत में झांकने की कोशिश करता, “अच्छा, रोज़ा, यह तो बतलाओ...” और वह एक झटके में मेरी उत्सुकता का गला घोट देती—“डॉक्टर, मैं यहां तुमसे बातें करने नहीं, दवा लेने आयी हूं, अपने काम से मतलब रखो...” फिर मेरी एक शब्द भी कहने की हिम्मत न जुटती।

एक इतवार को अचानक मैंने उसे गिरजे में देखा, बगल में मुर्गी दबाये वह आंखें मूंदे खड़ी थी। मैं कनखियों से उसे ही निहारता रहा। प्रार्थना में मग्न वह मन ही मन बुदबुदाती हुई कितनी भली दीख रही थी। मैं भाव-विभोर हो उठा... रोज़ा वह नहीं है जो वह चौबीसों घण्टे दिखलाती है—झगड़ालू, बदमिज़ाज। इसके अन्दर कितना सुन्दर दिल धड़कता है!

मैं करीब साल भर रोज़ा के गांव में रहा, फिर मेरा तबादला लन्दन के दूसरे छोर पर, रोज़ा के गांव से मीलों दूर हो गया।

मैंने भरे मन से जाने की तैयारियां शुरू कीं। मेरी गाड़ी मेरे सामान से ज़्यादा उपहारों से इतनी लद-फंद गयी थी कि मुझे लगा कि अब इसमें मुड़ी भर हवा भी न समा पायेगी। खाना-पीना, अनाज, फल, फूल, न जाने कितनी-कितनी सौगातें जमा हो गयी थीं, लेकिन मुझे जिसका बेसब्री से इन्तज़ार था वह कहीं न दीखी। क्या रोज़ा मुझसे मिलने नहीं आयेगी?... मेरा दिल यह मानने को तैयार न था, लेकिन मिलने के आसार भी तो कहीं नज़र न आ रहे थे। विदाई कितनी मुश्किल होती है यह मैंने सचमुच उस गांव से चलते वक्त महसूस किया। आलिंगनों के जाल से मैं मैं छूट ही नहीं पा रहा था! बड़ी मुश्किल से मैं अपनी गाड़ी का इंजन शुरू कर पाया, न जाने कितनी दूर तक बच्चे मेरी मोटर के पीछे भागते रहे और मैं मुड़-मुड़ कर उनसे वापिस आने का वादा करता रहा। आखिर गांव का अन्तिम घर पार कर मेरी गाड़ी लहलहाते खेतों की ढलान के रास्ते उतर आयी। रोज़ा मेरे दिल से उतर ही नहीं रही थी और तभी मैंने सड़क के बीचों-बीच हाथ हिलाती हुई रोज़ा को देखा। मेरा दिल बल्लियों उछलने लगा, मैंने उसके पास पहुंचकर मोटर रोकी, तुरन्त उतर कर मारिया रोज़ा के सामने हाथ बांधे झुक कर खड़ा हो गया।

उन नीली आंखों में कितनी नमी समायी हुई थी...। “जानते हो, मैं सवेरे छह बजे से, इस ठण्ड से लड़ती तुम्हारा इन्तज़ार कर रही हूं। अब आकर पहुंचे हो यहां!” मेरी आंखें डबडबा आयीं, मैंने रोज़ा के हाथ पकड़ लिये। वह उन्हें छुड़ाती हुई बोली, “रुको ज़रा।” और झुक कर पास ही पड़े पत्थर के पीछे से छह अण्डे निकाल लायी—“डॉक्टर, ये सब तुम्हारे लिए हैं। मेरे पास तुम्हें देने के लिए बस यही है।” मैं... मैं न रह पाया, उस वृद्धा के इस उपहार पर सौ-

साथ
बाये,
ओर
भिन्न
कैसी
दिन
नाजा,
शिश
गला
तलब
खड़ी
तनी
नाती
पर,
में से
नाना-
सका
दिल
दाई
के
कर
ननसे
हाते
मैंने
मैंने
कर
इस
डबा
कर
मेरे
सी-

सौ जान निछावर हो गया—पूरे हफ्ते की पूंजी उसने मेरे सामने रख दी थी, और उसके चेहरे पर खिली वह मधुर मुस्कान—जिसके लिए मैं साल भर तरसता रहा, मुझे एक झटके में मिल गयी!

“पकड़ो डॉक्टर, कब से तुम्हारी बाट जोह रही थी मैं।” कहते हुए उसने मेरी हथेलियों पर अण्डे रख दिये।

“लेकिन, रोज़ा, देखो मेरी गाड़ी में तिल भर की भी जगह नहीं है...” मैं उसके इस बहुमूल्य धन से उसे वञ्चित न करना चाहता था। मैंने उसे अण्डे वापिस करने चाहे।

“अरे! औरों की अलाय-बलाय न जाने कैसी-कैसी सौगातें उठाये लिये जा रहे हो और मेरे इतने सुन्दर अण्डों के लिए जगह की किल्लत का बहाना बना रहे हो। नहीं, मैं इन्हें वापिस नहीं ले जा रही।” रोज़ा ने अपना फ़ैसला सुना दिया।

जेब से रूमाल निकाल कर मैंने उसमें अण्डे समेटे और बड़े करीने से मोटर में सहेज कर रख दिये। चॉकलेट का बड़ा-सा डिब्बा उठाकर मैंने उसकी तरफ मुड़ते हुए कहा—“यह तुम रख लो रोज़ा, तभी गाड़ी में अण्डों के लिए जगह बन पायेगी।”

डबडबायी आंखों के साथ उसने अस्वीकृति में सिर हिला दिया और अपना हाथ मिलाने के लिए आगे बढ़ा दिया। मैंने रोज़ा को सीने से लगा लिया। तेज़ी से धड़कते उसके दिल को मैं कितनी पास महसूस कर रहा था! रोते-रोते वह बोली—“नहीं बेटे, आज मैं किसी की भी सौगात तुमसे नहीं छीनूंगी। अपनी सारी ज़िन्दगी यूँ छीना-झपटी ही तो करती आयी हूँ। ज़िन्दगी में पहली बार किसी को कुछ दिया है, उसके बदले में कुछ देकर मेरी इस खुशी को मत छीनो।”

मैं निरुत्तर, भरी आंखों से उस वृद्धा को एकटक देखता रहा जिस पर लोगों ने झगड़ालू का बिल्ला लगा दिया था। उसकी उन धंसी हुई, नीली आंखों में मैंने प्यार का सागर उमड़ते देखा। मैं उसके सामने घुटने टेक कर बैठ गया। मेरे दोनों गालों को अपने खुरदुरे हाथों में लेती हुई वह बोली—“मैं तुम्हें बेटे की तरह चाहने लगी हूँ डॉक्टर!”

प्रेम की तरंगें लहलहाते खेतों पर झूम उठीं। धरती और आकाश मां-बेटे के मिलन के साक्षी बन गये।

प्यार की उस डोर ने मुझे ऐसा बांध लिया कि मैं हर छह-आठ महीनों में अपनी मां से मिलने गांव पहुंच जाता जो अब सारे गांव की चहेती, मिलनसार, खुशमिज़ाज, साफ-सुथरी नानी बन गयी थी, जिसके नये घर में सारे दिन बच्चों का ऐसा हुड़दंग मचता, खाने-पीने की ऐसी चहल-पहल रहती कि मारिया रोज़ा निहाल हो जाती।

पिछले साल बड़े ज़ोर-शोर से क्रिसमस मनाने के बाद, रोज़ा ने शान्ति के साथ मेरी गोद में अपनी अन्तिम सांस ली। और मैं अनाथ हो गया!

—वन्दना

अक्तूबर २००५ से सितम्बर २००६ तक के मुख्य लेखों की सूची

श्रीमातृवाणी :

अपना सर्वोत्तम करो, प्रारम्भ-बिन्दु, मानव-जीवन का हेतु और मिशन, नियति और अन्तःप्रकाश—नवम्बर २००५; अन्तःप्रकाश की आवाज़—दिसम्बर २००५; ध्यान की अवस्थाएं, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़—जनवरी २००६; अनुशासन—जीवन में अनिवार्य, भौतिक चीज़ों की देखरेख, स्फुट वचन—फरवरी २००६; मैं तुम्हारे साथ हूं, शिक्षा में भय, प्रयास—मार्च २००६; त्याग, अपने अन्दर झांको, अचञ्चल रहो, श्रीअरविन्द का योग—अप्रैल २००६; अपने-आपको भयमुक्त करने के कुछ तरीके, शक्ति उपस्थित है, कोशिश करके देखो—मई २००६; अपना निरीक्षण अच्छी तरह करो—जून २००६; अध्ययन का सुख—जुलाई २००६; प्रेम के बारे में—अगस्त २००६; क्या तुम सचेतन हो, कृतज्ञता—सितम्बर २००६।

श्रीअरविन्दवाणी :

पूर्णता की ओर—अक्तूबर २००५; कुछ तीखे, कुछ पैसे सत्य, एकाग्रता के केन्द्र, ध्यान, भाषा की विभिन्नता—नवम्बर २००५; सिद्धियां, कुछ तीखे, कुछ पैसे सत्य, श्रद्धा, एक प्रार्थना, सचाई-निष्कपटता—जनवरी २००६; जिसकी आवश्यकता है—फरवरी २००६; प्रयास—मार्च २००६; सम्पूर्ण और निष्कपट समर्पण—मई २००६; मां जाग उठी है, धन-शक्ति—जून २००६; स्वयं को दे दो, श्रद्धा बनाये रखो—जुलाई २००६; देश की मांग क्या है, हमारा उद्देश्य, अपने देश के लिए—अगस्त २००६; श्रीअरविन्द का एक पत्र—सितम्बर २००६।

श्रीअरविन्द तथा श्रीमां के साथ बातचीत, पत्र-व्यवहार :

प्राण (एक युवक के साथ पत्र-व्यवहार)—अक्तूबर २००५, एक युवा साधक के नाम श्रीअरविन्द के पत्र—दिसम्बर २००५।

श्रीअरविन्द के साथ बातचीत (नीरदवरण के साथ) :

अक्तूबर-नवम्बर २००५ में छपी।

श्रीअरविन्द के नाम पत्र (नगीन दोशी) :

जनवरी २००६ से सितम्बर २००६ तक गये।

श्रीमां के साथ पत्र-व्यवहार (शान्ति दोशी) :

अक्तूबर २००५ से सितम्बर २००६ तक गये।

रवीन्द्रजी के लेख :

भगवान् के रूप—अक्तूबर २००५; थकान से कैसे बचें?—नवम्बर २००५; जीवन एक नाटक है—जनवरी २००६; पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर—फरवरी २००६; विष्णु दिगम्बर—मार्च २००६; बढ़ती जाऊंगी, राजनीति—मई २००६; कली खिल उठी—जनवरी २००६; उच्चतर जीवन की ओर पहला कदम—जुलाई २००६।

ऋषिवर बोले :

भारतीय संस्कृति—अक्तूबर २००५; शरीर की प्रगति—जनवरी २००६; कल्पना—मई २००६।

गैर्वाणी :

प्रेरणादीपः (प्रेरणादीप)—अक्तूबर २००५; वचनं दत्तम् अस्ति (वादा कर रखा है)—नवम्बर २००५; स्वर्णं रूपान्तरितम् (स्वर्ण में रूपान्तरित कर दिया है)—दिसम्बर २००५; प्रकीर्ण-माणिक्यानि (बिखरे मनके)—जनवरी २००६; सरलः वरः (सरल-सा वर)—फरवरी २००६; निजवक्षसा सुदृढम् आलिङ्ग... (हृदय से लगा लेना)—मार्च २००६; इन्द्रजालमयः रागः (जादू का राग)—अप्रैल २००६; दृष्टिः (दृष्टि)—मई २००६; तत् पत्रम् (वह चिट्ठी)—जून २००६; शिशवः—सरलहृदयाः (बच्चे—मन के सच्चे)—जुलाई २००६; बच्चों के संग—अगस्त २००६; सः उपहारः (वह सौगात)—सितम्बर २००६।

नयी कौपलें :

बौबी (जयदेव शर्मा), हाइकू (सुभा जगन्नाथ), हमारा छात्रावास (कनुप्रिया पुराणिक)—अक्तूबर २००५; वह पंछी (कनुप्रिया पुराणिक), हार न मानना (जयदेव शर्मा), आभारी (सूक्ष्मा पोद्दार), सूखा फूल (स्नेहा कपूर)—नवम्बर २००५; कैदी नं.... (ऋचा गर्ग)—दिसम्बर २००५; वन्दे मातरम् (जयदेव शर्मा)—जनवरी २००६; प्रकृति की सुन्दरता (सूक्ष्मा पोद्दार), कोरा कागज़ (निशा झुनझुनवाला)—फरवरी २००६; महिलाओं का जादू (जयदेव शर्मा), स्वप्न और सच्चाई (सूक्ष्मा पोद्दार)—अप्रैल २००६; विपथगामी (प्राञ्जल गर्ग), सुबह (कविता) (दिव्या टी. एस.)—मई २००६; एक अधूरी कला (सुनयना)—अगस्त २००६; काश... (अनुराग प्रसाद), दोस्ती (सुनयना)—सितम्बर २००६।

अन्य :

प्यार का पहरा (श्यामसरन अग्रवाल)—नवम्बर २००५; हार न मानो (हीरो वसिष्ठ), फूलवाली (ज्ञानवती), आश्रम में कार्य (माधव पण्डित)—दिसम्बर २००५; मैं आ रहा हूं (कविता) (अज्ञात), सुरुचि पैदा करो (नलिनीकान्त गुप्त)—जनवरी २००६; विरल सौभाग्य (माधव पण्डित) अन्तिम प्रणाम (ज्ञानवती)—जुलाई २००६; पीड़ा की वह रात (ज्ञानवती), हमारी विदुषी बोली, वक्त के पहलू (सुरुचि वर्मा), नीरदबरन—अगस्त २००६।

विश्वनाथ जी की कविताएं :

वेद में कहा है—नवम्बर २००५; लक्ष्यवेध—मार्च २००६, कब...—अप्रैल २००६; छा गया—मई २००६; अहसास—जून २००६; परिचित या अपरिचित—जुलाई २००६; जितना बढ़ा अहम्—अगस्त २००६; लकीरें—सितम्बर २००६।

कनिष्ठा की कहानियां :

आनन्द का बीज—अक्तूबर २००५; 'मणि'—एक सच्चा दोस्त—अप्रैल २००६; केवल संकट के समय नहीं—जून २००६; फूल ले लो फूल—जुलाई २००६; है न बात ठीक?—अगस्त २००६, टीस—सितम्बर २००६।

प्रार्थना और ध्यान तथा दैनन्दिनी हर महीने गये।

WITH BEST
COMPLIMENTS
FROM

DEORAH SEVA NIDHI

CHARITABLE TRUST DEDICATED TO SERVICE

(Founder Trustee — Late S. L. DEORAH)

13E-Rajanigandha
25, Ballygunge Park
Kolkata-700 019

S. N. Sunderson & Company

1, Deshbandhu Gupta Road

Post Box No. 5713

NEW DELHI-110055

E-Mail : snsdl@vsnl.net

Tel : 23612728, 2361277

Fax : 011-2362063

Central Library

Gurukul Kangri University

Hardwar-249404 (U.A.)

Our Lines of Business :

- LIME, LIMESTONE
- COAL & COKE
- FIRE CLAY, FIRE BRICKS & REFRACTORIES

-131523

Branches :

Kolkata, Dhanbad, Katni, Jukehi, Niwar, Satna,
Mainar, Varanasi, Kanpur, Asansol, Ranchi, Bilaspur, Nagpur,
Ramgarh, Khelari, Manindergarh, Mumbai, Guwahati and PONDICHERRY.

Completed 80 years on Basant 2006

61277

62063

ERRY.

